भारत का इतिहास
(1757 ईसवी से 1950 ईसवी तक)

History of India - 1757 AD-1950 AD

एम.ए. इतिहास (उत्तरार्द्ध)

M.A. History (Final)

Group D :

आधुनिक भारत **(Modern India)**

प्रश्न पत्र-VII

Paper-VII

Directorate of Distance Education
Maharshi Dayanand University, Rohtak

भारत का इतिहास

(1757 ईसवी से 1950 ईसवी तक)

History of India

(1757 AD - 1950 AD)

Group - D

प्रश्न पत्र – VII

Paper - VII

एम.ए. इतिहास (उत्तरार्द्ध)

M.A. History (Final)

दूरस्थ शिक्षा निदेशालय

महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय

रोहतक - 124 001

Copyright © 2004, Maharshi Dayanand University, ROHTAK
All Rights Reserved. No part of this publication may be reproduced or stored in a retrieval system or transmitte
any form or by any means; electronic, mechanical, photocopying, recording or otherwise, without the writte
permission of the copyright holder.

Maharshi Dayanand University
ROHTAK – 124 001

विषय–सूची

इकाई - I

अध्याय	**1**	इतिहास–लेखन – स्त्रोत	5
अध्याय	**2**	पूर्व औपनिवेशिक राजनीति	11
अध्याय	**3.**	बंगाल पर अधिकार (1757-1765)	34
अध्याय	**4**	अंग्रेजों के मैसूर राज्य के साथ सम्बन्ध	52
अध्याय	**5**	सहायक सन्धि प्रणाली	72
अध्याय	**6**	राजनीतिक बंदोबस्त	82
अध्याय	**7**	ब्रिटिश साम्राज्य का विस्तार (1818 - 1852)	87
अध्याय	**8**	लैप्स का सिद्धान्त	117

इकाई - II

अध्याय	**9**	औपनिवेशक शासन के विरूद्ध प्रतिक्रिया	112
अध्याय	**10**	भारत की औपनिवेशिक संरचना	154

इकाई - III

अध्याय	**11**	औपनिवेशिक भारत के विदेशों में सम्बन्ध	173
अध्याय	**12**	स्वतंत्र भारत	212

M.A. History (Final)

Group-D

Paper – VII

History of India (1757–1950)

Max. Mark
Time :

Note : 10 questions shall be set in the paper spread over the entire syllabus more proportionately, out of which the candidates shall be required to attempt five selecting at least one question from each unit. All question shall carry equal marks.

UNIT – I

1. **Sources:**
   a) Archival Records
   b) Private Papers
   c) News Papers
   d) Periodicals
   e) Oral Traditions.
2. Pre-Colonial Polity
3. The Emergence of English East India Company as a Political and Territorial Pow 1757–1765.
4. **The Indian Resistance:**
   a) Mysore ; 1767 – 1799
   b) Marathas ; 1775 - 1818
5. Subsidiary Alliance System
6. Political Settlement 1917 - 1818
7. The Paramountcy 1818 – 1852
   a) Sind
   b) Punjab;
   c) Nepal
   d) Burma
8. Doctrine of Lapse.

UNIT – II

1. **Reaction to Colonial Rule:**
   a) Discontent and Disaffection during Company's Rule
   b) Revolt of 1857 : Nature, Participation and Impact.
2. **Colonial Construction of India:**
   a) Administrative Structure – Central, Provincial and District.
   b) Arms of State-Police, Army, Law and Civil Service.

UNIT – III

1. **Foreign Relations of Colonial India**
   a) Relations with Princely States.
   b) Afghan Policy
   c) Persia and Persian Gulf Policy
   d) North West Frontier Policy
   e) Tibet Policy
2. **Independent India**
   a) Visions of New India
   b) Integration of Princely Sta
   c) Foreign Policy and Non-Alignment.

का बेहतर आधार मिल पाया है। इस प्रक्रिया में केन्द्र एवं प्रान्तों के अभिलेखागारों एवं अलग अलग स्तर के पुस्तकालयों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इनमें सरकारी फाइलों पुराने अखबारों प्रकाशित एवं अप्रकाशित शोध ग्रन्थों इत्यादि के भण्डार उपयोगी संग्रह इतिहासकारों के लिए अब उपलब्ध है। उन्नीस सौ सत्तर से सरकारी दस्तावेजों को खोलने का नियम पचास के बजाय तीस वर्षों की गोपनीयता पर आधारित किया गया जिससे ऐतिहासिक शोध के लिए विशाल सामग्री उपलब्ध हो सकी है। इसके आलावा दिल्ली के राष्ट्रीय अभिलेखगार एवं नेहरू स्मारक पुस्तकालय जैसी संस्थाओं में पुराने दस्तावेजों को माइक्रोफिल्म पद्धति के जरिए सुरक्षित एवं सुलभ बनाए जाने से ऐतिहासिक शोध में बड़ी सहायता मिली है। निजी दस्तावेज जैसे– डायरियों, पत्रों एवं आत्मकथाओं का ऐतिहासिक स्रोतों के रूप में उपयोग बढ़ा है।

परन्तु ऐतिहासिक स्रोतों के इन बहुमुखी विकास के बावजूद आधुनकि भारत के इतिहासकारों को कुछ समस्याओं का सामना अभी भी करना पड़ता है। औपनिवेशिक सरकार की बहुत–सी फाइले अभी भी लंदन की इंडिया ऑफिस लाइब्रेरी में होने के कारण ज्यादातर हिन्दुस्तानी छात्रों की पहुचँ से बाहर है। इसी तरह महत्त्वपूर्ण दस्तावेजों के ज्यादातर अंग्रेजी में होने के कारण भारतीय भाषाओं में इतिहास–लेखन उतना विकसित नही हो पाया है। इसके अलावा यह भी एक शोचनीय बात है कि निरक्षर जनता का सामाजिक इतिहास लिखने के लिए 'ओरल हिस्ट्री' या मौखिक इतिहास के स्रोतों का संग्रह करने की ओर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया गया है। हालाँकि, पिछली पीढ़ी के महत्वपूर्ण राजनेताओं के साक्षात्कार एवं स्मृतियाँ रिकार्ड करके रखने की परम्परा कुछ संग्रहालयों ने शुरु की है।

शोध पद्धति

स्रोत अपने आप में इतिहास–लेखन के लिए महत्वपूर्ण है, परन्तु इन स्रोतों का इस्तेमाल इतिहासकार किस पद्धति एवं रचनात्मकता के साथ करते है यह भी कोई कम महत्व की बात नहीं है। यहाँ तक कि कई बार अच्छे सवाल पूछना 'सही' उत्तर देने से ज्यादा अहम् हो जाता है। स्वतन्त्रता से पहले आधुनिक भारत के सर्वोच्च इतिहासकारों की कार्य शैली मुख्यतः जर्मन इतिहासकार रॉके के विचारों से प्रेरित थी। इस पद्धति में विभिन्न प्रकार के स्रोतों के वैज्ञानिक अध्ययन एवं पुष्टीकरण के आधार पर अतीत के स्वतन्त्र तथ्यों की निर्विवाद स्थापना को ही इतिहासकार का मुख्य उद्देश्य समझा गया। इस तरह की पद्धति के कारण जहाँ एक ओर विश्लेषण के स्थान पर वर्णन पर जोर दिया जाता रहा वहाँ दूसरी ओर इतिहास का मुख्य शोध–बिन्दु अतीत की राजनीतिक गतिविधियों पर ही केन्द्रित रहा, क्योंकि अतीत के जिस आयाम के बारे में इतिहासकारों को सर्वाधिक सरलता से स्रोत मिल पाते है वह शायद राजनीति ही है।

धीरे–धीरे रॉके के सिद्धान्तों को यूरोप के इतिहास–लेखन में चुनोती मिलने लगी, और जैसा हमने पहले देखा, इतिहासकारों ने अपने लेखन की आत्मनिष्ठता के प्रति अधिक जागरूक रवैया अपनाना आरम्भ किया। आधुनिक भारत के इतिहास–लेखन में ये परिवर्तन बीसवीं शताब्दी के मध्य तक प्रभावशाली बनने शरू हुए। इन परिवर्तनों के फलस्वरूप इतिहासकारों, विशेषकर, मार्क्सवादी इतिहासकारों ने वस्तुनिष्ठ इतिहास की मृगमरीचिका को छोड़कर अपनी विचारधारा एवं सिद्धान्तों को इतिहास–लेखन का अभिन्न अंग बनाया और इनकी सहायता से तथ्यों के मात्र विवरण के स्थान पर तथ्यों के अंत सम्बन्धों (विशेषकर राजनीतिक एवं आर्थिक आयामों के सम्बन्धो) को उजागर करने पर जोर दिया। इससे इतिहास–लेखन में वर्णन के साथ–साथ विश्लेषण की प्रवृत्ति को बल मिला तथा 'वर्ग–संघर्ष' एवं 'उत्पादन–पद्धति' (mode of production) जैसे – महत्वपूर्ण आयामो के संदर्भ में ऐतिहासिक व्याख्या प्रस्तुत किए जाने पर भी जोर दिया गया।

पिछले दो दशकों में इतिहासकारों की कार्यपद्धति में फिर से नए रुझान उभरते देखे जा सकते है। सरलीकृत व्याख्याओं और रूढिवादी सिद्धान्तों के प्रति इतिहासकारों में असन्तोष जगने लगा है और एक नया संपूर्ण इतिहस (total history) लिखने में शैली तथा पद्धति को लेकर नए–नए प्रयोग किए गए है। इन प्रयोगों में फ्रांस की 'अनाल्स' परम्परा के इतिहासकारों जैसे– मार्क ब्लाक, लूसे फेब्रे तथा फरनन्द ब्रॉदेल एवं ब्रिटेन के पीटर बर्क तथा ई ० पी० टॉमसन अत्यन्त महत्वपूर्ण रहे है। इन विचारकों ने अतीत के समाजों को अधिक समग्रता से समझने के लिए इतिहासकारों द्वारा सामाजिक विज्ञान के अन्य विषयों की खोजो को अपने शोध में शामिल करने की आवश्यकता पर जोर दिया है।

उदाहरण के लिए पीटर बर्क ने यह सुझाया है कि इतिहास जैसे विषय का अपना औचित्य और अपनी एक पहचान है क्योंकि इसके घटना सम्बन्धि तथा प्रक्रियात्मक स्वरूप में साफ झलकती है। परन्तु इतिहास की तुलना में सामजशास्त्र एक समस्या उन्मुख (problem oriented) विषय है। जिसका इतिहास की शोध पद्धति से उपयोगी मिलन कराया जा सकता है। इसी प्रकार इतिहासकारों के लिए अतीत की मानसिकताओं तक पहुँच पाना अत्यन्त दूभर रहा है जबकि मानवशास्त्रियों ने संस्कृति के इन्हीं पहलुओं के अध्ययन में अच्छी दक्षता हासिल की है। अत इन दोनों विषयों में भी अच्छा आदान–प्रदान हो सकता है। अचेतन मन की गहराइयां तथा गुत्थियों के बारे में कुछ जानकारी हासिल करना किसी भी मानव–अध्ययन के लिए अत्यन्त आवश्यक है। इस क्षेत्र में इतिहासकारों के लिए मनोविज्ञान की विभिन्न शाखाओं का आलोचनात्मक उपयोग करना सम्भव [illegible]

इस तरह का अन्तः शास्त्रीय इतिहास (Interdisciplinary history) आधुनिक भारत के इतिहास–लेखन में भी अब अपनी पहचान बनाने लगा है हालाँकि, अलग–अलग ढ़ग से विकसित हुए शास्त्रों के समन्वय का यह प्रयास कदाचित सरल नही है। मनोविज्ञान जैसे विषयों की खोजो का इतिहास–लेखन में उपयोग अभी भी बहुत कम इतिहासकारों ने किया है, परन्तु समाजशास्त्र तथा मानवशास्त्र के तरीकों को लेकर गुजरे हुए समाजों की संस्कृति एवं मानसिकता इत्यादि को समझने की संभावना पर काफी रोचक चर्चा पिछले दिनों इतिहासकारों के बीच हुई है।

परन्तु इस विषय में भी कोई मतैक्य विकसित नहीं हो पाया है। यह एक विडंबना है कि मानवशास्त्रियों की शोध प्रणाली का इतिहासकार हूबहू इतनी सरलता से अपना नहीं सकते। सबसे पहला कारण तो यही है कि मानवशास्त्री अपने विषय के अध्ययन के लिए सहभागी प्रेक्षण के (Participant Observation) के तरीके का मुख्य रूप से इस्तेमाल करते है अर्थात् अपने विषय समूह के बीच उन जैसे– बनकर रहते है और उन्ही के नजरिए से उनको समझने की कोशिश करते है। स्वभावतः यह तरीका इतिहासकारों को उपलब्ध नही है। इसके अलावा अक्सर सामाजिक मानवशास्त्रियों का नजरिया एक–कालिक (Synrchronical) होता है अर्थात् समाज के समयबद्ध परिवर्तनक्रम के बजाय मुख्यतः उसके आज के संतुलन के अध्ययन पर ही केन्द्रित रहता है। इसके विपरीत इतिहास का नजरिया मूलतः कालक्रमिक (diachronic) रहा है। इसीलिए वह जड़वत संरचना (structure) के चित्रण के स्थान पर परिवर्तनशील शक्तियों तथा कारकों (agencies) पर अधिक केन्द्रित रहता है। मानवशास्त्र और इतिहास–लेखन की मुख्य धाराओं के बीच पुरा संगम न हो पाने का एक और कारण यह भी है कि इनके प्रभावी सिद्धान्तों में भेद ही नहीं विरोध भी है। जहाँ मानव शास्त्र के विकास में संरचनात्मक प्रक्रियावाद (Structural functionalism) के सिद्धान्त का भारी महत्व रहा है वहाँ इतिहास को विश्लेषणात्मक स्वरूप देने में संघर्ष, विशेषकर वर्ग–संघर्ष के सिद्धान्त ने महत्वपूर्ण योगदान दिया है। ये दोनों ही नजरिए एक–दूसरी के पूर्णतया विपरीत है और इनके माध्यम से अन्तः शास्त्रीय आदान–प्रदान और भी दूभर हो जाता है।

परन्तु यह सौभाग्य की बात है कि सामाजिक विज्ञान के बीच खड़ी अलग–अलग विषयों की दीवारों को भेदने का काम आज प्रगति पर है और ग्राम्शी, रेमण्ड विलियम्स, ई० पी० टॉमसन एवं जी० एम० साइडर जैसे कई विचाराकों ने सास्कृतिक पहलुओं का द्वंद्वात्मक पद्धति से अध्ययन करने की सार्थक कोशिश की है। इन प्रयोगों से प्रेरणा लेकर आधुनिक भारत के इतिहासकारों ने भी अपने शोध में अन्य शास्त्रों की कार्यविधयों तथा अन्तर्दृष्टियों के समावेश का प्रयास आरम्भ किया है।

आधुनिक इतिहास के स्त्रोत :–

(a) अभिलेखागार रिकार्ड
(b) प्राइवेट पेपर
(c) समाचार–पत्र
(d) पुस्तकें व पत्रिकाएँ
(e) मौखिक स्त्रोत

आधुनिक भारत के इतिहास के साधन पूर्व काल की अपेक्षा अधिक व्यापक है। इन्हें हम अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से, मोटे रूप से निम्न तालिका के अनुसार रख सकते है।

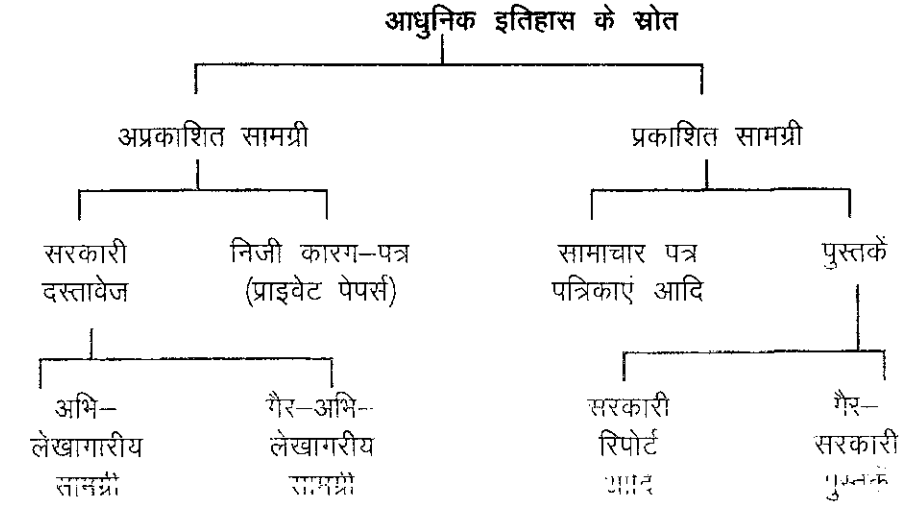

अप्रकाशित सामग्री

जैसा कि ऊपर दी गई तालिका में दिखाया गया है, अप्रकाशित सामग्री मुख्य रूप से दो प्रकार की है

1. सरकारी दस्तावेज
2. निजी कागज पत्र (प्राइवेट पेपर्स)।

सरकारी दस्तावेज : यह सामग्री या तो अभिलेखागारों में मिलती है, या सरकारी 'रिकार्ड रूमों' में। दूसरी प्रकार की सामग्री किसी सार्वजनिक स्थान पर न होकर अब भी लोगों के घरों में ही बिखरी पड़ी है।

अभिलेखागारीय सामग्री : जहाँ पुराने अभिलेख, कागजपत्र–विशेषतः सरकारी और गैर–सरकारी भी (जैसे– प्रसिद्ध लोगों के निजी पत्र इत्यादि) सुरक्षित रखे जाते है, उसे अभिलेखागार कहते है। आजकल दुनिया के प्रत्येक सभ्य देश मे इस प्रकार की संस्थाए है। भारत भी इसका अपवाद नहीं है। यहाँ दिल्ली में राष्ट्रीय अभिलेखागार है, जहाँ पूरे देश के रिकार्डस सुरक्षित रखे जाते है। भारत के लगभग हर राज्य के अपने स्थाननेय अभिलेखागार इससे अलग है, जहाँ राज्य स्तर की सामग्री सुरक्षित रखी जाती है। हरियाणा राज्य का अभिलेखागार मनीमाजरा में स्थित है। इसके अतिरिक्त भारत की इतिहास विषयक पर्याप्त सामग्री पंजाब रिकार्ड्स रूम, लाहौर (पाकिस्तान), कामनवैल्थ रिलेशंस आफिस (लंदन) में भी उपलब्ध है। इन संस्थाओं या इनमें रखे अभिलेखों के विषय में पूरी जानकारी तो वहाँ जाकर संबंधित केटालाग तथा अनुक्रमणिकार आदि देखकर ही प्राप्त की जा सकती है।

राष्ट्रीय अभिलेखागार दिल्ली : राष्ट्रीय अभिलेखगार में, जैसा कि ऊपर कह आए है, भारत सरकार के पुराने अभिलेख ही सुरक्षित रखा गया है।

अभिलेख अधिकांशत : 1748 के बाद के है। पर कुछ इससे पुराने अभिलेखों की भी नकले है। कोई भी शोधार्थी बिना इन अभिलेखों को देखे भारत के आधुनिक इतिहास का लेखन नहीं कर सकता।

प्रिरयुटिनी रिकार्ड सिरीज : इनमें वित्त विभाग (1810-1859), विदेश विभाग (1757-1859), गृह विभाग (1704-1859) विधानपालकीय विभाग (1777-1859), सैनिक विभाग (1801-1881), सार्वजनिक सेवा विभाग (1850-1859) और ठगी–डकैती विभाग (1836-1904) के अभिलेख मुख्य है।

पोस्ट-म्युटिनी रिकार्ड-सिरीज : इस सिरीज में, विदेश विभाग को छोड़कर बाद के अभिलेखों को, 1945 तक के अभिलेख प्रयोग के लिए खुले है। ये अभिलेख भी ऊपरलिखति सिरीज के अभिलेखों की तरह ही उनकी अनुक्रमाणिका से देख जा सकते है। इन अभिलेखों में वाणिज्य, व्यापार, माल, शिक्षा, स्वास्थ्य कृषि, सार्वजनिक कार्य के विभागों के अभिलेख 1858 से 1947 तक आते हैं।

राज्य अभिलेखागार : राज्य अभिलेखागार में सामग्री आधुनिक इतिहास निर्माण में महत्वपूर्ण है। लाहौर राज्य से सम्बन्धित खास, खालसा दरबार के रिकार्ड 1800-1849 के काल के पंजाब स्टेट अभिलेखागार पटियाला में है। इसी तरह पेशवा दफ्तर पूना में पेशवा शासन सम्बन्धित स्रोत (1729-1818) उपलब्ध है। इसी तहर हैदराबाद राज्य, राजस्थान, के अनेक राज्यों सम्बन्धी स्रोत राज्य अभिलेखागार बिकानेर में है। बडोदा रिकार्ड आफिस में इस राज्य के 1724 तक इतिहास संबधित स्रोत हैं। बंगाल मद्रास व बम्बई सम्बन्धी स्त्रोत यहाँ अभिलेखागार में हैं।

इस अभिलेखागार साम्रगी के अलावा एक अन्य श्रेणी के रिकार्ड में जो यूरोपीय कम्पनियों की कार्य शली शासन प्रबन्ध राज्य विस्तार आदि जानकारी उपलब्ध करवाते हैं। फ्रांसीसी अभिलेखागार चन्दर नगर व पांडीचेरी से पेरिस ले जाए गये। अंय रिकार्ड मद्रास रिकार्ड ऑफिस में हैं। कुछ अन्य रिकार्ड राजधानी कोपनहेगन में हैं। पुर्तगाली अभिलेखागार गोआ, पुर्तगाली ओपनिवेशों के अलावा पश्चिमी भारत के इतिहास सम्बन्धी महत्वपूर्ण स्रोत हैं।

अन्य अभिलेखागार : ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कम्पनी के भारत पर आधिपत्य के दौरान के अनेक अप्रकाशित एवं मुद्रित अभिलेख प्रशासन कलकत्ता चलया जाता था, कामनवैल्थ रिलेशंस ऑफिस, जो पहले इंडिया ऑफिस लाइब्रेरी कहलाता था में रखे हुए थे। इनमें मुख्य अभिलेख राजस्व अभिलेख हैं, जो कि बंगाल रैवेन्यू कंसलटेशंस, 1805-1828 तथा 1828-1835 के नाम से जाने जाते हैं। इसी काल का बोर्ड आफ डायरेक्टर्स का बंगाल प्रेसीडेंसी से किया गया पत्राचार भी मिलता है, जिसमें आधुनिक इतिहास सम्बन्धी काफी साम्रगी है। न्याय सम्बन्धी बंगाल ज्यूडीशियल सिविल एंड क्रिमिनल कंसलटेशंस 1803-1835 में मिलती है। शिक्षा व प्रेस सम्बन्धी बहुत सी सामग्री बंगाल पब्लिक कंसलटेशंस तथा बंगाल पोलिटिकल कंसलटेशंस 1896-35 में मिलती हैं। इंग्लैंड में सुरक्षित इन अभिलेखों का बहुत–सा भाग बंगाल राजकीय अभिलेखागार में भी मिलता है।

मुद्रित अभिलेख : आधुनिक इतिहास से सम्बन्धित बहुत से अभिलेख मुद्रित भी है, जैसे– पालियामेंट्री पपर्स, पब्लिकेशंस ऑफ गवर्नमेंट रिकार्ड्स तथा कतिपय खास–खास सरकारी रिपोर्ट्स आदि।

निजी-कागज-पत्र (प्राइवेट पेपर्स) : निजि–कागज पत्र इतिहास के बहुमूल्य साधन माने जाते हैं। निजी–कागज–पत्र अथवा प्राइवेट पेपर्स व स्त्रोत है जो आधुनिक भारत के निर्माण में योगदान देने वाले व्यक्तियों व फैलियों की लेखनियों से सम्बन्धित है। इन स्रोतों से वाणिज्य औद्ययोगिक विकास, शिक्षा, सामाजिक व सांस्कृतिक विकास सम्बन्धी जानकारी उपलब्ध है। इनके अलावा राष्ट्रीय आन्दोलन से सम्बन्धित कांग्रेस के नेताओं के निजी कागजात–पत्र, नेहरु मेमोरियल लाइबरेरी में उपलब्ध है।

प्रकाशित सामग्री : आधुनिक इतिहास से सम्बन्धित प्रकाशित सामग्री मुख्या रूप से दो भागों में विशक्त है। 1. समाचार पत्र, पत्रिकाए आदि, 2. पुस्तकें।

समाचार पत्र, पत्रिकाएँ आदि : समाचार पत्र इतिहास निर्माण के महत्वपूर्ण स्त्रोत है। हालांकि पहला अखबार 1786 में प्रकाशित हुआ परन्तु 19 वीं शताब्दी के मध्य तक यह सीमित वर्ग तक ही उपलब्ध थे। राष्ट्र आन्दोलन के विकास के चलते समाचार पत्रों की भूमिका व स्वरूप में बदलाव आया। मराठा, केसरी कामन–वील, यंग–इंडिया, अमृति–बाजार पत्रिका आदि, आधुनिक इतिहास निर्माण के महत्वपूर्ण स्रोत है।

इसके अतिरिक्त हमारे अध्ययनाधीन काल में पंजाब प्रांत से निकलने वाले कई अखबारों से भी इस प्रदेश के इतिहास को कुछ स्पष्ट रूप प्राप्त होता है। इन अखबारों में 'दी ट्रिब्यून' और 'सिविल एण्ड मिलेट्री गजट' लोगों के जन–जीवन के बहुत से पक्षों पर प्रकाश डालते है।

पुस्तकें : पुस्तकें मुख्य रूप से दो श्रेणियों में आती है। 1. सरकारी रिपोर्ट आदि, और 2. गैर–सरकारी पुस्तकें। सरकारी रिपोर्ट आदि दो प्रकार की है; एक समसामयिक और दूसरी बाद की। और इसी तरह पुस्तकें भी अपने रचना काल के आधार पर वर्गित है।

सरकारी रिपोर्ट : ये रिपोर्ट अधिकतर प्रांतीय सरकारों द्वारा निर्मित है, इनमें महत्वपूर्ण 'एडमिनिस्ट्रेशन रिपोर्ट' 'सेंसज रिपोर्ट' और 'बन्दोबस्त रिपोट' 'एडमिनिस्ट्रेशन रिपोर्ट, 1849 से 1935 तक निकली है, और इनमें जो भी उन्नति इस क्षेत्र में हुई उसका लेखा–जोखा है। 1935 के बाद ये रिपोर्टे प्रत्येक विभाग द्वारा अलग से निकाली जाने लगी थी। सेंसज (जनगणना) रिपोर्टो के विषय में आधिक कहने की आवश्यकता नही, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि ये क्या है, और इनका इतिहास के स्त्रोत के रूप में क्या मूल्य है। हाँ, यह बताना आवश्यक है कि वे कौन–कौन सी रिपोर्टे है जो हमारे काम की है।

वैसे तो जनगणना नियमित रूप में 1881 से शुरू हुई है, पर इससे पूर्व भी कुछ ऐसे प्रयत्न हुए थे जिनसें क्षेत्र की जनसंख्या आदि के विषय में जाना जा सकता है। 1881 से तो हर दसवें वर्ष के बाद जनगणना होने लगी, जिनमें लोगों के जीवन के सब पक्षों को आंकड़ों और रिपोर्टो के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है।

इनके अलावा भूमि बन्दोबस्त की रिपोर्टे भी अपने में बहुमूल्य जानकारी समेटे हुए है। इनमें 1857 से पूर्व की बहुत सारी रिपोर्टे अप्रकाशित है, पर बाद की सब छपी हुइ है। इन रिपोर्टो में भूमि की किस्में, उपज, लगान की दर, आदि के विषय में तो जानकारी दी ही गई है, पर इसके साथ सामाजिक जीवन पर भी पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है। वस्तुतः 'बन्दोबस्त रिपोर्टे, आज किसी भी क्षेत्र के इतिहास लेखन के लिए बहुमूल्य निधि मानी जाती है–

भारत सरकार के विभिन्न विभागों द्वारा समय–समय पर अपने विभागों की ओर से बहुत सारी सामग्री प्रकाशित हुई है, जैसे– उद्योग विभाग ने प्रदेश में चले हुए उद्योगों का कई रिपोर्टो, पुस्तकों तथा शोध प्रबन्धों में विस्तार से वर्णन किया हैं

कई सरकारी आयोगों ने भी अपनी रिपोर्टो में इतिहास की बहुमूल्य सामग्री जुटाई है। आयोगों की रिपोर्टो में विशेष ये है 'इंडियन फेमिन कमीशन रिर्पोट' (1889), 'फेमिन रिलीफ कमीशन रिपोर्ट (1899), 'इंडियन फेमिन कमीशन रिपोर्ट' (1901) इंडियन इंडसस्ट्रियल रिपोर्ट (1916-18) और 'पंजाब एविडेंस' (1919) 'रायल कमीशन फार एग्रीकल्चर' (1928) 'पंजाब फेमिन खंड (1899-1900) आदि। इसके अतिरिक्त, बहुत से आयोग तथा कमेटिया प्रांतीय सरकारों ने भी इस दौरान बैठाई थी जिनकी रिपोर्टो में काफी महत्वपूर्ण सामग्री है।

ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष और राष्ट्रीय आन्दोलन के विषय में जानकारी के स्त्रोत बहुत सारी पुस्तकें है। 1857 की राज्यक्रान्ति पर बहुत सारी पुस्तकें लिखी गई हैं। 'दि हिस्ट्री आफ इंडियन म्यूटिनी' 2 खंड; कार्डिव की 'हडसंस हार्स, (1857-1922),. केवब्राऊन की दिन पंजाब ऐंड देहली इन 1857; वचिक की 'एनल्स आफ दि इंडियन रिबेलियन' हिन्दू की दि म्यूटिनी; ऐंड दि पिपुल; हडसन, की 'हडसन ऑफ हडसंस हार्स होम्स की 'हिस्ट्री आफ दि इंडियन म्यूटिनि; ज्वालासहाय की 'लायल राजपूताना', में कनजी के 'म्यूटिनी मैमायर्स ; मालेसन की 'दि इंडियन म्यूटिनी केय और मालेसन की 'दिन सिपाय वार', 6 खंड म्यूर के 'रिकार्ड्स आफ दि इंटेलिजेंस डिपार्टमेंट' (1857), 2 खंड, के. सी. यादव की 'दि रिवोल्ट आफ (1857) इन हरियाणा, 'देहली इन 1857' (संपादित) 'राव तुलाराम ए हीरो आफ 1857' विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

उन्नीसवी शदी के अन्तिम चरण और बाद में चलने वाले राष्ट्रीय आन्दोलन का ब्यौरा कतिपय पुस्तकों में है। अखिल भारतीय कांग्रेस के अधिवेशनों की वार्षिक रिपोर्टो के अतिरिक्त कई नेताओं के अपने संस्मरण भी इन दिनों के इतिहास को स्पष्ट रूप से पेश करते हैं।

अध्याय - 2

पूर्व औपनिवेशिक राजनीति

(Pre Colonial Polity)

जिस मुगल साम्राज्य ने समकालीन संसार को अपने विस्तृत प्रदेश, विशाल सेना तथा सांस्कृतिक उपलब्धियों से चकाचौंध कर दिया, अठारहवी शताब्दी के आरम्भ में वह अवनति की ओर जा रहा था। औरंगजेब का राज्य काल मुगलों का मध्य काल था। साम्राज्य को अनेक व्याधियों ने घेर रखा था और यह रोग शनैः शनैः समस्त देश में फैल रहा था। औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात आने वाले बावन वर्षो में आठ सम्राट दिल्ली के सिंहासन पर आरुढ़ हुए। भारत के भिन्न भागो मे देशी और विदेशी शक्तियों ने अनेक छोटे–बड़े राज्य स्थापित किए। बंगाल अवध और दक्कन आदि प्रदेश मुगल नियंत्रण से बाहर हो गए। उत्तर–पश्चिम की ओर से विदेशी आक्रमण होने लगे तथा विदेशी व्यापारी कम्पनियों ने भारत की राजनीति से हस्तक्षप करना आरम्भ कर दिया। परन्तु, इतनी कठिनाइयों के होते हुए भी मुगल साम्राज्य का दबदबा इतना था कि पतन की गति बहुत धीमी रही। 1737 में बाजी राव प्रथम और 1739 में नादिर शाह के दिल्ली पर आक्रमणों ने मुगल साम्राज्य के खोखलेपन की पोल खोल दी और 1740 तक यह पतन स्पष्ट हो गया।

उत्तर कालीन मुगल सम्राट
(Later Mughal Emperors)

मार्च, 1707 में औरंगजेब की मृत्यु, उसके पुत्रों में उत्तराधिकार के युद्ध का बिगुल था। मुहम्मद मुअज्जम (शाह आलम) मुहम्मद आजम, और कामबख्श में से सबसे बड़े पुत्र मुहम्मद मुअज्जम की विजय हुई। उसने जजाओं के स्थान पर 18 जून 1707 को आजम को और हैदराबाद के समीप 13 जनवरी, 1709 को कामबख्श को हरा कर मार डाला और स्वयं बहादुरशाह प्रथम की उपाधि धारण कर सिंहासन पर बैठ गया। उस समय उसकी आयु 63 वर्ष की थी और वह एक सक्रिय नेता के रूप में कार्य नहीं कर सकता था। इस मुगल सम्राट ने शान्तिप्रिय नीति अपनाई यद्यपि यह कहना कठिन है कि यह नीति उसकी शिथिलता का द्योतक थी अथवा उसकी सोच–समझ का फल था। उसने शिवाजी के पौत्र शाहू को जो 1689 से मुगलों के पास केद था, मुक्त कर दिया और महाराष्ट्र जाने की अनुमति दे दी। राजपूत राजाओं से भी शान्ति स्थापित कर ली और उन्हें उनके प्रदेशों में पुनः स्थापित कर दिया। परन्तु बहादुरशाह को सिक्खों के विरुद्ध कार्यवाही करनी पड़ी क्योंकि उनके नेता बन्दा बहादुर ने पंजाब में मुसलमानों के विरुद्ध एक व्यापक अभियान आरम्भ कर दिया था। बन्दा लोहगढ के स्थान पर हार गया। मुगलों ने सरहिन्द 1711 में पुनः जीत लिया परन्तु यह सब होते हुए भी बहादुरशाह सिक्खों का मित्र नहीं बन सका और न ही कुचल सका।

27 फरवरी, 1712 को बहादुरशाह की मृत्यु हो गई। प्रसिद्ध लेखक सर सिडनी ओवन के अनुसार "यह अन्तिम मुगल सम्राट था जिसके विषय में कुछ अच्छे शब्द कहे जा सकते है। इसके पश्चात् मुगल साम्राज्य का तीव्रगामी और पूर्ण पतन, मुगल सम्राटों की राजनैतिक तुच्छता और शक्तिहीनता का द्योतक था।"

1712 में बहादुरशाह की मृत्यु के पश्चात उसके चारों पुत्रों, जहांदार शाह, अजीम–उस–शान, रफी–उस–शान और जहान शाह में उत्तराधिकार का युद्ध आरम्भ हो गया। इस उत्तराधिकार के प्रश्न को हल करने में उसके पुत्रों ने इतनी निर्लज्ज शीघ्रता की कि बहादुशाह का शव एक मास तक दफन भी नहीं किया जा सका। दरबार में ईरानी दल के नेता जुल्फिकार खां की सहायता से जहांदार शाह (मार्च 1712 से फरवरी 1713) सफल हुआ।

कृतज्ञ सम्राट ने जुलफिकार खां को अपना प्रधानमन्त्री नियुक्त कर दिया। दस मास के भीतर ही जहांदार शाह को अजीम–उसशान के पुत्र फर्रुखसीयर ने सैयद बन्धुओं की सहायता से चुनौती दी और 11 फरवरी, 1713 को उसे हरा कर मार डाला। कृतज्ञ फर्रुखसीयर (1713-1719) ने अब्दुल्ला खां को वजीर और हुसैन अली को मीर बख्शी नियुक्त कर दिया। परन्तु शीघ्र ही सम्राट ने सैयद बन्धुओं के जूए को उतार फेंकने की सोची और इस हेतु एक षडयन्त्र रचा। परन्तु सैयद बन्धु सम्राट से अधिक चालाक थे और उन्हों ने मराठा सैनिकों की सहायता से 28 अप्रैल, 1719 को सम्राट का गला घोट दिया।

फर्रुखसीयर के राज्यकाल ने मुगलों की सिक्खों पर विजय–दुंदुभी बजती देखी। गुरदासपुर के स्थान पर उनका नेता बन्दा बहादुर ले लिया गया और दिल्ली में 19 जून, 1716 को उसका वध कर दिया गया। 1717 में सम्राट ने ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी को कई सी व्यापार सम्बन्धी रियायतें दे दी। इन से बिना सीमा शुल्क के बंगाल के रास्ते व्यापार भी किया जा सकता था।

फर्रुखसीयर की मृत्यु के पश्चात सैयद बन्धुओं ने शीघ्रातिशीघ्र एक के पश्चात एक सम्राट दिल्ली के सिंहासन पर बैठाए। इस प्रकार रफी–उद्–दरजात (28 फरवरी से 4 जून, 1719), रफी–उद्–दंग्ला (6 जून से 17 सितम्बर, 1719) और फिर मुहम्मद शाह (सितम्बर 1719 से अप्रैल 1748) सम्राट रहे। घटना–चक्र ने पूरा काट डाला और तूरानी अमीरों के नेतृत्व में 9 अक्टूबर, 1720 को हुसैन अली का वध कर दिया गया और 15 नवम्बर, 1720 को अब्दुल्ला खां बन्दी बना लिया गया। इसी महुम्मदशाह के राज्य–काल में निजाम–उल–मुल्क ने दक्कन में एक स्वतन्त्र राज्य बना लिया। सआदत खां ने अवध में और मुरशिदकुली खां ने बंगाल, बिहार और उड़ीसा प्रान्तों में लगभग स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिए। मार्च 1737 में बाजी राव प्रथम केवल 500 घुड़सवार लेकर दिल्ली पर चढ़ आया। सम्राट डर कर भागने को उद्यत था। 1739 मे नादिरशाह ने भारत पर आक्रमण किया और मुगल साम्राज्य को औंधा और जख्मी बना कर छोड़ गया।

नए मुगल सम्राट अहमदशाह और (1748–54) और आलमगीर द्वितीय (1754–59) इतने निर्बल थे कि वे इस पतन को रोक नहीं सके। उतर–पश्चिम की ओर से अहमद शाह अब्दाली ने 1748, 1749, 1752, 1756–57 और 1759 में आक्रमण किए और वह अधिकाधिक उद्दण्ड होता चला गया। शीघ्र ही पंजाब पठानों ने और मालवा और बुन्देलखण्ड मराठों ने छीन लिए तथा अन्य स्थानों पर भी आक्रमण किए। शाह आलम द्वितीय (1759–1806) और उसके उत्तराधिकारी केवल नाममात्र के ही सम्राट थे और अपने अमीरो, मराठों अथवा अंग्रेजों के हाथ की कठपुतलियाँ ही थे। 1803 में अंग्रेजों ने दिल्ली जीत ली। अंग्रेजों ने मुगल साम्राज्य का ढोंग 1858 तक बनाए रखा जब अन्तिम मुगल सम्राट बहादुरशाह जफर को रंगून में निर्वासित कर दिया गया।

उत्तरकालीन मुग़ल अभिजात वर्ग (Later Mughal Nobility)

उत्तर कालीन मुगल राजनीति में एक बहुत बुरी बात जो उभर कर सन्मुख आई, वह भी एक ऐसे शक्तिशाली सरदारों का उत्थान था जो अब 'सम्राट–निर्माता' (King-makers) की भूमिका निभाने लगे थे। उत्तराधिकारी के युद्ध तो मुगल काल के अच्छे दिनों में भी होते थे। जिनमें शक्तिशाली मनसबदार मुख्य लड़ने वालो का साथ देते थे परन्तु पश्चात्वर्ती मुगल काल में ये महत्वाकांक्षी अमरी और सरदार ही मुख्य भूमिका निभाने लगे थे और मुगल राजकुमार तो केवल शतरंज के मोहरे मात्र रह गए थे। सरदार लोग अपने स्वार्थ के लिए राजकुमारों को सिंहासन पर बैठा देते अथवा हटा देते। जहांदार शाह अपनी शक्ति से नहीं अपितु ईरानी दल के नेता जुलफिकार खां के उत्तम नेतृत्व के कारण सम्राट बना। इसी प्रकार फर्रुखसीयर को सैयद बन्धुओं ने ही 1713 में सिंहासन पर बैठाया और फिर जब 1719 में वह उनके लिए बेकार हो गया तो सिंहासन से उतार दिया गया। इसी शांति तीन कठपुतली सम्राट रफी–उद्–दरजात, रफी–उद्–दौला और मुहम्मद शाह सैयद बन्धुओं ने सिहांसन पर बैठाए। 1720 में सैयद बन्धुओं का पतन इसलिए नहीं हुआ कि वे सम्राट का विश्वास खो बैठे थे अपितु इसलिए कि निजाम–उल–मुल्क और मुहम्मद अमीना खां के नेतृत्व में तूरानी दल अधिक बलशाली हो गया था। ये दल आधुनिक दलों की भांति भिन्न–भिन्न नीतियों पर आधारित नहीं थे अपितु केवल स्वार्थ भाव से ही प्रेरित थे और प्रायः मुगल सम्राटों और देश के हितों के विपरीत ही कार्य करते थे।

मुगल दरबार में दल : प्रसिद्ध लेखक विलियम अरविन के अनुसार, मुगल दरबार में बहुत से दल थे। इनमें चार प्रमुख थे, तूरानी, ईरानी, अफगानी और हिन्दुस्तानी। इनमें पहले तीन मध्य एशियाई, ईरानी और अफगान सैनिकों के वंशज थे जिन्होंने भारत को जीता था और यहाँ राज्य स्थापित करने में सहायता दी थी। उनकी संख्या औरंगजेब के अन्तिम 25 वर्षो में बहुत बढ़ गई थी, विशेषकर जब वह दक्षिण में युद्धों में व्यस्त रहा। इनके वंशज भारत के भिन्न–भिन्न भागों में सैनिक और असैनिक पदो पर नियुक्त थे। इनमें ऑक्सस नदी के पार वाले तूरानी और फारस और खुरासान के अफगान, प्रायः सुन्नी थे और ईरानी अधिकतर शिया थे। इस मुगल अथवा विदेशी दल के विपरीत एक भारतीय दल था। जिसमें वे लोग थे जिनके पूर्वज बहुत पीढ़ियों पहले भारत में बस गए थे अथवा हिन्दुओं से मुसलमान बन गये थे। इस दल को राजपूत, जाट तथा शक्तिशाली हिन्दू जमींदारों का समर्थन भी प्राप्त था। छोटे–छोटे पदों पर नियुक्त हिन्दू भी इसी दल का समर्थन करते थे। परन्तु यह भी कहना ठीक नहीं होगा कि ये दल केवल रक्त, जाति और धर्म पर ही आधारित थे। डॉ० सतीश चन्द्र ने ठीक ही कहा है कि "अमीरो द्वारा धर्म और जाति की दुहाई केवल अपने निजी प्रयोजन के लिए ही दी जाती थी, वास्तविक दल प्रायः धर्म और जाति के बन्धनों के ऊपर होते थे।"

नवीन राज्यों का उत्थान
(Rise of New States)

मुगल साम्राज्य के शिथिल हो रहे राजनैतिक ढांचे तथा इसके सैन्य बल के कम होने के कारण भारत एक प्रकार से राजनैतिक शून्य स्थिति (Vacuum) उत्पन्न हो गई जिससे महत्वाकांक्षी सूबेदार तथा प्रादेशिक सरदारों को अर्ध स्वतन्त्र अथवा स्वतन्त्र राज्य बनाने की, तथा पश्चिमोत्तर सीमा पार के सहासी वीरों (adventurers) को भारत पर पुनः आक्रमण करने की प्रेरणा मिली। भारत के अपने आन्तरिक तथा बाहरी शत्रुओं के कारण स्थिति बहुत गम्भीर हो गई जिससे राजनैतिक अव्यवस्था बढ़ गई तथा मुगल साम्राज्य का पतन हो गया।

I. **दक्कन के निजाम** : हैदराबाद के आसफजाही वंश के पूवर्तक चिनकिलिच खां थे जिन्हें प्राय निजामुलमुल्क भी कहा जाता था।

यह जुल्फिकार खां था जिसने पहली बार दक्कन में स्वतन्त्र राज्य का स्वप्न देखा। 1708 में बहादुरशाह के आश्रय के कारण जुल्फिकार खां दक्कन का वाइसराय बना। वह दक्कन का कार्य अपने नायब दाऊद खां द्वारा चलाता रहा। 1713 में जुल्फिकार खां की मृत्यु हो गई और यह योजना समाप्त हो गई। तब चिनकिलिच खा सैयद बन्धुओं के प्रयास से दक्कन का वाइसराय बना। 1715 में सैयाद हुसैन अली को ही दक्कन का वाइसराय नियुक्त किया गया। हुसैन अली के वध के पश्चात चिनकिलिच खां का भाग्य पुनः चमका और वह दक्कन का सूबेदार नियुक्त हो गया।

1722 में निजाम को दिल्ली में वजीर नियुक्त किया गया। उसने दिल्ली में सुव्यवस्था स्थापित करने का प्रयत्न किया परन्तु सम्राट और उसके कामुक मित्रों ने सभी प्रायस विफल कर दिए। उसने सम्राट को कर्त्तव्य पालन का पाठ पढ़ाने का प्रयत्न किया। उसके कठोर अनुशासन से लोगों के मनों में उसके प्रति ईर्ष्या और द्वेष उत्पन्न हो गया। दुःखी होकर निजाम ने दक्कन जाने का विचार कर लिया। वजीर के रूप में उसने मालवा और गुजरात को दक्कन की सूबेदारी में सम्मिलित करवा लिया। 1723 के अन्त में उसने शिकार अभियान के बहाने दक्कन की ओर प्रस्थान किया।

सम्राट मुहम्मद शाह को यह बहुत बुरा लगा। उसने मुबारिज खां को पूर्ण रूपेण दक्कन का वाइसराय बना दिया और आज्ञा दी कि निजाम को जीवित अथवा मृत उपस्थित करें।

निजाम मुबारिज खां से कही अधिक शक्तिशाली था और अक्टूबर 1724 में शकूर खेड़ा के युद्ध में मुबारेज खा मारा गया और निजाम दक्कन का स्वामी बन गया। सम्राट बेबस था और बाह्य रूपेण अपनी मर्यादा बनाए रखने के लिए उसने किलिच खां को दक्कन का वाइसराय नियुक्त कर दिया और उसे आसफजाह की उपाधि भी दे दी।

निजाम को मराठों के आक्रमणों के कारण कुछ समय तक कठिनाई रही। उसने बाजी राव के विरुद्ध युद्ध किया और हार खाई (दिसम्बर 1737)। उसने सम्राट के साथ नादिरशाह के विरुद्ध करनाल के युद्ध में भाग लिया। दिल्ली में लाहौर के पूर्व नादिर शाह ने सम्राट को निजाम के विरुद्ध सचेत भी किया कि यह व्यक्ति आवश्यकता से अधिक महत्वाकांक्षी और चालाक है। नादिरशाह के लौटने के पश्चात् निजाम दक्कन चला गया और लौटकर उसने अपनी स्थिति सुदृढ़ कर ली।

सिडनी ओवन के अनुसार, वह एक चालाक, कूटनीतिज्ञ तथा अवसरवादी था। उसने मुगल साम्राज्य को अपने पाव पर खड़ा करने का प्रयत्न किया और जब उसे ऐसा होना असम्भव लगा तो वह स्वयं एक नौका में बैठ, कुछ अन्य व्यक्तियों के साथ डूबती हुई स्थिति से अपने आपको बचा कर ले गया।

II. **अवध** : अवध के स्वतन्त्र राज्य का संस्थापक सआदत जंग अथवा बुरहानुलमुल्क था। सआदत खा शिया था और निशापुर के सैयदों का वंशज था। 1720 में वह बयाना का फौजदार नियुक्त किया गया। उसने सैयद बन्धुओं के विरुद्ध षड़यन्त्र में भाग लिया और सम्राट की दृष्टि में ऊपर उठ गया। फलस्वरूप पहले उसे पंजहजारी और फिर सफहजारी का मनसब मिला और बुरहानुलमुल्क की उपाधि भी मिली। 1720 से 1722 तक वह आगरे का गवर्नर भी रहा। जिसका शासन उसने अपने नायब नीलकण्ठ नागर के द्वारा चलाया। परन्तु शीघ्र ही वह दरबार का कृपापात्र नहीं रहा और उसे राजधानी से बाहर अवध का गवर्नर नियुक्त किया गया। शीघ्र ही उसने अपने लिए अवध का स्वतन्त्र मुस्लिम राज्य स्थापित कर लिया। 1739 में सआदत खां ने नादिरशाह को दिल्ली पर आक्रमण करने के लिए प्रेरित किया परन्तु यह दांव उल्टा पड़ा। उसने आक्रमणकारी को 20 करोड़ की आशा दिलाई थी और जब उससे धन मांगा गया तो सआदत खां ने विष खां कर आत्महत्या कर ली।

उसके पुत्र नहीं था। उसने अपनी पुत्री का विवाह अपने भतीजे सफदर से कर दिया था और इसी कारण यह उसका उत्तराधिकारी बना। सम्राट मुहम्मद शाह ने एक फरमान द्वारा सफदर जंग को अवध का नबाब नियुक्त कर दिया। 1748 में सम्राट मुहम्मदशाह ने सफदर जंग को अपना वजीर नियुक्त कर लिया और उसके उत्तराधिकारी प्रायः नबाब वजीर कहलाने लगे। 1819 में इस वंश के सातवे शासक सआदत खां ने अवध के राजा की उपाधि धारण कर ली।

III. **रुहेले तथा बंगश पठान** : गंगा की घाटी में रुहेलो तथा बंगश पठानों ने अपने लिए स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिए। एक अफगान मीर दाऊद तथा उसके पुत्र अली मुहम्मद खां ने बरेली में एक छोटी सी जागीर का विस्तार कर, रुहेलखण्ड का एक स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया जो कि उत्तर में कमांऊ से दक्षिण में गंगा नदी तक फैल गया। इस से कुछ दूर पूर्व से मुहम्मद खां बंगश ने, जो एक अन्य अफगान वीर था फर्रुखाबाद की जागीर को एक स्वतन्त्र राज्य बना लिया। बाद में इसने बुन्देलखण्ड तथा इलाहाबाद के प्रदेशों पर अपना प्रभुत्व जमा लिया।

IV. **बंगाल** : बंगाल के स्वतन्त्र राज्य के संस्थापक मुर्शिद कुली खां थे। औरंगजेब के काल से ही मुर्शिद कुली खां को बंगाल के दीवान तथा नयाब गवर्नर का पद मिला हुआ था। पहले राजकुमार अजीमुशान के अधीन और फिर राजकुमार फर्रुखसीयर के अधीन 1713 में मुर्शिद कुल खां को बंगाल का गवर्नर नियुक्त कर दिया गया। 1719 में उड़ीसा भी उसके अधीन कर दिया गया। मुर्शिद कुली खां एक सफल शासक था और उसके अधीन बंगाल ने व्यापार और वाणिज्य में बहुत उन्नति की।

1727 में मुर्शिद कुली खां की मुत्यु के पश्चात उसका जामाता शुजाउद्दीन उसका उत्तराधिकारी बना। 1733 में सम्राट मुहम्मद शाह ने बिहार का कार्य भार भी उसी पर डाल दिया। 1739 में शुजाउद्दीन की मृत्यु पर उसका पुत्र सरफराज खां गवर्नर बना। परन्तु 1740 में बिहार के नायब सूबेदार अलीवर्दी खां ने विद्रोह कर दिया और अप्रैल में सरफराज खां को घेरिया के स्थान पर हरा कर माल डाला। अब अलीवर्दी खां बंगाल, बिहार और उड़ीसा का गवर्नर बन बैठा। उसने सम्राट को 2 करोंड़ रुपया नजराने के रूप में देकर सम्राट की अनुमति भी प्राप्त कर ली। 1746 में सम्राट ने अलीवर्दी खां से कुछ और धन मांगा परन्तु उसने कोई ध्यान नहीं दिया। इस प्रकार बंगाल, बिहार और उड़ीसा के प्रान्त सम्राट के अधिकार क्षेत्र से लगभग निकल ही गए।

अलीवर्दी खां मराठों के विरूद्ध भी रक्षा के लिए सम्राट पर निर्भर नहीं रहा। परन्तु फिर भी उसने निजाम और नवाब वजीरों की नाई मुगल राजसत्ता को झूठमूठ बनाए रखा।

V. **राजूपत** : राजपूतों ने जो औरंगजेब की राजनीति से अप्रसन्न थे, 18वीं शताब्दी में मुगल साम्राज्य की दुर्बलता से लाभ उठाकर अपनी प्राचीन स्वतन्त्रता पुनः स्थापित कर ली तथा चारों दिशाओं में अपने राज्यों का विस्तार कर लिया। राजपूतों तथा मुगलों के आपसी प्रेम–घृणा सम्बन्धों से प्रेरित होकर बहादुरशाह ने 1708 में जोधपुर पर आक्रमण कर दिया। अजीत सिंह ने अधीनता स्वीकार तो कर ली परन्तु शीघ्र ही उसने जयसिंह द्वितीय तथा दुर्गादास राठौर के साथ मिलकर मुगलों के विरुद्ध एक गठजोड़ बना लिया। 1714 में मुगल सेनापति हुसैन अली ने जोधपुर पर आक्रमण किया तथा अजीत सिंह को अपनी पुत्री का विवाह मुगल सम्राट फर्रुखसीयर से करके शान्ति मोल लेने पर बाध्य किया।

दिल्ली में हुए फर्रुखसीयर–सैयद बन्धु झगड़े में जयपुर तथा जोधपुर के राजाओं ने अपने हितों की रक्षा हेतु तटस्थता की नीति अपनाई। सैयद बन्धुओं ने अजीत सिंह को अपनी ओर मिलाने के लिए उसे अजमेर तथा गुजरात की सूबेदारी प्रदान की, जिस पद पर वह 1721 तक बना रहा। सैयद बन्धु–विरोधी दल ने जयपुर के महाराजा जयसिंह द्वितीय को 1721 में आगरे का सूबेदार नियुक्त कर दिया तथा सम्राट मुहम्मद शाह के काल में उसे गुजरात की सरकार का क्षेत्र भी दे दिया गया।

इस प्रकार एक समय दिल्ली के पश्चिम में 100 मील से लेकर भारत के पश्चिमी तट स्थित सूरत तक का समस्त देश राजपूतों के अधीन था। परन्तु राजपूतों के आन्तरिक झगड़ों के कारण वे अपनी स्थिति की दृढ़ नहीं कर पाए तथा मराठों के हस्तक्षेप का शिकार बन गए।

VI. **जाट** : दिल्ली, मथुरा तथा आगरा के समीपवर्ती क्षेत्रों में कृषि कार्य में लगे जाट लोगों ने औरंगजेब की नीति के विरुद्ध विद्रोह कर दिया था। यद्यपि विद्रोह तो दब गया था परन्तु वहाँ अशान्ति ही बनी रही। चूडामण ने थीम के स्थान पर एक सुदृढ दुर्ग बना लिया तथा इस प्रदेश में मुगलों की शक्ति को चुनौती दी। 1721 में आगरा के सूबेदार जयसिंह द्वितीय के अधीन मुगल सेना ने इसके विरुद्ध अभियान किया तथा दुर्ग जीत लिया। चूडामन ने आत्महत्या कर ली। तत्पश्चात् चूड़ामन के भतीजे बदन सिंह ने जाटों का नेतृत्व संभाल लिया। उसने अपनी सेना को शक्तिशाली बना लिया

तथा दीग, कुम्बेर, वेद तथा भरतपुर में चार दुर्ग बना लिए। नादिरशाह के आक्रमण के पश्चात हुई अव्यवस्था से लाभ उठा कर उसने आगरा तथा मथुरा पर अधिकार जमा लिया तथा भरतपुर राज्य की नींव रखी। अहमदशाह अब्दाली ने ने इस परिस्थिति को स्वीकार कर लिया तथा बदन सिंह को राजा की उपाधि दे दी जिसमें महेन्द्र शब्द भी जोड़ दिया गया।

1756 में सूरजमल इस राज्य का उत्तराधिकारी बना। उसने इस जाट राज्य को अपनी "चतुराई, सूक्ष्म बुद्धि तथा स्पष्ट दृष्टि" (Sagacity, steady intellect and clear vision) दी। लोग उसको जाटों का अफलातून (plato) के नाम से स्मरण करते हैं। 1763 में सूरजमल की मृत्यु हो गई तथा उसके पश्चात् जाट राज्य पतन हो गया।

VII. **सिक्ख** : सिक्खों के अन्तिम गुरु, गुरु गोविन्द सिंह ने धर्म तथा स्वतन्त्रता की रक्षा करने के लिए सिक्खों को योद्धाओं में परिणत कर दिया। 1708 में इनका नेतृत्व बन्दा बहादुर ने ले लिया तथा आने वाले 8 वर्ष तक वह मुगलों से जूझता रहा। युद्ध में अपने ही सहयोगियों द्वारा विश्वासघात किए जाने पर वह बन्दी बना लिया गया तथा 1716 में उसकी निर्मम हत्या कर दी गई। उस समय सिक्खों की अवस्था बहुत क्षीण थी।

नादिरशाह तथा अहमदशाह अब्दाली के आक्रमणों से मुगलों की केन्द्रीय सत्ता लगभग समाप्त हो गई। इससे सिक्ख मिसलों (बराबर के लोगों का संगठन) को स्वर्ण अवसर मिल गया तथा उन्होंने 1760 के पश्चात् पंजाब में अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया।

VIII. **मराठे** : सम्भवतः मुगलों को उत्तरी तथा दक्षिणी भारत में सब से कड़ी चुनौती मराठों की ओर से मिली। पेशवाओं के योग्य नेतृत्व में मराठों ने मुगलों को मालवा तथा गुजरात से उखाड़ फेंका तथा 1730 के पश्चात राजस्थान में भी अपना प्रभुत्व बना लिया तथा मुगलों के विघटन से उत्पन्न हुए रिक्त स्थान को भरने का पूर्ण प्रयत्न किया।

कुछ काल तक मराठे बहुत चमके तथा 1750 के पश्चात् ऐसा लगा कि वे ही मुगल सत्ता के अधिकारी बनेंगे परन्तु अहमदशाह अब्दाली ने उन्हें चुनौती दी तथा पानीपत के तीसरे युद्ध (1761) में उन्हें परास्त कर दिया। परन्तु इस हार के पश्चात मराठे शीघ्र ही पुनः उठ खड़े हुए तथा उन्होंने अंग्रेजों को सबसे कड़ी चुनौती प्रस्तुत की।

बालाजी विश्वनाथ (1713-20)
(Balaji Vishwanath)

बालाजी विश्वनाथ के आरम्भिक जीवन के विषय में अधिक जानकारी नहीं है। वह कोंकण के एक ब्राह्मण कुल से थे जो आज भी अपनी बुद्धि और प्रतिभा के लिए प्रसिद्ध है। उनके पूर्वज जंजीरा राज्य में श्री वर्धन के वंशानुगत कर संग्रहकर्ता थे। बाला जी विश्वनाथ के अंगरियों से, जो जंजीरा के सिद्दियों के शुत्र थे, सम्बन्धों के कारण इनका सिद्दियों से झगड़ा हो गया और उन्हें देश छोड़ कर सासवाड़ में बसना पड़ा। बालाजी के कर सम्बन्धी ज्ञान के कारण उन्हें मराठा के अधीन कार्य करने का अवसर मिला। 1696 में वह पूना के सभासद थे। कालान्तर वह पूरे पूना के (1699–1702) और फिर दालताबाद के (1704–07) सर सूबेदार रहे। 1699 से 1704 तक औरंगजेब पूना में और खेड़ में पड़ाव डाले बैठा रहा, परन्तु उन्होंने बालाजी विश्वनाथ को कुछ नहीं कहा। सम्भवतः वह औरंगजेब के लिए रसद जुटाने में लगे थे।

औरंगजेब के उत्तराधिकारी बहादुरशाह ने शाहू को इस आशा से मुक्त कर दिया कि उसके महाराष्ट्र में पहुंचने पर वहां गृहयुद्ध छिड़ जाएगा। औरंगजेब जब तक दक्षिण में रहा शाहू उसकी केद में उसके साथ ही था। सम्भवत बालाजी विश्वनाथ ने शाहू से उन्हीं दिनों कुछ तालमेल स्थापित किया। 1705 में विश्वनाथ ने पृच्छन्नरूप से शाहू को स्वतन्त्र कराने का प्रयत्न भी किया।

शाहू को राजकुमार आजम ने 1707 में मुक्त कर दिया। तुरन्त गृहयुद्ध आरम्भ हो गया। शाहू की चाची ताराबाई ने शाहू को झूठा दावेदार (Impostor) बतलाया और अपने पुत्र के लिए सतारा की गद्दी प्राप्त करने का प्रयत्न किया। अक्टूबर 1707 में खेड़ में ताराबाई और शाहू के बीच गृहयुद्ध हुआ। बालाजी ने शाहू का साथ दिया और अपनी कूटनीति से ताराबाई के सेनापति धन्नाजी को अपनी ओर मिला लिया और मैदान मार लिया। 1708 मे धन्नाजी की मृत्यु हो गई और शाहू ने उसके पुत्र चन्द्रसेन को अपना सेनापति नियुक्त कर लिया। चन्द्रसेन का झुकाव ताराबाई की ओर था। शाहू ने चन्द्रसेन के सम्भावित विश्वासघात से बचने के लिए एक नया पद 'सेनाकर्ते' (सेना को संगठित करने वाला) बना दिया और बालाजी को इस पद पर नियुक्त कर दिया।

1712 में शाहू का भाग्य निम्नतम स्तरों पर था चन्द्रसेन ताराबाई से जा मिला। सीमा रक्षक कान्होजी भोंसले ने भी शाहू से ताराबाई का समर्थन किया और शाहू और उसके पेशवा बहिरोपन्त पिंगले को बन्दी बना लिया और ताराबाई और उसके

की धमकी दी। दिल्ली में शाहू के समर्थक जुलफि कार खां का गुटबन्दी के झगड़े में वध कर दिया गया था। ऐसे आड़े समय में बालाजी शाहू के काम आया। उसने अपनी कूटनीति से न केवल सिंहासन को बचाया अपितु चन्द्रसेन जादव को हराया। फिर उसने ताराबाई के समर्थकों में फूट डलवा दी। सबसे प्रमुख बात यह की कि उन्होंने कान्होंजी आंगड़े को बिना युद्ध के शाहू की ओर मिला लिया। एक ओर उन्होंने सिद्दियों, अंग्रेजों और पुर्तगालियों की शत्रुता का दबाव डाला और दूसरी ओर कान्होजी की राष्ट्रीयता को ललकारा कि मराठा राज्य शिवाजी की सबसे महान देन है और प्रत्येक मराठा और इसकी रक्षा तथा बनाए रखने के लिए प्रयत्न करना चाहिए।

सत्ता के लिए राजनीति के युद्ध में 1713 में फर्रुखसीयर सैयदबन्धु हुसैन अली और अब्दुल्ला खां की सहायता से सिंहासन पर बैठ गया। शीघ्र ही दोनों में विरोध उत्पन्न हो गया और दरबार एक बार पुनः षडयंत्रों का केन्द्र बन गया। सम्राट ने मुख्या सेनापति हुसैन अली से मुक्ति पाने की इच्छा से उसे दक्षिण का वाइसराय नियुक्त कर दिया और दूसरी ओर गुजरात के गवर्नर दाऊद खां और शाहू को इसके विरुद्ध युद्ध करने और उसे समाप्त करने के लिए प्रेरित किया। सम्राट का यह उद्देश्य सैयद बन्धुओं को विदित था।

1717 में अब्दुल्ला खां की दरबार में स्थिति इतनी बिगड़ गई कि वह हुसैन अली को बुलाने पर बाध्य हो गया। दूसरी ओर हुसैन अली ने यह अनुभव किया कि यदि उसे दक्षिण में अनुपस्थित रहना है तो वह मराठों से शत्रुता नहीं रख सकता। सैयद बंधुओं को मराठों और दरबारी षड्यंत्रों के बीच पिस जाने का भय था अतएव हुसैन अली ने दिल्ली की ओर प्रस्थान करने से पूर्व मराठों से मित्रता करने की सोची। शाहू अपनी माता तथा भाई को जो दिल्ली में बन्धक थे, मुक्त करवाना चाहता था, तुरन्त इस मित्रता के लिए तैयार हो गया। संधि की शर्तें बनाई गई और मसविदा सम्राट की अनुमति के लिए दिल्ली भेज दिया गया। मुख्य शर्तें यों थी –

(i) शाहू को शिवाजी का स्वराज्य पूर्ण रुपेण अधिकार में मिलेगा।

(ii) खानदेश बराड़, गोंडवाना, हैदराबाद और कर्नाटक के वे सभी क्षेत्र जो मराठों ने पिछले दिनों विजय कर लिए थे, शाहू को मराठा राज्य के भाग के रूप में मिल जायेंगे।

(iii) मराठों को दक्कन में मुगल प्रान्तों से चौथ तथा सरदेशमुखी प्राप्त करने का अधिकार होगा। उसके प्रतिकार के रूप में मराठे 15000 सैनिक सम्राट की सेवा के लिए देंगे तथा दक्कन में शन्ति बनाए रखेंगे।

(vi) शाहू कोल्हापुर के शम्भूजी को किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँचाएगा।

(v) शाहू सम्राट को 10 लाख रुपया वार्षिक का कर या खिराज देगा।

मुगल सम्राट शाहू की माता तथा अन्य सम्बन्धियों को छोड़ देगा।

अतएव बालाजी विश्वनाथ ने 15,000 सैनिकों समेत हुसैन अली के संग दिल्ली की ओर प्रस्थान किया। इन सैनिको की सहायता से सैयद बन्धुओं ने सम्राट फर्रखसीयर को सिंहासन से उतार दिया तथा अगले सम्राट रफी–उद–रजात ने इस सन्धि को स्वीाकर कर लिया।

सर रिचर्ड टेम्पल ने इस सन्धि को मराठा साम्राज्य के मैगनाकार्टा (Magna Carta) की संज्ञा दी है। मुगल सम्राट अब दक्कन के छः प्रान्तों से चौथा तथा सरदेशमुखी की मांग को नहीं ठुकरा सकते थे। वास्तव में चौथ का देना इस तथ्य का द्योतक था कि मुगलों की स्थिति मराठों की तुलना में क्षीण हो गई थी। मराठों ने मुगलों की कमर तोड़ दी थी और मुगलों की दक्कन की आय का चौथा उन्हें मिलने लगा। इससे तथा शाहू के राज्य पर अधिकार को मान्यता मिलने से महाराष्ट्र में उसका मान बढ़ गया। वह मराठों का पूर्णरूपेण नेता बना गया। शम्भूजी की आकांक्षाओं पर पानी फिर गया। अब निश्चय ही आकाश में एक नया तारा चमक रहा था। दिल्ली से लौटने पर बालाजी का अन्तिम कार्य कोल्हापुर के विरुद्ध सैनिक अभियान था। शम्भूजी उसकी अनुपस्थिति में अनेक कठिनाइयां उत्पन्न करने का प्रयत्न कर रहे थे। विश्वनाथ का 2 अप्रैल, 1720 को देहावसान हो गया।

बाजीराव प्रथम (1720-40) (Baji Rao I)

1720 में शाहू ने बालाजी विश्वनाथ के बड़े पुत्र बाजीराव प्रथम को पेशवा नियुक्त कर दिया। यद्यपि वह केवल 19 वर्ष का युवक था परन्तु उसकी सूझबूझ अद्भुत थी। उसे अपने पिता से कूटनीति तथा प्रशासन में बहुत प्रशिक्षण प्राप्त था।

बाजीराव के सन्मुख कार्य बहुत कठिन था। दक्षिण के निज़ाम उसके चौथ तथा सरदेशमुख प्राप्त करने के अधिकार को चुनौती दे रहा था। स्वराज्य का एक बड़ा भाग जंजीरा के सिद्दियों के अधीन था शिवाजी के वंशज कोल्हापुर के शम्भूजी शाहू की

सर्वोच्च सत्ता को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थे तथा अन्य मराठा सरदार स्वायतत्ता प्राप्त करना चाहते थे। बालाजी ने एक सफल खिलाडी की नाई इन सब गुत्थियों को सुलझा लिया। उसके दक्कन में अपनी सर्वोच्चता पुन: स्थापित कर ली और उत्तर विजय की योजना बनाई। उसने मुगल साम्राज्य के भावी पतन से मराठों के लिए लाभ उठाने का निश्चय किया और शाहू को इन शब्दों में ललकारा "अब समय आ गया है कि हम विदेशियों को भारत निकाल दे और हिन्दुओं के लिए अमर कीर्ति प्राप्त कर लें। आओ हम इस पुराने वृक्ष के खोखले तने पर प्रहार करे, शाखाए तो स्वय ही गिर जाएगी। हमारे प्रयत्नों में मराठा पताका कृष्ण नदी से अटक तक फहराने लगेगी।" शाहू इस तरुण पेशवा की ललकार से अतिप्रभावित हुए और बोले, "नहीं आप निश्चय ही इसे हिमालय के पार गाड़ देंगे। आप सत्य ही योग्य पिता के योग्य पुत्र है।" बाजीराव ने हिन्दू पद पादशाही के आदर्श का प्रचार किया और इसे लोकप्रिय बनाया ताकि अन्य हिन्दू राजे इस योजना म मुगलों के विरुद्ध इनका पक्ष लें और साथ दें।

निजाम के सम्बन्ध : आसफजाह निजामुल मुल्क जो 17137–15 और 1720–21 तक दक्कन का वाइसराय रह चुका था 1724 में पुन: दक्कन में आ विराजमान हुआ। चूंकि वह स्वयं एक स्वायत्त राज्य बनाना चाहता था, वह मराठों से ईर्ष्या करता था। उसने इस प्रश्न का हल करने के लिए कूटनीति अपनाई। यह जानते हुए कि वह मराठों के देश में जी नहीं सकता, उसने कोल्हापुर गुट को प्रोत्साहित कर मराठों के बीच फूट डलवाने का प्रयत्न किया। जब 1725-26 में बाजीराव कर्नाटक गया हुआ था, तो उसने शम्भूजी की सैनिक सहायता की और शाहू को अपनी अधीनता स्वीकार कराने में लगभग सफलता प्राप्त की। परन्तु पेशवा ने लौट कर इस बिगड़ी परिस्थिति को संभाल लिया ओर 7 मार्च, 1728 को पालखेड़ के समीप निजाम को करारी हार दी। उसे मुंगी शिवागांव की संधि मानने पर बाध्य कर दिया जिसके अनुसार निजाम ने शाहू का चौथ तथा सरदेशमुखी देना, शम्भूजी को सहायता न देना, विजित प्रदेश लौटना तथा बन्दी छोड़ देना स्वीकार किया।

निजाम की इस हार से दक्कन में मराठों की सर्वोच्चता स्थापित हो गई और उनका पूर्व तथा दक्षिण में प्रसार करना अब केवल समय का प्रश्न था। शम्भूजी के षड़यंत्र असफल हो गए और अन्त में उसने बारना की सन्धि (अप्रैल 1731) से शाहू की अधीनता स्वीकार कर ली। सबसे महत्वपूर्ण बात यह थी कि इससे सब लोग बाजीराव की कूटनीति तथा सैनिक नेतृत्व का लोहा मान गए और उन्हें अपने स्वप्न साकार करने की प्रेरणा मिली।

गुजरात तथा मालवा विजय : 1573 में अकबर की गुजरात विजय के पूर्व ही गुजरात भारत तथा पश्चिमी एशिया तथा पूर्वी अफ्रीका के बीच व्यापार का प्रमुख केन्द्र बना गया था। 1705 में खाण्डेराव दभाड़े के नेतृत्व ने गुजरात से भी चौथ प्राप्त करने का अधिकार मांगा था परन्तु वे असफल रहे थे। इसके पश्चात मराठों ने गुजरात पर अनेक अभियान किए तथा कई जिलों से चौथली। मुगल शासन लुप्तप्ताप हो गया था। 1730 के मार्च मास में मुगल सूबेदार सरबुलन्द खा ने बाजीराव व छोटे भाई चिमनाजी के साथ सन्धि की जिसमें मराठों का चौथ तथा सरदेशमुखी प्राप्त करने का अधिकार स्वीकार कर लिया गया था। परन्तु मुगल अधिकार की अन्तिम कड़ी 1753 तक नहीं टूटी।

मालवा उत्तर भारत तथा दक्कन की जोड़नी वाली एक कड़ी थी। दक्कन तथा गुजरात को जाने वाले व्यापार मार्ग यहा से गुजरते थे। मराठों ने महाराष्ट्र में मुगलों के आक्रमणों के प्रतिकार के रूप में मालवा पर 18वीं शताब्दी के आरम्भिक वर्ष में आक्रमण करने आरम्भ कर दिए थे। बालाजी विश्वनाथ ने 1719 में मालवा से चौथ इत्यादि प्राप्त करने का अधिकार प्राप्त करने का असफल प्रयत्न किया था। ऊदाजी पवार तथा मल्हा राव होल्कर ने आक्रमणों से मुगल सत्ता की जड़े उखाड डाली। सवाई जयसिंह, मुहम्मद खां बंगश तथा जयसिंह जैसे– मुगल सूबेदार मराठों के आक्रमणों को रोकने म असफल रहे और 1735 में पेशवा स्वयं उत्तर उतर की ओर बढ़े। मालवा पर मुगलों की सत्ता लुप्तप्राय हो गई थी।

बुन्देलखण्ड की विजय : बुन्देले राजपूतों के एक कुल थे। वे मालवा के पूर्व में यमुना तथा नर्मदा के बीच पहाड़ी प्रदेश में राज्य करते थे। उन्होंने अकबर, जहांगीर तथा औरंगजगब का डटकर विरोध किया था। बुन्देलखण्ड इलाहाबाद की सूबेदारी में था। जब मुहम्मद खां बंगश इलाहाबाद का सूबेदार नियुक्त हुआ तो उन्होंने बुन्देलों को समाप्त करने की ठानी। उन्हें बहुत सफलता मिली और उन्होंने जैतपुर जीत लिया। बुन्देल नरेश छत्रसाल ने मराठा सेना की सहायता मांगी। 1728 म पेशवा ने बुन्देलखण्ड के सभी विजित प्रदेश मुगलों से वापिस छीन लिए। कृतज्ञ छत्रसाल ने पेशवा की शान म एक दरबार की आयोजना किया तथा काल्पी, सागर, झांसी तथा हृदयनगर पेशवा को निजि जागरी के रूप में भेंट किया।

दिल्ली पर आक्रमण तथा भोपाल का युद्ध : उत्तरी बुन्देलखण्ड पर आक्रमणों मे मल्हारराव होल्कर के भेजे एक टुकड़ी ने यमुना नदी पार की तथा अवध पर आक्रमण कर दिया। सआदत खा की बहुसख्यक घुड़सवार सेना ने कन्नौज में लौटना पड़ा। सआदत खा ने इसका एक अत्यन्त अतिशयोक्ति पूर्ण विवरण मुगल सम्राट को भेज दिया। पेशवा ने समाचार ह

मराठा शक्ति की एक झलक दिखाने के लिए दिल्ली पर आक्रमण कर दिया। केवल 500 सवारों के साथ, जाटों तथा मेवातियों के प्रदेश को विद्युत गति से लाघंता हुआ, बाजीराव दिल्ली पहुँचा (29 मार्च, 1737) मुगल सम्राट ने दिल्ली से भागने की तैयारी कर ली। बाजीराव दिल्ली केवल 3 दिन ठहरा। परन्तु सआदत खां और मुगल सम्राट के खोखलेपन का स्पष्ट प्रदर्शन हो गया।

ऐसे समय में जब मुगल सम्राट मराठों के अतिरिक्त रियायतें देने की सोच रहा था, निजाम ने सम्राट को उबारने का प्रयत्न किया। निजाम पहले ही मराठों की सैनिक शक्ति, चौथ इत्यादि प्राप्त करने से दुःखी था और उसने भोपाल, में मराठों से टक्कर ली, हार खाई तथा सन्धि करने पर बाध्य हुआ। परिणामस्वरूप निजाम ने पेशवा को सम्राट से मालवा दिलवाने का वचन दिया। इसके अतिरिक्त चम्बल तथा नर्मदा के बीच के प्रदेशों पर पूर्ण मराठा अधिकार स्वीकार किया जिसकी पुष्टि सम्राट से होनी थी तथा 50 लाख रुपया युद्ध की क्षति पूर्ति के लिए भी दिया।

इस प्रकार मराठों को मालवा मिला, निजाम को पूर्णरुपेण नीचा देखना पड़ा तथा मराठा शक्ति की सर्वोच्चता स्वीकार करवा ली गई। मुख्य बात यह कि उत्तर में मराठा शक्ति का उदय हुआ।

बालाजी बाजीराव (1740-61) (Balaji Baji Rao)

इस समय तक पेशवा पद पैतृक बन गया था। जब 1740 में बाजीराव की मृत्यु हुई तो शाहू ने बालाजी बाजीराव को इस पद पर नियुक्त कर दिया। इससे पूर्ण ही शक्ति छत्रपति के हाथ में केन्द्रित न रह कर बाजीराव प्रथम के हाथों में आ चुकी थी। 1750 में होने वाली संगोलासन्धि के अनुसार सर्वोधानिक क्रान्ति द्वारा यह प्रक्रिया पूरी हो गई। इसके पश्चात् मराठा छत्रपति केवल नाममात्र के राजा रह गए और महलों के महापौर (Mayor of the place)) बन गए। मराठा संगठन का वास्तविक नेता पेशवा बना गया।

बालाजी बाजीराव ने अपने पिता के अपूर्ण कार्य को पूरा करने की ठानी। उन्होंने मराठा शक्ति को उत्तर और दक्षिण में और अधिक प्रसार किया। उन्हें सफलता मिली और कटक से अटक तक मराठा दुंदुभी बजने लगी। मराठा सामन्तों ने भारत में अनेक स्थानों पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। गुजरात, मालवा तथा बुन्देलखण्ड उनके सीधे प्रशासन के अधीन आ गए। मराठा सेनाएं बंगला में पहुँच गई थी तथा कटक को लूट चुकी थी। निजाम हार गया था, मैसूर के महाराज से अनेक स्थानों पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। गुजरात, मालवा तथा बुन्देलखंड उनके सीधे प्रशासन के अधीन आ गया। मराठा सेनाएं बंगाल में पहुंच गई थी तथाा कटक को लू चुकी थी निजाम हार गया था, मैसूर के महाराज से अनेक भाग छीन लिए थे। दिल्ली के शक्ति–संघर्ष में मराठा राजनीतिज्ञ एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रहे थे और मराठा घोड़े सिंध नदी से पानी पीते थे।

मालवा और बुन्देलखण्ड में माराठा शक्ति का समीकरण : यूं तो मराठा सैनिक मालवा में चौथ लेते थे परन्तु उनका नियंत्रण सम्पूर्ण नहीं था। जयसिंह की मध्यस्थता से 4 जुलाई, 1741 को मुगल सम्राट ने एक फरमान द्वारा राजकुमार अहमद को मालवा का सूबेदार नियुक्त कर दिया तथा पेशवा को नायब सूबेदार इसके बदले में पेशवा 4,000 सैनिक सम्राट को आवश्यकता पड़ने पर देगा। इस प्रकार मालवा का प्रशासन, फौजदारी न्याय सहित मराठों के हाथ में आ गया।

बुन्देलखण्ड मराठों के दोआब तथा अवध पर आक्रमण का आधार बन सकता था और बंगाल और बिहार की ओर भी प्रसार कर सकते थे। 1729 में बाजीराव प्रथम द्वारा प्राप्त की गई रियायतों के पश्चात् भी मराठों ने इस प्रदेश में बहुत प्रभाव स्थापित नहीं किया था। 1742 में मराठों ने ओड़छा के बुन्देला सरदार को परास्त कर झांसी पर अधिकार कर लिया तथा झांसी बुन्देलखण्ड में मराठा उपनिवेश बन गया।

पूर्व तथा दक्षिणी में मराठा प्रभाव प्रसार : तंजौर के मराठा सरदार कर्नाटक के नवाब दोस्त अली के हाथों दुःखी थे। बराड़ से रघुजी भोंसले ने कर्नाटक के विरुद्ध एक अभियान भेजा ताकि वह दोस्त अली को नियन्त्रण में ला सके। युद्ध में दोस्त अली मारा गया तथा उसके पुत्र ने सन्धि कर ली। मराठों ने त्रिचनापल्ली (तिरुचिरापल्ली) का घेरा सफलतापूर्वक सम्पन्न कर दोस्त अली के जामाता चन्दा साहिब का बन्दी बना सतारा भेजा दिया।

इसके पश्चात् रघुजी ने पूर्व में बंगाल, बिहार तथा उड़ीसा से चौथ मांगी और अपने वित्त मंत्री भास्कर पन्त को इस उद्देश्य से भेजा। नवाब अलीवर्दी खां मराठों को रोक तो नहीं सके परन्तु उन्होंने 1744 में भास्कर राव को धोखे से मरवा दिया। फलस्वरूप राघुजी ने बंगाल पर आक्रमण किया तथा प्रेदश में लूटमार की। अलीवर्दी खां को बाध्य होकर उड़ीसा त्यागना पड़ा और उसने बंगाल तथा बिहार से चौथ के रूप में 12 लाख रुपया वार्षिक देना स्वीकार किया। (1751)

निजाम से युद्ध : 1745 में आमफजाह की मृत्यु पर उसके उत्तराधिकारियों में गृहयुद्ध छिड़ गया और पेशवा को खानदेश व बगड़ में अपना अधिकार स्थापित करने का अवसर मिल गया। परन्तु निजाम ने फ्रांसीसी जनरल बुस्सी के नेतृत्व में तोपखाने का प्रयोग किया और पेशवा को विशेष सफलता नहीं प्राप्त करने दी। युद्ध लम्बा हो गया और अन्त में निजाम ने बगड़ का आधा भाग मराठों को दे दिया (भलकी की सन्धि, 1752)।

अंग्रेजों तथा फ्रांसीसियों के बीच सप्तवर्षीय युद्ध (1756–63) छिड़ गया। बुस्सी को हैदराबाद से वापिस बुला लिया गया और पेशवा ने इस अवसर से लाभ उठाकर निजाम से गोदावरी के उत्तरी प्रदेश की मांग की। दिसम्बर 1757 मे सिन्दखेड़ में भीषण युद्ध हुआ। निजाम ने बाध्य होकर, 25 लाख रुपए वार्षिक कर देने योग्य प्रदेश नालदुर्ग समेत मराठों को दे दिए। दिसम्बर 1759 में पुनः युद्ध छिड़ गया और जनवरी 1760 में हुए उदगीर के युद्ध में निजाम ने करारी हार खाई। मराठों ने 60 लाख रुपए वार्षिक कर का प्रदेश जिसमें अहमद नगर, दौलताबाद, बुरहानपुर तथा बीजापुर नगर सम्मिलित थे, प्राप्त कर लिए।

मराठों का पंजाब तथा दिल्ली में उलझना : मुगल सम्राटों की दुर्बलता के कारण विघटन तत्वों को प्रोत्साहन मिला। रुहेल अहमदशाह अब्दाली की सहायता से दिल्ली में पठान तथा रुहेल अहमदशाह अब्दाली की सहायता से दिल्ली में पठान राज्य स्थापित करना चाहते थे। दरबार के षड़यन्त्रों के कारण मराठों को दिल्ली की राजनीति में हस्तक्षेप करने का अवसर मिला था। 1751 मे अब्दाली के आक्रमण से भयभीत होकर सफदरजंग ने मराठों से सहायता मांगी। अप्रैल 1752 में एक करारनामा किया गया जिसमें 50 लाख रुपये वार्षिक के बदले मराठों ने मुगल साम्राज्य को आन्तरिक तथा ब्राह्य आरक्षण का वचन दिया। उन्हें अमजेर के प्रदेश भी मिल गए तथा उन्हें पंजाब, सिन्ध तथा दोआब के प्रदेश से चौथ प्राप्त करने का अधिकार भी मिल गया। इस समझौते के होते हुए भी सम्राट ने अब्दाली को पंजाब दे दिया। यद्यपि यह कारनामा सम्राट ने पूर्णरुपण स्वीकार नहीं किया फिर भी इससे मराठों की पिपासा जाग उठी।

जनवरी 1757 में अब्दाली पुनः पुजाब आया तथा दिल्ली और मथुरा के बीच के प्रदेश लूटे, मन्दिर तोड़े तथा हिन्दू मारे। पूना से मराठा सेना, रघुनाथ राव तथा मल्हार राव होल्कर की अध्यक्षता में दिल्ली भेजी गई। मार्च 1758 में अब्दाली काबुल लौट गया। दूसरी ओर मराठे अगस्त में दिल्ली पहुँचे। रघुनाथ राव ने सम्राट को पुनः दिल्ली के सिंहासन पर बैठा दिया और सतलुज से बनारस तक अब मराठा पताका फहरा रही थी। अप्रैल 1758 में मराठों ने लाहौर से अब्दाली के एजेन्ट को निकाल कर समस्त पंजाब पर अधिकार कर लिया।

यह तो अब्दाली के लिए एक महान चुनौती थी। रुहेला सरदार नजीबुद्दौला मराठा शक्ति को चुनौति दे रहा था। सरदार नजीबुद्दौला मराठा शक्ति को चुनौती दे रहा था। दत्ताजी सिंधिया मुजफ्फर नगर के पास नजीबुद्दौला के लिए घेरा डाल बैठे थे। 1758 में अब्दाली ने अटक पार किया और दिल्ली की ओर बढ़ा। दत्ताजी ने आक्रान्ता को थानेसर के पास रोकने का असफल प्रयास किया तथा मारा गया। मल्हारराव के इस आक्रांताकी सेना को तंग करने का भी विशेष लाभ नही हुआ। पूना से एक विशाल सेना अफगानो से टक्कर लेने के लिए सदाशिवराव भाऊ के अधीन भेजी गई। दोनों सेनाओं के बीच 14 जनवरी 1761 में ऐतिहासिक क्षेत्र पानीपत में युद्ध हुआ। मराठे हार गए तथा उनके समस्त भारत पर राज्य करने के स्वप्न मिटटी में मिल गए। उसी वर्ष बालाजी बाजीराव का देहान्त हो गया।

कर्नाटक में ऐंग्लो-फ्रेंच संघर्ष

व्यापार से आरम्भ होकर अंग्रेजी तथा फ्रांसीसी कम्पनियां भारत की राजनीति में अपरिहार्य रूप से उलझ गई। जब मुगल सत्ता क्षीण हो गई तथा दक्कन के सूबेदार कम्पनियों की रक्षा करने में असमर्थ हो गये तो कम्पननियों ने रक्षा के लिए स्वयं ही खड्ग उठाई। इन दोनों कम्पनियों का उद्देश्य व्यापार से अधिकाधिक लाभ उठाना था। यह तभी सम्भव था जब उन्हे एकाधिकार प्राप्त हो जाए तथा दूसरी कम्पनी मार्ग से हट जाए अर्थात् वे अपना माल सस्ते से सस्ता खरीद सकें। यह सब तभी सम्भव था जब देश पर कुछ न कुछ राजनैतिक नियन्त्रण प्राप्त हो जाए।

17वीं तथा 18वीं शताब्दियों आग्ल–फ्रांसीसी शाश्वत शुत्र थे तथा ज्यों ही यूरोप में उनका आपसी युद्ध आरम्भ होता भारत के प्रत्येक कोने में जहाँ ये दो कम्पनियां कार्य करती थी। आपसी युद्ध आरम्भ हो जात थे। भारत में ऐंग्लो फ्रेंच युद्ध आस्ट्रिया के उत्तराधिकार के युद्ध से आरम्भ हुआ। उस समय फ्रांसीसियों का मुख्य कार्यालय पांडीचेरी मे था तथा मसालीपट्टम कारिकल माहीसूरत तथा चन्द्रनगर में उनके उपकार्यलय थे। दूसरी ओर अंग्रेजों की मुख्या बस्तिया, मद्रास, बम्बई और कलकत्ता में थी तथा अनेक उपकार्यलय थे।

कर्नाटक का प्रथम युद्ध (1746-48) : यह युद्ध आस्ट्रिया के उत्तराधिकार के युद्ध का जो 1740 म आरम्भ हुआ था विस्तार मात्र ही था। गृह सरकारों की आज्ञा के विरुद्ध ही दोनों दलों में 1746 में युद्ध आरम्भ हो गया। बारनेट के नेतृत्व में अंग्रेजी

नौसेना ने कुछ फ्रांसीसी जल पोत पकड़ लिए। डूप्ले ने जो 1741 से पाण्डीचेरी का फ्रेंच गर्वनर--जनरल था, मांसीशस स्थित फ्रांसीसी गवर्नर ला बर्डोने (La Bourdonnais) से सहायता मांगी। ला बूर्डोने 3000 सैनिक लेकर कोरोमण्डल तट (मद्रास के पास का तट) की ओर चल पड़ा। रास्ते में उसने अंग्रेजी नौसेना को परास्त किया। मद्रास को जल तथा थल दोनों ओर से फ्रांसीसियों ने घेर लिया। 21 सितम्बर को मद्रास ने आत्मसमर्पण कर दिया। युद्ध बन्दियों में क्लाइव भी था। ला बूर्डोने का विचार इस नगर से फिरौती लेने का था परन्तु डूप्ले ने इसको स्वीकार नहीं किया तथा नगर पुनः जीत लिया। परन्तु वह फोर्ट सेन्ट डेविड जो पाण्डीचेरी से केवल 18 मील दक्षिण में स्थित था उसे जीनते से असफल रहा। दूसरी ओर एक अंग्रेजी स्क्वाड्रन ने रीयर एडमिरल बोस्कावे के नेतृत्व में पॉण्डीचेरी को घेरने का असफल प्रयत्न किया।

कर्नाटक का प्रथम युद्ध सेन्ट टोने के युद्ध के लिए स्मरणीय है। यह युद्ध फ्रंसीसी सेना तथा कर्नाटक के नवाब अनवरुद्दीन (1744--49) के नेतृत्व में भारतीय सेना के बीच लड़ा गया। झगड़ा फ्रांसीसियों द्वारा मद्रास की विजय पर हुआ। नवाब ने दोनों कम्पनियों को लड़ते हुए देखकर उन्हें आज्ञा दी कि वे युद्ध बन्द करें तथा देश की शन्ति भंग ने करें। डूप्ले ने मद्रास को जीतकर नवाब को दे देने को प्रस्ताव किया था। परन्तु जब डूप्ले ने अपना वचन पूरा नहीं किया तो नवाब ने अपनी मांग स्वीकार कराने के उद्देश्य से अपनी सेना भेजी। कैप्टिन पेराडाइज (Paradise) के अधीन एक छोटी--सी फ्रांसीसी सेना ने जिसमें 230 फ्रांसीसी तथा 700 भारतीय सैनिक थे, महफूज खां के नेतृत्व में 10,000 भारतीय सेना को अदयार नदी पर स्थित सेन्ट टोमें के स्थान पर पराराजित कर दिया। कैप्टिन पेराडाइज की इस विजय ने विदेशी यूरोपीय अनुशासित सेना की ढीली तथा असंगठित भारतीय सेना पर श्रेष्ठता को स्पष्ट कर दिया।

यूरोप में युद्ध बन्द होते ही कर्नाटक का प्रथम यद्ध समाप्त हो गया। ए. ला. शापल की सन्धि (1748) से ऑस्ट्रिया के उत्तराधिकार का युद्ध समाप्त हो गया तथा मद्रास अंग्रेजों को पुनः प्राप्त हो गया।

युद्ध के प्रथम दौरे में दोनों दल बराबर रहे। स्थल पर फ्रांसीसी श्रेष्ठ रहे। डूप्ले ने अपनी आसाधारण दक्षता तथा राजनीति का प्रदर्शन किया। यद्यपि अंग्रेज पाण्डीचेरी को नहीं जीत सकें तो भी इस युद्ध से नौसेना का महत्व स्पष्ट हो गया।

कर्नाटक का दूसरा युद्ध (1749-1754) : कर्नाटक के प्रथम युद्ध से डूप्ले की राजनैतिक पिपासा जाग उठी तथा उसने फ्रांसीसी राजनैनिक प्रभाव के प्रसार के उद्देश्य से भारतीय राजवंशों के परस्पर झगड़ों में भाग लेने की सोची। मालेसन (Malleson) ने इस स्थिति का वर्णन यों किया है, "महत्वा काक्षाएं जाग उठी, परस्पर द्वेष बढ़ गए। जब बढ़ते हुए प्रभाव की आकाक्षाएं द्वारा खटखटा रही थीं तो उन्हें (यूरोपीय) शन्ति से क्या लेना--देना। यह सुअवसर हैदराबाद तथा कर्नाटक के सिंहासनों के विवादास्पद उत्तराधिकार के कारण प्राप्त हुआ।"

आसफजाह जिसने दक्कन में लगभग स्वायत्ततापूर्ण राज्य बना लिया था, 21 मई 1748 को स्वर्ग सिधार गया। उसका पुत्र नासिरजंग (1748-50) उसका उत्तराधिकारी बना। परन्तु उसके भतीजे (आसफजाह के पौत्र, मुजफ्फरजंग ने इस दावे को चुनौती दी। दूसरी ओर कर्नाटक के नवाब अनवरुद्दीन तथा उसके बहनोई चन्दा साहिब के बीच विवाद था। शीघ्र ही ये दोनों विवाद एक बड़े विवाद में परिवर्तित हो गए और हमें दलों के बनने तथा टूटने की क्रिया का प्रदर्शन मिला।

डूप्ले ने इस अनिश्चित अवस्था से राजनैतिक लाभ उठाने की सोची तथा मुजफ्फरजंग को दक्कन की सूबेदारी तथा चन्दा साहिब को कर्नाटक की सूबेदारी के लिए समर्थन देने की बात सोची। अपरिहार्य रुपेण अंग्रेजों को नासिरजंग तथा अनवरुद्दीन का साथ देना पड़ा। डूप्ले को अद्वितीय सफलता मिली। मुजफ्फजंग चन्दा साहिब तथा फ्रेंच सेनाओं ने 1749 के अगस्त मास में वैल्लौर के सीप अम्बूर के स्थान पर अनवरुद्दीन को हराकर मार दिया दिसम्बर 1750
म
नासिरजंग भी एक संघर्ष में मारा गया। मुजफ्फरजंग दक्कन का सूबेदार बन गया तथा उसने अपने हितकारियों को बहुत से उपहार दिए। डूप्ले को कृष्णा नदी के दक्षिणी भाग में मुगल प्रदेशों का गवर्नर नियुक्त कर दिया। उत्तरी सरकारों के कुछ जिले भी फ्रांसीसियों को दे दिए। उत्तरी सरकारों के कुछ जिले भी फ्रांसीसियों को दे दिए। इसके अतिरिक्त मुजफ्फरजंग की प्रार्थना पर एक फ्रेंच सेना की टुकड़ी बुस्सी की अध्यक्षता में हैदराबाद में तैनात कर दी गई। 1751 में चन्दा साहिब कर्नाटक के नवाब बन गए। डूप्ले इस समय अपनी राजनैनिक शक्ति की चरम सीमा पर पहुँच गया था।

फ्रांसीसियों के लिए प्रतिकर्ष (anti-climax) आने में देर नहीं लगी। स्वर्गीय अनवरुद्दीन के पुत्र मुहम्मद अली ने त्रिचनापली में शरण ली। फ्रांसीसी तथा चन्दा--साहिब मिल कर भी त्रिचनापली के दुर्ग को जीत नहीं पाए। अंग्रजों की स्थिति इस फ्रेंच विजय से डावां--डोल हो गई थी। क्लाइव ने जो त्रिचनापली ने फ्रांसीसी घेरे को तोड़ने में असफल रहा था, त्रिचनापली पर दबाव कम करने के लिए कर्नाटक की राजधानी अरकाट को केवल 210 सैनिकों की सहायता से जीत लिया। चन्दा साहिब ने 4,000 सैनिक भेजे परन्तु अरकाट को पुनः नहीं जीत सके तथा क्लाइव ने 53 दिन तक (23 सितम्बर से 14 नवम्बर तक)

इस सेना का प्रतिरोध किया। फ्रांसीसियों की प्रतिभा को इससे अनन्त क्षति पहुँची। 1752 में स्ट्रिंगर लॉरेन्स के नेतृत्व में अंग्रेजी सेना ने त्रिचनापल्ली को बचा लिया तथ जून 1752 में घेरा डालने वाली फ्रांसीसी सेना ने अंग्रेज के भाग्य का निर्णय डाल दिए। चन्दा साहिब की भी धोखे से तंजैर के राजा ने हत्या कर दी।

त्रिचनापली में फ्रांसीसी हार से डूप्ले के भाग्य का सर्वनाश हो गया। फ्रांसीसी कम्पनी के डाइरेक्टरों ने इस युद्ध में हुई की हानि के लिए डूप्ले को वापिस बुला लिया। 1754 में गोडेहू (Godeheu) को भारत में फ्रांसीसी प्रदेशों का गवर्नर जनरल तथा डूप्ले का उत्तराधिकारी नियुक्त कर दिया तथा 1755 में दोनों कम्पनियों के बीच एक अस्थायी सन्धि हो गई।

इस प्रकार इस झगड़े को दूसरा दौर भी अनिश्चित रहा। स्थल पर अंग्रेजी सेना की प्रधानता सिद्ध हो गई थी तथा उनका प्रत्याशी मुहम्मद अली कर्नटक का नवाब बना गया था। परन्तु हैदराबाद में अभी भी फ्रांसीसी सुदृढ़ अवस्था में थे तथा उन्होंने सूबेदार सालारजंग से और भी अधिक जागीर प्राप्त कर ली थी। (वास्तव में मुजफ्फरजंग एक छोटी सी झड़प में कम्पनी 1754 में मारा गया था।) उत्तरी सरकारों के महत्वूपर्ण जिले जिनकी वार्षिक आय 30 लाख रुपया थी, फ्रांसीसी कम्पनी को अर्पण कर दिए थे। इस दूसरे युद्ध से फ्रांसीसियों की प्राथमिकता को कुछ ठेस पहुंची तथा अंग्रेजों की स्थिति दृढ़ हो गई

कर्नाटक का तीसरा युद्ध (1758-63): यह युद्ध भी यूरोपीय संघर्ष का ही भाग था। 1756 में सप्तवर्षीय युद्ध के आरम्भ होते ही भारत में दोनों कम्पनियों के बीच शान्ति समाप्त हो गई। फ्रांसीसी सरकार ने अप्रैल 1757 काऊन्ट लाली को भारत भेजा। लगभग 12 मास की यात्रा के पश्चात अप्रैल 1758 में वह भारत पहुंचा। इसी बीच अंग्रेज सिराजुद्दौला को पराजित कर बंगाल पर अपना अधिकार स्थापित कर चुके थे। इसके कारण अंग्रेजों को अपार धन मिला जिससे वे फ्रांसीसियों को दक्कन में पराजित करने में सफल हुए।

काऊंट लाली ने 1758 में दी फोर्ट सेन्ट डेविड जीत लिया। इसके पश्चात् उसने तंजोर पर आक्रमण करने की आज्ञा दे दी क्योंकि उस पर 56 लाख रुपया शेष था। यह अभियान असफल रहा जिससे फ्रांसीसी ख्याति को हानि पहुंची। इसके पश्चात लाली ने मद्रास को घेर लिया। परन्तु एक शक्तिशाली नौ सेना के आने पर उसे यह घेरा उठाना पड़ा। फिर लाली ने बुस्सी को हैदराबाद से वापिस बुला लिया। यह उसकी सबसे बड़ी भूल थी। इसके कारण वहाँ फ्रांसीसियों की स्थिति कमजोर हो गई। दूसरी ओर पोकॉक के नेतृत्व में अंग्रेजी बेड़े ने डआश के नेतृत्व में फ्रांसीसी बेड़े को तीन बार पराजित किया तथा उसे भारतीय सागर से लौट जाने पर बाध्य कर दिया। इससे अंग्रेजी विजय स्पष्ट हो गई तथा 1760 में सर आयर कूट ने वान्दिवाश के स्थान पर फ्रांसीसियों को बुरी तरह पराजित किया। बुस्सी युद्धबन्दी बना लिया गया। जनवरी 1761 फ्रांसीसी पूर्ण पराजय के पश्चात् पाण्डीचेरी लौट आए। अंग्रेजो ने इसे घेर लिया तथा 8 मास पश्चात् फ्रांसीसियों ने इस नगर को भी शत्रु के हवाले कर दिया? शीघ्र ही मादी तथा जिंजी भी इनके हाथ से निकल गए। इस प्रकार आंग्ल–फ्रांसीसी प्रतिद्वन्द्विता का नाटक समाप्त हो गया तथा फ्रांसीसी हार गए।

इस प्रकार युद्ध का तीसरा दौर पूर्ण रुपेण निर्णायक सिद्ध हुआ। यद्यपि युद्ध के अन्त में (1763 में) पाण्डीचेरी तथा कुछ अन्य फ्रांसीसी प्रदेश उन्हें लौटा तो दिए गए परन्तु उनकी किलाबन्दी (Fortification) नहीं हो सकती थी तथा भारत से उनका धन कट गया।

अंग्रेजों के आने के पूर्व भारत की राजनीतिक दशा

तेरहवीं शताब्दी में तुर्क विजेताओं के साम्राज्य स्थापित करने से भारत में एक नई संस्कृति ने प्रवेश किया। इस प्रक्रिया में एक जटिल स्थिति पैदा हुई, यद्यपि इससे भारतीय समाज के जातीय एवं आर्थिक आधार में अधिक बदलाव नहीं आया। उद्योग और व्यापार की पद्धति में कोई आधारभूत परिवर्तन नहीं हुआ और वे ज्यों –के –त्यों चलते रहे। हिन्दू और मुसलिम समाज का दो वर्गो–अधिकार सपंन्न भूस्वामी शासक वर्ग, तथा प्रशसन कार्यो में भाग न लेने वाला आधिकारहीन लाल वर्ग- में विभाजन कायम रहा। राजनीतिक प्रणाली में भी कोई अंतर नहीं आया। प्रशासन और जनता का संबध कच्चे धागे से बंधा था क्योंकि प्रशासन का कार्य–क्षेत्र सीमित था, जैसे कि प्रतिरक्षा के विचार से और अव्यवस्था को रोकने के लिए एक सेना खड़ी करना और सेना का खर्च उठाने के लिए करो की उगाही करना आदि।

विधि निर्माण उसके कार्य–क्षेत्र से बाहर था। इसी प्रकार न्याय–व्यवस्था का अधिकांश भाग भी उसके कार्य–क्षेत्र के अन्तर्गत नहीं आता था। विधान–निर्मात्री संस्थाएँ नहीं थी और दीवानी तथा व्यक्तिगत मामले अधिकतर गैर–सरकारी संस्थाओं द्वारा निबटाए जाते थे।

धार्मिक क्षेत्र में निम्न वर्ग अंधविश्वासों में डूबा हुआ था। जब कि अधिकांश बुद्धिजीवी वर्ग पर इस्लाम का प्रभाव कम पड़ा। परन्तु हिन्दु मुसलमानों में विचारों का आदान–प्रदान हुआ और फलतः हिन्दुओं में कई नए मतों तथा संप्रदायों ने जन्म लिया। साहित्य और कला के क्षेत्रों में, हिन्दू–मुसलिम शैलियों का बहुत अधिक सम्मिश्रण हुआ। कानून के क्षेत्र में पारस्परिक आदान–प्रदान कम हुआ। यद्यपि सांस्कृतिक सामंजस्य हुआ पर वर्ग और संप्रदाय के कठोर साँचे में जकड़े होने के राष्ट्रीय चेतना जागृत नहीं हो पाई। न तो राज्य में इस चेतना को बढ़ावा दिया और न ही आर्थिक एवं सामाजिक विकास ने प्रादेशिक देश भक्ति या व्यक्ति की समस्त देशवासियों के साथ एकरुपता की भावना को बढ़ावा दिया।

औरंगजेब के काल में मुगल साम्राज्य अपनी उन्नति के चरम शिखर पहुँचने के बाद पतन की ओर जाने लगा। 1707 मं औरंगजेब की मृत्यु के बाद मुगल साम्राज्य के पतन की प्रक्रिया और भी तेज हो गई। तत्पश्चात उसके पुत्र बहादुरशाह के निधन से 1712 में मुगल राजनीति और उत्तराधिकार के युद्धों में एक नवीन तत्व ने प्रवेश किया। अब तक शक्ति के लिए संघर्ष केवल शाही राजकुमारों में हो रहा था और सामंत उनके सिंहासनारूढ़ होने के लिए सहायता करते थे। लेकिन अब महत्वाकांक्षी सामंत उनके सिंहासनारुढ़ होने के लिए सहायता करते थे। लेकिन अब महत्वाकांक्षी सामंत स्वयं शक्ति प्राप्त करने के लिए दावेदार बनकर और राजकुमारों को अपने हाथों की कठपुतली बनाकर उत्तराधिकार के युद्धों में भाग लेने लगे। बहादुरशाह का अयोग्य पुत्र जहाँदार शाह शक्तिशाली जुल्फिकार खाँकी सहायता से 1712 के उत्तराधिकार के गृहयुद्ध में सफल हुआ लेकिन उसको सैयद भाइयों हुसैन अली और अब्दुल्ला खाँ ने 1713 में मारकर फर्रुखसियर को गद्दी पर बैठा दिया। फर्रुखसियर के षड्यंत्रों से तंग आकर सैयद भाइयों ने उसकी भी हत्या करवा दी। फिर उन्होंने बारी–बारी से दो युवा भाइयों–रफी उद्दरजात और रफीउद्दोला को गद्दी पर बैठाया। क्षय रोग से दोनों की शीघ्र ही मृत्यु हो जाने के बाद सैयद बंधुओं ने बहादुरशाह के सबसे छोटे पुत्र जहाँशाह के लड़के मुहम्मद शाह को मुगल बादशाह घोषित कर दिया।

हैदराबाद : मुहम्मद शाह ने षड़यंत्र करके सैयद भाइयों को ही मरवा डाला और निजाम–उल–मुल्क को अपना मंत्री बनाया। लेकिन निजाम–उल–मुल्क शासन की शिथिलता और दरबारी षड़यंत्रों से परेशान होकर दक्षिण चला गया जहाँ उसने हैदराबाद के नाम से स्वतंत्र राज्य की स्थापना की। 1724 में मुगल साम्राज्य का विघटन आरम्भ हो गया था।

अवध : अवध के स्वतन्त्र राज्य की स्थापना सआदत खाँ बर्हन–उल–मुल्क ने की जो 1722 में अवध का सूबेदार नियुक्त हुआ था। वह वीर, साहसी तथा महत्वाकांक्षी व्यक्ति था। उसने 1739 तक अपना पद पैतृक कर लिया और एक स्वतन्त्र शासक भी बन गया।

बंगाल : केंद्रीय सत्ता की बढ़ती हुई दुर्बलता का लाभ असाधारण योग्यता वाले दो व्यक्तियों ने उठाया। ये व्यक्ति थे मुर्शीद कुली खाँ और अलीवर्दी खाँ। उन्होंने बंगाल के स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की यद्यपि मुर्शिद कुली खॉ मुगल सम्राट को वार्षिक कर भेंट करता रहा।

मराठा : पतनोन्मुख मुगल साम्राज्य के सबसे बड़े शत्रु मराठे थे और वे ही मुगल शक्ति का स्थान ले सकते थे। लेकिन उनमें एकता का अभाव था और अखिल भारतीय साम्राज्य स्थापित करने के लिए न उनके पास कोई दृष्टि थी और न कोई कार्यक्रम था। मराठे मुगलों की भाँति पतनोन्मुख थी। मराठे यद्यपि मुगल समांतों की भाँति स्वार्थी और महत्वाकांक्षी थे लेकिन उनकी तरह अनुशासित नहीं थे। पेशवा की शक्ति क्षीण होने से मराठा सरदार, भी उत्तर में अर्ध–स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने में लग गए। बड़ौदा के गायकवाड़, नागपुर के भोंसले, इंदौर के होल्कर और ग्वालियर के सिंधिया सबसे महत्वपूर्ण सरदार थे।

अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ में मुगल साम्राज्य का ढाँचा चरमराने लगा और समय बीतने के साथ–साथ उसके पतन की गति भी तीव्र होती गई। केंद्रीय सत्ता की दुर्बलता का शासन की आर्थिक स्थिति पर दुष्प्रभाव पड़ा राजस्व घट गया, संचार–साधन लड़खड़ा गए और उद्योग, व्यापार तथा कृषि का स्वरूप क्षेत्रीय हो गया। केन्द्र–विरोधी शक्तियाँ हावी होने लगीं, न्याय और व्यवस्था बिगड़ गई, वैयक्तिक एवं सार्वजनिक नैतिकता हिल गई। साम्राज्य के टुकड़े–टुकड़े हो गए और विदेशी आक्रमणों तथा आंतरिक शत्रुओं का मुकाबला करने की उसकी शक्ति टूट गई।

1738–39 में नादिर शाह के आक्रमण ने साम्राज्य की अर्थव्यवस्था को अव्यवस्थित करके देश की आर्थिक स्थिति गंभीर बना दी। कंगाल सामन्त किसानों से निष्ठुरतापूर्वक लगान वसूल करके अपनी आर्भिक दशा सुधारने का प्रयत्न करने लगे। ये ही सामंत उच्च पदों और जागीरों के लिए भी परस्पर लड़ने लगे। मुहम्मद शाह की मृत्यु के बाद 1748 में गृहयुद्ध इन्हीं बेईमान सामन्तों के मध्य छिड़ गया। उत्तर–पश्चिमी इलाकों की असुरक्षित स्थिति के कारण अब्दाली के लगातार आक्रमणों से मुगल साम्राज्य के विध्वंस में और भी तेजी आई। नादिर शाह और अब्दाली के आक्रमणों और मगुल सामंतों के आत्मघाती आंतरिक संघर्ष से 1761 तक मुगल सम्राट का वास्तविक शासन दिल्ली और आगरा के आसपास तक सीमित हो गया था। लेकिन भारत के अधिकांश भाग पर अब भी वह अपनी विधिसम्मत सत्ता का दावा करता था, खिताब देता था तथा नियुक्तियों

की पुष्टि करता था। मुगल साम्राज्य के वंशज अब उत्तराधिकार के युद्धों में सक्रिय रूप से भाग नहीं ले रहे थे केन्द्र के महत्वाकांक्षी दावेदार उनकी आड़ में शक्ति हथियाने की कोशिश कर रहे थे।

अठारहवी शताब्दी के उत्तराधिकार–सम्बंधी युद्ध बहुत भीषण और विनाशकारी साबित हुए, क्योंकि इनमें हजारों लोग मारे गए और संपत्ति की भारी क्षति हुई। हजारों प्रशिक्षित सिपाही और सैंकड़ो योग्य सेनापति और कार्यकुशल अफसर मारे गए सामंत वर्ग भी, जो स्वयं साम्राज्य की आधारशिला था, संघर्ष में अलझ गया। कई स्थानीय शासक और कर्मचारियों ने केन्द्र की अनिश्चित दशा और अराजकता का लाभ उठाकर अपनी शक्ति सुदृढ़ की, स्वशासन स्थापित किया और अपने पद को पैतृक कर लिया। अधिकांश सामंत राज्य और समाज के हित के लिए लड़ने के बदले अपने स्वार्थों की पूर्ति में लगे हुए थे। इसमें सामाजिक एक सुसंबद्ध इकाई न रह गया और यह विदेशी विजेताओं का शिकार बन गया। इसके लिए दोषी वे ही सामंत थे जो सबसे सक्रिय और योग्य थे, क्योंकि इन्हीं सामंतो ने मुगल साम्राज्य की एकता को अपने निजि राज्यों की स्थापना करते हुए भंग किया था।

उत्तरकालीन मुगल सामंतों का पतन चरित्रहीनता के कारण नहीं बल्कि लोकहित की भावना के अभाव और अदूरदर्शिता के कारण हुआ। ये ही कमजोरियाँ मराठा शासको, राजपूत राजाओं, जाट, सिख, बुंदेला और नव–स्थापित स्वतन्त्र राज्यों के शासकों में भी मौजूद थी इनाक ईस्त इंडिया कम्पनी ने पूरा लाभ उठाया। जागीरों की अल्पसंख्या, विद्यमान जागीरों से प्राप्त आमदनी में कटौती होने तथा सामंतो के खर्च में वृद्धि होने से सामंतों ने सिपाहियों के कोटे (Quota) में कटौती कर दी जिससे साम्राज्य की सैनिक शक्ति क्षीण हो गई।

सेना : मुगल सरकार का आधार सेना थी। सभी सेवाएं सैनिक सेवाएं थी क्योंकि सैनिक एवं असैनिक कर्मचारियों में कोई भेद नहीं था। प्रायः मनसबदार ही सेना का गठन करते थे इसलिए उनकी सेना जातीय भावनाओं से प्रभावित होती थी। पूरी सेना में एकता का अभाव था। इसके सैनिक उच्च सिद्धांतों से नहीं बल्कि नौकरी और लूटमार की भावना से प्रेरित होते थे।

मुगल सेना की कुछ खास कमियाँ थी। पहली कमी तो यह थी कि वह राष्ट्रीय सेना नहीं थी वरन् विभिन्न तत्वों का सम्मिश्रण थी। प्रत्येक भिन्न युद्ध–कौशल का अनुसरण करने की चेष्टा करता था, जिससे इन पर नियन्त्रण रखना कठिन हो गया। दूसरे सिपाही सीधे बादशाह के प्रति वफादारी नहीं रखते थे। बल्कि उनकी वफादारी अपने निकटस्थ भर्ती करने वालों के प्रति होती थी। सेना के अधिकारियों में आपसी द्वेष तथा प्रतिद्वद्विता के कारण आक्रमण प्रायः असफल हो जाते थे। यह कहना अनुचित ने होगा कि मुगल सेना 'एक भारी चलते–फिरते शहर' के समान थी जिसमें गतिशीलता की कमी और विलासिता की अधिकता थी। प्रशासनिक अव्यवस्था से अठारहवी शताब्दी में साम्राज्य की सैनिक शक्ति का ह्रास हुआ। वित्तीय साधनों की कमी से भी विशाल सेना रखना असम्भव हो गया था। मुगल सिपाही क्योंकि भाड़े के सिपाही थे, अतः महीना वेतन न मिलने के कारण असंतुष्ट रहते थे। समर्थ सेना के बिना बादशाह असहाय हो गया क्योंकि सेना न तो महत्वाकांक्षी सामंतों का दमन कर सकी और न ही विदशी आक्रमणों का सामना। ठीक इसी संकट की घड़ी में यूरोपीय राष्ट्रों के प्रतिनिधियों ने भारतीय मामलों में हस्तक्षेप करना आरम्भ किया।

पतन के कगार पर खड़ा मुगल साम्राज्य अंग्रेजी खतरे की चुनौती का सामना न कर सका। भारत में कोई भी देशी शक्ति मुगलों की विरासत सँभालने योग्य नहीं थी। देशी शक्तियाँ मुगल साम्राज्य को क्षीण करने के लिए उत्तरदायी अवश्य थी और वे कोई ऐसी नई सामाजिक व्यवस्था स्थापित नहीं कर सकती थी जो पाश्चात्य शत्रुओं का सामना कर सके। उन सब में वही कमजोरियाँ था जो मुगल साम्राज्य की विशेषता थी। इसलिए भारतीय राज्य भी यूरोपीय लोगों की उच्च आर्थिक व्यवस्था और प्रौद्योगिकी का सामना न कर सके।

मुगल साम्राज्य के अवशेषों पर जो स्वतन्त्र और अर्धस्वतन्त्र राज्य स्थापित हुए (जैसे– बंगाल, अवध, हैदराबाद, मैसूर और मराठा) उन्होंने ही अठारहवी सदी के उतरार्ध में अंग्रेजी शक्ति का विरोध करने का प्रयत्न किया, क्योंकि मुगल साम्राज्य की सत्ता अब नाममात्र की रह गई थी। इन राज्यों ने यद्यपि कानून और अर्थव्यवस्था को सुव्यवस्थित किया, लेकिन वे भी बढ़ते हुए आर्थिक संकट को टाल नहीं सके। इन नवीन राज्यों ने विदेशी व्यापार को तो प्रोत्साहित किया लेकिन अपने राज्य के औद्योगिक और वाणिज्यिक ढाँचे के आधुनिकीकरण का कोई प्रयत्न नहीं किया।

भारत किसी एकरूप संगठन का विकास करने में क्यों असफल रहा है और उसका राजनीतिक ढाँचा अस्थिर क्यों रहा–इन समस्याओं को समझे बिना अठारहवी सदी में अंग्रेजो द्वारा भारत पर विजय के स्वरूप को नहीं समझा जा सकता।

भारत की भौगोलिक स्थितियों से विद्यमान विषमताओं, देश की विशालता, आवागमन और संचार–साधनों की प्राचीनता ने अतीत में भारतीय प्रदेशों में पृथक्करण की प्रवृत्ति को बढ़ावा दिया और राष्ट्रीयता की भावना को पनपने नहीं दिया। भारत में सामाजिक

एवं राजनीतिक एकता की चेतना की कमी थी। सांस्कृतिक एकरूपता तथा राजनीतिक प्रभुसत्ता भी भारत को विभाजित करने वाले अवरोधो– जैसे दलों, समाजों, जातियों और ग्रामों को प्रभावित न कर सकीं। जो दो संस्थाएँ एकीकरण का अटूट विरोध करती रही, वे थी– जाति और ग्राम। जाति एक सामाजिक–धार्मिक संस्था थी, लेकिन इसका आर्थिक महत्त्व भी था। समाज यदि सामाजिक–धार्मिक दृष्टि से भिन्न रूप से जुड़ी जातियों का समूह था तो राजनीतिक–आर्थिक दृष्टि से वह उन गाँवों का एक पुंज था जो उनकी आर्थिक तथा प्रादेशिक इकाइयाँ थे। भारतीय ग्राम की इस समय (अठारहवी सदी में) वही स्थिति थी जो आरम्भिक मध्य युगीन यूरोप में अंग्रेजी मैनर अथवा फ्रांसीसी सिन्यूरी की थी। गाँव आर्थिक यंत्र की धुरी था और अंतविरोधी बाते कृषि–उद्योग तथा व्यापार उसके चारों ओर घूमते थे। ये यूरोप के मध्ययुगीन ग्रामों से भिन्न थे जहाँ ग्रामों के क्रिया–कलाप केवल कृषि तक सीमित थे। भारत में नगर परोपजीवी थे और राजनीतिक सता या धर्म के केन्द्र थे। भारतीय ग्राम ही समाज की सक्रियता का केन्द्र–बिन्दु था। वही ग्रामीण को घर प्रदान करता था तथा जीविका इत्यादि देता था।

मध्यकाल में भारतीयों के सामाजिक संगठन में विशेष प्रगति नहीं हुई। धर्म का छोटे–छोटे संप्रदायों और मंडलियों के रूप में विभाजन बना रह। हिन्दुओं और मुसलमानों में एकता और चेतना का अभाव था। मुसलमान तो पठान, तुरानी तथा ईरानी वर्गो में बँटे रहे और हिन्दू विभिन्न जातियों–उपजातियों तथा कबीलों में।

मुगल साम्राज्य जिस वजह से अपनी अंखण्डता की रक्षा करने में असमर्थ रहा वही वजह अंग्रेजों की सफलता का भी आधार थी। मराठों ने, जो भारत में अंग्रेजो का सफलतापूर्वक सामना कर सकते थे, गलत विदेश नीति का अनुसरण किया और विभिन्न प्रकार के शुल्क वसूल करके तथा लूट–खसोट से राजपूतों, जाटों और बुंदेलो को अपना शत्रु बना लिया। जिन क्षेत्रों पर मराठे विजय पाते वहाँ वे राजनीतिज्ञ–सुलभ बुद्धिमत्ता का व्यवहार नहीं करते थे और खेतिहरों का दमन करते थे। मराठा नेताओं की अदूरदर्शिता ने विदेशियों के लिए भारत में मार्ग खोल दिया।

सन् 1498 में जब वास्को–डी–गामा कालीकट के बंदरगाह पर उतरा तब एशिया और यूरोप के सम्बन्धों में एक नए युग का सूत्रपात हुआ। पुर्तगालियों का भारतीय तट पर पाँव रखना उपनिवोशीकरण का पूर्व संकेत था। विज्ञान के नए अविष्कारों, मानव की प्रतिष्ठा और समाज–संगठन के नए आदर्शो तथा भौतिक उन्नति और राष्ट्रीय शक्ति की नई कल्पनाओं से प्रेरित होकर एक नए जीवन और आत्मविश्वास से पूर्ण यूरोप पूर्व के सबसे समृद्ध देश में जा पहुँचा।

लेकिन अकबर महान के समय का अपार वैभव संपन्न देदीप्यमान संस्कृति वाला भारत, अठारहवी सदी में अपनी ताकत खो चुका था। वह मुगल साम्राज्य के नाममात्र के प्रभुत्व के नीचे गाँवो, जातियों या उपजातियों, कबीलों और ताल्लुकों का एक मध्ययुगीन जड़–पिड़ मात्र रह गया था। भारत की अर्थव्यवस्था कृषि प्रधान थी, उसकी कार्य–प्रणाली अत्यन्त पुरानी थी, उसका संघटन संकुचित था और उसका लक्ष्य गुजारे के लायक चीजों का उत्पादन करना था। भारत का उद्योग बहुत छोटे पैमाने का था और उसका उद्देश्य अमीरों के लिए विलास–सामग्री बनाना या फिर स्थानीय बाजार की मामूली जरुरतों को पूरा करना मात्र था। इसमें पूँजी का योगदान नगण्य था। इसके विपरीत यूरोप समुद्रपारीय बाजारों का विकास कर रहा था। वह अमेरीका से सोने–चाँदी के खजाने ला रहा था जिससे उद्योग और वाणिज्य को नवजीवन मिल रहा था तेजी से बढ़ती हुई पूँजी के दबाव से विशेषज्ञता का विकास हो रहा था और व्यापरी एवं बैंकर, भू–स्वामी कुलीन वर्ग पर छाए जा रहे थे। जो क्रांतिकारी वैज्ञानिक आंदोलन, यूरोप को नई खोजों और अविष्कारों के लिए उकसा रहा था, वह भारतीय वुद्धि को अभी प्रभावित न कर सका था। यूरोप जिन सशक्त भवनाओं से अनुप्राणित होकर अराजक सामंतवादी समाज से एक सुसंगठित ठोस राष्ट्र में पदार्पण कर रहा था, भारत उन भावनाओं से अछूता था। यूरोप में धर्म के स्थान पर तर्क का युग रहा था जब कि भारत के उच्चतम मनीवी इस लोग के बजाय परलोक की बात सोचते थे। कृषि में गतिरोध और अवनति होने से व्यापार और उद्योग की भी हानि हुई। यद्यपि भारतीय माल उच्चकोटि का था और समकालीन मानदंड से विकसित था, लेकिन भारतीय उद्योग और प्रौद्योगिकीकरण में वैज्ञनिक रूप से कोई परिवर्तन और आधुनिकीकरण नहीं हुआ। यातायात की कठिनाइयों और ग्रामों के स्वावलम्बी होने का यहाँ के व्यापार पर विपरीत प्रभाव पड़ा। चूँकि भूमि राजस्व और धन का स्रोत मानी जाती थी, अतः शासकों ने समुद्रपार–व्यापार और जल–सेना की उपेक्षा की।

पूर्वी व्यापार का एकाधिकार अपने हाथों में रखे रहा और उसने भारत में कोचीन, गोआ, दमन और दयू में व्यापरिक अड्डों की स्थापना की।

डच भी उत्तमाशा अन्तरीय पार करके 1595 में भारत पहुँचे। यद्यपि उन्होंने 1602 डच ईस्ट इंडिया कम्पनी की स्थापना की लेकिन उनकी व्यापारिक रुचि भारत से अधिक हिंदचीन में थी जहाँ गरम मसाले उगाये जाते थे। भारत में उनके व्यापरिक अड्डे सूरत, भड़ौच, कैम्बे, अहमदाबाद, कोचीन, नागापट्टम, मछली पट्टम, चिनसुरा, पटना और आगरा में थे। अंग्रेज व्यापारी सोलहवीं सदी के अन्त तक पुर्तगाल और स्पेन की जल–शक्ति की सर्वोच्चता के कारण भारत पहुँचने के अन्य मार्ग ढूढँते रहे

किन्तु उन्हें असफलता ही हाथ लगी। 1579 में ड्रेक ने संसार की परिक्रमा की और 1588 में स्पेनिश आर्मेडा (जहाजी बेड़े) की पराजय हुई इसके साथ ही अंग्रेजी जलशक्ति की श्रेष्ठता स्थापित हो गई। अब भारत और पूर्वी देशों तक पहुंचने के जल–मार्ग सभी यूरोपियों के लिए खुल गए।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी के व्यापार और प्रभाव में वृद्धि (1600-1744) : अठारहवी शताब्दी के पूर्वार्ध में जब मुगल साम्राज्य का पतन हो रहा था तब भिन्न–भिन्न शक्तियाँ उसका स्थान लेने के लिए संघर्ष कर रही थी। इस संघर्ष में अंग्रेज सफल हुए और उन्होंने एक नए विदेशी साम्राज्य की नींव डाली। मुगल साम्राज्य को पाने के लिए मराठों (जो आत्म निर्भर थे) के अलावा बाकी सभी दखेदारों को मित्रों की आवश्यकता थी जो विदेशी थे।

यूरोपीय बस्तियों की शुरुआत

प्राचीन काल में यूनानियों के समय से भारत के यूरोप से व्यापारिक सम्बन्ध थे। मध्यकाल में यूरोप का व्यापार कई मार्गों से भारत और दक्षिण पूर्वी एशिया से होता था।

एशिया का व्यापार अधिकांशत : अरबवासियों के हाथ में था जबकि भूमध्य–सागरीय और यूरोपीय व्यापार इतालवी व्यापारियों के एकाधिकार में था। यह व्यापार पूर्वी गरम मसालों के कारण बहुत महत्त्वपूर्ण था क्योंकि गरम मसालों की यूरोप में बहुत माँग भी थी और दाम भी अधिक थे। 1453 में कुस्तुनतुनिया पर तुर्कों का अधिकार हो जाने से पूर्वी और पश्चिमी देशों के मध्य संपर्क स्थापित करने वाले मार्ग भी तुर्क लोगों के अधीन आ गए। वेनिस और जेनोआ के व्यापारियों के हाथ में पूर्वी व्यापार के केंद्रित होने से यूरोप के नवीन राष्ट्र स्पेन और पुर्तगाल इस व्यापार से बहिष्कृत थ। लेकिन गरम मसालों के महत्व और भारत के विख्यात वैभव के लोभ से और यूरोप में सोने की अपर्याप्तता के कारण, पश्चिमी यूरोपीय देश और व्यापार भारत तथा पूर्वी द्वीप समूह तक पहुँचने के नए और सुरक्षित मार्ग ढूढँने लगे।

पुर्तगालियों और स्पेनवासियों ने भौगोलिक खोजों का युग आरम्भ किया। 1494 में स्पेन के निवासी कालबस ने भारत पहुंचने का मार्ग ढूढँते हुए अमरीका खोज निकाला। 1498 में पुर्तगाली वास्को–डी–गामा ने उतमांशा अतरीय से होकर भारत पहुंचने का एक नया समुद्री मार्ग ढूँढ निकाला। पुर्तगाल एक शताब्दी तक विदेशी आरम्भ में भारत में राज्य स्थापित नहीं करना चाहते थे। लेकिन इन्होंने भारतीय मामलों में हस्तक्षेप किया जो दो कम्पनियों की परस्पर व्यापारिक प्रतिस्पर्धा और यूरोप में दो राष्ट्रों की राजनीतिक प्रतिस्पर्धा का परिणाम था। यूरोप में ऑस्ट्रिया के उत्तराधिकार–युद्ध के कारण यूरोपियों ने भारतीय राजनीति के भवँर में भाग लिया, मुगल साम्राज्य के उत्तराधिकार–युद्ध के कारण नहीं।

1599 में जब 80 अंग्रेजों व्यापारी भारत में व्यापार के लिए लंदन में एक कम्पनी स्थापित करने के लिए एकत्रित हुए उस समय उनके मन में भारतीय राजनीति में भाग लेने की कोई लालसा नहीं थी। उनका मुख्य उद्देश्य गरम मसाले का व्यापार करना था। जिस पर पहले पुर्तगालियों और फिर डचों का एकाधिकार था। 1623 में इंडोनेशिया के द्वीप–समूह से अंग्रेजों के निष्कासित होने पर उन्होंने सूरत में एक छोटा व्यापारिक अड्डा स्थापित किया। यहाँ से उन्होंने पुर्तगालियों का खदेड़ दिया और मुगल सम्राट जहाँगीर से विशेष व्यापारिक अधिकार प्राप्त करने के लिए एक दूतमंडल भेजा। 1615 में अंग्रेजी दूत टॉमस रो ने मगुल सम्राट से बहुमूल्य व्यापारिक आधिकार इस शर्त पर प्राप्त किए कि वे मुगल जहाजों की पुर्तगालियों से रक्षा करेंगे। टॉमस रो ने कम्पनी की शांतिपूर्वक व्यापार करने और भूमि संबन्धी युद्धों से दूर रहने की सलाह दी

कम्पनी की प्रगति का प्रथम चरण अठारहवी शताब्दी में मुगल साम्राज्य के विघटन से आरम्भ हुआ। और वह भारतीय शासकों की ओर उन भारतीय व्यापारियों की इच्छाओं से प्रभावित था जो स्वंय भारत के व्यापारिक क्षेत्र में प्राथमिकता चाहते थे। मुगल साम्राज्य में सम्राट और उनके प्रतिनिधि यद्यपि यूरोपीय व्यापारियों से व्यापार करना चाहते थे लेकिन किसी खास समझौते पर उनकी कृपादृष्टि नहीं थी। ईस्ट इंडिया कम्पनी अपने यूरोप प्रतिद्वद्वियों की अपेक्षा भारत में एकाधिकार और दुगी में चाहती थी। लेकिन वह भारतीय शासको को प्रभावित न कर सकी, इसलिए वह व्यापारिक कम्पनी मात्र ही रह गई। उसको भारत में कम्पनी का आधार स्थापित करने में भी कठिनाई हो रही थी। चापलूसी, उपहार और रिश्वत द्वारा कम्पनी ने भारतीय शासको से अपने उद्देश्य प्राप्त करने की कोशिश की, दूसरी तरफ कम्पनी अपनी प्रतिद्वंदी कम्पनियों को क्षति पहुँचा रही थी और स्वयं सैनिक संख्या बढ़ाकर और किलेबन्दी करके अपनी शक्ति सुदृढ कर रही थी

भारत में आरम्भ में अंग्रेजी ईस्ट इंडिया कम्पनी की स्थिति बहुत साधारण थी और 1687 तक सूरत इसका मुख्य व्यापारिक अड्डा रहा। इस समय अंग्रेज मुगल सत्ता के समक्ष एक याचक के समान रहे। 1623 तक उन्होंने फैक्ट्रियों की स्थापना सूरत, भड़ोच, अहमदाबाद, आगरा और मछलीपट्टम में कर ली थी। ईस्ट इंडिया कम्पनी ने भारत आकर कूटनीति और युद्ध का सहारा भी लिया और जहाँ–तहाँ उसकी फैक्ट्रियाँ स्थित थी उन इलाकों को अपने अधीन लाने का प्रयास किया।

दक्षिण में परिस्थितियाँ अंग्रेजो के अनुकूल थी। क्योंकि यहाँ उनको एक शक्तिशाली सरकार का सामना नहीं करना पड़ा। 1665 में दक्षिण के शक्तिशाली विजयनगर का स्थान कमजोर राज्यों ने ले लिया था। अंग्रेजों ने अपनी प्रथम फैक्ट्री मछलीपट्टम में स्थापित की और बाद में जब मद्रास की भूमि स्थानीय शासक से पट्टे पर मिल गई तब कम्पनी की फैक्ट्री की किलेबन्दी करने वहाँ प्रशासन करने और सिक्के ढालने का अधिकार मिल गया। मद्रास में दुर्ग का नाम फोर्ट सेंट जॉर्ज था।

सत्रहवीं शताब्दी के अंत तक अंग्रेजी कम्पनी ने मद्रास पर अपनी सता स्थापित कर ली और वह इसकी रक्षा के लिए लड़ने को भी तैयार थी। आरम्भ से ही कम्पनी भारत पर विजय भारतीयों से ही धन वसूल करके करना चाहती थी। 1668 में बम्बई का द्वीप प्राप्त होने से सूरत के बदले बम्बई पश्चिमी भारत की मुख्य बस्ती बन गई। सूरत सूती और मलमल वस्त्र, मसाले, शोरा, नील और रंजक का मुख्य गोदाम बन गया। भड़ोच और बड़ौदा की फैक्ट्रियाँ स्थानीय क्षेत्रों से उत्पादित उजरती सामान (Piece goods) एकत्रित करती थी। आगरा की फैक्ट्री मुगल अफसरों को लट्ठा बेचती थी और विएना से नील खरीदती थी।

अंग्रेजों का प्रभाव–क्षेत्र अब पूर्व में बढ़ा और हरिहरपुर (महानदी के मुख पर) उड़ीसा में बालासोर (1633) हुगली (1651), पटना, का कासिमबाजार (बंगाल में) इत्यादि स्थानों पर स्थापित हो गया। 1658 में बंगाल, बिहार, उड़ीसा और कोरोमंडल तट के सभी अड्डे फोर्ट सेंट जॉर्ज के अधीन कर दिए गए। बंगाल में कम्पनी रेशम, सूती वस्त्र, उजरती सामान, शोरा और चीनी का व्यापार करती थी। बंगाल में सुल्तान शुजा (शाहजहाँ का पुत्र) ने तीन हजार रुपये का वार्षिक कर लेकर कम्पनी को व्यापारिक मामलों में कुछ विशेषाधिकार दिए। 1656 के एक और फरमान से भारतीय कर्मचारियों का अंग्रेजो से आयत और निर्यात कर लेना वर्जित हो गया।

लेकिन शुजा के उत्तराधिकारियों ने इस अधिकार को मान्यता नहीं दी क्योंकि अन्य विदेशी कंपनियां भी इस अधिकार की माँग कर रही थी। जिससे बंगाल के खजाने और लगान की हानि होती। कम्पनी ने बंगाल के सूबेदार शायस्ता खाँ से 1672 में शुल्क से छूट प्राप्त की। 1680 में मुगल बादशाह औरंगजेब ने भी कम्पनी से जजिया का भुगतान लेकर फरमान जारी किया कि कम्पनी सूरत के अलावा सभी स्थानों में सीमा–शुल्क दिए बिना व्यापार कर सकती है। लकिन स्थानीय अधिकारी अब भी कम्पनी को तंग करते थे क्योंकि कम्पनी के कारिदे आपने लिए और अपने मित्रों के लिए आंतरिक व्यापार में तस्करी करते थे। कमानी ने अपनी सुरक्षा के लिए किलेबंदी शुरु कर दी। कम्पनी मुगलों को कमजोर मानती थी लेकिन वह उनसे पराजित हो गई (1688)। औरंगजेब ने उसे व्यापार जारी करने दिया क्योंकि वह उसके सूरत के व्यापार को चालू रखना चाहता था जिससे राजस्व की प्राप्ति होती रहे। इस तरह मुगल अर्थव्यवस्था का ईस्ट इंडिया कम्पनी से प्रत्यक्ष सम्बन्ध था।

मुगलों ने अंग्रेजों को पुनः व्यापार इसलिए भी करने दिया क्योंकि वे कम्पनी के माल के ग्राहक थे। अंग्रेज अब समुद्ध के महत्व को समझ रहे थे, इसलिए उन्होंने कलकत्ता में एक फैक्ट्री स्थापित करने की अनुमति ली। मुगलों से चिटगाँव में एक बार फिर पराजित होकर 1690 में कम्पनी ने सूतान टूटी में एक फैक्ट्री स्थापित की और मुगलों से पहले जैसे अधिकार प्राप्त कर लिए।

जमींदार शोभासिंह के विद्रोह के कारण कम्पनी ने 1696 में सुता पट्टी की किलेबन्दी की और 1200 रुपये का भुगतान करके कम्पनी ने 3 गाँवों की जमींदारी यानी लगान एकत्रित करने का अधिकार प्राप्त कर लिया। ये तीन गाँव थे सुता पट्टी कालीकट और गोविंदपुर। 1700 में बंगाल की फैक्ट्री एक प्रेसिडेंट और कांउसिल के अधीन हो गई और यहाँ नई किलेबन्दी की गई। बस्तीफोर्ट विलियम और नगर कलकत्ता कहलाने लगा।

1717 में सम्राट फर्रुखासियर के फरमान से ईस्ट इण्डिया कम्पनी को निम्नलिखित सुविधाएँ मिल गई।

1. बंगाल में कम्पनी को 30,000 रुपये की निश्चित वार्षिक राशि के स्थान पर निःशुल्क व्यापार करने का अधिकार मिल गया।
2. कम्पनी कलकत्ता के पास अतिरिक्त भूमि किराए पर ले सकती थी।
3. कम्पनी हैदराबाद में भी व्यापार कर सकती थी और मद्रास में भी वही किराया निश्चित कर दिया गया जो कम्पनी वहाँ दे रही थी।
4. सूरत में भी 10,000 की राशि देकर कम्पनी को निःशुल्क व्यापार करने का अधिकार मिल गया।
5. कम्पनी के जो सिक्के बम्बई की टकसाल में बने थे उन्हें मुगल साम्राज्य में मान्यता मिल गई।

इस तरह से कम्पनी भारत में शक्तिशाली बन गई। इतिहासकार ओर्म्स (ormes) ने फरमान को कम्पनी का महाधिकार पत्र (Magna carta of the company) कहा है। यद्यपि बंगाल के सूबेदार मुर्शिद कुली खाँ ने अतिरिक्त गाँवों के अनुदान का विरोध किया, फिर भी कम्पनी के व्यापार में वृद्धि हुई और 1735 में कलकत्ता की जनसंख्या 100,000 हो गई।

भारत के पश्चिमी तट पर, मराठो और पुर्तगालियों की परस्पर लड़ाइयों से, और मराठा समुद्री कप्तानो के आक्रमण से कम्पनी के लिए बंबई को क्षति पहुँची। कम्पनी ने अपनी सुरक्षा के लिए बंबई के चारों ओर दीवार बनाई तथा सशस्त्र जहाजो और सिपाहियों की संख्या में वृद्धि की। बम्बई का भी तेजी से विकास हुआ और 1744 में बम्बई की जनसख्या बढ़कर 70,000 हो गई। 1739 में कम्पनी ने मराठों से सन्धि करके मराठा समुद्री कप्तानों के अड्डों को अपने कब्जे में कर लिया।

मद्रास में कर्नाटक के शासक अर्कट के नवाब और उसके अधिपति दक्कन के सूबेदार निजाम-उल-मुल्क से कम्पनी के सम्बन्ध अच्छे थे। 1717 में कम्पनी ने मद्रास के और इलाके प्राप्त करके मद्रास में भी अपनी स्थिति मजबूत कर ली।

मराठों के विरुद्ध अभियानों में औरंगजेब के व्यस्त रहने और बम्बई एवं मद्रास की फैक्ट्रियों के किलेबन्द होने के कारण अंग्रेजों ने विनम्र प्रार्थी की भूमिका त्याग दी और उसके अन्दर भारत में राजनितिक सत्ता स्थापित करने की महत्वाकांक्षा जाग उठी। राजनीतिक शक्ति प्राप्त कर और उसे बढ़ाकर ही वह मुगलों को व्यापार के क्षेत्र में एकाधिकार और स्वतंत्रता देने के लिए बाध्य कर सकती थी। भारतीय कारीगरों को भी वह सस्ता माल बेचन पर बाध्य कर सकती थी। कम्पनी अन्य यूरोपीय कम्पनियों को तो भारतीय व्यापार से बहिष्कृत करना ही चाहती थी साथ ही अपने व्यापार को भारतीय शासको की राजनीति से भी स्वतन्त्र और पृथक रखना चाहती थी। राजनीतिक शक्ति ग्रहण करने से भारतीय राजस्व पर कम्पनी का नियंत्रण हो सकता था और वह भारत पर विजय के लिए भारतीय साधनों पर आपनी निर्भरता बढ़ा सकती थी। मुगल सत्ता ने भी अंग्रेजो के विद्रोहों को क्षमा कर दिया क्योंकि वह विदेशी व्यापार के महत्व को समझती थी, जिससे भारतीय कारीगरों और मुगल राजकोष को लाभ था। अंग्रेज स्थल-शक्ति से भले ही दुर्बल थे, लेकिन अपनी समुद्री शक्ति की श्रेष्ठता से वे भारत के ईरान, पश्चिमी एशिया, उत्तर, दक्षिण और पूर्वी अफ्रीका के व्यापार को और नौपरिवहन को अवश्य हानि पहुँचा सकते थे। मुगलो की यह अदूरवर्शिता थी कि वे अंग्रेजों को एक संभावित खतरे के रूप में न देख सके। अंग्रेजों की मुख्य बस्तियाँ बम्बई, मद्रास और कलकत्ता के समुद्रीतटो पर थी जहाँ से वे अपनी श्रेष्ठ जल-सेना द्वारा प्रवेश भी कर सकते थे और भाग भी सकते थे। ये बस्तियाँ किलेबंद भी थी और स्थानीय शासको द्वारा आसानी से पराजित नहीं की जा सकती थी।

भारतीय शासकों से संघर्ष होने पर भी वे इन्ही प्रवेश-द्वारों से समुद्र में पहुँच सकते थे जहाँ इनकी शक्ति सर्वोच्च थी। व्यापारिक कम्पनी होने के कारण समुद्री तट पर बस्तियों का स्थित होना भी आवश्यक था।

कुछ भारतीय इतिहासकारों, जैसे आर० सी० मजुमदार, एच० सी० रायचौधरी और के०के० दत्त के अनुसार ईस्ट इण्डिया कम्पनी 1600 से 1700 तक एक शांति प्रिय व्यापारी कम्पनी थी जो प्लासी की विजय के बाद बंगाल पर अधिपत्य स्थापित करके साम्राज्य-विस्तार की महत्वाकांक्षी हो गई।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने सोच-विचार कर भारत पर राजनीतिक विजय की योजना बनाई, यद्यपि शुरु में उसके भारत आने के कारण अर्थिक एवं व्यापारिक ही थे। ब्रिटिश इतिहासकार ओर्मेस (ormes) और डॉडवेल (Dodwell) ने अक्सर वास्तविकता छिपाकर तथ्यों को गलत रूप में पेश किया और अपने इतिहास में कई महत्त्वपूर्ण तथ्यों को नजर अंदाज किया है। राम गोपाल ने अपनी पुस्तक हाउ दि ब्रिटिश ऑक्यूपायड बंगाल में (अंग्रेजो ने बंगाल पर कब्जा कैसे किया?) ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अभिलेखों, कम्पनी के कारिदो के पत्रों तथा सस्मरणों द्वारा सच्चाई का पता लगाया है। उदाहरणार्थ सिराजुददौला के कम्पनी से संबधों को ब्रिटिश इतिहासकारों ने गलत ढ़ग से पेश किया है। ब्रिटिश इतिहासकार जब इतिहास लिख रहे थे तब भारत में ब्रिटिश राज्य की स्थापना हो रही थी या ब्रिटिश सरकार भारत में बढती हुई राष्ट्रीय भावना को कुचलने का प्रयत्न कर रही थी। ईस्ट इंडिया कम्पनी के डाइरेक्टरों ने आक्रामक नीति का निषेध किया था लेकिन कम्पनी के कारिंदो ने अपनी नीति का न्यायसंगत दिखाने के लिए और स्वयं को निरपराध साबित करने के लिए वास्तविकता छिपाई और ब्रिटिश सरकार को वही बताया जो वह सुनना चाहती थी।

कम्पनी साम्राज्यवादी विचारों से हमेशा प्ररित रही। उसकी नीतियों का उद्देश्य भारतीय राज्यों को ब्रिटिश आधेपत्य मे लाना हो। कम्पनी ने घेरे की नीति (Ring Fence policy) तटस्थता और अहस्तक्षेप की नीति, सहायक संधि प्रणाली साम्राज्य-विस्तार की नीति, युद्ध द्वारा और बिना युद्ध के राज्य-अपहरण (विलय) की नीति के (Doctrine of lapse) द्वारा भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना की। इन सब नीतियों का उद्देश्य ब्रिटिश साम्राज्य का विस्तार तथा भारत का आर्थिक शोषण था। ब्रिटिश साम्राज्य की सुरक्षा के लिए क्लाइव से कैनिंग तक, हर ब्रिटिश प्रशासक कोई भी तरीका अपनाने के लिए तैयार था।

अठारहवी शताब्दी के अंत तक भारत यूरोपीय व्यापारियों और लुटेरों के लिए आकर्षण का केन्द्र था। इस समय अंग्रेज समाज शिथिल था और भारतीय समाज का अपकर्ष हो रहा था। वॉरेन हेस्टिंग्ज के समय से ब्रिटेन के दृष्टिकोण में परिवर्तन आ गया और सुधारवादी अंग्रेज भारत में दिलचस्पी लेने लगे। ईसाई धर्मप्रचार पहले चोरी-चोरी, फिर ईस्ट इण्डिया कम्पनी से

अनुमति से भारत में प्रवेश करने लगे। यद्यपि व्यापार में अभी भी अंगेज रुचि लेते थे, लेकिन बेंटिक के समय में वे अन्य भारतीय मामलों में भी रुचि लेने लगे। टॉमस मैकॉले (Thomas Macaulay) सी० ई० ट्रेवेलियन (C.E. Trevelyan) जो धर्म प्रचार के जोश से प्रेरित थे समाज के हर भाग को प्रभावित करके, भारतीय जीवन को अंग्रेजी प्रतिरुप में ढ़ालने की कोशिशि करने लगे।

कुछ अंग्रेजों के मन में पहले से ही भारत में ब्रिटिश साम्राज्य स्थापित करने का उद्देदश्य था। ब्रिटेन में बदलती स्थिति ब्रिटेन के यूरोपीय प्रतिद्वंद्वियों सें सम्बन्ध और भारत की बदलती स्थिन ने ब्रिटेन में एक नए दृष्टिकोण को जन्म दिया जिसके अनुसार भारत को ब्रिटेन के अधीन स्थायी रुप से लाना न्याय संगत लगने लगा। यह ऐतिहासिक बिडंबना है कि जो लोग भारत में ब्रिटिश साम्राज्य को स्थापित करने के पक्ष में आरम्भ से थे, वे ही बाद में इस विचार के विरोधी हो गए। भारत क्लाइव और हेस्टिंग्ज जैसे साहसी व्यापारियों और वेलेजली तथा नेपियर जैसे योद्धाओं द्वारा जीता गया, जो भारत में अंग्रेजो के अस्तित्व को लाभ और राष्ट्रीय फायदे की दृष्टि से देखते थे। इन विजयों का कुछ उच्च उद्देश्य भी होना चाहिए, यह दृष्टिकोण बेथमाइट (Benthamite) और इवेंजिलिकल (Evangelical) सुधारकों की रचनाओं में दिखाई देता है। जेम्स मिल, चार्ल्स ग्रांट भारत में ब्रिटिश प्रभुसत्ता को अनुचित आक्रमण का कार्य मानते थे।

भारत में अंग्रेजो की सफल्ता के जो कारण बताए जाते है उनमें प्रमुख है : ब्रिटिश सैन्यविज्ञान तथा सैन्य तकनीकी श्रेष्ठता, स्वयं सैनिकों की श्रेष्ठता, उनका अनुशासन कार्य कुशल सफल नेतृत्व, वफादारी, और अंग्रेजी जलशक्ति की सर्वोच्चता।

सैनिक श्रेष्ठता सैनिक तकनीक, रणकौशल में निपुणता तथा सैनिक अनुशासन में अंगेजों का कोई जवाब नहीं था। अंग्रेजों की तोपे और छोटे हथियार भारतीय हथियारों से अच्छे थे। उनके सारे अफसर रणनीति और सामरिक महत्व की जानकारी में निपुण और प्रशिक्षित थे। भारतीय सिपाही बहादुर और योग्य होने पर भी अनाड़ी थे प्रतिभाशाली सेनानी, जैसे हैदर अली, प्रशिक्षित सिपाहियों और सैनिक साधन की कमी के कारण पराजित हो गए। भारतीय सैनिक ने यूरोपिय युद्ध–पद्धति सीखने में बहुत देर कर दी।

उन्नत सैनिक प्रशिक्षण, युद्धनीति और उसके तरीको, प्रशिक्षित पैदल सेना और युद्धाभ्यास के योग्य (mauoeuvrable) हल्की तोपों के बल पर अंग्रेज भारतीयों की अनुशासनहीन घुड़सवार सेना को आसानी से पराजित कर देते थे। किसी भी सेना में सैनिक अनुशासन, आज्ञापालन, खतरे का सामना स्वेच्छा से करना, कठिनाइयों का सामना करना आदि गुण संख्या की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण है। अनुशासित सैन्य दल एकता और धैर्य से काम करता है। निपुण नेतृत्व और वफादारी से अंग्रेज सफल हुए।

भारतीयों में भी योग्य नेता थे, जैसे– माधवराव सिंधिया, हैदर अली, मिर्जा नजफ खाँ, नाना फडनवीस, रणजीत सिंह। लेकिन अंग्रेजों के पास दूसरी पंक्ति के नेता भी थे, जब कि भारतीयों में ऐसे नेताओं को अभाव था। इस कमी से नेता की मृत्यु होने पर देशी सेना की पराजय निश्चित थी अंग्रेजों को अपने शत्रुओं की अच्छी जानकारी थी। उन्होंने भारतीयों की प्रतिस्पर्धा और विभाजन का पूरा फायदा उठाया। अंग्रेजों के लक्ष्य भी उनकी निश्चित सफलता के लिए उत्तरदायी थे। ब्रिटिश साम्राज्यवाद और भारतीय समाज में टकराव भारतीयों को राजनीतिक स्वतंत्रता की अपेक्षा सामाजिक और धार्मिक आदर्शो में अधिक रुचि थी। अंग्रेजों ने चूँकि आरम्भ में इन मर्मस्थलों पर चोट नहीं की, अतः भारतीयों ने उनका विरोध नहीं किया (इसी निति को उलट देने का परिणाम 1857 के विद्रोह में दिखाई दिया)।

अंग्रेजों की सफलता भारत में उनकी जल शक्ति की सर्वोच्चता के कारण भी थी, जो कोई महाद्वीपीय युद्धों के परिणामस्वरूप स्थापित हुई थी। ब्रिटिश जल–सेना कम्पनी को अपनी दूरवर्ती बस्तियों से संपर्क स्थापित करने में सहायता तो करती ही थी, साथ ही अंग्रेजों के शत्रुओं को स्वयं ऐसा करने से रोकती थी, जिससे उनके व्यापार को बहुत हानि हुई। फ्रांसीसी शक्ति की पराजय भारत में उनकी जलशक्ति क्षीण होने से और नौसैनिक अड्डे के दूरस्थ होने से निश्चित हो गई। ईस्ट इंडिया कम्पनी के डाइरेक्टर भी अब सुरक्षित बंदरगाह और नौसैनिक अड्डों की किलेबन्ददी के महत्त्व को समझने लगे थे।

ब्रिटेन और भारत के सामाजिक विकास में बहुत अन्तर था। यद्यपि भारतीय मध्य वर्ग वाणिज्य में रुचि लेता था लेकिन वह इतना प्रगतिशील न था कि वह समाज में स्थायी और आधारभूत परिवर्तन कर सके। वह अभी भी सामंती शक्ति के आधीन था। जगतसेठ और अमीचंद के महत्त्व को समझने लगे थे।

ब्रिटेन और भारत के सामाजिक विकास में बहुत अंतर था। यद्यपि भारतीय मध्य वर्ग वाणिज्य में रुचि लेता था लेकिन वह इतना प्रगतिशील न था कि वह समाज में स्थायी और आधारभूत परिवर्तन कर सके। वह अभी भी सामंती शक्ति के अधीन था। जगतसेठ औश्र अमीचंद बंगाल सरकार क विरुद्ध ईस्ट इंडिया कम्पनी से मिल गए थे।

यूरोप में शक्तिशाली देशों के पास प्रभावशाली जल–सेना थी जिससे उनके वाणिज्यिक बुर्जुआ (मध्यवर्ग) सुदूर व्यापार ले सकते थे। लेकिन भारत में ऐसी स्थिति न थी। व्यापारिक स्थल–मार्ग कठिन और खतरनाक थ, जब कि समुद्र और नदियों के मार्ग व्यापार और वाणिज्य के लिए सुगम और लाभदायक होने पर भी इस्तेमाल नहीं किए जा सकते थ। मुगलों के पास कोई खास जल–सेना न थी जो उनके व्यापारिक बेड़ों की रक्षा कर सकती। इसलिए यद्यपि भारत में उत्पादन समाज की माँग से अधिक बढ़ गया था और एक व्यापारिक वर्ग भी स्थापित हो गया था, फिर भी विदेशों से व्यापार के लिए भारतीय व्यापारियों को विदेशी व्यापारियों पर निर्भर होना पड़ता था जो पहले अरब, फिर पुर्तगाली और सत्रहवीं शताब्दी में डच और अंग्रेज थे।

यूरोप में राष्ट्रवादी समाज की उत्पति सामाजिक विकास क्रम में हाल की घटना है। सोलहवी शताब्दी में यूराप ने सामतवाद के पतन के बाद वाणिज्यवादी व्यवस्था को अपनाया और अठारहवीं शताब्दी के मध्य में वह औद्योगिक पूँजीवाद तथा राष्ट्रवाद की ओर बढ़ा। लकिन भारत अठरहवी शताबदी के अंत तक सामन्तवादी प्रणाली पर कायम रहा यूराप म आर्थिक क्षत्र म हस्तशिल्प पर आधारित मध्ययुगीन नागरिक व्यापारों का स्थान वाणिज्यवादी प्रणाली ने ले लिया। और राजनीति में सामंती शक्तियों का स्थान केंद्रीभूत और शक्तिशाली राजकीय एकतंत्रों ने ले लिया। बैद्धिक और आध्यात्मिक क्षत्रो मे भी एक विस्तृत और विशाल क्रान्ति हो गई जिसका लोगों के मानस और कार्य–पद्धतियों पर प्रभाव पड़ा। इस तिहरे आन्दोलन न समाज का रुपांतरण किया और यूरोप में प्रादेशिक धर्म–निरपेक्ष, राष्ट्रीय आत्मचेतना पर आधारित आधुनिक, स्वतन्त्र और स्वशासी राज्यों का युग आ पहुँचा। इन समाजों के सदस्य व्यक्ति और समूह दोनों ही स्तरों पर राष्ट्रीय भावनाओं और प्रादेशिक देशभक्ति के धागों से बँधे थे।

अर्थ व्यवस्था के क्षेत्र में, यूरोप में वाणिज्यवादी प्रणाली ने सामंती प्रथा का स्थान। लिया और नए उद्योगों की स्थापना का प्रोत्साहित किया। आर्थिक सहायता, एकाधिकार और कर से मुक्ति देकर, विदशों की प्रतियोगिता को सीमित करके, चुगिया को इस प्रकार ढाल कर कि कच्चे माल के आयात और तैयार माल के निर्यात को बल मिल, और नियन्त्रण द्वारा उत्पादन का स्तर पूर्ववत् कायम रखकर इसने उद्योगों का पोषण किया।

पूँजी के संचय ने वाणिज्यवाद को जन्म दिया तथा कृषि, व्यापार एवं उद्योगो को प्रभावित किया। कृषि–क्षेत्र में खेतों की चकबन्दी और भेड़पालन–क्षेत्र में बाड़वदी से उत्पादन में वृद्धि हुई और उद्योगों के लिए श्रमिक उपलब्ध हुए। व्यापारिक क्षेत्रों में लिवरी कम्पनियों का विकास, नए मार्गो तथा अमेरीका एवं भारत जैसे नए देशों की खोज के फलस्वरूप नए बाजारों का विकास हुआ। अमेरीका और भारत की खोज से वाणिज्य और उद्योग आगे बढ़े। अमरीका से यूरोप में सोना–चाँदी आ जाने से व्यावसायिक उद्योगों को बल मिला। वाणिज्यवादी नीतियों के द्वारा राज्य ने धन और शक्ति प्राप्त की, जिसका उपयोग उसने उपनिवेश बसाने, सेनाएँ खड़ी करने और विरोधियों के विरुद्ध युद्ध करने में किया।

यूरोप का पूँजीवादी समाज अपनी प्रकृति में निहित तर्क के द्वारा दुनिया भर में फैल जाने के लिए प्रेरित हुआ, जिससे वह अपने उद्योगों के लिए कच्चा माल प्राप्त कर सके और अपने तैयार माल के लिए नए बाजार ढूँढ़ सके। इसी खोज में वह भारत पहुँचा। पूँजीवादी यूरोप के सबसे प्रगतिशील देश इंग्लैंड ने तब भारत पर अपना आधिपत्य जमा लिया।

मध्यकालीन यूरोपीय अर्थव्यवस्था की उल्लेखनीय विशेषता वाणिज्य का विस्तार थी। नगरों में उद्योग के विस्तार और विकास से व्यापार को प्रोत्साहन मिला और मध्यवर्ग का जन्म हुआ जिसने आर्थिक तथा रानीतिक क्षेत्रों को प्रभावित किय। इसके उदय ने सामंती यूरोप को राष्ट्रीय राज्यों में परिवतर्तित कर दिया। भारत में यूरोप की औद्योगिक क्रांति हुई, न ही एक प्रभुतासपन्न राष्ट्रीय राज्य का विकास हो पाया।

सत्रहवी शताब्दी में अंग्रेज जब पहली बार भारत आए तब व्यापारिक कम्पनियों और वाणिज्यवादी व्यवस्था का युग था। 1770–1830 के मध्य औद्योगिक क्रान्ति के प्रभावों से ब्रिटेन के वस्त्रोद्योग के स्वरूप में जो रुपांतरण हुआ, और ब्रिटिश विदेश नीति में जो भारी परिवर्तन आया, उसका भारत में ब्रिटिश शासन ने घनिष्ठ सम्बन्ध है। उन्नीसवी शताब्दी में ब्रिटेन ससार का कारखाना कहलाता था। समुद्र–पार ब्रिटिश विदेशी पूँजी के निवेश का भी भारतीय साम्राज्य से सम्बन्ध था। ब्रिटिश राजनीतिक और सामाजिक स्थिति में महान परिवर्तनों के परिणामस्वरूप, औद्योगिक मध्य वर्ग का उन्नसवीं सदी में उत्थान हुआ। मध्य वर्ग को 1832 के सुधार कानून में मताधिकार प्राप्त हुआ। उन्नीसवी शताब्दी के औद्योगिक परिवर्तन के साथ जो सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन ब्रिटेन में हुए वे प्लासी की विजय के समय के ब्रिटने की स्थिति से बहुत भिन्न थे और वे परिवर्तन इस युग में बहुत महत्त्वपूर्ण थ तब भारत और ब्रिटेन के मध्य औपनिवेशवाद के पहुँचने के कई महीने पहले आने वाले वाणिज्यिक सम्बन्ध [illegible] से जो सम्बन्ध ब्रिटेन और भारत के मध्य स्थापित हुए वे क्लाइव और हेस्टिंग्स के समय कल्पनातीत थ

ब्रिटिश सत्ता का भारत में विस्तार एक दीर्घ प्रक्रिया थी। चूँकि भारत समरुप देश नहीं था, अतः इसका प्रभाव भारत के भिन्न–भिन्न क्षेत्रों में भिन्न–भिन्न था। ब्रिटिश विजय भारत में एक आधुनिक देश की सामंतवादी देश पर विजय थी, जिसने अपने दश में स्वयं एक आधुनिक बुर्जुआ–मध्यवर्गीय समाज का निर्माण करके सामतवादी को समाप्त किया था। अंग्रेजों ने सामती अनेकता को जो सामंती अर्थव्यवस्था पर निर्भर थी, पराजित करके स्वयं को एक ऐसे आधुनिक राष्ट्र में ढाल लिया जो पूँजीवाद के उत्थान और विस्तार पर निर्भर था। जैसा कि आधुनिक राष्ट्र में ढ़ाल लिया जो पूँजीवाद के उत्थान और विस्तार पर निर्भर था। जैसा कि आधुनिक राष्ट्रों के इतिहास से प्रमाणित है पूँजीवादी की समाजिक राजनीतिक आर्थिक एकता और सांस्कृतिक रूप से आधिक शक्तिशाली होते है, क्योंकि पूँजीवादी सामंतवाद की अपेक्षा उत्पादन के उच्च तकनीकी तरीकों पर निर्भर है। पूँजीवादी राष्ट्र में देशभक्ति और राष्ट्रीयता की भावना बहुत प्रबल होती है। जिसका सामंती राज्यों में अभाव होता है, क्योंकि वे प्राकृतिक रूप से अलग–अलग होते है और सामाजिक राष्ट्र सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक रूप से संघटित होते है और एक ही राजनितीक शासन–प्रणाली के अधीन होते हैं जिसकी एक ही अर्थव्यवस्था होती है। भारत में अंग्रेजों ने इतिहास के एक भी ऐसा उदाहरण नहीं मिलता जब अंग्रेजों ने ब्रिटिश हितों के साथ विश्वासघात किया हो, जब कि उनकी तुलना में सैकड़ो भारतीय राजकुमारों, सेनापतियों, व्यापारियों ने अंग्रेजों के साथ मिलकर भारत में विजय प्राप्त करने में उनकी सहायता की।

राष्ट्रीय एकात्मता (solidarity), अनुशासन की भावना, देशभक्ति की प्रेरणा, सहायोग की प्रकृति, व्यवस्था की शक्ति आदि गुण पूँजीवादी राष्ट्र में पूर्ण रूप से विकसित होते है। इसमें आश्चर्य नही कि पूँजीवादी ब्रिटेन ने विभाजित सांमती भारत को आसानी से हरा दिया।

भारत में निरंतरता और परिवर्तन

पिछले कुछ वर्षो से इतिहासकारों की दिलचस्पी 18वीं शताब्दी के भारत के इतिहास में बहुत ज्यादा बढ़ गई है। उन्होंने इस शताब्दी के भिन्न पहलुओ पर अपनी कलम चलाई है। इसके परिणामस्वरूप कई परंपरागत धारणाओं का खंडन हुआ है तथा कई महत्त्वपूर्ण तथ्यों पर प्रकाश भी पड़ा है।

आमतौर पर यह धारणा प्रचलित है कि 18वी शताब्दी में मुगल साम्राज्य के पतन और विघटन के परिणामस्वरूप राजनीतिक दृष्टि से अराजकता फैल गई थी। ईस्ट इंडिया कम्पनी ने अपने व्यापारिक हितों की रक्षा के लिए बंगाल को जीता और कालांतर में एक ऐसी प्रशासनिक व्यवस्था कायम की जिसने भारतीयों को अराजकता के स्थान पर 'कानून और व्यवस्था' तथा 'सुरक्षा' का वातावरण प्रदान किया। सामाजिक दृष्टि से अठारहवीं शताब्दी के समाज को जड़ और अनेक बुराइयों तथा विभाजित प्रवृत्तियों से परिपूर्ण माना गया। आर्थिक दृष्टि से इस तथ्य पर बल दिया गया कि अंग्रेजी उपनिवेशवाद ने व्यापार एवं आर्थिक सम्बन्धों में कोई भी परिवर्तन नहीं किया इन अवधारणाओं पर कालांतर में प्रकट किए गए विचारों के आधार पर जहाँ एक ओर अठारहवीं शताब्दी को अब अधकारमय युग नहीं माना जाता है, वहीं दूसरी ओर अंग्रेजी उपनिवेशवाद की स्थापना और उसके साथ जुड़े शोषण को नकारने का प्रयास भी किया गया है। इस तरह सी०ए० बेली ने उत्तरी गंगा क्षेत्रों और वाशबुक ने करोमडंल तटीय क्षेत्रों के अध्ययन के आधार पर यह विचार प्रकट किया है कि भारतीय व्यापारिक वर्गो का प्रभाव बना रहा और 18वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में व्यापार का और अधिक विकास हुआ। एरिक स्टॉक्स ने यह स्पष्ट किया कि अपने शासन के प्रारंभिक वर्षो में अंग्रेजों ने जिस प्रशासनीय ढाँचे की स्थापना की, उसमें पर्वस्थापति व्यवस्था का समावेश भी किया गया। इस तरह निरंतरता के तत्वों पर विशेष बल दिया गया। इन धारणाओं को अतहर अली, सतीश चन्द्र इरफान हबीब जैसे–इतिहासकारों ने चुनौती दी है। इसके परिणामस्वरूप अनेक महत्त्वपूर्ण तथ्य सामने आए है।

पी० जे० मार्शल का यह विचार सही है कि साम्राज्यवाद तुरंत विजित प्रदेश को पूर्णतः परिवर्तित नहीं कर सकता है और प्लासी का युद्ध राजनीतिक क्रांति नहीं थी परन्तु मार्शल के इस विचार को स्वीकार करना असंभव है कि बंगाल को जीतने में ईस्ट इंडिया कम्पनी साम्राज्यवादी हितों के अंतर्गत कार्य नहीं कर रही थी। इस प्रकार कैब्रिज इकनॉमिक, हिस्ट्री ऑफ इंडिया खंड 11 से सम्बन्धित इतिहासकारों का यह विचार सही है कि अठारहवी शताब्दी की भारतीय अर्थव्यवस्था में मूलभूत परिवर्तन नहीं हुए थे। उदाहरण के लिए विदेशी व्यापार में भारतीयों की भागेदारी बनी रही। परन्तु इसी के साथ यह स्पष्टीकरण भी जरुरी है कि अंग्रेजों ने इसी शताब्दी में यहाँ पर अंग्रेजी उपनिवेश की स्थापना की। इससे आय के अधिकांश स्रोत अंग्रेजों के अधीन चले गए। सामाजिक स्तर पर भी पहले से चली आ रही परंपराओं के साथ–साथ परिवर्तन के भी अनेक लक्षण देखे गए। महत्वपूर्ण बात यह है कि भारत पर अपना अधिकार स्थापित करने के बाद अंग्रेजों ने अपने राजनीतिक उद्देश्यों के लिए भारतीय समाज, धर्म और प्रचलित मान्यताओं के बारे में जो प्रमाण इकट्ठे किए, वे स्वयं ही त्रुटिपूर्ण थे। परन्तु उनके आधार पर शासकों ने जो विचार व्यक्त किए उन्होंने कालांतर में निश्चित धारणाओं को रुप ले लिया और उन्हें आज भी स्वीकार किया जा रहा है। 18वीं शताब्दी के भारत के बारे में जो शोध–कार्य हो रहा है उससे यह स्पष्ट होता है कि उस संबंध

की राजनीति, समाज और अर्थव्यवस्था में निरंतरता के तत्व अवश्य विद्यमान थे, परन्तु उसी के साथ परिवर्तन के अनेक महत्त्वपूर्ण लक्षण भी दिखाई दिए।

राजनीतिक दशा : मुगल साम्राज्य के पतन के साथ–साथ अनेक स्वतंत्र भारतीय उत्तराधिकारी राज्यों की स्थापना भी इस शताब्दी में हुई। व्यापार के लिए आई ईस्ट इंडिया कम्पनी ने भारतीय राजनीति में हस्तक्षेप करना शुरु कर दिया था। दक्कन में उसने फ्रांसीसियों को तीन कर्नाटक युद्धों में हराया। जब 1763 में पेरिस की संधि हुई तो भारत में फ्रांसीसियों द्वारा अपने साम्राज्य की स्थापना केवल एक कल्पना ही बन कर रह गई। बंगाल में प्लासी के युद्ध के बाद अंग्रेजों ने अपने राजनीतिक अधिकारों को और अधिक स्पष्ट करने का फैसला किया। इस प्रकार अठारहवीं शताब्दी की राजनीति में तीन प्रमुख प्रवृत्तियाँ देखी गई :

1. मुगल साम्राज्य का पतन और विघटन
2. उत्तराधिकारी राज्यों की स्थापना
3. अंग्रेजों द्वारा भारत में उपनिवेशवाद की स्थापना।

इन तीनों प्रवृत्तियों के अंतर्गत ही इस शताब्दी की राजनीति में निरंतरता और परिवर्तन के तत्वों का अध्ययन किया जा सकता है।

1707 में औरंगजेब की मृत्यु के बाद मुगल साम्राज्य के पतन और विघटन की प्रक्रिया तेज हो गई। अयोग्य उत्तराधिकारियों, आर्थिक कठिनाईयों, दरबारी राजनीति, विदेशी हमलों और स्वतंत्र राज्यों की स्थापना में मुगल साम्राज्य का आकार संकुचित हो गया और इससे इसकी शक्ति क्षीण हो गई। वास्तव में मुगल सत्ता केवल दिल्ली तक ही सीमित रह गई थी। मुगल राजनीति में मराठों का लगातार हस्तक्षेप हो रहा था। अहमदशाह अब्दाली के हमलों ने इस सत्ता को सफल चुनौती दी। उसने अपने अधिकारियों को पंजाब में नियुक्त भी किया, परन्तु जब मराठों ने उत्तरी भारत पर कब्जा करने के उद्देश्य से अब्दाली द्वारा नियुक्त अधिकारियों को हटा दिया, तब युद्ध की स्थिति उत्पन्न हो गई।

14 जनवीर 1761 को जब पानीपत का तीसरा युद्ध शुरु हुआ, तो वह अनेक कारणों से भारतीय राजनीति के लिए महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ। यह युद्ध उत्तरी भारत में राजनीतिक प्रभुता के लिए हुआ, परन्तु इसमें मुगल साम्राज्य का कोई भी योगदान नहीं था। अहमदशाह अब्दाली और मराठों के बीच यह युद्ध लड़ा गया था। इसमें मराठों की हार हुई। विजयी होने के बाद अब्दाली वापस लौट गया। इस युद्ध से लाभ न तो विजेता पक्ष को हुआ और न ही पराजित पक्ष को। इससे भारतीय राजनीति में एक शून्यता की स्थिति पैदा हो गई। मराठों की हार ने यह साबित कर दिया कि वे मुगलों का स्थान लेने के लिए सक्षम नहीं थे। इस स्थिति का लाभ अप्रत्यक्ष रूप से अंग्रेजों को हुआ। बंगाल पर अपना अधिकार स्थापित करने के बाद उन्होंने एक–एक करके भारतीय राज्यों को हराना शुरु कर दिया।

अपने पैंफलेट में सतीशचंद्र ने अठारहवी शताब्दी में स्थापित अनेक उत्तराधिकारी राज्यों का विश्लेषण करते हुए यह स्पष्ट किया है कि इन राज्यों में अनेक ऐसे तत्व पाए गए जो मुगल प्रशासनिक व्यवस्था के ही हिस्सा थे। राज्यों की स्थापना की प्रक्रिया के आधार पर इन्हें तीन हिस्सों में बाँटा जा सकता है :

1. मुगलों द्वारा नियुक्त प्रशासनिक अधिकारियों द्वारा स्वतन्त्र राज्यों की स्थापना,
2. मुगल सत्ता को सफल चुनौती देते हुए अनेक व्यक्तियों और समुदायों द्वारा स्वतन्त्र राज्य की स्थापना
3. सर्वथा स्वतन्त्र राज्यों की स्थापना।

प्रथम श्रेणी में बंगाल अवध और हैदराबाद को रखा जा सकता है। बंगाल में जब मुगलों द्वारा मुर्शिदकुली खाँ को नियुक्त किया गया था तो उसने आंतरिक विद्रोहों को दबाने के साथ–साथ केन्द्र को नियमित रूप से नजराना देना प्रारम्भ किया था। सयम के साथ उसने स्वयं को स्वतन्त्र नवाब घोषित कर दिया। पी०जे० मार्शल के अनुसार बंगाल के नवाबों की शक्ति इस बात पर निर्भर करती थी कि वे आंतरिक और बाहरी समस्याओं और आक्रमणों से बंगाल की रक्षा और स्थानीय शक्तिशाली वर्गों का समर्थन किस तरह प्राप्त कर सकते थे। 1740 के बाद ये दोनों ही कार्य करने में वहाँ के नवाब अक्षम रहे और ईस्ट इंडिया कम्पनी ने अपने व्यापारिक हितों की रक्षा के लिए बंगाल पर अपना अधिकार करने का फैसला कर लिया। परिणामस्वरूप 1757 में प्लासी युद्ध में सिराजुद्दौला की हार हुई। 1760 में जब मीर कासिम ने स्वयं को अंग्रेजी प्रभाव से मुक्त करने और अंग्रेजो के व्यापारिक अधिकारों को सीमित करने का प्रयास किया तो दोनों पक्षों के बीच संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो गई। मार्शल ने यह स्वीकार किया है कि प्लासी युद्ध के बाद अंग्रेज अपने लाभ के लिए कुछ भी करने को तैयार थे। 1763 में अंग्रेजों ने मीर कासिम को आजादी से हटा दिया, परन्तु 1764 में मीर कासिम ने अवध के नवाब और मुगल बादशाह से मिलकर अंग्रेजों को हराने का निश्चय किया। परिणामस्वरूप 1764 में लड़ा जाने वाला बक्सर का युद्ध अंग्रेजों और भारतीय

के बीच प्रत्यक्ष संघर्ष था। इसमें क्लाइव के नेतृत्व में अंग्रेजों को सफलता मिली। इस तहर बंगाल को अंग्रेजी उपनिवेश में बदलने कि प्रक्रिश शुरु हो गई।

अवध की स्थापना सादतखां बुरहान ने की थी। मुजफ्फर आलम ने अपनी पुस्तक में यह स्पष्ट किया है कि वह अवध में स्थानीय शक्तिशाली वर्गो की सहायता में स्वतन्त्र राज्य की स्थापना करने में सफल हुआ था। उसने भी बाहरी तौर से मुगल अधीनता को स्वीकार किय, परन्तु वास्तविक रूप से स्वयं को स्वतन्त्र कर लिया। अवध की सैनिक और प्रशासनिक कमजोरियाँ बहुत जल्दी ही स्पष्ट हो गई। अवध का नवाब बक्सर के युद्ध में अंग्रेजों का सामना नहीं कर पाया। क्लाइव ने जब 1765 में इलाहाबाद की संधि की तो अवध ने अंग्रेजी मित्रता स्वीकार कर ली और इलाहाबाद और कड़ा के प्रदेश उन्हें सौंप दिए।

हैदराबाद का संस्थापक आसफजाह निजाम उल--मुल्क, मुगल शासन में प्रमुख वजीर था। वहाँ की राजनीति से असंतुष्ट होकर उसने हैदराबाद में स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की। प्रारम्भ में उसने मराठों की शक्ति को कम करने का प्रयास किया। 1748 में निजाम की मृत्यु के बाद उत्तराधिकार को लेकर संघर्ष छिड़ गया। इससे वहाँ पर आंतरिक अराजकता की स्थिति पैदा हुई। कालांतर में वहाँ निजाम ने मैसूर की खिलाफ अंग्रेजों की सहायता दी।

मुगल सत्ता के खिलाफ अठारहवी शताब्दी के प्रारम्भ में अनेक किसान विद्रोह हुए। समय और परिस्थतियों का लाभ उठाते हुए अनेक वर्गों ने स्वतंत्र राज्यों की स्थापना की। इनमें से एक शक्ति मराठों की थी। प्रथम तीन पेशवाओं (1713-1761) के अधीन मराठा शक्ति का बहुत अधिक प्रसार हुआ था। कुछ समय के लिए ऐसा लगा था कि उत्तरी भारत की राजनीति में हस्तक्षेप करने वाले मराठे शायद मुगलों का स्थान ले लेगें। परन्तु पानीपत के तीसरे युद्ध (1761) में मराठों की पराजय के साथ ही उनका अस्तित्व केवल प्रांतीय स्तर पर सीमित होकर रह गया। 1761 के बाद पेशवा माधवराव ने मराठा शक्ति को दुबारा व्यवस्थित करने का सफल प्रयास किया, परन्तु 1772 में उसकी मृत्यु के बाद यह प्रक्रिया रुक गई। इसके बाद प्रमुख मराठा सरदारों पर पेशवा का प्रभाव नाममात्र का ही रह गया। आंग्ल–मराठा युद्धों के परिणामस्वरुप मराठे और भी कमजोर हो गए।

मुजफ्फर आलम के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि अठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ से सिखों द्वारा स्वतन्त्र राज्य की स्थापना इस लिए नहीं हो पाई थी क्योंकि शासकों के समर्थन और सहयोग के लिए शक्तिशाली वर्ग नहीं था। परिणामस्वरुप प्रारम्भ में पंजाब में सिखों ने स्वयं को 12 मिसलों में संगठित किया। महाराजा रणजीत सिंह ने इन मिसलों पर अपना अधिकार स्थापित करते हुए केंद्रीकृत सिख राज्य की स्थापना की।

दिल्ली के समीपवर्ती इलाकों में जाटों ने मुगल सत्ता के खिलाफ विद्रोह किए। चूड़ामल और बदन सिंह ने भरतपुर में जाट राज्य की स्थापना की। इस दिशा में सफल प्रयास सूरजमल ने किया। उसने 1756-63 के बीच जाट राज्य का विस्तार किया। इसी तहर फरुखाबाद और रूहेलखंड में बंगश पठानों ने अपना स्वतन्त्र अस्तित्व स्थापित किया।

उत्तराधिकारी राज्यों की स्थापना की प्रक्रिया के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि अनेक स्वतन्त्र राज्यों की स्थापना भी इसी शताब्दी में हुई। केरल और अंबर ऐसे ही राज्य थे। इनमें सबसे महत्वपूर्ण मैसूर राज्य था इसकी स्थापना हैदर अली ने की थी। उसने और उसके पुत्र टीपू सुल्तान ने मैसूर राज्य को शक्तिशाली बनाया।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि मुगल साम्राज्य के पतन के साथी अनेक उत्तराधिकारी राज्यों की स्थापना हुई। उनकी राजनीतिक व्यवस्था से यह स्पष्ट होता है कि मुगल व्यवस्था के अनेक तत्व उत्तराधिकारी राज्यों में अपनाए गए थे। इस संदर्भ में यह प्रश्न सामन्तीकरण की प्रक्रिया देखी गई या नहीं?

सतीश चन्द्र ने जो विचार प्रकट किए है उनसे यह स्पष्ट होता है कि उत्तराधिकारी राज्यों में मुगल व्यवस्था के अनेक तत्वों को समावेश किया गया था, परनतु इसी के साथ नए परिवर्तन भी देखें गए। मुगल सत्ता कमजोर हो चुकी थी फिर भी उसकी प्रतिष्ठा को अनेक राज्यों ने स्वीकार किया। मुगल केन्द्र द्वारा नियुक्त अधिकारियों का सम्मान किया जाता था। केवल मैसूर के शासकों ने ही स्वयं को सम्राट घोषित किया। अधिकांश शासक स्वयं को नवाब ही कहते रहे। सत्ता का आधार शासक–वर्ग ही था। सी०ए० वेली ने भी यह स्पष्ट किया है। कि उत्तराधिकारी राज्यों की स्थापना में स्थानीय वर्गो ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। मुगल शासन की तरह इन उत्तराधिकारी राज्यों की रक्षा के लिए सेना अनिवार्य थी, परन्तु इस ओर केवल मराठों में महादजी सिंधिया ने ही महत्त्वपूर्ण प्रयास किया। सभी राज्यों में मुगलों की तरह, आमदनी का प्रमुख साधन भूमिकर ही था और इससे किसानों का शोषण पहले की तरह ही हुआ।

मराठों का वित्तीय आधार चौथ और सरदेशमुखी जैसे करों पर टिका हुआ था। इसके कारण राज्य की आमदनी स्थायी नहीं थी।

केन्द्रीयकृत मुगल साम्राज्य के स्थान पर अनेक स्वतन्त्र राज्यों की स्थापना तो अवश्य हुई, परन्तु इनमें परस्पर सहयोग की भावना नहीं थी। उदाहरणार्थ, अपने राज्य–विस्तार और राजनीतिक इच्छाओं की पूर्ति के लिए ये राज्य परस्पर संघर्षरत रहे। मराठों ने 1740 के दौरान बंगाल और भारत के दूसरे हिस्सों पर लगातार आक्रमण करके उन्हें अपने विरुद्ध कर लिया था। परिणामस्वरुप पानीपत का तीसरा युद्ध उन्हें अकेले ही लड़ना पड़ा। इसी तरह निजाम ने मराठों की शक्ति को कमजोर करने का प्रयास किया और जब आंग्ल–मराठा संघर्ष हुआ तो उसने मराठों की सहायता नहीं की। इसी तरह मैसूर के खिलाफ निजाम ने अंग्रेजों का पक्ष लिया। इस प्रकार की राजनीति इस बात को सूचक थी कि उत्तराधिकारी राज्य मुगलों का स्थान लेने में असमर्थ थे।

अठारहवीं शताब्दी की राजनीति की तीसरी प्रवृत्ति भारत में अंग्रेजों के उपनिवेश की स्थापना से जुड़ी हुई है। बंगाल में इस प्रक्रिया का विस्तार से अध्ययन करते हुए पी०जे० मार्शल ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि कम्पनी केवल अपने व्यापार को सुरक्षित रखना चाहती थी और आपने स्थापित व्यापारिक क्षेत्रों में संतुष्ट थी, परन्तु स्थानीय राजनीति में वह हस्तक्षप करने को तब बाध्य हो गई जब उसका व्यापार सुरक्षित नहीं रहा। इस तरह पी० जे० मार्शल के अनुसार ईस्ट इंडिया कम्पनी की गतिविधियों को स्थानीय परिस्थितियों और स्थानीय शक्तियों के साथ उसके सम्बन्धों के संदर्भ में ही देखने की जरुरत है। दूसरे शब्दों में, मार्शल ने यह निष्कर्ष निकाला है कि ईस्ट इंडिया कम्पनी साम्राज्यवादी उद्देश्यों से प्रेरित नहीं थी, परन्तु उस समय के ऐतिहासिक तथ्य यह स्पष्ट करते है कि व्यापारिक मुनाफे से प्रेरित कम्पनी ने अपने राजनीतिक उद्देश्यों को बहुत जल्दी स्पष्ट कर दिया था। फ्रांसीसी व्यापारियों की गतिविधियाँ और उनके राजनीतिक उद्देश्य पेरिस की संधि (1763) के साथ ही समाप्त हो गए। बंगाल में अंग्रेजों ने प्लासी (1757) और बक्सर (1764) के युद्धों के बाद स्वयं को राजनीतिक शक्ति घोषित किया। क्लाइव ने 1765-1772 के बीच द्वैध शासन व्यवस्था अपनाई। इससे कम्पनी ने दीवानी अपने अधीन कर ली और निजामत का भार नवाब पर ही छोड़ दिया। 1772 में गवर्नर के रूप में वारेन हेस्टिंग्ज ने इस व्यवस्था को समाप्त कर दिया। इसी के साथ अंग्रेजों ने बंगाल पर अपना अधिकार घोषित कर दिया। कालान्तर में अंग्रेजों ने राज्य विस्तार आर विशेष रुचि नहीं दिखाई, परन्तु अंग्रेज स्वतन्त्र और शक्तिशाली भारतीय राज्यों को स्वीकार करने के लिए भी तैयार नहीं थ। जब वेलेजली गवर्नर जनरल बनकर भारत आया तो उसके शासन–काल में अंग्रेजी उपनिवेश का विस्तार किया गया। अनेक इतिहासकोरों ने यह स्पष्ट किय है कि उसकी नियुक्ति ही भारत में अंग्रेजी साम्राज्य का विस्तार करने के लिए हुई थी। उसने सहायक संधि व्यवस्था अपनाकर अनेक भारतीय राज्यों को हड़प लिया।

अपने आधिपत्य को मजबूत करने के लिए अंग्रेजो ने प्रशासन की ओर भी ध्यान दिया। इसकी रुपरेखा 1773 में पारित रेग्युलेटिंग ऐक्ट में प्रस्तुत की गई। गवर्नर जनरल का नया पद बनाया गया और उसकी कोसिंल एवं सुप्रीम कोर्ट की स्थापना की गई। इस तहर प्रथम गवर्नर' जनरल के रूप में वॉरेन हेस्टिंग्ज ने न्याय–व्यवस्था की ओर विशेष ध्यान दिया। जिस नौकरशाही का विकास किया गया, वह पूरी तहर से यूरोपीय थी, परन्तु भारतीयों की समस्याओं और स्थानीय स्थिति को जानने के उद्देश्य से हेस्टिंग्ज ने अंग्रेज अधिकारियों को भारतीय भाषाओं का ज्ञान प्राप्त करने के लिए प्रेरित किया। 1784 में एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल की स्थापना की गई। प्रारम्भ से ही अंग्रेजों ने भूमिकर व्यवस्था की ओर विशेष ध्यान दिया। शुरु में वॉरेन हेस्टिंग्ज ने पंच–वर्षीय और सालाना योजनाएँ लागू की। लॉर्ड कॉर्नवालिस ने स्थायी बंदोबस्त (1793) लागू कर भूमिकर व्यवस्था में मूलभूत परिवर्तन किए।

इस प्रकार अंग्रेजों ने अठारहवीं शताब्दी में भारत को अपने उपनिवेश में बदल लिया। शासकों का उद्देश्य अपन देश के हितो की रक्षा करना था। प्रारम्भ से ही जिस प्रशासन को जन्म दिया गया, वह भारतीयों पर ऊपर से थोपा गया था। जातीय श्रेष्ठता में विश्वास रखने वाले अंग्रेज शासकों को भारतीयों या उनकी समस्याओं के प्रति कोई भी दिलचस्पी नहीं थी। इस तरह इस शताब्दी की भारतीय राजनीति में अनेक परिवर्तन देखे गए।

अध्याय - 3

बंगाल पर अधिकार – (1757-1765)

भारत में ब्रिटिश उपनिवेश का उदय एवं विस्तार

औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् मुगल साम्राज्य का भव्य महल ताश के पत्तों से निर्मित भवन की भाँति ढह कर बिखरने लगा। मुगल साम्राज्य की समाधि पर उत्तर एवं दक्षिण भारत में अनेक नये स्वतंत्र राज्यों की स्थापना हुई। इनमें बंगाल, अवध, हैदराबाद, मैसूर, केरल और मराठों के राज्य विशेष रूप से उल्लेखनीय थे। इनके अलावा सम्पूर्ण भारत में अनेक छोटे–छोटे स्वतंत्र राज्य भी स्थापित हो गए। राजस्थान में अनेक छोटे–छोटे राज्यों का उदय हुआ। रुहेलखण्ड में बंगश पठानों तथा रुहेलों ने स्वतंत्र राज्य की स्थापना कर ली। इनमें से अनेक राज्य प्रारम्भ में मुगल साम्राज्य के प्रान्त थे। स्थानीय प्रांतपतियों अथवा सूबेदारों ने केन्द्रीय सत्ता की कमजोरी का लाभ उठाकर कालान्तर में अपने सूबों में स्वतंत्र राज्य स्थापित कर लिये। कुछ ऐसे भी स्वतन्त्र राज्यों का उदय हुआ जिन्होंने मुगल सत्ता के पतन काल में विद्रोहों के द्वारा अपनी स्वतंत्रता प्राप्त की। इस प्रकार अठारवहीं सदी के पूर्वार्द्ध में ही भारत अनेक छोटे–बड़े स्वतंत्र राज्या में बँट गया था। उन दिनों ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी भारत में अपनी सत्ता की स्थापना के लिए बेचैन हो उठी थी। उल्लिखित स्वतंत्र भारतीय राज्यों ने अंग्रेजों की शक्ति को चुनौती दी परन्तु अन्त में अंग्रेजों ने उन्हें परास्त कर भारत में कम्पनी के राज्य की स्थापना की और 1856 ई॰ तक कम्पनी राज्य का भारत में व्यापक विस्तार हो गया।

अठारहवीं सदी के उल्लिखित भारतीय राज्यों की कुछ खास विशेषताएँ थी। इन राज्यों में कानून एवं व्यवस्था की स्थापना में स्थानीय शासकों को व्यापक सफलता मिली। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि इन राज्यों की राजनीति निस्संदेह धर्म–निरपेक्ष थी और लोगों के साथ जाति अथवा धर्म के आधार पर भेद–भवा नहीं बरता जाता था। योग्यता के आधार पर लोगों की नियुक्ति सैनिक अथवा असैनिक पदों पर किया जाता था। यही कारण है कि इन राज्यों में धर्म के प्रश्न को लेकर कभी कोई विद्रोह या षड्यंत्र होते हुए हम नहीं पाते हैं। सामान्यतः स्थानीय शासक अपने राज्यों की आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिए भी प्रयत्नशील रहे, किन्तु इन की कुछ कमजोरियाँ भी थी। क्षेत्रीय अथवा अन्य प्रश्नों को लेकर ये आपस में निरन्तर युद्धरत रहते थे। इससे इनके बीच एकता और सहयोग की भावना जाती रही और ये एकजूट होकर अपने समाज शत्रु अंग्रेजों का मुकाबला करने में असमर्थ रहे। पुनः इनमें से कोई भी राज्य तात्कालिक आर्थिक प्रश्नों को उचित ढंग से सुलझाने में सफल नहीं हो सका। कृषक वर्ग का जमींदारों के द्वारा लगातार शोषण जारी रहा। कृषि उत्पादनों में कमी आती गयी। कृषि के क्षेत्र में उन्नति लाने का शायद ही कोई प्रयास किया गया। इस प्रकार कृषकों की हालत दिन–प्रतिदिन खराब होती चली गयी। इसमें शक नहीं कि इस काल के स्थानीय शासकों ने अपने राज्यों में आन्तरिक एवं विदेशी व्यापार को बढ़ावा दिया। किन्तु उन्होंने आधारभूत औद्योगिक और व्यावसायिक ढाँचे को आधुनिक बनाने का कतई प्रयास नहीं किया। अतः देश की अर्थव्यवस्था कमजोर हो गयी और भारतीय राज्य अंग्रेजों की आधुनिक एवं उन्नतशील आर्थिक व्यवस्था को चुनौती देने में असफल सिद्ध हुए। इस प्रकार अपनी राजनीतिक, सैनिक एवं आर्थिक कमजोरियों के कारण कालान्तर में भारतीय राज्यों को ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी के सामने घुटने टेकने पड़े।

भारतीय राजनीति में यूरोपीय कम्पनियों की दिलचस्पी

मुगल साम्राज्य के पतन–काल में भारतीय राज्यों और यूरोप की व्यापारिक कम्पनियों के बीच शक्ति सन्तुलन लगातार यूरोपीय पक्ष में होता जा रहा था। सोलहवीं शताब्दी में भारत में यूरोपीयनों के अधिकार में केवल कुछ किले और मालगोदाम थे। बाद की सदी में उन्होंने व्यापारिक केन्द्रों और बस्तियों की स्थापना करनी शुरू की और अठारहवीं शताब्दी में भारतीय रियासतों को दबाना शुरू कर दिया। भारत पर प्रभुत्व स्थापित करने के क्रम में यूरोपीय कम्पनियों के बीच संघर्ष शुरू हुए। दक्षिण भारत में अंग्रजों तथा फ्रांसीसियों के बीच कर्नाटक की तीन महत्त्वपूर्ण लड़ाईयाँ हुई। इनमें अंग्रजों को निर्णायक सफलता मिली। अब यह तय हो गया कि भविष्य में अगर भारत पर विदेशी ताकत की सत्ता स्थापित होगी, तो वह अंग्रेजों की होगी। वस्तुतः कर्नाटक के युद्धों के बाद ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी को भारतीय राजनीति में खुलकर हस्तक्षेप करने का मौका मिल गया। इस मौके का लाभ उठाकर जल्द ही कम्पनी ने भारत के अनेक राज्यों पर अपनी सत्ता स्थापित कर ली और मराठों की पराजय के पश्चात् प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से सारे देश पर आधिकार कर लिया। भारत सदियों के लिए अंग्रेजों का गुलाम बन गया। अन्त में 1947 में जाकर भारत ने अपनी स्वतन्त्रता पुनः प्राप्त की।

बंगाल पर अंग्रेजों के प्रभुत्व की स्थापना

अठारवीं सदी में बंगाल भारत का सर्वाधिक समृद्ध राज्य था। बंगाल में स्वतन्त्र राजय की स्थापना का श्रय मुर्शिद कुली खां को दिया जाता है। 1717 ई॰ में मुर्शिद कुली खॉ बंगाल का सूबेदार बना। इसके पूर्व वह बगाल का दीवान रह चुका था। वह बड़ा ही योग्य एवं महत्त्वकांक्षी व्यक्ति था। उसने बंगाल सूबे में शक्ति–सुव्यवस्था की स्थापना की और बाह्य आक्रमण से उसे सुरक्षित रखा। उसने बड़े ही कठोर हाथों से सूबे में होने वाले विद्रोह का दमन किया। सीताराम राय, उदय नारायण और गुलाम मोहम्मद ने पहला विद्रोह किया था। बाद में शुजात खाँ और नजात खां ने भी विद्रोह किए। किन्तु उन्हें मुर्शिद कुली खाँ के सामने झुकना पड़ा। यद्यपि मुर्शिद मुगल सम्राट की अधीनता को सैद्धान्तिक रूप से स्वीकार करता था, किन्तु व्यवहारिक रूप से वह स्वतन्त्र हो गया था। सूबे की शासन–सत्ता, अधिकारीगण और जागीरदारों पर मुर्शिद ने कठोर नियन्त्रण स्थापित कर लिया था। इस प्रकार उसके शासन काल में ही व्यवहारिक रूप से बंगाल एक स्वतन्त्र राजय बन गया

1727 ई॰ में मुर्शिद कुली खाँ की मृत्यु के पश्चात् उसका दामाद शुजाउद्दीन बंगाल का शासक बना। उसने 1756 ई॰ तक बंगाल पर शासन किया। उसका उत्तराधिकारी उसका पुत्र सरफराज खाँ हुआ, किन्तु जल्द ही सरफराज को पदच्युत कर 1740 में अलीवर्दी खाँ बंगाल का स्वतन्त्र नवाब बन बैठा। सही अर्थ में अलीवर्दी खाँ ने ही बंगाल में एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की।

उल्लिखित नवाबों के शासनकाल में बंगाल में शान्ति–सुव्यवस्था की स्थापना की गयी तथा राज्य की सुरक्षा का समुचित प्रबन्ध किया गया। मुर्शिद कुली खाँ और अलीवर्दी खाँ योग्य संगठनकर्त्ता एवं सफल शासक सिद्ध हुए। मुर्शिद ने बंगाल में भूराजस्व की एक नई व्यवस्था स्थापित की और आर्थिक दृष्टि से राज्य को सबल बनाने का सफल प्रयास किया। नयी व्यवस्था के द्वारा जागीर भूमि के एक बड़े हिस्से को खालसा भूमि में बदल दिया गया और लगान की वसूली के लिए इजारा अथवा ठेके की व्यवस्था स्थापित की गयी। कृषि को समुन्नत बनाने के लिए आवश्यक प्रयास किए गए। गरीब किसानों को तकावी ऋण भी दिए गए। अवैध करों को हटा दिया गया। इन सुधारों के चलते राज्य की आय में वृद्धि हुई। ठेकेदारी की व्यवस्था तथा लगान–वसूली की कठोरता के चलते किसानों पर आर्थिक बोझ काफी बढ़ गया।

मुर्शिद कुली खाँ और अली वर्दी खाँ ने राज्य की प्रशासनिक व्यवस्था को भी मजबूत बनाने की कोशिश की। बंगाल के सभी नवाब धार्मिक एवं जातीय भेद–भावों से दूर रहे और उन्होंने योग्यता के आधार पर हिन्दू तथा मुसलमान दोनों को प्रशासन एवं सेना में उच्च पदों पर नियुक्त किया। राज्य की भूमि की नयी व्यवस्था की स्थापना कर बंगाल के उल्लिखित नवाबों ने राज्य में एक नए भूअभिजात वर्ग को पनपने का अवसर प्रदान किया। राज्य को आर्थिक दृष्टि से सुदृढ़ बनाने के उद्देश्य से आन्तरिक एवं विदेशी व्यापार को उन्नतशील बनाने का प्रयास किया गया। भारतीय तथा विदेशी व्यापारियों को समान रूप से अनेक सुविधाएँ दी गयी। राज्य मार्गों एवं जल–मार्गों की सुरक्षा का समुचित प्रबन्ध किया गया और जगह–जगह पर सराय, थाने, डाक चौकियाँ स्थापित की गयी। चुंगी की व्यवस्था को कारगर बनाया गया तथा विदेशी व्यापारियों पर कठोर नियंत्रण रखा जाने लगा जिससे वे अपने विशेषाधिकारों का दुरुपयोग न कर सके।

स्पष्ट है कि बंगाल के प्रारम्भिक नवाबों ने राज्य को राजनीतिक, प्रशासनिक एवं आर्थिक दृष्टि से संगठित करने में आशातीत सफलता प्राप्त की। परन्तु उनकी व्यवस्थाओं में कुछ ऐसी आधारभूत त्रुटियाँ थीं, जिनके चलते अन्त में बंगाल पर प्रभुत्व स्थापित करने में ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी को सफलता प्राप्त हुई। नई भूराजस्व–व्यवस्था सामन्तवादी स्वरूप की थी, अतः जागीरदारों के शोषण के चलते कृषक वर्ग की स्थिति दयनीय होती गयी। विदेशी व्यपारियों को विशेषाधिकार प्रदान कर नवाबों ने बड़ी भूल की। कालान्तर में इन विशेषधिकारों को लेकर ही अंग्रेजों के साथ नवाब के अनबन शुरू हुए और अन्त में बंगाल में ब्रिटिश सत्ता की स्थापना हुई। वस्तुतः विशेषाधिकार युक्त विदेशी महत्त्वाकांक्षी होते गए और नवाब उनकी बढ़ती हुई महत्त्वाकांक्षा को नियन्त्रित करने में असफल सिद्ध हुए। बंगाल के शासकों ने अपनी सैनिक शक्ति को मजबूत बनाने की कोई कोशिश नहीं की। यह उनकी सबसे बड़ी भूल साबित हुई। मुर्शिद की सेना में केवल दो हजार अश्वारोही और चार हजार पैदल सैनिक थे। ऐसी कमजोर सेना के बल पर राज्य को स्थायित्व प्रदान करना केवल कठिन ही नहीं वरन् असम्भव भी था। मराठों और अंग्रेजों ने बंगाल की सैनिक कमजोरियों का पूरा लाभ उठाया और अन्त में पलासी एवं बक्सर के युद्धों के बाद अंग्रेजों ने बंगाल पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया।

सिराजुद्दौला तथा अंग्रेज

1756 ई॰ में अलीवर्दी खाँ की मृत्यु हो गयी। उसकी मृत्यु के साथ ही बंगाल का दुर्दिन शुरू हो गया। उसके मरने पर उसका नाती मिर्जा मुहम्मद, जो सिराजुद्दौला के नाम से प्रसिद्ध है, बंगाल का नवाब बना। उसके नवाब बनते ही स्थिति गम्भीर संकट के दौर में पहुंच गयी। जब सिराजुद्दौला बंगाल का नवाब बना, उस समय उसकी उम्र चौबीस वर्ष की थी। वह एक स्वेच्छाचारी तथा लालची स्वभाव का व्यक्ति था।

सिराजुद्दौला जैसे ही नवाब बना, अंग्रेजों के साथ उसकी ठन गयी। बंगाल के नवाब तथा अंग्रेजों के बीच मतभेद के अनेक कारण थे :

दस्तक प्रथा का दुरुपयोग

मतभेद का पहला और शायद सबसे महत्वपूर्ण कारण कम्पनी तथा उनके कर्मचारियों द्वारा दस्तक प्रथा का दुरुपयोग था। बंगाल आर्थिक दृष्टि से उन दिनों भारत का सबसे समृद्ध प्रान्त था। वहाँ कृषि, उद्योग तथा वाणिज्य सभी सुविकसित थे। ईस्ट इण्डिया कम्पनी तथा उसके कर्मचारियों का बंगाल में व्यापारिक स्वार्थ था। बंगाल के व्यापार से उन्हें काफी मुनाफा हो रहा था। कम्पनी को मुगल बादशाह फार्रूखसियर से 1717 ई॰ में एक शाही फर्मान मिला था। इस फर्मान के द्वारा कम्पनी को बिना चुँगी दिए बंगाल में अपने व्यापारिक मालों की आयात–निर्यात की सुविधा मिली हुई थी। उसे कम्पनी के माल को एक स्थान से दूसरे स्थान पर लाने और ले जाने के लिए दस्तक जारी करने का अधिकार दे दिया गया था। कम्पनी के कर्मचारी चुंगी देकर ही अपना निजी व्यापार कर सकते थे। मुर्शिद खाँ से लेकर अलीवर्दी खाँ तक बंगाल के सभी नवाबों ने दस्तक प्रथा के दुरुपयोग को कठोरता के साथ कर रोक कर रखा था। उन्होंने कम्पनी तथा उनके कर्मचारियों को राज्य को निश्चित धन देने के लिए बाध्य किया। सिराजुद्दोला भी इस व्यवस्था को पूर्ववत कायम रखना चाहता था।

लेकिन उस समय तक स्थिति में अनेक परिवर्तन हो चुके थे। उस समय तक बंगाल के जमींदार अधिक स्वतन्त्र हो गए थे। उन्होंने नियमित कर जमा करना बन्द कर दिया था। नवाब के खजाने में जो रकम वे जमा करते थे वह उनकी जागीरों से प्राप्त आय का अल्पांश मात्र होती थी। इस प्रकार जमींदारों की जागीरों में लगानयुक्त कर धीरे–धीरे शुद्ध लगान में रुपान्तरित होते गए, जबकि जमींदारों की जागीरें स्वयं उत्तराधिकारी में प्राप्त होती थी और इस तरह वे निजी सामन्ती जागीरों में परिणत होती जा रही थी। अंग्रेज सिराजुद्दौला की कमजोरियों को जानते थे। इसके अलावा फ्रांसीसियों के विरूद्ध दक्षिण में जो उनको व्यापक सफलता मिली थी, इससे वे अत्यन्त महत्वाकांक्षी हो उठे थे और अपने आपको काफी मजबूत समझने लगे थे। अंग्रेज भारतीय राज्यों की राजनीति तथा सैनिक कर्मचारियों को भी जान गए थे। अब कम्पनी के कर्मचारी बंगाल के आन्तरिक व्यापार हस्तक्षेप करने लगे और एक व्यापारिक केन्द्र से दूसरे व्यापारिक केन्द्र को माल भेजने के बहाने वे अपना माल भी शुल्क मुक्त भेजने लगे। इतना ही नहीं, अपने माल पर भी वे चुंगी नहीं देते थे, उन्होंने कलकत्ता में आनेवाले भारतीय मालों पर भी भारी चुंगी वसूलनी शुरू कर दी थी। इस कारण अंग्रेजों से सिराजुद्दौला का चिढ़ जाना स्वभाविक था।

शौकतजंग को समर्थन

यद्यपि सिराजुद्दौला बंगाल का नवाब बन गया था, किन्तु अब भी उसके नवाब पद को शौकतजंग और घसीटा बेगम चुनौती दे रहे थे। शौकतजंग स्वयं नवाब बनना चाहता था। उसे दरबार के अनेक प्रभावशाली व्यक्तियों का समर्थन भी प्राप्त था। अंग्रेज भी शौकतजंग का ही पक्ष ले रहे थे।

राजवल्लभ तथा उसके पुत्र कृष्ण दास को प्रश्रय देना

कम्पनी के साथ नवाब के मनमुटाव का एक अन्य कारण अंग्रेजों के द्वारा उसके शत्रु राजवल्लभ को प्रश्रय देना भी था। कम्पनी के कर्मचारी सोच रहे थे कि सिराजुद्दौला नवाब नहीं बन पाएगा, अतः वे सिराजुद्दौला के शत्रु राजवल्लभ को प्रश्रय तथा प्रोत्साहन दे रहे थे। राजवल्लभ का पुत्र कृष्णदास जब अपने परिवार और खजाने के साथ भाग रहा था, तो अंग्रेजों ने उसे संरक्षण प्रदान किया। सिराजुद्दौला चाहता था कि अंग्रेज उसे लौटा दे, किन्तु अग्रेजों ने उसकी आज्ञाओं की अवहेलना की।

कलकत्ते की किलाबन्दी

अंग्रेजों तथा फ्रांसीसियों के बीच वर्षों से दुश्मनी चली आ रही थी। उन दिनों दोनों के बीच यूरोप में सप्तवर्षीय युद्ध छिडने की आशका थी। अतः भारत मे भी य दानो एक दूसरे स सतक हो गए। अग्रज तथा फ्रासासिया क खिलाफ नवाब स अनुमति के लिए बंगाल मे किलेबंदी शुरू कर दी थी। अंग्रेज कलकत्ते की किलाबन्दी कर रहे थे, तो फ्रान्सीसी चन्द्रनगर में। यह बात

सिराजुद्दौला को बुरी लगी। निःसन्देह यह नवाब की सार्वभौमिकता पर प्रहार था। वह एक स्वतन्त्र शासक था उसे पूरा अधिकार था कि वह विदेशियों को अपने राज्य में किलाबन्दी कर रहे थे। तो फ्रांसीसी चन्द्रनगर की। यह बात सिराजुद्दौला को बुरी लगी। निःसन्देह यह नवाब की सार्वभौमिकता पर प्रहार था। वह एक स्वतन्त्र शासक था। उसे पूरा अधिकार था कि वह विदेशियों को अपने राज्य में किलाबन्दी करने की अनुमति नहीं देता। फिर, वह दक्षिणी घटनाओं से भी अनभिज्ञ नहीं था। उसे डर था कि अगर अंग्रेज और फ्रांसीसी उसके राज्य में लड़ने लगेंगे, तो उसकी भी वही हालत होगी जो कर्नाटक के नवाबों की हुई, अतः उसने दोनों को हुक्म दिया कि वे किलाबन्दी रोक दें। फ्रांसीसियों ने तो उसकी बात मान ली, किन्तु अंग्रेजों ने ऐसा करने से इनकार कर दिया। ऐसा कुछ खास कारणों से हुआ— कर्नाटक की विजय ने अंग्रेजों को काफी महत्वाकांक्षी और आत्मविश्वासी बना दिया था। पुनः अब तक कम्पनी ने यह दृढ़ निश्चय कर लिया था कि वह अपनी इच्छानुसार बंगाल में व्यापार करेगी और नवाब के आदेशों को विरोध करेगी। इसका अर्थ था— नवाब की सार्वभौमिकता को प्रत्यक्ष चुनौती।

इन सब कारणों से और विशेष रूप से किलेबन्दी को न रोकने से सिराजुद्दौला बहुत ही कुपित हुआ और उसने अंग्रेजों पर आक्रमण कर दिया। जल्दबाजी और अपर्याप्त तैयारी के साथ उसने कासिम बाजार में स्थित अंग्रेजों के कारखाने (कोठी) पर कब्जा कर लिया। कलकत्ता का गवर्नर ड्रेक अपने साथियों के साथ जहाजों से भाग निकला और उसने फुल्टा नामक एक द्वीप में जाकर शरण ली। नवाब ने उनका पीछा नहीं किया। फुल्टा में अंग्रेज मद्रास से सहायता आने की प्रतीक्षा करने लगे।

काली कोठरी की दुर्घटना

बहुत से अंग्रेज – इतिहसकारों ने कलकत्ता के पतन के सम्बन्ध में नवाब के चरित्र पर भयंकर आरोप लगाया है। कहानी यह है कि एक रात को नवाब के सैनिकों ने उन 146 कैदियों को जिन्हें इस आक्रमण के क्रम में बन्दी बना लिया गया था एक छोटी–सी कोठरी में जो अठारह फीट लम्बी तथा चौदह फीट दस इंच चौड़ी थी, बन्द कर दिया। जून की भयंकर गर्मी के कारण उस कोठरी में 123 कैदी दम घुटने के कारण मर गए और शेष 23 उस दुःखद घटना का वृतान्त कहने को अधमरे से बचे रहे। इसे इतिहास में 'काली कोठरी की दुर्घटना' की संज्ञा दी गयी है।

अब भी इस घटना को लेकर विद्वानों के बीच मतभेद बना हुआ है। कुछ विद्वानों का कहना है कि यह घटना केवल हॉलवेल के मस्तिष्क की उपज है। जो नवाब को बदनाम करने के उद्देश्य से बनाया गया है। इतनी छोटी कोठरी में 146 आदमियों को कैद कर रखा ही नहीं जा सकता है। इसके अलावा तत्कालीन साहित्यिक कृतियों में भी इसका उल्लेख नहीं मिलता है 'खैर मुताखरीन' और रियास–उस–सलातीन' में भी इस घटना का कोई वर्णन नहीं मिलता है। केवल हॉलवेल ही इसका उल्लेख करता है। अतः इस पर विश्वास करना कठिन है। आधुनिक इतिहासकारों ने इस घटना को कपोलकल्पित ही माना है।

अलीनगर की सन्धि

सत्य चाहे जो हो, जब अंग्रेजों की पराजय तथा काली कोठरी की दुर्घटना का समाचार मद्रास पहुंचा तो वहा के अंग्रेज प्रतिशोध की भावना से उत्तेजित हो उठे। अंग्रेज बंगाल की आन्तरिक स्थिति तथा नवाब की सैनिक शक्ति से भली–भांति परिचित थे। अतः मद्रास के अधिकारियों ने कलकत्ता पर पुनः अधिकार करने का निश्चय किया। इस उद्देश्य से एडमिरल वाटसन तथा क्लाइव को बंगाल भेजा गया। क्लाइब के नेतृत्व में 900 यूरोपियनों तथा 1500 भारतीयों की सेना थी। पाँच जंगी जहाज तथा ट्रांसपोर्ट का संचालन वाटसन कर रहा था। क्लाइव ने अपनी कुशलता से 2 जनवरी, 1757 ई॰ को कलकत्ता पर अधिकार कर लिया। हुगली पर भी अंग्रेजों ने कब्जा कर लिया और उसे जी भर कर लूटा। मणिकचन्द्र ने घूस लेकर अंग्रेजों के साथ केवल युद्ध का दिखावा किया और बाद में भाग कर मुर्शिदाबाद चला गया। कासिम बाजार भी अंग्रेजों के कब्जे में चला आया। सिराजुद्दौला ने एक बार फिर अंग्रेजों विरूद्ध अभियान किया, किन्तु युद्ध अनिर्णायक रहा। विवश होकर नवाब ने 9 फरवरी 1757 ई॰ को अंग्रेजों के साथ अलीनगर की सन्धि कर ली।

इस सन्धि के अनुसार अंग्रेजों की पुरानी व्यापारिक सुविधाएँ फिर से लौटा दी गयी। क्षति–पूर्ति के रूप में नवाब ने कम्पनी को एक बहुत बड़ी धन–राशि प्रदान की। कम्पनी को कलकत्ता में किलाबन्दी करने की अनुमति भी दे दी गयी। अंग्रेजों को इस सन्धि को मान लेने में कोई आपत्ति नहीं थी क्योंकि इससे उन्हें लाभ–ही–लाभ था। अब उनकी स्थिति और भी दृढ़ हो गयी; एक कारण और था — यूरोप में सप्तवर्षीय युद्ध छिड़ गया था। अतः अंग्रेजो को फ्रांसीसियों से भी संकट हो सकता था साथ ही उन्हें इस बात का भी भय था कि कहीं नवाब फ्रांसीसियों से मिल न जाए। अतः वे सन्धि के लिए जल्द ही तैयार हो गये। नवाब ने भी कुछ विशेष कारणों से ही यह अपमानजनक सन्धि की थी। सम्भवतः उसे इस बात का शक हो गया था कि उसके विरूद्ध दरबार में एक षड्यंत्र किया जा रहा था। उन दिनों अंतर्राष्ट्रीय व्यापार [illegible]

विरुद्ध अनेक सफल आक्रमण किए थे। नवाब को इस बात का खतरा था, अब्दाली अवध के नवाब तथा रुहेलों से मिलकर बंगाल पर भी हमला न कर दे। ऐसी स्थिति में उसने चुपचाप अंग्रेजों से शान्ति समझौता कर लेना ही उचित समझा।

चन्द्रनगर पर अंग्रेजों का कब्जा

जब यूरोप में सप्तवर्षिय युद्ध छिडा, तो बंगाल में भी अंग्रेजों तथा फ्रांसीसियों के बीच संघर्ष शुरू हो गया। मार्च, 1757 ई॰ में अंग्रेजों ने फ्रांसीसी नगर पर कब्जा कर लिया। नगर को अंग्रेजों से छुडाने का नवाब ने कोई प्रयास नहीं किया। उसकी एक अच्छी सेना नन्द कुमार के नेतृत्व में हुगली में तैनात थी। सम्भवतः अंग्रेजों ने नन्द कुमार को घूस देकर अपने पक्ष में कर लिया था, अतः उसने चन्द्रनगर की सुरक्षा का कोई भी प्रयास नहीं किया। कारण चाहे जो भी हो, चन्द्रनगर पर अंग्रेजों के कब्जे को चुनौती न देकर नवाब ने बड़ी भूल की। बाद में चन्द्र नगर से भागकर आए हुए फ्रांसीसियों को उसने अपने दरबार में शरण दी, किन्तु जब अंग्रेजो ने उस पर दबाव डाला तो उसने उन्हें अपने दरबार से भी निकाल दिया।

नवाब के विरुद्ध षड्यंत्र

अली नगर की सन्धि अंग्रेजों तथा नवाबों के बीच पड़ी हुई दरार को पाटने में असफल सिद्ध हुई। उनके आपसी द्वेष–भाव का अन्त नहीं हो सका। सच तो यह है कि किसी सद्भावना से यह सन्धि नहीं हुई थी। इसमें सच्चाई और ईमानदारी की नितान्त कमी थी। इन दोनों के बिना सभी सन्धियाँ व्यर्थ होती है। हाँ, इस सन्धि से अंग्रेजों को, जो बंगाल के राजनीतिक रंगमंच पर नाटक खेलना चाहते थे, कुछ समय अवश्य मिल गया। अंग्रेजों का लक्ष्य काफी ऊँचा था। उन्होंने सिराजुद्दौला के स्थान पर बंगाल की गद्दी पर एक कठपुतली बैठाने का फैसला कर रखा था।

उस समय बंगाल में काफी गड़बड़ी मची हुई थी। दरबार में नवाब के विरुद्ध एक जबर्दस्त षड्यंत्र रचा जा रहा था। अंग्रेजों ने नवाब के दरबार के प्रमुख व्यक्तियों के साथ मिलकर षड्यंत्र और विश्वासघात का एक जाल बिछाया। सिराजुद्दौला की जगह पर मीरजाफर को नवाब बनाने का षड्यन्त्र रचा गया। इस षड्यन्त्र में शामिल होने वाले व्यक्तियों में प्रमुख थे–मीरजाफर (प्रधान सेनापति), मानिकचन्द (कलकत्ता का प्रभारी अधिकारी) अमीचन्द (एक धनी व्यापारी), जगत सेठ (एक बड़ा बैंकर) और खादिम खाँ। खादिम खाँ के अधीन नवाब की सेना की एक बड़ी टुकड़ी थी। 10 जून 1757 ई॰ को षड्यंत्रकारियों के बीच एक गुप्त सन्धि हुई। इस सन्धि के द्वारा यह निश्चय किया गया कि मीरजाफर को बंगाल का नवाब बनाया जाएगा। बदल में वह कम्पनी को एक करोड़ रुपया तथा चौबीस परगने की जागीर देगा। मीरजाफर ने यह भी आवश्वासन दिया कि वह कम्पनी के कर्मचारियों क्लाइब, वाटसन आदि को धन का एक बहुत बड़ा हिस्सा उपहार के रूप में देगा।

षड्यंत्रकारियों ने भविष्य में नवाब के साथ होने वाले युद्ध की योजना भी तैयार कर ली। यह निश्चय किया गया कि क्लाइव को शीघ्र ही पलासी की ओर कूच कर देना है। मीरजाफर को रण–स्थल में नवाब का साथ छोड़कर और अपने अधीन सारी सेना लेकर क्लाइब के साथ जा मिलना था। इसी बीच एक गड़बड़ी हो गयी। षड्यंत्रकारियों के बीच अमीचन्द्र ने लालच में आकर धमकी दी कि अगर उसे नवाब के खजाने का पांच प्रतिशत और लाख रुपये नहीं दिए जाएंगे तो वह षड्यंत्र का पोल खोल देगा। क्लाइब ने जाली सन्धि–पत्र बनाकर अमीचन्द्र की मांगों को मानते हुए उस पर हस्ताक्षर कर दिया।

पलासी का युद्ध

इस प्रकार जब सब कुछ योजना बद्ध रूप से तैयार हो गया तो क्लाइब ने नवाब को एक पत्र लिखा जिसमें बंगाल में अंग्रजों की कष्टों की शिकायत के साथ सिराजुद्दौला पर अलीनगर की सन्धि की शर्तों को तोड़ने का आरोप लगाया गया था। ये सब युद्ध के बहाने थे। उत्तर की प्रतीक्षा किए बिना क्लाइब और वाट्सन के नेतृत्व में अंग्रेजी सेना पलासी की ओर चल पड़ी। दोनों पक्षों के बीच मुर्शिदाबाद से कोई बाईस मील दूर पलासी के मैदान में 23 जून, 1757 को मुकाबला हुआ। आरम्भ में क्लाइब के लिए स्थिति बहुत गम्भीर प्रतीत हुई। उसे न लड़ने का परामर्श भी दिया गया तो भी क्लाइव अपने निश्चय पर डटा रहा। जल्द ही उसके तोपखाने ने शत्रु–सेना में गड़बड़ी पैदा कर दी। पूर्व योजना के अनुसार मीरजाफर तथा रायदुर्लभ ने नवाब को धोखा दिया। वे अपनी सेना के साथ कलाइब से जा मिले। नवाब के थोड़े–से सैनिकों ने ही जिनका नेतृत्व मीर मदन और मोहन लाल कर रहे थे, पूरे जोश के साथ शत्रु –सेना का मुकाबला किया। दुर्भाग्यवश मीर मदन को एक तीर लग गया और उसने दम तोड़ दिया। मोहन लाल भी नवाब के आदेश पर रण–स्थल छोड़कर भाग खड़ा हुआ। इसके साथ ही युद्ध का अन्त हो गया। क्लाइब को सस्ती तथा निश्चयात्मक विजय प्राप्त हुई। सिराजुद्दौला भाग कर मुर्शिदाबाद पहुंचा, किन्तु जब उसने अनुभव किया कि वहाँ भी वह सुरक्षित नहीं है तो अपनी पत्नी लुत्फुन्निसा के साथ वह वहाँ से पटने की ओर भागा परन्तु वह पकडा गया और मीरजाफर के बेटे मीरन के हाथों उसकी हत्या कर दी गयी।

पलासी के युद्ध के परिणाम

सैनिक दृष्टि से पलासी की लड़ाई का विशेष महत्व नहीं है, क्योंकि इस युद्ध में सैन्य शक्ति का नहीं, अपितु षड्यंत्र का सहारा लिया गया था। क्लाइब ने नवाब के प्रभावशाली दरबारियों को घूस और झूठे आश्वासन देकर अपने पक्ष में मिला लिया था। यहाँ तक कि नवाब का प्रधान सेनापति मीरजाफर भी नवाब का विरोधी बन बैठा था और उसने युद्ध के मैदान से अपनी सेना के साथ अलग हटकर नवाब के पक्ष को काफी कमजोर बना दिया। नवाब युद्ध स्थल में नहीं अपने दरबार में ही हार गया था। युद्ध तो केवल एक दिखावा था जो सिराजुद्दौला पहले ही हार चुका था। जिस युद्ध में नवाब की सेना के केवल 500 तथा अंग्रेजों की सेना का सिर्फ 29 व्यक्ति काम आए हो, ऐसे युद्ध को सैनिक दृष्टि से क्या महत्त्व दिया जा सकता है? किन्तु परिणामों की दृष्टि से पलासी की गणना भारत के इतिहास में महान् युद्धों में की जाती है। इसके प्रभाव स्थायी तथा सुदूरगामी सिद्ध हुए, जिन्होंने भारतीय इतिहास की धारा को ही मोड़ दिया।

एडमिरल वाट्सन ने इस युद्ध के महत्व पर प्रकाश डालते हुए लिखा है, "पलासी का युद्ध कम्पनी के लिए ही नहीं अपितु सामान्य रूप से ब्रिटिश जाति के लिए असाधारण महत्त्व रखता है।" युद्ध के महत्त्वपूर्ण परिणाम अग्रलिखित हुए।

बंगाल पर ब्रिटिश सत्ता का नियंत्रण

बंगाल के कवि नवीन चन्द्र ने पलासी के प्रभाव को दर्शाते हुए लिखा है, "भारत में अनन्त अन्धकारमयी रात्रि आरम्भ हो गयी। युद्ध के चलते बंगाल का नवाब बदल गया। सिराजुद्दौला के स्थान पर अंग्रेजों ने मीरजाफर को बंगाल का नया नवाब घोषित किया, किन्तु यह केवल नवाब का परिवर्तन मात्र नही था, यह इससे बहुत कुछ अधिक था।

बंगाल का नवाब अब केवल सैद्धान्तिक रूप से सार्वभौम रहा, व्यवहारिक रूप में नहीं। कम्पनी ने उसे अपने इशारो पर नचाना शुरू किया। गद्दी पर नवाब तभी तक बना रह सकता था जब तक कम्पनी चाहती। यह इस दृष्टांत से ही प्रमाणित हो जाता है कि बाद में जब कम्पनी ने मीरकासिम को नवाब बनाया तो मीरजाफर ने चुपचाप गद्दी छोड दी।

आर्थिक एवं क्षेत्रीय लाभ

इस युद्ध के कारण कम्पनी को अनेक आर्थिक तथा क्षेत्रीय लाभ भी हुए। कम्पनी को बंगाल, बिहार और उड़ीसा में स्वतंत्र रूप से व्यापार करने की छूट मिल गयी। कलकत्ते के निकट चौबीस परगने की जमींदारी भी उसे दे दी गयी। इस प्रकार अंग्रेजों की जो कलकत्ते में बस्ती थी वह और समृद्ध हो गयी। कम्पनी के वाणिज्य की भी व्यापक प्रगति हुई। अब सिराजुद्दौला के समय की अपेक्षा बंगाल में अंग्रेजों की व्यापारिक सुविधाएँ और अधिक सुरक्षित हो गयी।

कम्पनी को अन्य आर्थिक लाभ भी हुए। मीरजाफर ने कलकत्ता पर आक्रमण के लिए 1,77,00,000 रु॰ युद्ध–क्षतिपूर्ति के रूप में कम्पनी और शहर के व्यापारियों को दिए। कम्पनी के बड़े अधिकारियों को भी घूस अथवा उपहार के रूप में नवाब ने भारी रकमें दी। जैसे– क्लाइब को बीस लाख से भी अधिक धन ऐंठा गया था। ब्रिटिश सौदागर तथा अधिकारी अब अपने निजी व्यापार पर चुँगी देने से हमेशा के लिए मुक्त हो गए।

कम्पनी की प्रतिष्ठा एवं शक्ति में वृद्धि

पलासी के युद्ध में सफलता प्राप्त हो जाने से कम्पनी की शक्ति एवं प्रतिष्ठा में भी व्यापक वृद्धि हुई। सिराजुद्दौला को गद्दी से हटाने तथा मीरजाफर को बंगाल का नया नवाब बनाने में कम्पनी की स्थिति में बड़ा ही परिवर्तन हो गया। अब तक कम्पनी केवल एक व्यापारिक संस्था थी, किन्तु अब वह बंगाल में नवाबों को बहाल निष्कासित करने वाली संस्था भी बन गई। इतिहासकार विपिन चन्द्र के शब्दों में, "उसने (पलासी के युद्ध ने) ब्रिटिश प्रतिष्ठा को बढ़ा दिया और एक ही बार में उसे भारतीय साम्राज्य के प्रमुख दावेदार के स्थान पर पहुंचा दिया।"

बंगाल की कुव्यवस्था का पर्दाफाश

पलासी के युद्ध ने बंगाल के पूर्ण भ्रष्ट राजनीतिक जीवन का पर्दाफाश कर दिया। यह भी पता चल गया कि हिन्दु बंगाल के मुसलमान नवाबों से पूर्णरूप से असतुष्ट थे। उनका असंतोष इस सीमा तक बढ़ गया कि वे किसी भी ऐसे व्यक्ति का साथ देने को तैयार थे, जो मुस्लिम शासन की समाप्ति के लिए समर्थ हो।

बंगाल का शोषण

निःसन्देह पलासी के बाद भारत में अनन्त अंधकारमयी रात्रि' का प्रारम्भ हो गया अब कम्पनी तथा उसके कर्मचारियों के द्वारा बंगाल के लोगों का अनन्त शोषण शुरु हुआ। कम्पनी तथा उसके कर्मचारी बंगाल की सम्पदा को लूट कर अपनी सम्पति की वृद्धि में दिन–रात जुट गए। एडवर्ड थॉम्सन व जी॰टी॰ गैरेट के शब्दों "क्रान्ति करना संसार में सबसे फायदेमन्द धन्धा समझा जाता था। अंग्रेजों के दिमाग में ऐसा स्वर्ण मोह भर गया था जैसा उस जमाने के बाद कभी नहीं देखा गया था जब कोर्टेज और पिजारों के युग के स्पेनवासी सोने के लिए उन्मादग्रस्त हो गए थे। जब तक बंगाल को पूरी तरह से चूस नहीं लिया गया तब तक वहाँ शान्ति नहीं आयी।" मीरजाफर का सारा खजाना कम्पनी तथा उसके कर्मचारियों की घूस की माँग को पूरा करने में जल्द ही रिक्त हो गया। इस तरह की मांग की शुरूआत खुद क्लाइब ने की थी। नैलिसन के शब्दों में "जितना हो सके उतना हड़प ले, मीरजाफर को सोने की एक बोरी के रूप में इस्तेमाल करें और जब भी इच्छा हो उसमें हाथ डाल दे।" इस लालच से खुद कम्पनी के निदेशकों ने अपने भारतीय अधिकारियों को आदेश दिया कि बंगाल को भविष्य में बम्बई और मद्रास प्रेसिडेंसियों का खर्च वहन करना चाहिए। इतना ही नहीं, उन्हें यह भी आदेश दिया गया कि बंगाल की आमदनी से ही कम्पनी के भारतीय निर्यातित मालों को खरीदना चाहिए। कम्पनी को भारत से व्यापार ही नहीं करना था बल्कि उसे बंगाल के नवाब पर स्थापित अपने नियन्त्रण का इस्तेमाल प्रान्त की सम्पदा को हथिया लेने के लिए करना था।"

बंगाल में होने वाले लाभ तथा शोषण का रोचक वर्णन एक समकालीन विद्वान ने निम्नलिखित शब्दों में की है, "बहुत–से लोग जिन्होंने चिरकाल के प्रयत्नों तथा विभिन्न कष्टों के फलों को सम्पूर्ण रूप से खो दिया होता तथा जो किसी अन्य शक्ति के सत्तारूढ़ हो जाने पर अश्वय भिखारी हो जाते, वे पुनः भाग्य की दृष्टि से सौभाग्यशाली है तथा उनमें से कुछ लोगों ने तो पहले ही अपना सामान भी अपनी मातृभूमि को भेज दिया है; यह उन्हें अपने मातृ–स्नेह से न प्राप्त होने वाली सहायता का उचित बदला था तथा जैसे–जैसे इन घटनाओं ने वर्तमान युग तथा वर्तमान शासन व्यवस्था को विशेषता प्रदान की है, इसी प्रकार उनका प्रभाव आने वाले समय में अनुभव किया जाएगा। इलाकों के प्राप्त हो जाने के कारण कम्पनी को पर्याप्त व्यवस्था का अवसर प्राप्त है, जो उचित प्रबन्ध के अधीन ने केवल उसके लिए उपयुक्त है, अपितु जाति के लिए भी तथा इस भूमि से प्राप्त आय, कलकत्ता का सिक्का बनाने का कारखाना तथा पटना में शोरे का पट्टा – इन सबकी लगभग वार्षिक आय एक लाख पौण्ड है; इससे भविष्य के खतरों से अपनी रक्षा की जा सकती है तथा और अधिक व्यय की भी आवश्यकता नहीं।"

भविष्य में बंगाल में होने वाली क्रांतियों का पथ-प्रदर्शक

पलासी के युद्ध के बाद बंगाल की गद्दी पर मीरजाफर को बैठाया गया। इसे इतिहासकारों ने 'बंगाल की प्रथम क्रांति' कहकर पुकारा है। मीरजाफर में इस कार्य के लिए कम्पनी तथा उसके अधिकारियों को काफी धन दिया था। इस कारण से कम्पनी के अधिकारी और स्वयं कम्पनी काफी लालची हो गए। क्लाइब का बंगाल से चले जाने के बाद उन्होंने मीरजाफर के स्थान पर उसके दामाद मीरकासिम को नवाब बनाने का निर्णय किया। इसका एक मुख्य कारण था कि उन्हें इस बात की आशा थी कि बंगाल का नया नवाब उन्हें काफी धन देगा। इस प्रकार पलासी के युद्ध ने 'बंगाल की दूसरी क्रान्ति' और बाद में बक्सर के युद्ध को जन्म दिया।

दक्षिण में होने वाले आंग्ल फ्रांसीसी संघर्ष में योगदान

बंगाल से प्राप्त अनन्त धनराशि एवं अन्य साधनों के सहयोग से कम्पनी ने एक शक्तिशाली सेना का संगठन कर लिया। इस सेना ने तथा बंगाल से उपलब्ध अन्य साधनों ने दक्षिण में होने वाले ऑग्ल–फ्रांसीसी संघर्ष में एक निर्णायक भूमिका अदा की। बंगाल से ही क्लाइब ने कर्नल फोर्ड को दक्षिण में भेजा था जिसने फ्रांसीसियों से उतरी सरकार के क्षेत्रों को छीना। आँग्ल–फ्रांसीसी संघर्ष के तीसरे चरण में अंग्रेजों को जो व्यापक सफलता मिली, निःसन्देह इस सफलता में पलासी के बाद उनकी बंगाल विजय का सबसे बड़ा हाथ था।

उत्तर भारत में कम्पनी के प्रभाव व विस्तार

पलासी की सफलता तथा बंगाल की विजय ने अंग्रेजों द्वारा कालान्तर में उत्तर भारत की विजय के प्रयासों को सफल बनाया। पलासी ने अंग्रेजों की शक्ति एवं साधनों में व्यापक वृद्धि कर दी। इस कारण ही कम्पनी को अवध के नवाब शुजाउद्दौला तथा भगोड़े मुगल सम्राट शाहआलम द्वितीय को बक्सर की लड़ाई में हराने में कोई कठिनाई नहीं हुई। पुनः उन दिनों अच्छी सड़कों की कमी थी। ऐसी हालत में अंग्रेज अपनी सेना के साथ गंगा नदी में नौकाओं के द्वारा जल्द ही एक स्थान से दूसरे स्थान पर आ–जा सकते थे। अगर पलासी का निर्णय अंग्रेजों के विरुद्ध होता तो उत्तर भारत में उनकी सत्ता की स्थापना

संदिग्ध हो जाती। एक आधुनिक इतिहासकार ने ठीक ही लिखा है" 1757 ई॰ भारतीय इतिहास के लिए एक युगान्तकारी वर्ष है, क्योंकि इस वर्ष इसने एक नया मोड लिया। इसके फलस्वरूप भारत मे अंग्रेजो का प्रभाव प्रधान हो गया और अंग्रेजी साम्राज्य की नींव भी पड़ गयी।"

नैतिक प्रभाव

पलासी के युद्ध ने बंगाल के नवाब तथा लोगों के हौसले पस्त कर दिए। उनमें निराशा की भावना उत्पन्न हो गई और वे स्वयं को निस्सहाय समझने लगे। किसी भी राष्ट्र के लिए ये भावनाएँ प्राणघातक सिद्ध होती है। ये वस्तुत राष्ट्रीय पतन की प्रतीक होती है।

यद्यपि पलासी युद्ध की सफलता से अग्रजो को व्यापक लाभ हुए, किन्तु इसने उनको अनैतिक, भ्रष्ट और घूसखोर बना दिया। बंगाल की लूट से प्राप्त धन ने अंग्रेजों को और भी लालची बना दिया और अब उन्होंने बार–बार धन प्राप्त करने के लिए अशोभनीय एवं अमानवीय साधनों का सहारा लिया। इस प्रकार अंग्रेजों का जबरदस्त नैतिक पतन हुआ। बंगाल के लोगों पर इस नैतिक पतन का धातक प्रभाव पड़ा। अब वे नवाब तथा कम्पनी दोनों के शोषण का शिकार बन गए। उन पर तरह–तरह के अत्याचार किए जाने लगे। शासन मुख्य उद्देश्य प्रजा के दुखों का निवारण न रहकर प्रजा का शोषण हो गया। इस प्रकार प्रजा के कष्ट काफी बढ़ गए और अब उनकी आँखों से आँसू पोंछने वाला कोई भी नहीं रह गया।

इतना होने पर भी यह नहीं कहा जा सकता है कि पलासी के युद्ध ने बगाल अथवा भारत में ब्रिटिश सत्ता को दृढतापूर्वक स्थापित कर दिया। सच पूछा जाय तो बंगाल में भी इस युद्ध ने अंग्रेजों को केवल अपना पाँव जमाने का मौका दिया था। यह ठीक है कि इस युद्ध से अंग्रेजों का प्रभाव भारत में प्रधान हो गया, किन्तु इस दिशा में अभी भी उन्हें बहुत कुछ प्राप्त करना था। भारत में साम्राज्य–स्थापना का स्वप्न अभी संकटों से पूर्ण था। हाँ बक्सर की लड़ाई के बाद उनका मार्ग अवश्य सहज हो गया, फिर भी उन्हें भारतीय साम्राज्य की स्थापना के लिए पचास वर्ष और युद्ध करने थे।

मीरजाफर तथा ईस्ट इण्डिया कम्पनी (1757-1760)

पलासी युद्ध के बाद से लेकर 1760 ई॰ तक मीरजाफर बंगाल का नवाब रहा। उसमें योग्य शासक के गुणों का सर्वथा अभाव था। शासन को उस कठिन घड़ी में सुचारु रूप से चलाना, उसके बूते के बाहर की बात थी। साथ ही वह एक अदूरदर्शी व्यक्ति था।

मीरजाफर की कठिनाईयाँ : मीरजाफर बड़े ही कठिन परिस्थितियों के बीच बंगाल का नवाब बना था। सच्चाई तो यह है कि वह केवल नाममात्र का नवाब था। वास्तविक शक्ति तो कम्पनी के हाथ में थी। वह अन्य समस्याओं से भी घिरा हुआ था। कम्पनी तथा उसके कर्मचारियों को असीमित धन देने के कारण खजाना पूरी तरह से खाली हो गया था। इसके पास इतना भी धन नहीं था कि वह कम्पनी को दिए गए वचनों का भी पालन कर सकता। दोनों के बीच यह तय हुआ था कि तीन वर्षों में नवाब किस्तों में कम्पनी की बकाया धनराशी का भुगतान कर देगा। नवाब ने एक बड़ी धनराशि का भुगतान भी कर दिया, किन्तु यह राशि इतनी बड़ी थी कि तत्कालीन परिस्थितियों में उसका भुगतान किया जाना केवल कठिन ही नहीं वरन् असम्भव प्रतीत हो रहा था। इससे नवाब घबड़ा गया। स्थिति इतनी विषम हो गयी कि नवाब के पास अपने सैनिकों को वेतन देने में भी कठिनाई होने लगी। उनमें से कुछ ने तो विद्रोह भी कर दिया। दूसरी ओर कम्पनी अगले किस्तों की भुगतान के लिए नवाब पर बार–बार दबाव डाल रही थी। इतना ही नहीं प्रत्येक कार्य में अंग्रेज हस्तक्षेप करने लगे थे।

मीरजाफर की कुछ चारित्रिक दुर्बलताएँ भी उसकी कठिनाईयों का कारण बन गयी। वह एक संकीर्ण विचार का धर्मान्ध शासक था। अब तक के बंगाल के नवाबों ने हिन्दू समान्तों, अधिकारियों तथा हिन्दू प्रजा के साथ यथा सम्भव उदार एवं पक्षपातहीन नीति का पालन किया था। हिन्दुओं को सेना तथा प्रशासन में उनकी योग्यता के अनुरूप उच्च पद दिए जाते थे। मीरजाफर ने इस नीति में परिवर्तन लाया। उसने अनुदारता की नीति अपना ली। अनेक हिन्दू अधिकारियों को पदमुक्त कर दिया गया। ऊँचे प्रशासनिक एवं सैनिक पदों पर उनकी बहाली बन्द कर दी गयी। उसने रायदुर्लभ तथा रामनारायण जैसे हिन्दू अधिकारियों को दबाने का प्रयत्न किया। यद्यपि क्लाइब के प्रयत्नों उनके बीच परस्पर समझौता हो गया, किन्तु हिन्दुओं का असंतोष बढ़ता ही गया। अंग्रेजों के लिए यह बड़ा ही लाभदायक था। वे दोनों के बीच फूट पैदा कर अपना उल्लू सीधा करना चाहते थे किन्तु मुस्लिम वैमनस्य ने हमारे राष्ट्रीय जीवन में एक ऐसा विष भर दिया जिसके प्रभाव से हम आज भी पूरी तरह से मुक्त नहीं हो पाए हैं।

डचों के साथ गठबन्धन

मीर जाफर को नवाब का पद कम्पनी की कृपा से प्राप्त हुआ था किन्तु अब उसे अपने इस सौदेबाजी से पछतावा हुआ था किन्तु अब उसे अपने इस सौदेबाजी से पछतावा हो रहा था। वह समझ गया कि कम्पनी और उसके अधिकारियों की सभी माँगों को पूरा करना उसके वश की बात न थी। वह अंग्रेजों के हस्तक्षेप से भी तंग आ गया था। अतः अंग्रेजों के नियन्त्रण से मुक्ति प्राप्त करने के लिए उसने डचों के साथ सांठ–गाँठ शुरू कर दी किन्तु अंग्रेज अति सजग थे। कम्पनी ने डच जहाजों पर अधिकार कर लिया और क्लाइब ने कर्नल फोर्ड को जो उत्तरी सरकारों को जीत कर लौटा था सेना देकर डचों के विरुद्ध भेजा। डचविदेश की लड़ाई में बुरी तरह से हार गए और उन्हें अंग्रेजी कम्पनी को दस लाख रुपए हर्जाना के रूप में देने पड़े।

बाद की स्थिति

इस बीच क्लाइब को इंगलैंड वापस बुला लिया गया। क्लाइब के लौट जाने से बंगाल की स्थिति और भी गंभीर हो गयी। क्लाइब के उत्तराधिकारी **हॉलवेल** तथा **बंसीटार्ट** सीमित योग्यता के व्यक्ति थे। नवाब के शासन का नियंत्रण कम्पनी के हाथ में था।

मीरजाफर कम्पनी के बकाये रकम का भुगतान नहीं कर रहा था क्योंकि उसकी मालगुजारी गड़बड़ा गयी थी। वह चारों ओर आपदाओं से घिर गया था। अब उसे कुछ भी नहीं सूझ रहा था। अतः राज–काज छोड़कर वह भोग–विलास में डूब गया। इस कठिन परिस्थिति में अलीगौहर (शाह आलम द्वितीय) ने अवध के नवाब वजीर शुजाउद्दौला के साथ मिलकर बिहार पर आक्रमण कर दिया। अंग्रेजों ने किसी तरह उसे बिहार से बाहर निकाल दिया।

1760 की बंगाल की दूसरी क्रान्ति

अब कम्पनी तथा उसके अधिकारियों ने मीर जाफर की आलोचना शुरू कर दी, क्योंकि नवाब उनकी उम्मीदों को पूरा करने में समर्थ नहीं था। साथ ही, उसने डचों के साथ मिलकर जो चाल चली थी, उससे भी अंग्रेज असंतुष्ट थे। 1760 ई॰ तक स्थिति काफी बदल गयी थी। बंगाल पर अंग्रेजों का प्रभुत्व बढ़ गया था। फ्रांसीसी तथा डचों की शक्ति समाप्त हो गयी थी। बंगाल का नवाब लगभग कम्पनी का एक सेवक मात्र रह गया था। ब्रिटिश–प्रभाव कलकत्ता से बढ़कर बंगाल और बिहार से होता हुआ अवध की दक्षिण सीमा तक पहुँच गया था। बंगाल — जैसे सम्पन्न प्रदेश पर अधिकार हो जाने के कारण मद्रास में भी अंग्रेजों की स्थिति पूर्ण रूप से बदल गई थी। अतः कम्पनी अपनी इच्छा से अब जिस किसी को चाहती बंगाल का नवाब बना सकती थी। नवाब का दामाद मीरकासिम कम्पनी की शर्तों पर बंगाल का नवाब बनना चाहता था। जल्द ही उसने कलकत्ता कौंसिल को मना लिया। सितम्बर, 1760 ई॰ में उसने कम्पनी के साथ एक सन्धि की, इस सन्धि के अनुसार मीरकासिम ने नवाब बनने पर कम्पनी को बर्दमान, मिदनापुर तथा चटगाँव के जिले देने का वादा किया। उसने कम्पनी के बकाए रकम की अदायगी का भी आवश्वासन दिया। कर्नाटक के युद्धों के लिए उसने तीन लाख रुपये देने का वचन दिया। इतना ही नहीं, उसने बंसीटार्ट को पचास हजार पौण्ड, हॉलवेल को सत्ताइस हजार पौण्ड तथा कलकत्ता कौंसिल के प्रत्येक सदस्य को पचीस हजार पौण्ड देना स्वीकार कर लिया।

मीर कासिम के साथ सन्धि हो जाने के बाद बंसीटार्ट नवाब से मिलने मुर्शिदाबाद गया। पहले तो नवाब से इस पर आपत्ति की किन्तु बाद में अक्टूबर 1760 ई॰ में उसने मीरकासिम के पक्ष में गद्दी का त्याग कर दिया। फिर भी अपना प्रतिरोध प्रदर्शित करते हुए उसने कहा था, "यदि मीरकासिम को एक बार नवाब होना स्वीकृत कर लिया गया, तो उसके जीवन का एक दिन के लिए भी कोई महत्व नहीं। ऐसी स्थिति में इन शर्तों पर नवाब रहने की अपेक्षा वह कलकत्ता जाकर आराम से रहना अधिक पसन्द करेगा।" पदत्याग के बाद मीरजाफर कलकत्ता चला गया और वहीं मीरकासिम के पेंशनर के रूप में अपना जीवन व्यतीत करने लगा। इस घटना को इतिहासकारों ने 'बंगाल की दूसरी क्रांति' के नाम से पुकारा है। निस्संदेह कम्पनी का यह कार्य निन्दनीय एवं धोखापूर्ण था। इसके द्वारा निष्ठापूर्वक की गयी सन्धि का उल्लंघन किया गया था। यह अंग्रेजों के राष्ट्रीय चरित्र पर एक ऐसा कलंक था जिसे धोया नहीं जा सकता था। किन्तु, क्या मीरजाफर इस तरह के बर्ताव के योग्य नहीं था? धोखा का फल धोखा और बुराई का बुराई होता है। मीरजाफर को सचमुच ही एक अच्छी सीख मिली थी।

मीरकासिम तथा बक्सर का युद्ध

व्यक्तित्व : मीरकासिम एक यौग्य, कुशल और शक्तिशाली शासक था। सब इस बात को स्वीकार करते हैं कि बंगाल के नवाबों में वह योग्य था। उंगपुर तथा पूर्णिया के फौजदार के रूप में उसने अपनी प्रशासनिक क्षमता का परिचय दिया था। वह एक ऐसा व्यक्ति था, जो अपने व्यक्तित्व के बल पर लोगों को अपनी ओर आकर्षित करने की क्षमता रखता था। उसके समकालीन

व्यक्तियों ने उसकी बुद्धि तथा सहृदयता के गुणों की काफी प्रशंसा की है। **गुलाम हुसैन** ने उसकी प्रशंसा करते हुए लिखा है, "सरकार के कार्यों की उलझनों में तथा विशेष रूप से वित्तीय कठिन गुत्थियों को सुलझाने में वैयक्तिक मतभेदों की जांच-पड़ताल तथा निश्चय करने में, अपनी सेना को तथा अन्य घरेलू कर्मचारियों को नियमित वेतन देने में, योग्य व्यक्तियों तथा विद्वानों का आदर करने में तथा पैसा खर्च करने में, सब तरह की ऊँच-नीच को ध्यान में रखने आदि में वह निस्संदेह अपने समय का अद्वितीय व्यक्ति तथा असाधारण शासक था।" यह ठीक है कि वह काफी शक्की स्वभाव का तथा अत्यन्त संवेदनशील रहने वाला व्यक्ति था और कभी-कभी बड़ा ही कठोर हो जाता था; किन्तु ये सब तो उस युग की कमजोरियाँ थीं। कभी-कभी वह असावधान हो जाता था किन्तु यह भी उसके युग का प्रभाव था। वैसे वह योग्य और सचेत व्यक्ति था। डा॰ नन्दलाल चटर्जी ने मीर कासिम को अपने युग का प्रतिनिधि शिशु माना है।

मीरकासिम 1760 से 1763 ई॰ तक बंगाल की राजनीति पर छाया रहा। वह एक योग्य शासक था, प्राय: सभी इतिहासकार इस तथ्य को स्वीकार करते हैं। बंसीटार्ट, वारेन हेस्टिंग्स तथा गुलाम हुसैन ने एक शासक के रूप मे मीरकासिम की काफी प्रशंसा की है। **डा॰ चटर्जी** ने उसे एक उच्च कोटि के राजनीतिज्ञ नहीं मानते हैं, किन्तु उसके कार्यों तथा उपलब्धियों के संतुलित एवं निष्पक्ष अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि डा॰ चटर्जी का मत निर्मूल है। वस्तुत मीरकासिम एक अत्यन्त महत्वाकांक्षी व्यक्ति था। डॉ॰ चटर्जी ने उसके इस गुण पर ध्यान नहीं दिया है। शायद उनकी यह धारणा है कि मीरकासिम को वही करना चाहिए था जो अंग्रेज उससे करवाना चाहते थे, किन्तु बंगाल के नए नवाब को अंग्रेजों की धुन पर नाचना स्वीकार नहीं था, वह अंग्रेजों के नियंत्रण से मुक्त होकर एक सार्वभौम शासक के रूप में शासन करना चाहता था। अगर उसकी यह इच्छा न्यायासंगत नहीं है तो उसकी निन्दा की जानी चाहिए। पुनः अगर स्थानीय सौदागरों के वाणिज्य-व्यवसाय की सुरक्षा करना एक गलत काम था, तो निस्संदेह मीर कासिम ने गलती की। परन्तु, कोई भी राष्ट्रवादी इन कार्यों को अनुचित नहीं ठहरा सकता है। मीरकासिम के विरुद्ध धोखेबाजी, वादाखिलाफी अथवा अत्याचार का आरोप लगाना गलत होगा। वस्तुत ये आरोप गलत धारणाओं पर आधारित है।

मीरकासिम की कठिनाइयाँ

यद्यपि मीरकासिम बंगाल का नवाब बन गया था, उसने स्वयं को अनेक कठिनाइयों से घिरा पाया। बंगाल पूर्व की तरह अराजकता का केन्द्र बना हुआ था। जमींदार तथा अंग्रेजों का उत्पाद बढ़ गया था। कम्पनी को हर्जाने के रूप में एक बड़ी धन-राशि चुकाने तथा कम्पनी के द्वारा बंगाल की सम्पत्ति के निर्लज्जतापूर्ण एवं खुली लूट के कारण राजकोष रिक्त हो गया था। नवाब के दरबारी, सामन्तों के खर्चीले नौकर-चाकरों तथा जागीरदारों की अनावश्यक घुड़सवार टुकड़ियों के धीरे-धीरे उन्मूलन के बाद माँग और पूर्ति पर आधारित दस्तकारी उद्योग का ह्रास होने लगा। ढाका की मलमल वस्त्र उद्योग की अवनति भी शुरू हो गयी। हस्तोद्योग में ह्रास के फलस्वरूप दस्ताकारों के बीच गरीबी लगातार बढ़ती गयी। बुनकरों की हालत भी दिन-प्रतिदिन बिगड़ती गयी। बंगाल की विजय के कुछ समय पहले ही कम्पनी ने देशी व्यापारियों से बिचौलियों का काम न लेने का निर्णय ले लिया था और अब वह सीधे कारिन्दों के माधयम से बुनकरों से कारोबार करने लगी। बुनकरों को देशी व्यापारियों से मिलने वाली कीमत से भी बीस से तीस प्रतिशत कम कीमतों पर कपड़े का उत्पादन करने के लिए मजबूर किया जाने लगा। दस्तक का दुरुपयोग पूर्ववत जारी रहा। कम्पनी के कारिन्दों ने व्यापार से उन व्यापारियों को निकाल-बाहर कर दिया, जो अंग्रेजों के साथ सहयोग नहीं करते थे। एक समकालीन टीकाकार के शब्दों में, बंगाल में कम्पनी का आचरण "व्यापारी के वश में राज्य" की तरह था। अपने सारे वादे पूरा करने के बाद कर्मठ मीरकासिम ने आशा की थी कि वह बंगाल का वास्तविक शासक बन जाएगा और कम्पनी के हाथों में मात्र कठपुतली नहीं रहेगा, पर ऐसा नहीं हुआ। फिर भी, वह राज्य की बिगड़ी हुई दशा को सुधारना चाहता था।

शासन संचालन

मीर कासिम अपने पूर्व नवाबों की अपेक्षा बड़ा ही योग्य शासक और सूझ-बूझ का व्यक्ति था। उसने अपने वादे के मुताबिक बर्दमान, मिदनापुर, तथा चटगाँव के जिले कम्पनी को दे दिए। कम्पनी की बकाये की रकम की अदायगी भी कर दी गयी। कलकत्ता कौंसिल के सदस्यों को भी उसने आवश्यक धन दे दिए। उसने कम्पनी को कलकत्ता में सिक्के ढालने का अधिकार दिया तथा बंगाल के व्यापारियों को यह आदेश दिया कि वे सिक्का लेने से इनकार नहीं करें।

इस प्रकार कम्पनी को दिए गए आश्वासनों को पूरा करने के बाद मीरकासिम ने [illegible] का प्रयास किया। सर्वप्रथम उसने बंगाल और बिहार के उन विद्रोही जमींदारों का दमन किया जो नवाब की [illegible]

रहे थे। बिहार का डिपुटी गवर्नर रामनारायण को उसके पद से हटा दिया गया तथा उसकी सम्पत्ति जब्त कर ली गयी। मीरजाफर के वफादार किन्तु अयोग्य अधिकारियों को भी पदच्युत कर दिया गया और पुराने अधिकारियों द्वारा गबन किए हुए धन को उन्हें लौटाने के लिए विवश किया गया। उसने कुछ अतिरिक्त अबवाब और कर लगाये। उसने महसूस किया कि अपनी स्वतन्त्रता को कायम रखने के लिए एक भरा खजाना और संगठित एवं शक्तिशाली सेना आवश्यक है। इसीलिए उसने अपव्ययता को दूर करने का तथा लगान–व्यवस्था में भ्रष्टाचारों को हटाकर तथा नए कर लगाकर राज्य की आमदनी बढ़ाने की कोशिश की। उसने यूरोपीय ढग से अपनी सेना को सगठित किया। जल्द ही उसने यूरोपीय ढग की एक आधुनिक और अनुशासित सेना तैयार कर ली।

सैनिक सुधार

मीर कासिम ने महसूस किया कि सैनिक सहायता के लिए कम्पनी पर निर्भर रहकर वह बंगाल में सुधार नहीं ला सकता था, अतः उसने सैन्य–व्यवस्था में आवश्यक सुधार लाने के सफल प्रयास किए। उसने यूरोपीय ढंग पर अपनी सेना को संगठित किया। सेना को अनुशासित बनाया गया तथा सैनिकों को नए अस्त्र–शस्त्रों से लैस किया गया। अस्त्र–शस्त्रों के निर्माण के लिए कारखाने खोले गए, गोले तथा बन्दूक बनाने की व्यवस्था भी की गयी।

राजधानी परिवर्तन

इसके बाद मीर कासिम ने अपनी राजधनी मुर्शिदाबाद से मुंगेर ले आया। ऐसा उसने कुछ खास कारणों के चलते किया। पहला, नवाब को अपने स्थायी निवास के लिए एक सुदृढ़ एवं सुरक्षित स्थान की जरूरत थी। दूसरा मुर्शिदाबाद पुराने नवाबों का केन्द्र था और उनके नामों से सम्बद्ध था। वह षड्यंत्रों तथा भ्रष्टाचारों का अड्डा बना हुआ था। मुंगेर को राजधानी बनाकर वह मुर्शिदाबाद के विषाक्त वातावरण से मुक्त रह सकता था। तीसरा, मीरकासिम को एक नई राजधानी की आवश्कयता थी जहाँ वह अपनी नई सत्ता को जमा सके। निस्सन्देह राजधानी–परिवर्तन का यह मनोवैज्ञानिक पहलू भी काफी महत्त्वपूर्ण था। चौथा, मीरकासिम को यह शंका थी कि किसी–न किसी दिन अंग्रेज मीरजाफर को नवाब बना देंगे। एलिस तथा कलकत्ता कौंसिल में अनेक ऐसे सदस्य थे जो उसकी सत्ता का विरोध कर रहे थे, अतः मीरकसिम की शंका निर्मूल नहीं थी। अतः उसने कलकत्ता से दूर मुंगेर में अपनी नयी राजधानी स्थापित करने का फैसला किया। वह मीर जाफर के पुनर्नियुक्ति से उत्पन्न आक्रमण के समय दृढ़ प्रतिरोध करना अथवा अवध भाग जाना चाहता था। अन्त में यह भी कहा जा सकता है कि चूंकि मुर्शिदाबाद कलकत्ता से काफी निकट था, अतः अंग्रेज राज–काज में अनावश्यक हस्तक्षेप किया करते थे। इससे बचने के उद्देश्य से भी उसने कलकत्ता से दूर मुंगेर को अपनी राजधानी बनाया।

'दस्तक' के दुरुपयोग की रोकथाम

अब मीरकासिम ने 'दस्तक' के दुरुपयोग को रोकने का प्रयास किया। 'दस्तक' का प्रयोग कम्पनी के कर्मचारियों के द्वारा निजी व्यापार में भी किया जा रहा था। नवाब दो कारणों से इसमें सुधार लाना चाहता था। पहला, कम्पनी के कर्मचारी बगैर आवश्यक चुँगी दिए व्यापार करने लगे थे। इससे राज्य अपने अनिवार्य एवं युक्तिसंगत आय से वंचित हो रहा था। उन दिनों मीरकासिम को धन की विशेष रूप से आवश्यकता थी। अतः वह कर्मचारियों के निजी व्यापार के मालों पर असवश्यक चुँगी वसूल करना चाहता था। दूसरा, इससे भारतीय व्यापारियों को हानि पहुंचाती थी क्योंकि ऊँची–चुँगी देने के कारण बाजार में उनकी वस्तुओं का मूल्य अपेक्षाकृत अधिक हो जाता था। इतना ही नहीं कम्पनी के कर्मचारियों ने 'दस्तक' अपने मित्र भारतीय व्यापारियों को भी बेचना शुरू कर दिया था। इन दुरूपयोगों ने गलत प्रतिद्वन्द्विता के जरिए ईमानदार भारतीय व्यापारियों को बर्बाद कर दिया तथा नवाबों को राजस्व के अत्यन्त महत्वपूर्ण स्त्रोत से वंचित होना पड़ा।"

अंग्रेज इतने से ही मान जाते, तो कोई बात न थी। सफलताओं ने उन्हें इतना अधिक महत्त्वाकांक्षी बना दिया कि वे जल्द–से–जल्द बंगाल की सारी सम्पदा को हड़प कर समृद्ध बन जाना चाहते थे। अतः धन–प्राप्ति के लिए उन्होंने नवाब के कर्मचारियों तथा गरीब जनता पर जुल्म ढाना शुरू कर दिया। वे उनके साथ अभद्र व्यवहार करते और उन्हें भेंट तथा घूस देने के लिए बाध्य करते थे। नवाब के पास चारों ओर से अधिकारियों के द्वारा अंग्रेजों के विरूद्ध इस प्रकार की शिकायते आने लगीं। अंग्रेज भारतीय दस्तकारों, किसानों तथा व्यापारियों को अपने माल उन्हें सस्ती दरों पर बेचने के लिए बाध्य करते थे। दूसरी ओर अपने मालों को वे उनसे ऊँची दरों पर बेचा करते थे। प्रसिद्ध इतिहासकार **पार्सवल स्पीयर** ने इस युग की समीक्षा करते हुए इसे 'खुली और बेशर्म लूट का युग' कहा है।

संघर्ष का प्रारम्भ

उल्लिखित कारणों से कम्पनी तथा मीरकासिम के बीच काफी मनमुटाव पैदा हो गया। धीरे–धीरे यह इतना गम्भीर हो गया कि दोनों के बीच संघर्ष अवश्यम्भावी हो गया। यद्यपि बंसीटार्ट ने संघर्ष की स्थिति को टालने तथा नवाब एवं कम्पनी के बीच समझौता कराने का प्रयास किया, किन्तु उसके सारे प्रयास विफल हो गए। कारण, बंशीटार्ट के समझौते की शर्तों को कम्पनी की कलकत्ता कौंसिल ने अस्वीकार कर दिया। जब मीर कासिम को एहसास हो गया कि कम्पनी अपनी हरकतों से बाज नहीं आनेवाली है, तो उसने आन्तरिक व्यापार पर से सभी शुल्कों को उठा देने का कठोर कदम उठाया। मीरकासिम के इस कार्य से अंग्रेजों का हित खतरे में पड़ गया। अब अंग्रेज तथा देशी व्यापारियों में कोई फर्क नहीं रह गया।

बक्सर का युद्ध

अंग्रेज व्यापारी अपने और देशी व्यापारियों के बीच इस समझौता को बर्दाश्त करने को तैयार नहीं थे। उन्होंने नवाब के इस कार्य की कठोर समीक्षा की और देशी व्यापारियों पर फिर से चुँगी लगाने की माँग की। नवाब ऐसा करने को तैयार नहीं था, अतः युद्ध अनिवार्य हो गया। सच्ची बात यह थी कि अब तक यह निश्चित ढंग से तय नहीं हो पाया था कि बंगाल का वास्तविक शासक कौन है— नवाब अथवा कम्पनी। मीरकासिम एक स्वतंत्र शासक की तरह बर्ताव कर रहा था। जबकि कम्पनी यह समझा रही थी कि नवाब की हैसियत उसके एक सेवक से अधिक और कुछ नहीं है। बंगाल में एक ही साथ दो शासक कैसे रह सकते थे? युद्ध के द्वारा ही इसका फैसला किया जा सकता था।

संघर्ष का प्रारम्भ पटने से हुआ। पटना कोठी के प्रधान एलिस ने मीरकासिम के आदेश को मानने से इनकार कर दिया और उसने नवाब के विरुद्ध विद्रोह का झंडा गाड़ दिया। उसने पटना नगर पर अधिकार करने की चेष्टा की। जब मीरकासिम को इसकी सूचना मिली, तो उसने अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। अंग्रेजों से असंतुष्ट सब लोग मीरकासिम के समर्थन में एकत्रित हो गये। उसके झण्डे के नीचे किसान और दस्तकार इकट्ठा हो गए और भारतीय व्यापारियों तथा कलकत्ता के शक्तिशाली अर्मेनियाई व्यापारियों ने उसे अर्थिक सहायता प्रदान की। इस प्रकार मीरकासिम अंग्रेजों से पटना छीन लेने में सफल हो गया किन्तु एलिस तथा अन्य अंग्रेजों को बन्दी बना लिया गया। नवाब ने बंगाल के सभी अंग्रेजों को बन्दी बनाने का आदेश जारी कर दिया। प्रत्युत्तर में में कलकत्ता कौंसिल ने एक घोषणा के द्वारा मीरकासिम को हटाकर पुनः मीरजाफर को बंगाल का नवाब बनाए जाने का एलान किया। मीरकासिम पर इस घोषणा का कोई भी प्रभाव नहीं पड़ा।

संघर्ष में गतिशीलता

जून 1763 ई॰ में मेजर एडम्स अपनी सेना के साथ पदच्युत नवाब के विरुद्ध मुंगेर की ओर बढ़ा। गिरिआ नामक स्थान एक शत्रु सेना के बीच घमासान लड़ाई हुई। इसमें नवाब हार गया। अंग्रेजी सेना ने मुंगेर पर कब्जा कर लिया और मीरकासिम पटने की ओर भागा। नवाब ने चेतावनी दी कि अगर अंग्रेजी सेना ने पटने की ओर बढ़ना बन्द नहीं किया तो वह सभी अंग्रेजी कैदियों की हत्या करवा देगा, परन्तु अंग्रेजी सेना पटने की ओर बढ़ती गयी। अतः मीरकासिम ने सभी अंग्रेज बन्दियों को मार देने का आदेश दे दिया। जर्मन अधिकारी वाल्टर रहेनहार्डर, जो सुमरु के नाम से प्रसिद्ध है, ने सारे कैदियो को गोली से भुजवा दिया, किन्तु अंग्रेजों ने पटना पर कब्जा कर लिया।

बक्सर की लड़ाई

मीरकासिम अंग्रेजों के विरुद्ध कटवाह, सूटी, गीरिआ, उदयनाला, मुंगेर तथा पटना के युद्धों में हारता चला गया। पटना पर अंग्रेजों का कब्जा हो जाने के बाद मीरकासिम अवध पहुँचा। उन दिनों मुगल बादशाह शाह आलम द्वितीय भी अवध में आकर ठहरा हुआ था। मीरकासिम, अवध का नवाब शुजाउद्दौला तथा मुगल सम्राट शाह आलम तीनों ने मिलकर अंग्रेजों के विरुद्ध एक मोर्चा स्थापित किया। कुछ साहसी फ्रांसीसी भी उनके साथ सम्मिलित हो गये। अंग्रेजों के साथ कुछ अनिर्णायक युद्ध हुए। अन्त में 22 अक्टूबर, 1764 ई॰ को बक्सर की प्रसिद्ध लड़ाई हुई। हेक्टर मुनरों के नेतृत्व में अंग्रेजी फौज ने मीरकासिम शुजाउद्दौला तथा शाह आलम तीनों की सम्मिलित सेना को बुरी तरह से परास्त कर दिया। अंग्रेजों के हित में पलासी का अधूरा काम बक्सर ने पूरा कर दिया। शाह आलम अंग्रेजों की शरण में चला गया। शुजाउद्दौला परास्त होकर रुहेलखण्ड की ओर भाग गया। अंग्रेजों ने कर्मनाश नदी को पार कर अवध में प्रवेश किया और आगे बढ़कर बनारस तथा इलाहाबाद पर अधिकार कर लिया। शुजाउद्दौला ने अंग्रेजों के विरुद्ध रुहेलों और मराठों से सहायता ली। मल्हार राव होलकर उसकी सहायता के लिए आया, कड़ा के युद्ध (1765) में अंग्रेजी तोपों के सामने उसकी एक न चली और वह भी भाग खड़ा हुआ। अब शुजाउद्दौला ने भी आत्मसमर्पण कर दिया। मीरकासिम पहले ही निराश हो चुका था। वह मारा–मारा फिरता हुआ दिल्ली पहुँचा और अत्यन्त दीन–हीन दशा में तेरह वर्षों के बाद वहीं मर गया।

बक्सर के युद्ध के परिणाम

बक्सर की लड़ाई भारतीय इतिहास की अत्यन्त निर्णायक लड़ाइयों मे थी जिसने तीन प्रमुख भारतीय-संयुक्त सेना पर अंग्रेजी हथियारों की श्रेष्ठता को प्रदर्शित कर दिया। इस युद्ध के बाद गंगा के निचले क्षेत्र में अंग्रेजों के प्रभुत्व को गंभीर चुनौती देने वाला कोई नहीं रहा। अतः इतिहासकारो ने पलासी युद्ध की अपेक्षा बक्सर के युद्ध को अधिक महत्व दिया है। निस्संदेह पलासी के युद्ध में अंग्रेजों को अपना पैर जमाने का मौका दिया था और इसका लाभ भी बक्सर के युद्ध में अंग्रेजों ने उठाया, किन्तु पलासी युद्ध को बक्सर युद्ध की भाँति एक निर्णायक युद्ध नहीं माना जा सकता है।

सैनिक दृष्टि से बक्सर की लड़ाई एक महत्त्वपूर्ण लड़ाई थी। इसमें षड्यंत्र अथवा धोखेबाजी का सहारा नहीं लिया गया था। वस्तुतः सिराजुद्दौला की पराजय रणस्थल के पूर्व ही मुर्शिदाबाद के दरबारी षड्यन्त्र में हो चुकी थी। परन्तु बक्सर की लड़ाई इस से भिन्न थी। मीरकासिम एक शक्तिशाली और योग्य नवाब था। उसने लड़ाई की पूरी तैयारी कर ली थी। साथ ही, अवध का नवाब शुजाउद्दौला तथा मुगल सम्राट शाह आलम द्वितीय ने भी उसे अपना सहयोग दिया था। बक्सर के युद्ध में केवल मीरकासिम की नहीं अपितु अवध के नवाब तथा भारत के सम्राट तीनों की पराजय हुई थी। मराठा नेता मल्हार राव होल्कर भी अंग्रेजी फौज के सामने नहीं टिक सका। इस युद्ध में कड़ा मुकाबला हुआ। अंग्रेजों के पक्ष में घायलों एवं मृतकों की संख्या 847 थी तथा भारतीय शासकों के मृत सैनिकों की संख्या दो हजार थी। इस प्रकार बक्सर की विजय में अंग्रेजी हथियारों की श्रेष्ठता स्पष्ट हो जाती है।

पलासी की लड़ाई के द्वारा अंग्रेजों को बंगाल में सिर्फ पांव जमाने का मौका मिला था। यह कहना अनुचित होगा कि इस युद्ध के बाद ही कम्पनी बंगाल का स्वामी बन गयी। बंगाल पर अंग्रेजों के आधिपत्य की इस अधूरी कहानी को पूरा किया बक्सर ने। बक्सर ने बंगाल, बिहार और उड़ीसा के स्वामी के रूप में अंग्रेजों को प्रतिष्ठित कर दिया और अवध उनकी दया पर निर्भर हो गया। इस प्रकार बक्सर की विजय स्वरूप ने केवल बंगाल कम्पनी के शासन की बेड़ियों में जकड़ गया, बल्कि पश्चिम में अवध तक अंग्रेजों का प्रभाव जम गया। मुगल सम्राट शाह आलम भी उनकी मुट्ठी में चला आया। निस्संन्देह बक्सर के प्रभाव अत्यन्त व्यापक थे। इतिहासकार राम्जेम्योर ने ठीक ही कहा है, "बक्सर विजय ने अंग्रेजी सीमा को लगभग इलाहाबाद तक बढ़ा दिया।"

शाह आलम द्वितीय यद्यपि नाम का बादशाह था फिर भी भारतीय उसका आदर करते थे। अब भी भारतीय राजनीति में उसका थोड़ा-बहुत महत्व बना हुआ था। भारत की शक्तियाँ मुगल सम्राट की छत्र-छाया में अपनी शक्ति एवं प्रभाव के विस्तार के लिए प्रयत्नशील थी। बक्सर की पराजय के बाद मुगल बादशाह अंग्रेजों के चंगुल में चला आया। अतः अन्य भारतीय शक्तियों की महत्वाकांक्षा पर अंकुश लग गया और कम्पनी की श्रेष्ठता एवं महत्व बढ़ गया। मैलिसन ने बक्सर के महत्व पर प्रकाश डालते हुए ठीक ही लिखा है, "बक्सर के युद्ध को चाहे विदेशी शक्तियों के बीच संघर्ष के रूप में देखा जाय या ऐसी घटना के रूप में जिनसे बड़े-बड़े स्थायी परिणामों का जन्म होता है उसका स्थान निर्णायक युद्धों की श्रेणी में आता है।"

पलासी और बक्सर के युद्धों का तुलनात्मक महत्त्व

सिराजुद्दौला और कम्पनी के बीच पलासी की लड़ाई जून, 1757 ई॰ में और बक्सर की लड़ाई मीरकासिम तथा कम्पनी के बीच 22 अक्टूबर, 1764 ई॰ को हुई। मीरकासिम के साथ अवध का नवाब शुजाउद्दौला तथा भारत का मुगल बादशाह शाह आलम द्वितीय भी बक्सर में अंग्रेजों से हार गए थे।

इन दोनों युद्धों के महत्व को लेकर इतिहासकारों ने विभिन्न मत दिए हैं। ब्रूम के मत में, "भारत का भाग्य बक्सर के युद्ध पर निर्भर करता था" सर जॉन स्टीफेन ने कहा कि भारत में ब्रिटिश सत्ता की स्थापना की दृष्टि से पलासी युद्ध की अपेक्षा बक्सर युद्ध का महत्व अधिक है। राम्जेक्यूर ने इस संदर्भ में लिखा है कि "बक्सर युद्ध ने अन्त में बंगाल को कम्पनी शासन की बेड़ियों में जकड़ दिया।" दूसरी ओर कुछ इतिहासकारों ने बक्सर युद्ध की अपेक्षा पलासी युद्ध को अधिक महत्वपूर्ण माना है। मैलिसन का कहना है, "ऐसी कोई लड़ाई नहीं हुई जिसके परिणाम इतने व्यापक, शीघ्र और स्थायी हो।" वह पुनः कहते हैं, "जितनी लड़ाइयाँ लड़ी गयी थी, परिणाम के दृष्टिकोण से पलासी की लड़ाई सबसे महान् थी।"

इन लड़ाइयों में किसे अधिक में महत्व दिया जाए, इसके लिए कुछ विशेष बातों का विश्लेषण करना आवश्यक हो जाता है।

पलासी की लड़ाई एक न्याय संगत लड़ाई नहीं थी। इसमें अंग्रेजों ने षड्यन्त्र तथा धोखेबाजी का सहारा लिया था। सिराजुद्दौला की सैन्य शक्ति कम्पनी की सैन्य शक्ति से कम नहीं थी। प्रारम्भ में तो क्लाइव को नवाब की सेना के सामने ठहरना भी

मुश्किल था। सच्चाई यह है कि अगर मीरजाफर, राय दुर्लभ, मानिक चन्द्र, अमीचन्द जगतसेठ तथा खादेम खा जैसे [illegible] तथा सेनापतियों ने नवाब के साथ विश्वासघात नहीं किया होता, तो सम्भव था कि पलासी का निर्णय कुछ दूसरा हो। लॉ का मत है कि इन षड्यंत्रकारियों के बिना 1757 ई॰ की क्रांति अपूर्ण रह जाती।

स्पष्ट है कि पलासी की लड़ाई हाथापाई से अधिक नहीं थी। इसने अंग्रेजों की सैन्य श्रेष्ठता का परिचय नहीं दिया था। अंग्रेजों को जो विजय मिली वह केवल षडयन्त्र तथा धोखेबाजी के कारण। फिर भी बंगाल में अथवा कालान्तर में भारत में ब्रिटिश प्रभुत्व की स्थापना में पलासी का योगदान बड़े ही महत्व का रहा है 'निस्सन्देह इसके परिणाम किसी भी बड़े-से-बड़े युद्ध से अधिक महत्वपूर्ण सिद्ध हुए। इसने बंगाल और भविष्य में भारत में कम्पनी की राजनीतिक प्रभुसत्ता के बीजारोपण का मार्ग दिया। बंगाल आर्थिक दृष्टि से उन दिनों भारत का सबसे समृद्ध प्रान्त था। इस प्रकार कम्पनी के साधना में व्यापक वृद्धि हो गयी। बंगाल की सारी सम्पदा अब कम्पनी के कदमों पर थी और अंग्रेज जिस ढंग से चाहते इसका प्रयोग कर सकते थे। पुनः बंगाल सैनिक दृष्टि से भी विशेष महत्व रखता था। बंगाल पर अधिकार हो जाने से समुद्री रास्ते से कम्पनी भारत के अन्य हिस्सों पर कब्जा करने में समर्थ हो गयी।

बंगाल की सारी संपदा अब अंग्रेजों के अधीन थी। अंग्रेजों ने बंगाल की लूट-खसोट शुरू कर दी। इससे पहले कम्पनी के व्यापार से इंगलैण्ड को विशेष लाभ नहीं होता था, किन्तु अब बंगाल के धन का सहारा लेकर कम्पनी ने अपने व्यापार का काफी विस्तार कर लिया और जल्द ही इंग्लैंड मालामाल हो गया। यही कारण है कि वाटसन ने लिखा है "पलासी की लड़ाई केवल कम्पनी के लिए नहीं बल्कि सामान्य रूप से ब्रिटिश राष्ट्र के लिए असाधारण महत्त्व की थी।"

पलासी की लड़ाई से बंगाल पर कम्पनी का प्रभाव काफी बढ गया। सिराजुद्दौला का उत्तराधिकारी मीरजाफर अंग्रेजों के हाथ का केवल कठपुतला था। वस्तुतः इस युद्ध के बाद कम्पनी की इच्छा पर ही नवाब बहाल किये अथवा निकाले जा सकते थे। बंगाल में कम्पनी को व्यापक अधिकार मिल गये थे। कम्पनी की टकसाल स्थापित हो गयी थी और उसे सिक्के ढालने का अधिकार मिल गया था। उसे व्यापक क्षेत्रिय लाभ भी हुए थे। कम्पनी को कलकत्ते में एक रेजिडेन्ट रखने की अनुमति भी मिल गयी थी। साथ ही अंग्रेजों को भारत की राजनीतिक एवं सैनिक खोखलापन का अहसास हो गया था। वे यह भी जान गए कि भारत की बहुसंख्यक हिन्दू जनता मुसलमान शासकों से असन्तुष्ट थी। भारत की इन कमजोरियों का चतुर अंग्रेजों ने काफी लाभ उठाया और धीरे-धीरे सम्पूर्ण भारत पर अपना नियन्त्रण स्थापित कर लिया।

उल्लिखित तथ्यों को आधार बनाकर ही कुछ इतिहासकार बक्सर की अपेक्षा पलासी को अधिक महत्वपूर्ण मानते हैं। उनका ऐसा विश्वास है कि मीरकासिम की तुलना में सिराजुद्दौला को गद्दी से हटाना अंग्रेजों के लिए अधिक कठिन था। फिर पलासी के पूर्व अंग्रेज बंगाल में अच्छे ढंग से जम नहीं पाए थे। किन्तु बक्सर के पूर्व निस्संदेह अंग्रेजों के पांव दृढता के साथ बंगाल में जम गए थे। बंगाल पर अब तक कम्पनी का पूर्ण नियन्त्रण स्थापित हो गया था। वस्तुतः बक्सर की लड़ाई कम्पनी द्वारा बंगाल, बिहार और उड़ीसा में स्थापित नियन्त्रण स्थानीय शासकों के द्वारा केवल एक चुनौती थी।

यह ठीक है कि पलासी एक निर्णायक युद्ध था, किन्तु उसके महत्व को अतिरंजित करना उचित नहीं होगा। अब भी बंगाल का नवाब शक्तिशाली था अन्यथा मीरकासिम ने अपने प्रभावों तथा अधिकारों को पुनस्थापित करने का प्रयास नहीं किया होता। पलासी के बाद भी कम्पनी प्रधान रूप से एक व्यापारिक संस्था ही बनी रही। बंगाल पर भी बक्सर के बाद ही कम्पनी का वास्तविक नियंत्रण स्थापित हुआ। अतः यह कहना अनुचित होगा कि पलासी के बाद ही भारत पर ब्रिटिश सत्ता की स्थापना हो गयी। ऐसा होने में पचासों वर्ष और लग गये।

सच पूछा जाये तो परिणामों की दृष्टि से पलासी की अपेक्षा बक्सर का महत्त्व अधिक है। इस युद्ध में कड़ा मुकाबला हुआ था। अंग्रेजों की ओर से 847 लोग मारे गए तथा शत्रु पक्ष के दो हजार लोग काम आये। पलासी में अंग्रेजों ने षडयन्त्र तथा धोखेबाजी के बल पर विजय पायी थी, किन्तु बक्सर में तीन प्रमुख भारतीय शक्तियों की संयुक्त सेना पर अंग्रेजी हथियार की श्रेष्ठता को स्थापित कर दिया। पलासी के युद्ध में केवल बंगाल का नवाब हारा था, किन्तु बक्सर में बंगाल के नवाब के अतिरिक्त अवध का नवाब तथा मुगल बादशाह भी हार गये थे।

पलासी के कारण बंगाल की गद्दी पर एक ऐसा नवाब बैठा जो अंग्रेजों के हाथ का कठपुतला था। बक्सर की उपलब्धि इससे भी अधिक महत्वपूर्ण थी। कम्पनी अब कई वर्षों में बंगाल की आर्थिक लूटा के [illegible] प्रभाव अवध और दिल्ली तक पहुंच गया तथा मुगल बादशाह अंग्रेजों के चंगुल में आ गया।

स्पष्ट है कि भारत में ब्रिटिश सत्ता की नींव पलासी के द्वारा नहीं, बल्कि बक्सर के द्वारा रखी गयी। इसके महत्व पर प्रकाश डालते हुए मिल ने कहा है "ग्लोब के उस भाग में अंग्रेजी युद्धों के इतिहास में यह सबसे संकटकालीन तथा महत्त्वपूर्ण विजयों में एक थी।" इस सदर्भ में मैलिसन ने लिखा है, "बक्सर की लड़ाई एक परीक्षा की लड़ाई थी जिसे हिम्मत, धैर्य, अनुशासन तथा संतुलन के द्वारा जीता गया था।"

निष्कर्ष के तौर पर कहा जा सकता है कि बक्सर ने पलासी के अधूरे कार्य को पूरा किया, जैसा कि पानीपत की पहली लड़ाई के अधूरे कार्य को खनुआ ने पूरा किया था। बक्सर की लड़ाई सही अर्थ में पलासी का परिणाम थी। इसमें व्यक्तिगत इच्छाओं का विशेष महत्त्व नहीं था। वस्तुतः यह तत्कालीन परिस्थितियों की उपज थी। अगर पलासी के युद्ध में अंग्रेजों को सफलता नहीं मिलती तो बक्सर के युद्ध का प्रश्न ही नहीं उठता। बक्सर के युद्ध ने कम्पनी के द्वारा बंगाल, बिहार तथा उड़ीसा की विजय के लिए प्रारम्भ किए गए अध्याय की समाप्ति कर दी और भविष्य में ब्रिटिश सत्ता के विस्तार के मार्ग का निर्देशन किया।

बक्सर के बाद की घटनाएँ

मीरजाफर का पुनर्स्थापन (1763-1765 ई.) : अंग्रेजों ने बक्सर की लड़ाई के पूर्व ही 1763 में मीरजाफर को फिर से बंगाल का नवाब बना दिया था। उसके साथ होने वाली नयी सन्धि के द्वारा तय किया गया कि वह अपने सैनिकों की संख्या घटा देगा, अपने दरबार में स्थायी रुप से एक ब्रिटिश रेजिडेण्ट रखेगा और नमक के व्यापार पर अंग्रेजों से केवल ढाई प्रतिशत चुंगी लेगा। नवाब से कम्पनी तथा उच्च अधिकारियों ने भारी रकम वसूल की। उसने युद्ध के खर्च के लिए तीस लाख रुपये दिए तथा पचीस लाख रुपये अंग्रेजी फौज को पुरस्कार के रूप में दिए। इसी प्रकार साढ़े बारह लाख रुपये अंग्रेजी जहाजी बेड़े की हर्जाने के रुप में दिए गये तथा अन्य अंग्रेजों की क्षति–पूर्ति का आश्वासन दिया गया। स्क्रकाफ्टन के शब्दों में, "नवाब कम्पनी के नौकरों के खजांची से अधिक कुछ न रहा। वे जब चाहते और जितना चाहते, उससे वसूल कर सकते थे।"

निजामुद्दौला : 1765 ई॰ में मीरजाफर का देहांत हो गया। उसकी मौत के बाद कम्पनी ने उसके दूसरे बेटे निजामुद्दौला को बंगाल की गद्दी पर बिठाया। उन दिनों वंसीटार्ट की जगह पर स्पेंसर कलकत्ता का गवर्नर था। 20 फरवरी, 1765 को उसने नये नवाब के साथ एक संधि की। इस सन्धि के अनुसार नवाब को अपनी अधिकांश सेना को विघटित कर देना पड़ा। बंगाल के शासन के लिए एक नायब सूबेदार का पद बनाया गया जिसे कम्पनी नामजद करती। नायब सूबेदार को कम्पनी की मंजूरी के बिना बर्खास्त नहीं किया जा सकता था। इस प्रकार कम्पनी ने बंगाल के निजामत (प्रशासन) पर सर्वोच्च नियंत्रण स्थापित कर लिया। नये नवाब से लगभग पन्द्रह लाख रुपये भी अंग्रेज अधिकारियों के द्वारा ऐंठे गये। नायब को नवाब के नाम पर बंगाल के सारे कामों को करने का अधिकार दिया गया। निजामुद्दौला अब केवल नाममात्र का नवाब रह गया। अंग्रेज बंगाल के वास्तविक शासक बन बैठे। इस परिवर्तन के फलस्वरुप बंगाल में जो विपिन्न अवस्था उत्पन्न हुई। इसको स्पष्ट करने के लिए स्वयं क्लाइव के कथन को उद्धत किया जा सकता है। क्लाइव के ही शब्दों में, मैं केवल यही कहूँगा कि अराजकता, अव्यवस्था, घूसखोरी, भ्रष्टाचार और लूट–खसोट का ऐसा अदृश्य बंगाल के सिवा किसी अन्य देश में कभी देखा–सुना नहीं गया, न ही इस प्रकार की और इतनी धन राशि इतने अन्यायपूर्ण और लूट–खसोट के तरीके से कभी प्राप्त की गयी। जब से मीरजाफर को फिर से नवाब बनाया गया है तब से तीनों प्रान्त बंगाल, बिहार और उड़ीसा जिनसे 30 लाख पौंड का राजस्व प्राप्त होता है, कम्पनी के कर्मचारियों के पूर्ण प्रबन्ध में है, और उन्होंने गैर–सैनिक और सैनिक दोनों प्रकार के कर्मचारियों ने हर प्रभावशाली और महत्त्वपूर्ण व्यक्ति, नवाब से लेकर सबसे छोटे जमींदार तक से पैसा ऐंठे है।" इतिहासकार लायल ने भी लिखा है, "1760 ई॰ में क्लाइब के चले जाने के बाद एक ऐसा समय आरम्भ हुआ जो अंग्रेजों के नाम पर एक कलंक है।

क्लाइव का पुनरागमन और इलाहाबाद की सन्धि (1765) : क्लाइब मई, 1765 ई॰ में गवर्नर के रूप में बंगाल वापस आया। अब तक कम्पनी की स्थिति में व्यापक परिवर्तन हो चुका था। अब वह केवल एक व्यापारिक संस्था नहीं रह गयी थी, अपितु उत्तर भारत की एक प्रमुख राजनीतिक शक्ति भी बन गयी थी। बंगाल का शासन अब अप्रत्यक्ष रूप से कम्पनी के नियंत्रण में आ गया था। क्लाइब ने अवध के नवाब तथा मुगल बादशाह के साथ मित्रता कर ली। अवध का शेष भाग नवाब को लौटा दिया, किन्तु नवाब को बाध्य किया गया कि वह कम्पनी को लड़ाई के कारण हुई क्षति के लिए हर्जाने के तौर पर कम्पनी को 50 लाख रुपये दे। कम्पनी ने बाहरी आक्रमण होने पर नवाब को सहायता देने का वादा किया, परन्तु शर्त यह थी कि इसके लिए नवाब कम्पनी को अतिरिक्त धन देगा। इस प्रकार अवध का नवाब भी अब कम्पनी की अनुकम्पा पर आश्रित हो गया।

अवध के नवाब के साथ सन्धि : अवध के साथ होने वाली सन्धि क्लाइब की दूरदर्शिता का परिचायक है। क्लाइब चाहता तो अवध को कम्पनी के अधीन कर लेता, लेकिन वह इस बात को अच्छी तरह से समझता था कि ऐसा होने पर कम्पनी के राज्य की सीमा इतनी विस्तृत हो जाती कि अंग्रेजों के लिए उसकी देखभाल करना कठिन हो जाता। इससे भारत के लोग के बिगड़ उठने की भी संभावना थी। पुनः अवधा पर अधिकार करने का अर्थ था पडोस की मराठा शक्ति को चुनौती देना। इन दिनों मराठों के साथ युद्ध अंग्रेजों को काफी महंगा पड़ता। वस्तुतः क्लाइब ने बंगाल में प्राप्त अधिकारों को सुदृढ़ बनाने के इसी बीच अवध को अपने राज्य और मराठों के बीच एक बफर राज्य के रूप में प्रयोग करने का बुद्धिमतापूर्ण निर्णय लिया। उसका अनुमान ठीन निकला और भविष्य में अवध हमेशा कम्पनी का आश्रित और स्वामिभक्त बना रहा।

दीवानी की प्राप्ति : 12 अगस्त, 1765 को क्लाइब ने पराजित मुगल बादशाह शाहआलम द्वितीय के साथ इलाहाबाद की प्रसिद्ध सन्धि की। इस सन्धि की शर्तों के अनुसार अंग्रेजों ने शाहआलम की बादशाहत की सत्ता को स्वीकार किया। कड़ा और इलाहाबाद के जिले, जिन्हें अवध के नवाब से प्राप्त किया गया था, मुगल बादशाह को भेंट के तौर पर दिया गया। बादशाह ने कम्पनी को बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी अर्थात् मालगुजारी वसूल करने का अधिकार प्रदान कर दिया। इसके बदले में कम्पनी ने उसे 26 लाख रुपये वार्षिक देने का वादा किया। इसके अतिरिक्त आंध्र तट के जिलों पर भी बादशाह ने अंग्रेजों का सीधा अधिकार मान लिया।

इलाहाबाद की सन्धि का आधुनिक भारत के इतिहास में विशेष महत्व है। इसने बंगाल पर कम्पनी के अधिकार को कानूनी बना दिया। साथ ही, भारत का सबसे समृद्ध प्रान्त कम्पनी के हाथों में सौंप दिया। वस्तुतः कम्पनी के साम्राज्य का सूत्रपात मुगल बादशाह के साथ इलाहाबाद की सन्धि के साथ ही होता है। यद्यपि बंगाल पर कम्पनी की स्थापना पहले ही हो चुकी थी, किन्तु मुगल बादशाह की स्वीकृति प्राप्त हो जाने से उस पर कानूनी मुहर लग गयी।

अवध में ब्रिटिश प्रभुत्व का विस्तार

अवध के स्वतन्त्र राज्य की स्थापना : अवध में एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना का श्रेय सआदत खां बुरहान उल-मुल्क को दिया जाता है। 1724 ई॰ में उसे अवध का सूबेदार बनाया गया। सबसे पहले उसने विद्रोही जमींदारों का दमन करके सूबे में शान्ति व्यवस्था की स्थापना की। पराजित जमींदारों के साथ उसने उदारता बरती और अधीनता स्वीकार कर लेने के बाद उनकी जागीरें लौटा दी। अपने शासनकाल में उसने एक नया राजस्व-बन्दोबस्त किया। इसके द्वारा जमींदारों के जुल्म समाप्त किए गए और किसानों की स्थिति में सुधार लाया गया। सबसे बड़ी बात यह थी कि उसने हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच कोई भेद-भाव नहीं रखा उसके अनेक सेनापति और उच्च अधिकारी हिन्दू थे। सैन्य शक्ति को संगठित और मजबूत बनाने के उद्देश्य से नवाब ने सैनिकों की संख्या में वृद्धि की, उनके वेतन बढ़ा दिए गए और सैनिकों को आधुनिक अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित कर उन्हें अनुशासित एवं प्रशिक्षत बनाया गया। सआदत खां की मृत्यु 1739 ई॰ में हो गई। अपनी मृत्यु के पूर्व उसने अवध को पूर्णरूप से एक स्वतंत्र राज्य और नवाब के पद को वंशानुगत बना दिया।

सआदत खाँ का उत्तराधिकारी उसका भतीजा सफदरजंग हुआ जिसने 1750 ई॰ तक अवध पर शासन किया। 1748 ई॰ में मुगल सम्राट ने सफदरजंग को साम्राज्य के वजीर पद पर प्रतिष्ठित किया और अवध के अतिरिक्त इलाहाबाद का क्षेत्र भी उसे प्रदान कर दिया। सफदरजंग एक कुशल संगठनकर्त्ता और योग्य शासक था। उसने अपने राज्य में सर्वत्र शान्ति स्थापित रखी और अपनी प्रजा को यथासंभव खुशहाल बनाया। उसने मराठों के साथ मित्रता की सन्धि कर अपने राज्य में सर्वत्र शान्ति स्थापित रखी और अपनी प्रजा को यथासंभव खुशहाल बनाया। उसने मराठों के साथ मित्रता की सन्धि कर अपने राज्य को मराठों के आक्रमण से सुरक्षित रखा। मराठों के सहयोग से नवाब ने राज्य में बँगश पठानों और विद्रोही रुहेलों को भी दबाकर रखा। सफदरजंग ने धर्म के क्षेत्र में उदार नीति का पालन किया और हिन्दुओं को भी राज्य के उच्च सैनिकों एवं असैनिक पदों पर बहाल किया। उसकी सरकार के सबसे बड़े पद पर महाराजा नवाब राय प्रतिष्ठित था। सफदर जंग एक न्यायप्रिय शासक था। उसने न्याय की उचित व्यवस्था की लखनऊ अवध-राज्य की राजधानी था। 18वीं सदी में लखनऊ शिक्षा साहित्य तथा कला का एक महत्वपूर्ण केन्द्र बन गया था।

क्लाइब की अवध-नीति

जिन दिनों बंगाल अंग्रेजों के कुचक्र का अड्डा बना हुआ था और कम्पनी बंगाल पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने का प्रयास कर रही थी, उन दिनों अवध का वजीर नवाब शुजाउद्दौला था। 1664 में अवध के नवाब ने बक्सर के युद्ध में कम्पनी के विरुद्ध बंगाल के अपदस्थ नवाब मीरकासिम का साथ दिया था। इस युद्ध में बंगाल के नवाब तथा मुगल बादशाह के साथ अवध की सेना भी हार गयी थी। शुजाउद्दौला ने भाग कर मराठों तथा रुहेलों से अंग्रेजों के विरुद्ध सहायता प्राप्त करने का प्रयास किया। वस्तुतः मुल्हार राव होल्कर ने उसका साथ भी दिया था, किन्तु 1665 में अन्तिम रूप से अंग्रेजों ने शुजाउद्दौला को परास्त कर दिया और उसने आत्मसमर्पण कर दिया।

मई, 1765 में क्लाइब गवर्नर बनकर दूसरी बार बंगाल वापस आया। उसने अवध के नवाब के साथ एक समझौता कर लिया। कड़ा और इलाहाबाद के जिलों को छोड़कर अवध का सारा राज्य नवाब को लौटा दिया गया। नवाब ने हर्जाने के रूप में कम्पनी को 50 लाख रुपये दिये। कम्पनी ने बाहरी आक्रमण होने पर नवाब को सहायता देने का वादा किया, परन्तु शर्त यह थी कि इसके लिए नवाब कम्पनी को अतिरिक्त धन देगा। इस प्रकार अब अवध का नवाब भी कम्पनी की अनुकम्पा पर आश्रित हो गया।

यह सन्धि क्लाइब की सूझ–बूझ का महान् परिचायक है। अगर क्लाइब चाहता तो अवध को कम्पनी के अधीन कर लेता। किन्तु, वह इस बात को अच्छी तरह से समझता था कि ऐसा होने पर कम्पनी की राज्य की सीमा इतनी विस्तृत हो जाती कि अंग्रेजों के लिए उसकी देख–भाल करना कठिन हो जाता। इससे भारतीय भी असन्तुष्ट हो जाते। पुनः अवध पर अधिकार करने का अर्थ था पड़ोस की मराठा शक्ति को चुनौती देना। उन दिनों मराठों के साथ युद्ध अंग्रेजों को काफी महंगा पड़ता। वस्तुतः क्लाइब ने बंगाल में प्राप्त अधिकारों को सुदृढ़ बनाने और इसी बीच अवध को कम्पनी के राज्य और मराठों के बीच एक बफर (Buffer) राज्य के रूप में प्रयोग करने का बुद्धिमतापूर्ण निर्णय लिया। उसका अनुमान ठीक निकला और भविष्य में अवध हमेशा कम्पनी का आश्रित एवं स्वामीभक्त बना रहा।

इतिहासकारों एवं लेखकों के पलासी के युद्ध पर विचार

कोई ऐसा युद्ध नहीं हुआ है जिसके तात्कालिक तथा स्थायी परिणाम इतने महत्व पूर्ण हुए हों (There never was a battle in which the conseqeunces were so vaste, so immediate and so permanent.) जीत के अगले दिन ही अंग्रेज बंगाल, बिहार तथा उड़ीसा के स्वामी बन गए। आने वाले 100 वर्षों में जो जुआ (Yoke) प्लासी से गले में पड़ गया था उसे उतार फैंकने का केवल एक ही 'प्रयत्न किया गया। दूसरी और अंग्रेजों को एक आधारशिला मिल गई जो समुद्री तट पर स्थित थी तथा जिसका उपयोग करके वे न केवल अपनी शक्ति सिन्ध से दूर पार तक पहुंचा पाए अपितु वे दुर्जेय (unassailable) हो गए। वे उन लोगों को भी प्रभावित करने में सफल हुए जिनके विषय में यूरोपीय लोग पूर्णरुपेण अनभिज्ञ थे। प्लासी के युद्ध ही के कारण इंग्लैण्ड संसार की सबसे महान मुस्लिम शक्ति बन गया। प्लासी के युद्ध के कारण इंग्लैण्ड पूर्वी समस्या (Eastern Question) के समाधान में विशेष भूमिका निभाने लगा। यह प्लासी ही थी जिसके कारण वह आशा अन्तरीय और मारीशस को जीतने तथा उपनिवेश बनाने पर बाध्य हुआ तथा मिस्र को संरक्षण में लेने पर बाध्य हुआ। यह प्लासी ही थी जिसने अंग्रेज मध्यवर्ग के युवकों को अपनी प्रतिभा तथा उद्योग को बढ़ाने का अवसर दिया तथा उसके अभिजात वर्ग को अपनी प्रशासनिक प्रतिभा दिखाने का अद्वितीय अवसर दिया। उसके व्यापारियों तथा उद्योगपतियों को ग्राहकों की अनन्त मांग को पूरा करने की शक्ति दी तथा उसके और उसके उपनिवेशवासी शिल्पियों के लिए अनेक लाभप्रद रोजगार के अवसर। प्लासी ने इसके आने वासियों में गर्व की भावना तथा अपने साम्राज्य में गौरव दिया – साम्राज्य जिसका मुख्य तना एटलाण्टिक महासागर में एक छोटा सा द्वीप है, तथा हिन्दुस्तान उसकी सबसे शानदार शाखा यह प्लासी ही थी। जिसने अमरीका के छिन जाने पर इस द्वीप को सान्त्वना दी।

पी.ई. रॉबर्ट्स (P. E. Roberts)

1756 तथा 1760 ई॰ की स्थिति की तुलना से निस्संदेह उसकी उपलब्धि की महानता सिद्ध हो जाती है। (A comparisw of the position in 1756 with that in 1760 reveals beyond all possibility of cavil the magnitude of his achievement.) 1756 में यद्यपि अंग्रेज समस्त यूरोपीय समुदायों में सबसे अधिक समृद्धशाली थे परन्तु फिर भी वे केवल एक व्यापारिक निकाय ही

थे जिसके पास कलकत्ता के आस–पास के ग्रामों से बनी एक बहुत सम्पन्न बस्ती थी। इसके अतिरिक्त कासिम बाजार ढाका बालासेर जगदा तथा पटना इत्यादि स्थानों पर भी व्यापार – केन्द्र स्थित थे। 1760 तक यह स्थिति पूर्णतया परिवर्तित हो चुकी थी। बंगाल में अंग्रेज सर्वोच्च बन चुके थे। डच तथा फ्रांसीसी न केवल निर्धन हो चुके थे अपितु उनकी राजनीतिक तथा सैनिक शक्ति समाप्त हो चुकी थी। प्रान्त का नवाब केवल नाम मात्र था तथा वह कम्पनी की कठपुतली बन चुका था। अंग्रेजों का प्रभाव कलकत्ता से बाहर, बंगाल, बिहार तथा दक्षिणी अवध की सीमाओं तक पहुंच चुका था। इस सम्पन्न देश के देश में आ जाने से मद्रास में भी अंग्रेजों की स्थिति परिवर्तित हो चुकी थी। (By 1760 the position was entirely altered. The British were supreme in Bengal. The French and the Dutch were inpoverished and reduced; their military and political power was gone. The titular Nawab of the province was little more than the creature and protege of the company. British influence extended altered from calcutta through Bengal and Bihar to the southern boundary of oudh. The possession of this rich countary also completely altered the English position in Madras.)

बक्सर के युद्ध पर इतिहासकारों एवं लेखकों के विचार

जी.बी. मालेसन (G.B. Malleson) : चाहे आप इसे देशी तथा विदेशियों के बीच द्वन्द्व युद्ध समझे अथवा ऐसी सारगर्भित घटना जिसके परिणाम स्थायी तथा विशाल थे, बक्सर को सबसे निर्णायक युद्धों में गिना जाएगा। (Whether regarded as a duel between the foreigner and the native, or as an event pregnant with vast permanent conseqeunce, Baksar takes rank amongst the most decisive battles ever fought./) विजय से न केवल बंगाल ही मिला, न केवल इसने अंग्रेजी सीमाए इलाहाबाद तक पहुंचा दी, अपितु इससे अवध के शासक विजयी शक्ति से कृतज्ञतापूर्ण निर्भरता, विश्वास के बन्धनों से बन्ध गए जिसने आने वाले 94 वर्ष तक मित्रों के मित्र तथा शत्रुओं के शत्रु बनाए रखा।

आल्फ्रेड लायल (Alfred Lyall) : बक्सर के युद्ध के दीर्घकालिक तथा गौण परिणाम बहुत महत्वपूर्ण थ। अंग्रेजो की विजय के कारण मुगल सम्राट अंग्रेजों से मिल गया, वजीर भयभीत हो गया, तथा कम्पनी की सेनाएं गंगा पार, बनारस तथा इलाहाबाद तक पहुंच गइ।। इसके कारण बंगाल के उत्तर–पश्चिमी प्रदेशों से जिनसे उनका सम्बन्ध बना, वे सम्बन्ध पहली बार एक नवीन उन्नत तथा प्रभुत्वमय सम्बन्ध स्थापित कर सके। (The eventual and secondary consequences of the battle of Buxar were very important. The success of the English brought the Emperor into their camp, intimidated the vizier, carried the armed forces of the company across the Gangaes to Benares and Allahabad, and commanding position in relation to the principalities north-west of Bengal, with whom they now found them selves for the first time). अब अंग्रेजो का उत्तरी भारत से सम्पर्क बन गया तथा उन्हें एक नया कार्यक्षेत्र मिला जो शीघ्रतिशीघ्र परिवर्तित होता चला गया।

अध्याय - 4

अंग्रेजों के मैसूर राज्य के साथ सम्बन्ध

हैदरअली का उत्कर्ष

जिस समय भारत की राजनीतिक स्थिति अत्यन्त नाजुक हो चली थी तथा बंगाल और कर्नाटक आन्तरिक फूट और कलह के कारण तबाह हो रहे थे, उस समय अंग्रेजों को चुनौती देने के लिए मैसूर में एक नयी शक्ति का उदय हो रहा था। मैसूर राज्य पहले विजयनगर साम्राज्य का एक अंग था 1565 में जब विजयनगर साम्राज्य छिन्न–भिन्न हो गया, उस समय औदेयर वंश ने मैसूर में एक स्वतंत्र राज्य की स्थापना की। 1704 में मैसूर के राजा ने औरंगजेब की अधीनता स्वीकार कर ली और उसे कर देने लगा। 1718 में मुगल बादशाह ने एक आदेश द्वारा मैसुर से चौथ वसूल करने का अधिकार मराठों को दे दिया। इसके बाद मैसूर से कर वसूलने के प्रश्न पर निजाम तथा मराठों के झगड़े चलने लगे। अठारहवीं शताब्दी के मध्य में मैसूर का राजा नाममात्र का शासक रह गया। राज्य की सारी शक्ति देवराज तथा नन्दगंज नामक दो भाईयों के हाथों में आ गयी। बाद में नन्दराज ही मैसूर राज्य का सर्वेसर्वा हो गया। हैदरअली नामक एक योगय व्यक्ति उस समय नन्दराज की सेना में नायक के पद पर आसीन था। वह बड़ा ही योगय था। अपनी योग्यता के बल पर एक दिन वह मैसूर राज्य का स्वामी बन बैठा।

हैदरअली का जन्म 1722 में हुआ था। उसके पिता तथा भाई मैसूर राज्य के सैनिक अफसर थे। हैदरअली एक साधारण सैनिक के रूप में मैसूर की सेना में भारती हुआ था, पर वह असाधारण प्रतिभा का व्यक्ति था। इसी बदौलत वह निरन्तर उन्नति करता गया। उसकी युद्ध–कुशलता से प्रसन्न होकर नन्दराज ने उसे 1775 में डिण्डुगल के किले का फौजदार नियुक्त कर दिया। फौजदार बनने पर उसने दो कार्य किए। अपने निरक्षरता की कमी को पूरा करने के लिए खाण्डेराव नामक ब्राह्मण को अपना सलाहकार नियुक्त किया और अपने किले की सेना को नए ढंग से सैनिक शिक्षा देने के लिए कुछ फ्रांसीसी सिपाहियों को भर्ती किया। खाण्डेराव षडयंत्रकारी व्यक्ति था। उसने राजमाता को यह आशा दिलाई कि वह हैदरअली की सहायता से नन्दराज को हराकर शासन की शक्ति राजा के हाथ में सौंप देगा। राजमाता सहमत हो गयी। हैदरअली ने इस आधार पर शीघ्र ही ननदराज को हराकर सम्पूर्ण सत्ता अपने हाथों में ले ली। मैसूर राजवंश के लिए यह मानों खाई से निकलकर कुँए में गिरने के समान था। हैदरअली ने राजा की सारी सत्ता अपने हाथ में ले ली। जब खण्डेराव ने इसका विरोध किया तो उसे भी कैद कर लिया गया।

डिण्डुगल का फौजदार बनने के बाद हैदरअली ने अपनी शक्ति बढ़ाने का काम शुरू कर दिया था। हैदराबाद के निजाम नासिरजंग की हत्या किये जाने और मुजफ्फरजंग के निजाम बनाए जाने के समय हैदरअली ने अपने साथियों की सहायता से नासिरजंग के खजाने की धन राशि अपने अधिकार में कर ली। उसने पास–पड़ोस के राज्यों में लूटमार करके धन–संग्रह आरम्भ किया। इस कार्य में उसे भारी सफलता मिली। शीघ्र ही उसके पास एक विशाल सेना और करोड़ों रुपये हो गये। 1776 में मैसूर के राजा की मृत्यु हो गयी। हैदरअली ने अब स्वयं को मैसूर का राजा घोषित कर दिया।

उसके अद्‌भुत उत्कर्ष में उस काल की परिस्थितियों ने भारी सहायता पहुंचाई थी। अंग्रेजों और फ्रांसीसियों के युद्धों ने कर्नाटक की समृद्धि का नाश कर डाला था। पानीपत के तृतीय युद्ध में मराठों की कमर टूट चुकी थी। हैदराबाद का निजाम भी निर्बल निःशक्त और लाचार बना हुआ था। अतः हैदरअली की दिन–प्रतिदिन बढ़ती हुई शक्ति पर रोक लगाने के लिए न तो किसी पड़ोसी शक्ति में साहस और सामर्थ्य ही विद्यामान था और न किसी प्रकार की उत्सुकता ही थी।

राज्य विस्तार

इस प्रकार शक्ति–सम्पन्न बनकर हैदरअली ने राज्य विस्तार का कार्य प्रारम्भ किया। 1763 में वेदनूर के राजा की मृत्यु हो गयी। राजा के मरते ही सिंहासन की प्राप्ति के लिए दो उत्तराधिकारी उठ खड़े हुए। हैदरअली ने दोनों को पकड़वाकर मरवा डाला। उसने वेदनूर का नाम बदलकर हैदरनगर कर दिया और अपने एक विश्वास पात्र व्यक्ति को वहा का शासक नियुक्त किया। उसने कोचीन, पालघाट, कालीकट तथा कन्ननूर पर विजय प्राप्त की। मालवार के नायकों का दमन किया। दक्षिणी भारत के पोलीगारों को अधीनता स्वीकार करने के लिए विवश किया तथा सुण्डा सीरी और गुटी को भी अपने राज्य में मिला लिया। इस प्रकार राज्य की सीमाओं का भारी विस्तार करके हैदरअली अपनी राजधानी श्रीरंगपट्टम लौट गया।

हैदरअली और मराठे

हैदरअली के बढ़ते हुए प्रभाव और शक्ति से आंतरिक्त होकर पेशवा माधवराव ने 1764 में मैसूर पर आक्रमण कर दिया। सवानूर के दक्षिण में बलीहली के युद्ध में हैदरअली ने मराठों का सामना किया किन्तु पराजित होकर मार्च 1765 में मराठों के साथ उसे सन्धि करनी पड़ी। उस सन्धि के अनुसार उसे गुटी तथा सवानूर के किले तथा बत्तीस लाख रुपये नगद मराठों को देने पड़े। इसके एक वर्ष पश्चात् 1766 में अंग्रेजों निजाम और मराठों ने मिलकर हैदरअली के विरुद्ध एक शक्तिशाली संघ बनाया। हैदरअली यद्यपि पढ़ा–लिखा न था, किन्तु उसकी बुद्धि विलक्षण थी। उसने बड़ी बुद्धिमानी के साथ त्रिगुट भंग करने का प्रयास किया। उसने मराठों को पैंतीस लाख रुपये देने का आश्वासन प्रदान करके उन्हें त्रिगुट से पृथक कर दिया और अठारह लाख रुपये नकद तथा शेष सतरह लाख के बदले कोल, का जिला देकर मराठा सेना को वापस महाराष्ट्र भेज दिया। मार्च 1769 की सन्धि के अनुसार अंग्रेजों ने बचन दिया था कि यदि कोई अन्य शक्ति हैदरअली पर आक्रमण करेगी तो वे हैदरअली की सहायता करेंगे। इस सन्धि के कुछ समय पश्चात् मराठों ने फिर हैदरअली पर आक्रमण कर दिया। हैदरअली ने अंग्रेजों से सहायता मांगी, परन्तु मद्रास सरकार ने कोई सहायता नहीं दी। अंग्रजों के इस विश्वासघात और बचन–भंग ने हैदरअली को उनका कट्टर शत्रु बना दिया। हैदरअली ने मराठों को कुछ प्रदेश और नगद रुपये देकर वापस लौटा दिया। इसके पश्चात् जब राघोवा ने अल्पवयस्क पेशवा नारायण राव की हत्या करके स्वयं पेशवा बनना चाहा तो सम्पूर्ण मराठा–मण्डल में गृहकलह की अग्नि धधक उठी।

हैदरअली ने उस अवसर को हाथ से न जाने दिया और उन सभी प्रदेशों पर फिर से अपना अधिकार जमा लिया जो उसे मराठों को देने पड़े थे। उसने चित्तलदुर्ग, गुंटी और बेलारी पर अधिकार जमा लिया तथा कृष्णा और तुगभद्रा नदियों के बीच के मराठा प्रदेश को मैसूर में मिला लिया। मराठों ने हैदरअली को पराजित करने का प्रयत्न किया किन्तु सफल न हो सके। पेशवा के प्रधानमंत्री नाना फड़नवीस ने अब हैदरअली के साथ मेलजोल बढ़ाने का प्रयत्न किया और अपने दूत गठोशंकर को हैदरअली के पास भेजा। 1790 में नाना फड़नवीस और हैदरअली के बीच एक समझौता सम्पन्न हुआ जिसके अनुसार हैदरअली ने अंग्रेजों को भारत से निकालने के प्रयत्न में मराठों को यथाशक्ति सहायता करने का वचन दिया। नाना फडनवीस ने हैदरअली से वसूल की जाने वाली वार्षिक चौथ में भारी कमी कर दी।

प्रथम आंग्ल-मैसूर युद्ध

हैदरअली की बढ़ती हुई शक्ति अंग्रेजों की ईर्ष्या का प्रमुख कारण थी। वे भली–भांति समझ गए थे कि यदि हैदरअली को नतमस्तक न किया गया तो वह शीघ्र ही दक्षिण भारत में कम्पनी का प्रभाव नष्ट करने में समर्थ हो जायगा। किसी भी स्वाधीन भारतीय नरेश के इस प्रकार बढ़ते बल को उन दिनों अंग्रेज गंवारा नहीं कर सकते थे। इसलिए वे तरह–तरह से हैदरअली को कुचलने की तदबीरें करने लगे। इस हालत में हैदरअली के साथ अंग्रेजों का संघर्ष अनिवार्य हो गया। छेड़छाड़ अंग्रेजों की ओर से शुरू हुई। हैदरअली की बढ़ती हुई शक्ति से आतंकित होकर अंग्रेज उसके विरुद्ध षड्यन्त्र रचने लगे और मराठों तथा हैदराबाद के निजाम को मिलाकर उसके विरुद्ध एक संयुक्त मोर्चा तैयार किया। किन्तु हैदरअली एक कुशल सेनानायक ही नहीं, एक कुशल कूटनीतिज्ञ भी था। उसने शीघ्र ही धन देकर मराठों से सन्धि कर ली। 1767 में निजाम तथा अंग्रेजों की संयुक्त सेना ने मैसूर पर आक्रमण किया। हैदरअली ने अपनी कूटनीति से निजाम को भी अपनी ओर मिला लिया। फलतः अंग्रेजों को अकेले हैदरअली से लड़ना पड़ा।

लड़ाई के प्रारम्भ में तो अंग्रेजों को थोड़ी–बहुत सफलता मिली, परन्तु बाद में हैदरअली ने चारों ओर से घेरना आरम्भ कर दिया। उसकी सेना बढ़ती हुई मद्रास तक पहुंच गयी। अंग्रेज हताश हो गये और घबड़ाकर हैदर के साथ 4 मई 1769 को एक सन्धि कर ली। इस सन्धि के अनुसार दोनों ने एक दूसरे के जीते हुए प्रदेश लौटा दिये, अंग्रेजों ने हर्जाने के रूप में हैदरअली को बहुत–सा धन दिया और किसी बाहरी शक्ति के आक्रमण हो जाने पर दोनों ने एक दूसरे को सहायता देने का आश्वासन दिया। इस प्रकार प्रथम आंग्ल–मैसूर युद्ध का अन्त हुआ। प्रथम आंग्ल-मैसूर युद्ध के सम्बन्ध में कई इतिहासकारों ने इस बात पर आचर्श्य प्रकट किया है कि हैदरअली ने मद्रास पर आक्रमण करके अपनी विजय को पूर्णता तक क्यों नहीं पहुंचा दिया। वह बहुत चतुर तथा महत्वाकांक्षी था। सम्भवतः उसने यह समझा कि इस समय अंग्रेजों को केवल मद्रास में परास्त करने की जगह मित्र बनाकर अपनी शक्ति बढ़ाने का साधन बनाना अच्छा होगा। परन्तु इसमें उसने धोखा खाया। वह अंग्रेजों की मित्रता को अपने लिए लाभदायक बनाना चाहता था, परन्तु अंग्रेजों ने मित्रता के लिए नहीं वरन् समय प्राप्त करने के लिए यह सन्धि की थी। इस तरह अंग्रेज युद्ध में तो हार गए पर कूटनीति में वे विजयी रहे। अंग्रेज हैदरअली के साथ की गयी सन्धि के प्रति कभी निष्ठावान नहीं रहे। जब 1771 में मराठों ने मैसूर पर आक्रमण किया तो मद्रास कौंसिल ने हैदरअली की सहायता की प्रार्थना को अनसुनी कर दी। अंग्रेजों के इस विश्वासघात के कारण हैदरअली जीवन भर उनसे घृणा करता रहा।

द्वितीय आंग्ल - मैसूर युद्ध (1780-84)

वारेन हेस्टिंग्स के समय में मद्रास की अंग्रेज सरकार ने एक बार फिर राजनीति में रुचि प्रदर्शित की। उसने कर्नाटक के नवाब को तंजोर का राज्य प्राप्त करने में सहायता दी और 1768 में सलाबतजंग से, जो निजाम का एक सम्बन्धी था, गुन्टूर का जिला छीन लिया। यही नहीं, उसने निजाम को 1768 में की गई सन्धि के अनुसार उत्तर सरकार के जिलों के बदले में सात लाख रुपये प्रतिवर्ष देने के वायदे को भी पूरा करने से इनकार किया। इससे हैदराबाद का निजाम अंग्रेजों से असन्तुष्ट हो गया।

हैदरअली अंग्रेजों से पहले से ही असन्तुष्ट था। अंग्रेजों ने उसे 1769 की सन्धि के अनुसार 1771 में मराठा आक्रमण के अवसर पर सहायता नहीं दी थी। गुन्टूर पर अंग्रेजों के आधिपत्य को उसने ठीक नहीं समझा और जब 1779 में अंग्रेजों ने माही पर भी अधिकार कर लिया तो उसने अंग्रेजों से बदला लेने का निश्चय किया। माही की फ्रांसीसी फैक्टरी को हैदरअली ने अपने संरक्षण में ले रखा था। जब उसके विरोध--प्रदर्शन के बाद भी अंग्रेजों ने उस पर अधिकार कर लिया, तो उसके क्रोध की सीमा न रही।

इस प्रकार इस समय हैदराबाद का निजाम अंग्रेजों से असन्तुष्ट था, हैदरअली अंग्रेजों से बदला लेने की बात सोच रहा था और मराठों से अंग्रेजों का प्रथम युद्ध आरम्भ हो चुका था। इन तीनों शक्तियों ने मिलकर अंग्रेजों के विरुद्ध एक गुट बना लिया और निश्चित योजना के अनुसार यह निश्चय किया गया कि मराठे बरार और मध्य भारत से होते हुए अंग्रेजों पर उत्तर से आक्रमण करेंगे, निजाम उत्तरी सरकार पर आक्रमण करेगा और हैदरअली मद्रास तथा उसके आसपास के अंग्रेजी भू--प्रदेश को जीतेगा। इस प्रकार द्वितीय मैसूर युद्ध की पृष्टभूमि तैयार हो गयी।

1780 में हैदरअली को अंग्रेजों के विरुद्ध युद्ध छेड़ने का स्वयं अवसर हाथ लगा। उन दिनों अमेरिका का स्वातंत्र्य संग्राम चल रहा था जिसमें फ्रांसीसी अमेरिकियों की सहायता कर रहे थे। इस यद्ध के प्रतिक्रियास्वरूप भारत में भी अंग्रेजों और फ्रांसीसियों के बीच युद्ध छिड़ गया। अंग्रेजों ने मालाबार तट स्थित माही को जो फ्रांसीसियों के अधिकार मे था छीन लिया और उस पर अपना कब्जा जमा लिया। मालाबार हैदरअली के अधिकार में था और माही को वह अपने राज्य का एक भाग समझता था। उसने अंग्रेजों को माही खाली करने को कहा किन्तु अंग्रेजों ने इनकार कर दिया। इन्हीं दिनों अंग्रेजों का मराठों के साथ भीषण युद्ध चल रहा था और हैदराबाद के निजाम के साथ भी उनके सम्बन्ध अच्छे नहीं थे। अतः हैदरअली ने स्थिति से पूरा लाभ उठाते हुए मराठों और निजाम को अपनी ओर मिला लिया तथा अंग्रेजों के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी।

1780 में हैदरअली ने एक विशाल सेना के साथ अंग्रेजों के मित्र कर्नाटक के नवाब पर आक्रमण कर दिया। अंग्रेजी सेना कर्नाटक की रक्षा के लिए पहले से ही प्रस्तुत थी। किन्तु हैदरअली ने अंग्रेजों की सेना को बुरी तरह पराजित करके सेनापति कर्नल बेली को कैद कर लिया और कर्नाटक का राजधानी अर्काट पर अधिकार जमा लिया। कर्नाटक के नवाब ने भागकर मद्रास में शरण ली।

वारेन हेस्टिंग्स ने भारत स्थित अंग्रेजी सेनाओं के प्रधान सेनापति आयरकूट को एक विशाल सेना साहित हैदरअली का सामना करने के लिए बंगाल से भेजा। सर आयरकूट ने 1781 में हैदरअली को पोर्टीनोवा के युद्ध में पराजित किया, किन्तु अंग्रेजों को भी इस युद्ध में भीषण क्षति उठानी पड़ी। मैसूर की सेना ने कर्नल ब्रेथवेट की अंग्रेजी सेना को पराजित करके पीछे हटा दिया। इसके पश्चात् कुछ अन्य स्थानों पर भी अंग्रेजी सेना की हैदर तथा फ्रांसीसियों के साथ मुठभेड़ हुई। किन्तु कोई निर्णायक युद्ध नही लड़ा जा सका। वर्षा ऋतु आरम्भ हो जाने के कारण युद्ध की गति मन्द पड़ गयी। सर आयरकूट मद्रास लौट आया। उधर अर्काट के किले में हैदरअली का 7 सितम्बर 1782 को देहान्त हो गया। अप्रैल 1782 में सर आयकूट की मृत्यु हो गयी जरनल स्टुअर्ट ने अंग्रेजी सेना की कमान सम्हाली।

अपने पिता की मृत्यु हो जाने पर टीपू हतोत्साह न हुआ। उसने युद्ध जारी रखा। बम्बई सरकार ने ब्रिगेडियर मैथ्यूज को टीपू का सामना करने के लिए भेजा। टीपू ने 1783 में उसे सेना सहित पराजित कर कैद कर लिया। इधर कर्नल फुलर्टन ने नवम्बर 1783 में कोयम्बटूर पर अधिकार कर लिया और टीपू की राजधानी श्रीरंगपट्टम पर आक्रमण करने की योजना तैयार की।

मंगलोर की सन्धि

उसी समय मद्रास के गवर्नर लार्ड मेकार्टन ने कर्नल फुलर्टन को वापस मद्रास बुला लिया। टीपू भी युद्ध से उब चुका था। यूरोप में अंग्रेजों तथा फ्रांसीसियों में संधि हो चुकी थी। अतः टीपू और अंग्रेजों में मार्च 1784 में सन्धि हो गयी। यह सन्धि

मंगलौर की सन्धि के नाम से प्रसिद्ध है। इस सन्धि के अनुसार निश्चय किया गया कि दोनों पक्ष एक दूसरे के जीते हुए क्षेत्र वापस कर दे और युद्ध बन्दियों को लौटा दें। लार्ड मेकार्टन ने यह भी आश्वासन प्रदान किया कि अंग्रेज मैसूर के साथ मित्रता का व्यवहार रखेंगे तथा संकट पड़ने पर मैसूर की सहायता के लिए तत्पर रहेंगे। इस सन्धि ने अंग्रेजों की प्रतिष्ठा को मराठा के प्रथम युद्ध की भांति ही, भारी आघात पहुंचाया।

वारेन हेस्टिंग्स को इस सन्धि से सन्तोष नहीं हुआ। उसने लार्ड मेकार्टन की भर्त्सना करते हुए लिखा कि सन्धि के परिणामस्वरूप अंग्रेजों को कर्नाटक से हाथ धोना पड़ेगा।

वास्तव में मंगलोर की सन्धि अंग्रेजों के लिए घोर अपमानजनक थी। टीपू ने अंग्रेजों दूतों का कोई सम्मान न करते हुए यही प्रकट किया कि उन्होंने सुलह के लिए भीख मांगी थी जिसको दया करके उसने उन्हें तब दी है जब वह युद्ध में विजयी होने वाला था। इसमें कोई संदेह नहीं कि तत्कालीन परिस्थितियों में यदि टीपू युद्ध के लिए अड़ जाता और भारतीय राज्य उसकी सहायता करते तो अंग्रेजों के भारत से पैर उखड़ जाते किन्तु कूटनीतिज्ञ अंग्रेजों ने परिस्थिति को सभाल लिया।

हैदर अली का मूल्यांकन

हैदर अली एक जन्म जात सैनिक, कुशल सेनापति और अच्छा कूननीतिज्ञ था। वह एक साधारण नायक की स्थिति से उठकर मैसूर का सेनापति और अन्त में वहां का शासक बन गया। वह शिक्षित नहीं था। परन्तु उसकी बुद्धि कुशाग्र और स्मरण–शक्ति तीक्ष्ण थी। एक ही समय में कई बातों पर ध्यान दे सकता था, लेकिन अनेक इतिहासकारों ने, विशेषकर अंग्रेज इतिहासकारों ने, उसके चरित्र और कार्यों की बड़ी आलोचना की है। उनमें से कुछ ने उसे लुटेरा और दूसरों के राज्यों का हस्तगत करने वाला कहा है, परन्तु हैदरअली के विषय में यह कहना उचित नहीं है। वह जमाना ही ऐसा था जब राज्य और शक्ति इसी तरीके से प्राप्त की जाती थी। जिन परिस्थितियों में हैदरअली ने मैसूर राज्य का निर्माण किया वह काफी कठिन था। मराठा सरदार दक्षिण में एक नवीन और शक्तिशाली मुस्लिम राज्य को सहन नहीं कर सकते थे, हैदराबाद का निजाम अपनी सीमाओं के नकट एक शक्तिशाली राज्य का निर्माण नहीं होने देना चाहता था और अंग्रेज इस कारण उसके शत्रु बन गए थे कि उसने आरम्भ से ही फ्रांसीसियों की सहायता ली थी। इसके अतिरिक्त अंग्रेज दक्षिण में नयी शक्ति के उदय को अपनी सुरक्षा और विस्तार के लिए उचित नहीं मानते थे। इस कारण हैदरअली को आरम्भ से ही भारत की इस प्रबल शक्तियों का मुकाबला करना पड़ा। इन परिस्थितियों में भी उसने जिस प्रकार मैसूर राज्य का निर्माण किया वह उसकी योग्यता का प्रमाण है। एक शासक, सैनिक और सेनापति की दृष्टि से हैदरअली पूर्णतया योगय था। अपनी योग्यता से स्वयं को बनाने वाला इस व्यक्ति ने शुरू में मैसूर राज्य को दुर्बल और विभाजिता पाया था, परन्तु अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में उसने उस भारत की श्रेष्ठ शक्ति बना दी। हैदर न तो लुटेरों का सरदार था और न एक स्वार्थी अवसरवादी सैनिक योग्यता के साथ–साथ उसमें एक कुशल राजनीतिज्ञ की भी योग्यता थी। अंग्रेजों के विरुद्ध उसने दो युद्ध किए। प्रथम युद्ध में वह पूरी तरह विजयी रहा और द्वितीय युद्ध के समय बीच में ही उसकी मृत्यु हो गयी। इस कारण यह भी नहीं माना जा सकता कि अंग्रेजों के विरुद्ध वह असफल रहा।

तृतीय आंग्ल-मैसूर युद्ध (1790-92)

यद्यपि द्वितीय मैसूर की समाप्ति पर अंग्रेजों तथा टीपू में मंगलोर की सन्धि हो गयी थी, परन्तु इस सन्धि के बाद भी दोनों शक्तियों के मध्य मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध नहीं हो सका। जिस समय लार्ड कार्नवालिस भारत का गर्वनर जनरल होकर आया उसने अनुभव किया कि मैसूर राज्य के साथ अंग्रेजों का संघर्ष अनिवार्य है। टीपू और अंग्रेज दोनों ही एक दूसरे को अपना दुश्मन समझते थे तथा कार्नवालिस ने स्पष्टतः टीपू की शक्ति को दबाना अंग्रेज कम्पनी के हित के लिए जरूरी है। इस समय टीपू भी अंग्रेजों से शंकित हो कर विदेशी सहायता प्राप्त करने का यत्न कर रहा था। अपनी विलक्षण राजनीतिक चतुरता के कारण वह अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति से लाभ उठाना चाहता था। इसी उद्देश्य से उसने फ्रांस तथा तुर्की के पास सहायता के लिए राजदूत भेजे थे। यद्यपि दोनों ही स्थानों पर उसके राजदूतों का अच्छा स्वागत हुआ परन्तु आश्वासन के अतिरिक्त कोई विशेष भौतिक सहायता उसे प्राप्त न हो सकी, परन्तु उसके इन कार्यों से स्पष्ट था कि टीपू अंग्रेजों की शक्ति को नष्ट करने के लिए कृतसंकल्प है। कार्नवालिस का विश्वास था कि टीपू के साथ युद्ध अनिवार्य है। 1788 "मैं समझता हूँ कि फ्रांस के साथ युद्ध का निश्चित एवं तात्कालिक फल होगा– टीपू के साथ युद्ध और इस अवस्था में इस देश में मराठों का शक्तिशाली सहयोग हमारे हित के लिए बड़ा ही महत्वपूर्ण होगा।" अतः भारत की अन्य शक्तियों से मित्रता करके टीपू के विरुद्ध षडयन्त्रों का जाल बुनना आरम्भ

निजाम की अंग्रेजों के साथ बहुत दिनों से मैत्री चली आ रही थी। मराठा युद्ध के समय वारन हेस्टिंग्स ने निजाम को मराठों से पृथक करने के लिए गुन्टूर का प्रदेश दे दिया था, लेकिन गुन्टूर का राजनीतिक महत्त्व था। अंग्रेजों के मद्रास तथा

सरकार के प्रदेश को मिलाने का कार्य यह इलाका करता था। अतएव कार्नवालिस इसको पुनः प्राप्त करना चाहता था लेकिन निजाम इसको छोड़ने से हीला हवाला करता था क्योंकि उस जिले के द्वारा उसके समुद्र से सम्पर्क था। अन्त में 1788 में निजाम गुन्टूर देने को तैयार हो गया। लेकिन इसके बदले में वह मैसूर के कुद प्रदेश, जो हैदरअली ने निजाम से छीन लिए पुनः प्राप्त करना चाहता था। इसके लिए उसने कार्नवालिस से सहायता मांगी। परन्तु सहायता देने का अर्थ टीपू से शत्रुता करना होता। फिर पिट्स इण्डिया ऐक्ट की 34 वीं धारा अहस्तक्षेप की नीति का आदेश देती थी। इस कारण कार्नवालिस बहुत नाजुक स्थिति में पड़ गया। फिर भी उसने 7 जुलाई, 1789 को निजाम के पास एक पत्र लिखा। उसमें उसने निजाम को ब्रिटिश सेना की सहायता देने का वचन दे दिया। शर्त थी कि इस सेना को अंग्रेजों के मित्रों के विरुद्ध काम में नहीं लाया जा सकता है। इस पत्र में मित्रों के नाम की सूची भेजी गयी थी, जिसमें कार्नवालिस ने टीपू के नाम का उल्लेख नहीं किया था। इस तरह कार्नवालिस ने 'पिट्स इण्डिया ऐक्ट' की अवहेलना नहीं की, किन्तु उसके भावों की अवहेलना अवश्य की। कार्नवालिस ने स्पष्ट रूप में टीपू को अपना शत्रु मान लिया।

ऐसी स्थिति में युद्ध अनिवार्य हो गया। इस युद्ध का तत्कालिक कारण यह था कि टीपू ने अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाने के लिए 1789 में ट्रावनकोर के राजा पर आक्रमण कर दिया। ट्रावनकोर का राजा अंग्रेजों का मित्र था और उनके संरक्षण में था। अतएव कार्नवालिस ने उसकी सहायता करना अपना कर्त्तव्य समझा और टीपू के विरुद्ध युद्ध घोषित कर दिया। टीपू का ट्रावनकोर के राजा से पुराना झगड़ा था। उसने टीपू के शत्रु राजाओं को अपने यहां शरण दी थी जो टीपू का मालाबार की सीमाओं पर आक्रमण करते रहते थे, उसने डचों से मालाबार तट पर दो बन्दरगाह खरीदे थे जिन्हें टीपू अपनी सीमा में मानता था और स्वयं उन बन्दरगाहों को लेने के लिए प्रर्याप्त धन देने को तैयार था तथा उसने अपनी सुरक्षा के लिए जो दीवारे खड़ी की थी उसके बारे में टीपू का कहना था कि उसका कुछ भाग उसके राज्य की सीमा में आता था। टीपू ने इन झगड़ों का निर्णय मद्रास कौंसिल को मध्यस्थ बनाकर भी करना चाहा था परन्तु जब वहां से कोई उत्तर प्राप्त नहीं हुआ तो उसने ट्रावनकोर पर आक्रमण कर दिया। इससे स्पष्ट होता है कि अंग्रेज युद्ध का बहाना ढूंढ़ रहे थे और इस आक्रमण के होते ही कार्नवालिस ने टीपू के विरुद्ध युद्ध घोषित कर दिया।

परन्तु मैसूर पर आक्रमण करने से पहले कार्नवालिस ने इस बात की व्यवस्था की कि मराठे या निजाम किसी कारण टीपू का साथ देने को तत्पर हो न जाए। अतएव 1 जून 1790 को मराठों के साथ और 4 जुलाई, 1790 को निजाम के साथ सन्धियाँ की गयी जिनके अनुसार दोनों ने अंग्रेजों को सैनिक सहायता देने का वायदा किया और यह निश्चय किया कि युद्ध के पश्चात् जीती हुई भूमि को वे आपस में बांट लेंगे। यद्यपि निजाम और मराठों ने अंग्रेजों की बहुत कम सहायता की और युद्ध का अधिकांश भार अंग्रेजों पर ही रहा, परन्तु उनके टीपू से मिलने की सम्भावना पूर्णतः नष्ट हो गयी। इस प्रकार टीपू नितांत अकेला रह गया उसे फ्रांस से भी कोई सहायता प्राप्त नहीं हो सकी क्योंकि एक वर्ष पहले ही फ्रांस में क्रांन्ति आरम्भ हो चुकी थी।

टीपू और अंग्रेजों का यह युद्ध दो वर्षों तक चला। इस अवधि में वह बड़ी बहादुरी से अंग्रेजों से जूझता रहा। प्रारम्भ में अंग्रेज असफल रहे। अतः कार्नवालिस ने स्वयं युद्ध का नेतृत्व किया। टीपू बहादुरी तथा दृढ़ता से युद्ध करता रहा किन्तु अन्त में उसकी हार हो गयी। उसे सन्धि के लिए वार्ता शुरू करनी पड़ी। फलतः मार्च 1792 में दोनों पक्षों के बीच श्रीरंगपट्टम की सन्धि हो गयी और तृतीय मैसूर युद्ध का अन्त हुआ। सन्धि के अनुसार टीपू ने अपने राज्य का आधा हिस्स तथा तीस लाख पौण्ड विजेताओं को दिये। इसे अंग्रेज, निजाम तथा मराठों ने आपस में बांट लिए। इस भाग का सबसे बड़ा हिस्सा—कृष्णा और पन्ना नदी के बीच का प्रदेश निजाम को मिला। कुछ हिस्सा मराठों को प्राप्त हुआ, जिसमें उनके राज्य की सीमा तुंगभद्रा तक चली गयी। मालाबार, डिंडुगुल वारामहल इत्यादि पर अंग्रेजों का अधिकार रहा, जिससे कम्पनी का प्रभुत्व अधिक दृढ़ हो गया। टीपू ने जमानत के रूप में अपने दो पुत्रों को कार्नवालिस को सुपुर्द किया। इस पराजय से टीपू को भारी क्षति उठानी पड़ी। उसका राज्य कम्पनी राज्य से घिर गया तथा समुद्र से उसका सम्पर्क टूट गया। टीपू को युद्ध का खर्च भी देना पड़ा।

इस समय यदि कार्नवालिस चाहता तो टीपू का समस्त निजाम के साथ विभाजन करने की विकट समस्या उठ खड़ी होगी। अतः उसने टीपू का राज्य नहीं छीना परन्तु उसे शक्तिहीन बना कर छोड दिया इसके अतिरिक्त उस समय अंग्रेजी सेना में भयंकर बीमारी फैली हुई थी और अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति भी बड़ी गम्भीर हो गयी थी यूरोप में फ्रांस और इंगलैंड के बीच युद्ध चलने की आशंका हो गयी थी। ऐसी स्थिति में टीपू को फ्रांसीसी सहायता नहीं मिल सकती थी। कम्पनी के संचालक भी युद्ध को बन्द कर देना चाहते थे। ऐसी स्थिति मे कार्नवालिस ने युद्ध बन्द कर देना ही उचित समझा, लेकिन इसमें कोई सन्देह नहीं कि तृतीय मैसूर युद्ध ने टीपू को अत्यधिक दुर्बल बना दिया और अब मैसूर राज्य को समाप्त कर देना कुछ समय की बात रह गयी थी। इस कार्य को लार्ड वेलेजली ने पूरा किया।

चतुर्थ आंग्ल - मैसूर युद्ध (1799)

युद्ध के कारण : तृतीय मैसूर युद्ध में टीपू हार अवश्य गया और उसका राज्य भी क्षत-विक्षत हो गया पर उसने साहस नहीं छोड़ा। वह अंग्रेजों से बदला लेने की चेष्टा करता रहा। उस समय इंग्लैंड और फ्रांस में युद्ध चल रहा था। इस अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति से लाभ उठाने के लिए टीपू ने काबुल, कुस्तुन्तुनिया, अरब और मारीशस में अपने राजदूत भेजे। वह स्वयं काबुल के जेकोबे क्लब का एक सदस्य बना और अपनी राजधानी में फ्रांसीसियों प्रेम और सहयोग का आश्वासन देकर स्वतन्त्रता के वृक्ष लगाने की अनुमति दी। अपने सैनिक संगठन के लिए उसने फ्रांसीसी अफसर नियुक्त किए। 1798 में कुछ फ्रांसीसी अंग्रेजों के विरुद्ध टीपू की सहायता के लिए बेंगलोर आये।

वेलेजली टीपू के इन सब कार्यों को बड़ी सतर्कता से देख रहा था। 12 अगस्त, 1798 को उसने इस स्थिति पर टिप्पणी करते हुए कहा "टीपू के राजदूतों के कार्य, जिसे उसने स्वयं पक्का किया है, साथ-साथ उसके देश में जो फ्रांसीसी सेना उतरी है, से प्रकट होता है कि युद्ध की स्पष्ट घोषणा है।" 1799 में उसने टीपू के पास सहायक-सन्धि करने का प्रस्ताव भेजा। दूसरे शब्दों में उसे ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कम्पनी की अधीनता स्वीकार करने के लिए कहा गया। जब टीपू ने इस मांग को ठुकरा दिया तो वेलेजली ने उसके विरुद्ध फरवरी, 1799 में युद्ध की घोषणा कर दी। युद्ध छिड़ने से पहले उसने निजाम और मराठों को अपनी ओर मिलाने की चेष्टा की। निजाम ने सहायक सन्धि स्वीकार करके अंग्रेजों का साथ देने का वचन दे दिया, लेकिन मराठों की ओर से उसे कोई स्पष्ट उत्तर नहीं मिला। फिर भी त्रिगुट-सन्धि को कायम करने के उद्देश्य से वेलेजली ने घोषणा की कि टीपू से जीते हुए प्रदेशों का कुछ हिस्सा पेशवा को भी मिलेगा। इसके अतिरिक्त वेलेजली ने मैसूर के हिन्दू राजा, मंत्री पुनिर्या और टीपू की सेना के कुछ अफसरों को भी अपनी ओर मिला लिया। इसके बाद वेलेजली ने मैसूर पर आक्रमण कर दिया। यह मैसूर की चौथी लड़ाई थी।

युद्ध

इस प्रकार शत्रु के घर में विश्वासघात का बीज बोकर और निजाम तथा मराठों की ओर से सुरक्षा की स्थिति पैदा करके वेलेजली ने फरवरी 1799 में टीपू पर चारों ओर से आक्रमण करवाया।

कर्नाटक से हैरिस, कुर्ग से जनरल स्टुअर्ट, हैदराबाद से कर्नल वेलेजली और दक्षिण से कर्नल रीड तथा कर्नल हाउन ने एक साथ श्री रंगपट्टम की ओर कूच किया। लार्ड वेलेजली युद्ध की देख-रेख करने के लिए स्वयं कलकत्ता से मद्रास आ गया।

सुरक्षा के लिए टीपू ने अपनी सीमाओं की मजबूत किलेंबन्दी की थी, पर अंग्रेजों की तोपों के सामने उसके दुर्ग कोई रुकावट पैदा नहीं कर सके। सदासीर और महाबली नामक स्थानों पर टीपू की बुरी तरह हार हुई। भागकर उसने श्री रंग पट्टम में शरण ली। अंग्रेजी सेना ने दुर्ग के चारों ओर से घेर लिया। उसने अंग्रेजों की सन्धि को घृणापूर्वक ठुकरा दिया। अन्त में श्री रंग पट्टम का पतन हो गया। अपनी मातृभूमि के लिए लड़ते हुए किले के फाटक पर वह मारा गया। इस प्रकार एक महान देशभक्त के जीवन का अन्त हो गया।

मैसूर का विभाजन

टीपू के पतन के साथ ही मैसूर राज्य की सत्ता और शक्ति भी लुप्त हो गयी। वेलेजली यदि चाहता तो सम्पूर्ण मैसूर को छीनकर कम्पनी राज्य में मिला सकता था, परन्तु ऐसा करने से मराठों तथा निजाम के क्रुद्ध हो जाने की सम्भावना थी। अतः उसने मैसूर को कम्पनी राज्य में नहीं मिलाने का निश्चय किया। अंग्रेजों ने मैसूर राज्य का विभाजन कर दिया। कायम्बटूर, कोकानाडा और श्री रंग पट्टम के आस-पास के प्रदेश कम्पनी के साम्राज्य में शामिल कर लिए गए। मैसूर राज्य का कुछ भाग हैदराबाद के निजाम को दे दिया गया और बचा हुआ मैसूर राज्य मैसूर के पहले हिन्दू शासक (ओदयर राजवंश) के एक वंशज को दे दिया गया। इस प्रकार मैसूर राज्य के तीन भाग कर दिए गये।

वेलेजली ने मैसूर के ओदेयर राजा से सहायक सन्धि की, जिसकी ये शर्ते थी (1) मैसूर राजा के लिए अंग्रेजी सहायक सेना रहेगी, (2) सेना के व्यय के लिए मैसूर राज्य सात लाख पौण्ड प्रतिवर्ष देगा। (3) युद्धकाल में गवर्नर जनरल अपनी इच्छानुसार मैसूर राज्य के साधनों के अनुरूप खर्च लेगा, (4) मैसूर राजा न तो अंग्रेजों के सिवा किसी अन्य विदेशी को अपने यहां नौकर रखेगा और न ही किसी दूसरे राज्य से अंग्रेजों की स्वीकृति के बिना पत्र-व्यवहार ही करेगा, (5) कम्पनी सरकार आन्तरिक कुशासन के कारण मैसूर के शासन में हस्तक्षेप कर सकेगी और आवश्यकतानुसार उसे अपने हाथ में भी ले सकेगी।

इस सहायक सन्धि के द्वारा वेलेजली ने बचे खुचे मैसूर राज्य पर अपना पूर्ण नियन्त्रण स्थापित कर लिया। टीपू के बेटों को पेन्शन देकर वेलूर भेज दिया गया।

मैसूर की चौथी लड़ाई का महत्व

निस्सन्देह वेलेजली की मैसूर नीति से कम्पनी को महत्वपूर्ण लाभ हुए। वेलेजली की व्यवस्था से मैसूर राज्य छोटा पड़ गया और अंग्रेजों के एक कट्टर दुश्मन का अन्त हो गया। कम्पनी के साम्राज्य, शक्ति तथा प्रतिष्ठा में चार चांद लग गए। अब मैसूर के राजा की सैनिक तथा आर्थिक शक्ति पर कम्पनी सरकार का अधिकार हो गया। कुछ समय के बाद निज़ाम ने मैसूर राज्य का अपना भाग अंग्रेजों को वापस कर दिया, जिससे मैसूर चारों ओर ब्रिटिश राज्य से घिर गया। डीन हटन के शब्दों में "सामरिक, आर्थिक, शान्ति स्थापना सम्बन्धी व्यवस्था के दृष्टिकोण से क्लाइव के बाद मैसूर की विजय ब्रिटिश शक्ति की अत्यन्त ही शानदार सफलता थी।"

टीपू के विनाश को इंगलैंड और भारत में बड़ा महत्व दिया गया। दोनों देशों के ईसाई गिरजाघरों में इसके लिए ईश्वर को विशेष धन्यवाद दिये गये। अंग्रेजी राज्य के बड़े–बड़े अधिकारी एक जुलूस बनाकर कलकत्ता के न्यू–चर्च में गए और वहां अंग्रेजी राज्य के सबसे बड़े शत्रु को नष्ट करने को उपलक्ष्य में भगवान को धन्यवाद दिया। इंग्लैंड में इस विजय को ऐसा महत्वपूर्ण समझा गया कि वेलंजली को जिसका अपना नाम रिचर्ड कोली वेलेजली था और भारत आने के समय लार्ड मार्मिंग्टन के नाम से प्रसिद्ध था, मैसूर–विजय के उपरान्त मार्क्विस की उपधि से विभूषित किया गया।

टीपू की शासन प्रणाली
(Tipu's Administration)

उस समय भारत में केवल निरंकुशवाद का ही बोलबाला था और इसी कारण टीपू का प्रशासन भी भिन्न नहीं हो सकता था। सुलतान ही देश में समस्त सैनिक, असैनिक तथा राजनैतिक शक्ति का केन्द्र था। वह स्वयं ही अपना विदेश मंत्री तथा मुख्य सेनापति अथवा न्यायाधीश था।

यद्यपि टीपू का कोई नियन्त्रण नहीं था, तो भी वह असंयमी, दयारहित राजा नहीं था। वह कर्मशील तथा कर्तव्यपरायण राजा की भांति कार्य करता था। वह समझता था कि अपनी प्रजा के प्रति व्यवहार के लिए एक दिन उसे ईश्वर को उत्तर देना होगा और वह सदैव प्रजा हित के लिए कार्य करता था।

केन्द्रीय प्रशासन : टीपू को सुधारों तथा नए प्रयोगों से प्यार था। अतएव शीघ्र ही उसने अपने पिता हैदरअली से प्राप्त की हुई शासन प्रणाली में सुधार किए। डाडवैल (Dodwell) के अनुसार वह प्रथम भारतीय राजा था जिसने पाश्चात्य परम्पराओं को भारतीय प्रजा पर लागू करने का प्रयत्न किया। प्रत्येक विभाग का एक अलग अधिकारी होता था तथा अनेक निम्न स्तर के अधिकारी उसकी सहायता करत थे सभी मिलकर एक बोर्ड Board) के रूप मं कार्य करते थे। पूर्ण वाद–विवाद के पश्चात ही निर्णय लिए जाते थे। इस बाद–विवाद में सदस्यों को मतभेद प्रकट करने का पूर्ण अधिकार था। निर्णय बहुमत से किए जाते थे तथा बैठकों की कार्यवाही का ब्यौरा रखा जाता था। परन्तु इन सभी मामलों में अन्तिम निर्णय सुलतान का ही होता था।

टीपू के प्रशासन में प्रधान मंत्री अथवा वज़ीर का पद नहीं होता था। सात मुख्य विभाग थे जो मीर आसिफ के अधीन होते थे जो स्वयं सुलतान के प्रति उत्तरदायी था। ये विभाग इस प्रकार थे (i) राजस्व तथा वित्त (Revenue and Finance) मीर आसिफ कचहरी के अधीन, (ii) सेना विभाग मीर मीरां कचहरी के अधीन, (iii) जुमरा विभाग एक अन्य मीर मीरां कचहरी के अधीन (iv) तोप खाना तथा दुर्ग रक्षा (ordnance and garrison) विभाग मीर सदर कचहरी के अधीन (v) वाणिज्य (Commerce) विभाग मलिक–उतुंत्जार के अधीन (vi) नाविक (marine) विभाग मीर थाम कचहरी के अधीन (vii) कोष और टंकन (treasury and mint) विभाग मीर खजाना कचहरी के अधीन। इन 7 के अतिरिक्त तीन अन्य छोटे विभाग भी थे अर्थात् डाक तथा गुप्तचर विभाग (Post and intelligence) लोक निर्माण (Public Buildings) तथा पशु (Cattle) विभाग।

प्रान्तीय तथा स्थानीय प्रशासन : 1784 के पश्चात् टीपू ने अपने साम्राज्य को सात प्रान्तों में बांट दिया जिन्हें आसफी टुकड़ी कहते थे। कालान्तर में इन प्रान्तों की संख्या 17 हो गई। प्रान्तों में मुख्य अधिकारी आसिफ (असैनिक गवर्नर) तथा फौजदार (सैनिक गवर्नर) होते थे। ये दोनों एक–दूसरे पर नियन्त्रण रखते थे। प्रान्तों को जिलों और जिलों को ग्रामों में बांटा होता था। स्थानीय प्रशासन का प्रबन्ध पंचायतें करती थीं

भूमि कर व्यवस्था : मुख्य रूप से टीपू ने अपने पिता के काल से चली आ रही भूमि कर प्रणाली को बनाए रखा परन्तु उसमें अधिक कार्यक्षमता लाने का प्रयत्न किया। उसने जागीरदारी प्रणाली को त्याग कर कृषक तथा सरकार में सीधा संपर्क स्थापित किया। उसने पर कर मुक्त इनाम भूमि पर पुनः अधिकार कर लिया तथा पॉलिगारों (जमींदारों) के पैतृक अधिकार जब्त कर लिए।

सरकार ने प्रेरणा संलग्न अनुरोध (inducement-compulsion) की प्रणाली द्वारा अधिकाधिक भूमि को जोत में लाने का प्रयास किया। जिले का कार्यवाह आमिल–जिले का दौरा करता था तथा कृषकों को अधिक भूमि जोत में लाने के लिए बीज तथा पशुओं के लिए तकावी (सरकार की ओर से दिया हुआ धन) ऋण दिया जाता था। दूसरे आमिल यह भी देखता था कि यदि किसी परिवार में काम करने वाले अधिक है और हल कम है तो वह परिवार के मुखिया को अन्य हल प्राप्त करने की प्रेरणा देता था। दूसरी ओर आमिल यह भी देखता था कि यदि किसी ग्राम में किसी विशेष फसल के लिए भूमि तो है परन्तु वहां के वासी उस फसल को करने को उद्यत नहीं हो तो वह उस ग्राम पर उस विशेष फलस की दर से भूमि कर लगा देता था न कि वास्तविक जुती हुई भूमि पर।

भूमि पर प्राय 1/3 से 1/2 लिया जाता था जो कि भूमि की उर्वरता तथा सिंचाई की सुविधाओ पर निर्भर होता था। 1792 में भूमि कर की आय एक करोड़ रुपये से अधिक थी जो कि श्री रंगापट्टम की सन्धि के पश्चात आधी रह गई थी क्योंकि उसे अपने राज्य का आधा भाग शत्रुओं को छोड़ देनापड़ा था। इस क्षति की पूर्ति के लिए टीपू को 1795 से 1791 के बीच कर की दरों में 37½ प्रतिशत की वृद्धि करनी पड़ी थी।

वाणिज्य तथा व्यापार : यूरोपीय शक्तियों की नाईं टीपू ने भी इस तथ्य को समझा कि देश अपने वाणिज्य तथा व्यापार के विकास करके ऊँचा उठ सकता है। इसलिए उसने देशीय तथा अन्तरदेशीय व्यापार का विकास किया तथा अपने गुमाश्त मस्कट, मुर्जा, जद्दाह तथा अदन इत्यादि नगरों में नियुक्त किए। उसने पीगू (बर्मा) तथा चीन से भी सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास किया। इस आशय से उसने एक वाणिज्य बोर्ड (Commercial Board) स्थापित किया तथा 1793-94 के नियमो (regulations) के अनुसार इस विभाग के अधिकारियों के कर्त्तव्य निश्चित किये। टीपू ने चन्दन, सुपारी, काली मिर्च, मोटी इलायची, सीसा तथा चादी के व्यापार तथा हाथियों के निर्यात इत्यादि का कार्य केवल सरकार के एकाधिकार में ले लिया। इसी प्रकार आन्तरिक व्यापार के मामले में भी किया, काली मिर्च तथा चन्दन, केवल सरकार ही मोल ले सकती थी। इसके अतिरिक्त उसने राज्य में कई कारखानें भी लगाए जहां युद्ध के लिए गोला, बारुद, कांगज, चीनी, रेशमी कपड़ा छोटे–छोटे उपकरण तथा अन्य सुन्दर वस्तुएं बनाई जाती थी।

अशोक सेन जैसे प्रसिद्ध लेखक का विचार है कि टीपू की व्यापारिक नीति का मुख्य उद्देश्य सरकार का देश की प्रमुख व्यापारिक संस्था बनाना तथा कोष को भरना तथा आर्थिक गतिविधियों को सैनिक तथा राजनैतिक हितों के अधीन लाना था जो कि व्यापार तथा उद्योग के दीर्घकालीन हितों में नहीं था और न ही इससे पूंजीवाद के अधीन औद्योगिक क्रान्ति लाने के लिए समाज तथा अर्थव्यवस्था को तैयार कया जा सकता था।

सैनिक प्रशासन : समकालीन विवशताओं के कारण सुलतान को अपने समय का अधिक भाग सैनिक तैयारी में लगाना पड़ता था। टीपू ने अपनी पदाति सेना का अनुशासन यूरोपीय नमूने पर गठित किया और इसमें फारसी के आदेश शब्दों का प्रयोग किया जाता था। उसने भी फ्रांसीसी कमाण्डरों द्वारा अपनी सेना के प्रशिक्षण का प्रबन्ध किया तथा एक फ्रांसीसी सैनिक टुकड़ी तैयार की परन्तु उसने इनको प्रभावशाली समूह (pressure group) बनने की अनुमति नहीं दी जैसा कि निजाम तथा मैसूर के राज्यों में हुआ। वास्तव में उसकी सेना में फ्रांसीसी सैनिको की संख्या दिन–प्रतिदिन कम होती चली गई। 1794 में यह केवल 20 आयुक्त अधिकारियों और श्री रंगापट्टम की हार के समय केवल 4 आयुक्त तथा 45 अनायुक्त अधिकारियो तक सैनिकों तक ही सीमित थी। टीपू की सेना की संख्या उसकी सैनिक आवश्यकताओं तथा साधनों के अनुसार बदलती रहती।

तीसरे आंग्ल–मैसूर युद्ध के समय उसके पास 45000 नियमित पदाति, 2,000 घोड़े तथा कुछ अनियमित सेना थी। 1792 में अंग्रेजों तथा उनके मित्रों को आधा राज्य देने के पश्चात उसके पास 30,000 नियमित पदाति, 7,000 नियमि घुडसवार 2,000 तोपची तथा 6,000 अजियमित घुडसवार थे। हैदरअली तथा टीपू दोनों ने नौसेना के महत्त्व के समझा परन्तु अपने प्रमुख प्रतिद्वन्द्वी ईस्ट इण्डिया कम्पनी के स्तर को कभी प्राप्त नहीं कर सके। जो भी जलपोत हैदरअली ने बनाए थे वे सभी ब्रिटिश ह्यूज ने 1780 में मंगलोर पर आक्रमण के समय नष्ट कर दिए थे।

जब तृतीय आंग्ल–मैसूर युद्ध में अंग्रेजों ने टीपू के अधीन मालाबार तट के प्रदेशों पर अधिकार कर लिया तो सुलतान के लिए जल सेना का महत्त्व और भी बढ़ गया। 1796 में टीपू ने नौसेना बोर्ड (Board of Admiralty) का गठन किया तथा 22 युद्धपोत तथा 20 बड़े फ्रिगेट (frigate) बनाने की योना बनाई। उसने मंगलोर, वाजिदाबाद तथा मालीदाबाद में गोदी बनाने का (dockyard) बनाए। परन्तु यह योजना सिरे नहीं चढ़ी। उसके साधन अंग्रेजों के साधनों से बहुत कम थे। इस तथ्य को स्वीकार करते हुए उसने कहा था कि मैं अंग्रेजों के स्थल साधनों को तो समाप्त कर सकता हूँ परन्तु मैं समुद्र को तो नहीं सुखा सकता।

टीपू का मूल्यांकन : हैदरअली और उसकी पत्नी फातिमा के घर बहुत प्रार्थना के पश्चात् 20 नवम्बर 1750 को एक पुत्र रत्न जन्मा और उसे टीपू सुल्तान की संज्ञा दी गई। इस प्रकार सुलतान उसके नाम का अंग था और राजकुमार तथा शासन काल मे वह इसी नाम से जाना जाता था। उसे एक मुसलमान राजकुमार के योग्य पूर्ण शिक्षा मिली और वह अरबी, फारसी, कन्नड़ तथा उर्दू में सुगमता से बातचीत कर सकता था। वह एक हृष्ट–पुष्ट व्यक्ति था। घुडसवारी, बंदूक तथा तलवार चलाने में भी सिद्धहस्त था। वह पालकी में चढना पसन्द नहीं करता था क्योंकि इसे वह केवल स्त्रियों अथवा रोगियों के लिए ही उपयुक्त मानता था। टीपू सुल्तान में पूर्वी उदासीनता अथवा रुढ़िवाद का कण मात्र भी नहीं था और वह नवीन प्रयोग करने को सदैव उद्यत रहता था तथा पाश्चात्य विज्ञान तथा राजनीतिक दर्शन का यथोचित गुणग्राही था। जब फ्रांसीसी क्रांति के फलस्वरूप कुछ फ्रांसीसी सैनिकों ने श्री रंगापट्टम में जैकोबिन क्लब (Jacobin Club) बनाने का प्रस्ताव किया तो उसने यह सहर्ष स्वीकार कर लिया और इस अवसर को मनाने के लिए 2,300 तोप के गोले तथा 500 हवाई राकेट चलाए। यह कहा जाता है कि उसने श्री रंगापट्टम में "स्वतन्त्रता का वृक्ष" भी लगाया, स्वयं जैकोबिन क्लब का सदस्य बना और अपने आप को "नागरिक टीपू" (Citizen Tipu) कहलाने लगा।

प्रशासक तथा शासक के रूप में टीपू बहुत सफल रहा और विरोधियों ने भी उसकी सराहना की है। लैक्टिनेन्ट मूर (Lieut. Moore)ने उसके विषय में कहा है। "जब एक व्यक्ति एक अनजाने देश से गुजरता हुआ यह देखें कि वहां फसले उत्तम हैं, देश में जनसंख्या तथा उद्योग बहुत है" नए–नए नगर बस रहे हैं, वाणिज्य विकसित हो रहा है, और प्रत्येक वस्तु हर्ष तथा सफलता का द्योतक है, तो वह प्राकृतिक रूप से यही कहेगा कि जनता एक कुशल प्रशासन के अधिन है। जिसमें उसे विकसित होने का अवसर मिल रहा है। ऐसा है टीपू के प्रदेश का चित्र।" सर जॉन शोर ने भी इसी प्रकार लिखा था, "टीपू के किसान सुरक्षित हैं और उन्हें श्रम के लिए प्रोत्साहन तथा उसका फल भी मिलता है। टीपू को अपने सैनिकों की राजभक्ति तथा विश्वास भी प्राप्त है।" ऐसे समय में जब सैनिक कमाण्डरों द्वारा दल बदलना साधारण बात थी, टीपू के सैनिकों ने उस अनुशासन तथा राजभक्ति का परिचय दिया जिसको यूरोपीय प्रेक्षकों ने भी सराहा है।

विल्क्स का यह कहना है कि हैदर राज्य बनाने के लिए जन्मा और टीपू उसे खोने के लिए। यह ऐतिहासिक सत्य तो है परन्तु इसमें टीपू की कार्यकुशलता तथा उसकी कठिनाईयों का पूर्ण परिचय नहीं मिलता। जिनसे उसका साक्षात्कार हुआ। टीपू की वीरता तथा नवीन प्रयोगों की भावना प्रायः उसके अवगुण माने जाते हैं। हैदरअली ने तो प्राचीन वडियार वंश के झूठे ढोंग को जीवित रखा, परन्तु टीपू ने 1787 में पादशाह की उपाधि धारण कर ली, अपने नाम के सिक्के चलाए, वर्षों तथा महीनों के हिन्दू नामों के स्थान पर अरबी नामों का प्रयोग कया तथा नए पंचांग का प्रारम्भ किया। टीपू का नवीन परिवर्तन लाना केवल परिवर्तन नहीं था अपितु वे एक जाग्रत शासक द्वारा प्रारम्भ किए गए सुधार थे।

साम्राज्यवादी लेखकों का टीपू को एक "सीधा सादा दैत्य" (monster pure and simple) तथा धर्मान्ध शासक बतलाना, निश्चय ही सत्य नहीं। टीपू की धर्मपरायणता को आवश्यकता से अधिक महत्त्व दिया गया हें यह सत्य है कि उसने हिन्दू कुर्गों तथा नायरों का दमन किया परन्तु जिन मुसलमान मोपलाओं ने उसकी आज्ञा का उल्लंघन किया उन्हें भी उस ने क्षमा नहीं किया। कुछ वर्ष पूर्व मिले श्रृंगेरी पत्रों से पता चलता है कि जब 1791 में हुए मराठा आक्रमणों से श्रृंगेरी मन्दिर का भाग टूट गया तो श्रृंगेरी के मुख्य पुरोहित की प्रार्थना पर टीपू ने मन्दिर की मरम्मत के लिए तथा शारदा देवी की मूर्ति की स्थापना के लिए धन दिया। सुलतान ने श्री रंगापट्टम के दुर्ग में स्थित श्री रंगनाथ नरसिंह अथवा गंगाधारेश्वर के मन्दिरों की पूजा में कभी हस्तक्षेप नहीं किया।

निश्चय ही दक्षिणी भारत के इतिहास में टीपू का एक बहुत आकर्षक व्यक्तित्व था। उस वीर और साहसी व्यक्ति ने आत्माभिमान कभी नहीं छोड़ा और वैल्जली की सहायक सन्धि का निमंत्रण अस्वीकार कर दिया। उसने पाश्चात्य साम्राज्यवाद की गाड़ी में बैठ कर निर्जीव जीवन व्यतीत करने के स्थान पर मृत्यु को आलिंगन करना श्रेयस्कर समझा। दुर्भाग्य यह था कि उसका एक ऐसे विरोधी से साक्षात्कार था जिसमें पूर्ण भारत को रौंद देने की शक्ति थी। जीवित रहने वाले सैकड़ों महाराजाओं तथा निज़ामों के स्थान पर उसके जीवन से आधुनिक भारतीयों को अधिक प्रेरणा मिलती है।

इतिहासकारों और लेखकों के विचार

मोहिब्बुल हसन (Mohibbul Hasan) : कुछ लेखकों ने यह कहा है कि टीपू भारत का प्रथम राष्ट्रवादी था और वह भारत की स्वतन्त्रता के लिए वीर गति को प्राप्त हुआ। परन्तु यह धारणा ठीक नहीं क्योंकि हम भूत को वर्तमान से नापने का प्रयत्न कर रहे हैं। जिस युग में टीपू रहता अथवा शासन करता था। उस समय राष्ट्रवाद की भावना नहीं थी। और न ही भारतीयों ने यह बोध था कि हम दास हैं। इसलिए यह कहना कि टीपू ने भारतीयों की स्वतंत्रता के लिए विदेशियों से लोहा लिया सर्वथा अन्याय है। वास्तव में वह केवल अपनी शक्ति तथा स्वतन्त्रता के लिए ही लड़ा।

अशोक सेन (Ashok Sen) : यह धारणा ..... टीपू सुलतान के मैसूर की आर्थिक दिशाओं की अन्वेषणा पर बनाई गई [illegible] उसकी नीतियों, आर्थिक विकास तथा आधुनिकीकरण के लिए किए गए प्रयत्नों की उपयोगिता का मूल्यांकन किया गया ... चाहे वे उपाय कृषि, व्यापार अथवा औद्योगिक क्षेत्र में किए गए। टीपू की यह प्रयत्नशीलता उसकी राजनीति की विस्तृत जोड़–तोड़ के क्षेत्र में भी चलती रही जिसकी राजनीति, नौकरशाही, तथा आर्थिक बचत (economic surplus) के प्रयोग तथा उसके किसी विशिष्ट दिशा में उपयोग इत्यादि पर पकड़ दिन प्रतिदिन बढ़ती ही चली गई। इस प्रकार के सकल्प (तथा नालिकाओं) के होते हुए भी टीपू सुलतान भारत के समाज तथा राजनीति के अठारहवीं शताब्दी के साधारण अनुभवों जिनमें राजनीतिक जीवन एक प्रकार का शोषण तथा लूट का दूसरा रूप था, वे बहुत भिन्न मार्ग नहीं अपना सका। (A pre-British Economic Formation in india of late Eighteenth Century: Tipu Sultan's Mysore)

आल्फ्रैड लायल (Alfred Lyall) : यह सत्य ही कहा जा सकता है कि नक्षत्रों की गति ही टीपू के विरुद्ध लड़ती रही। [illegible] राजनीतिक योग्यता बहुत ऊँचे स्तर की नहीं थी और उसमें वह अन्तर्जात प्रवृत्ति जो कभी–कभी एशियाई शासकों को यूरोपीय शासकों से टक्कर लेने से रोकती थी और भी अधिक कम थी। घटनाएं वे घटी जो उसकी समझ तथा नियंत्रण से परे थी वह तूफान की उस लहर में बह गया जो मैसूर से बड़ी रियासतों को भी बहाकर ले गई और जो ससार के एक सुदूर भाग में उत्पन्न हुई और जो अभी भी चैनल में पूर्णशक्ति से उठी हुई चल रही थी और जो राष्ट्रीय दृढ़ निश्चय से प्रेरित अंग्रेजों को भारत में सर्वोच्च शक्ति की ओर ले गई।

अंग्रेज और मराठे

मराठों का उत्कर्ष : महाराष्ट्र में मराठा–शक्ति की नींव रखने वाले व्यक्ति छत्रपति शिवाजी (1627-1680) थे। इसके लिए उन्हें पहले दक्षिण की मुस्लिम रियासत बीजापुर तथा मुगलों से कड़ा संघर्ष करना पड़ा था। शिवाजी की मृत्यु के बाद उनके उत्तराधिकारी मुगलों से लोहा लेते रहे। शम्भाजी, राजाराम और शिवाजी द्वितीय के बाद मराठा राज्य का स्वामित्व छत्रपति साहू के हाथ में 1707 से 1749 तक रहा, परन्तु साहू स्वयं न तो कुशल शासन–प्रबन्धक था औरन योग्य सेनापति। स्वयं उसने न तो कभी शासन–प्रबन्ध में रुचि दिखाई और न ही किसी युद्ध में भाग लिया। वह आरामपसन्द तथा शान्तिप्रिय व्यक्ति था। अतः शासन का भार उसने पेशवाओं पर सौंप दिया। प्रथम पेशवा बालाजी विश्वनाथ था जो 1714 से 1720 तक इस पद पर रहा और जिसने मराठा शक्ति को काफी सुदृढ़ करके सारे दक्षिण पर मराठों का प्रभाव स्थापित किया। 1720 में बाजीराव प्रथम को पेशवा का पद दिया गया। 1740 तक वह इस पद पर बना रहा। बाजीराव के काल में कुछ मराठा सरदार बहुत शक्तिशाली हो गए। अतः उसने 'मराठा संघ' की स्थापना की। बाजीराव ने सींधिया को ग्वालियर, होल्कर को इन्दौर, गायकवाड को बड़ौदा, और भोंसले को नागपुर के प्रदेश दे दिये। उन्हें पूना की केन्द्रीय सरकार के अधीन रहकर अपनी शक्ति दृढ़ करने का आदेश दिया गया। बाजीराव की मृत्यु के पश्चात् बालाजी बाजीराव (1740-1761) पेशवा बना। उसने मराठा साम्राज्य के विस्तार की नीति अपनाई।

पानीपत के युद्ध के विनाश के धक्के को बालाजी अधिक समय तक सहन न कर सके और पांच महीने के भीतर ही उसकी मृत्यु हो गयी। इसके बाद माधव राव पेशवा बना। कुछ ही समय में उसने मराठों में पुनः उत्साह और अनुशासन का स्थापना कर दी। 1766 में मराठों ने शाहआलम द्वितीय को फिर से दिल्ली के सिंहासन पर बैठा दिया। महादाजी सिन्धिया (मराठा सरदार तथा ग्वालियर का शासक) दिल्ली सम्राट का कर्ता–धर्ता बन गया। 1771 में मराठों ने मैसूर के शासक हैदर अली को पराजित करके बहुत–सा प्रदेश छीन लिया। सारांशतः मराठों ने जो कुछ 1761 में खोया था, उसके बहुत कुछ 1772 तक वापस पा लिया।

दुर्भाग्यवश 1772 में पेशवा माधवराव प्रथम की अकाल मृत्यु हो गयी। यह मराठों के लिए पानीपत की हार से भी अधिक सांघातिक चोट थी। माधवराव ने अपने अल्प शासनकाल में ही मराठों को पुनः शक्तिमान बनाया, पानीपत की हार के अपमान को धो डाला निजाम हैदराबाद और मैसूर के राजा हैदरअली को धूल चटायी तथा मुगल सम्राट को अपनी कठपुतली बना लिया। उनकी मृत्यु के बाद पेशवा और मराठों की शक्ति निरंतर कम होती गयी।

माधव राव के पश्चात् नारायण राव पेशवा (1772-1773) बना। परन्तु एक वर्ष पश्चात् ही उसके चाचा रघुनाथ राव ने इसकी हत्या करा दी और स्वयं पेशवा बनने का प्रयत्न किया। इसी समय में मराठों के पराभव समय आरम्भ हुआ। मराठा संघ विभाजित होते चले गए। रघुनाथ राव को अंग्रेजों से सहायता मांगनी पड़ी और प्रथम अंग्रेज मराठा युद्ध आरम्भ हुआ। निस्सन्देह अब मराठों का सूर्य अस्ताचल की ओर जा रहा था और यशस्वी पेशवाओं की शक्ति समाप्त हो रही थी।

प्रथम आंग्ल-मराठा युद्ध

मराठा राजनीति : अंग्रेजों की मराठा नीति का आरम्भ वारेन हेस्टिंग्स के काल से हाता है। 1772 में पेशवा माधवराव की मृत्यु हो गई। माधवराव की मृत्यु मराठों के लिए पानीपत की तीसरी लड़ाई से भी अधिक सांघतिक सिद्ध हुई। पानीपत की भयंकर पराजय के बाद मराठे इसीयोग्य नेता के नेतृत्व में अपनी खोयी हुई शक्ति को लौटा रहे थे, लेकिन उसके मरते ही उनके दुर्दिन शुरू हो गए।

माधव राव के मरणोपरान्त पेशवा के पद के लिए मराठों में संघर्ष आरम्भ हो गया। माधवराव का चाचा रघुनाथराव जिसे राघोबा भी कहा जाता है, और माधवराव का भाई नारायणराव दोनों पेशवा बनना चाहते थे। कुछ दिनों के बाद नारायणराव मार डाला गया और रघुनाथराव पेशवा बन गया, परन्तु यह व्यवस्था स्थायी सिद्ध नहीं हुई। नाना फड़नवीस, जो एक बड़ा प्रभावशाली व्यक्ति था, माधवराव के अल्पवयस्क पुत्र को पेशवा बनाने का प्रयत्न करने लगा। वह अपने प्रयत्न में सफल भी हुआ। राघोबा की आशा पर पानी फिर गया। उसने बम्बई के अंग्रेजों से सहायता की अपील की।

सूरत की सन्धि : भयभीत राघोबा ने आतंकित हो बम्बई भागकर अंग्रेजों की शारण ली। मराठों के इस पारस्परिक फूट से लाभ उठाने को अंग्रेज तो तैयार ही बैठे थे। उन्होंने 1776 में उसके साथ सूरत की सन्धि कर ली। इस सन्धि के अनुसार अंग्रेज राघोबो को सैनिक सहायता देने को राजी हुए। बदले में राघोबा ने उन्हें सेना का खर्च, सालसेट, बेसीन, भड़ौच, तथा सूरत के राजस्व का कछ हिस्सा देना स्वीकार कया। सन्धि में यह बात भी स्पष्ट कर दी गयी कि राघोबा कम्पनी के शत्रुओं से किसी प्रकार का समझौता नहीं करेगा।

प्रथम मराठा युद्ध : सूरत की सन्धि बम्बई की सरकार ने बंगाल की सरकार की अनुमति के बिना ही कर ली थी, यद्यपि रेगुलेटिंग ऐक्ट के द्वारा यह अधिकार बम्बई की सरकार से छीन लिया गया था। इसके अतिरिक्त मराठों के आन्तरिक झगड़ों में हस्तक्षेप करना उचित नहीं था। पूना की सरकार से अंग्रेजों का कोई झगड़ा नहीं था। तथा उसके विद्रोहियों को सहायता का वचन देना सर्वथा अनुचित था, परन्तु 1775 में बम्बई की सरकार ने एक ब्रिटिश सेना राघोबा की सहायता के लिए भेज दी। इसप्रकार अंग्रेजों तथा मराठों में युद्ध आरम्भ हो गया। 18 मई, 1775 को अंग्रेजों तथा मराठों की सेना में भीषण युद्ध हुआ जिसमें मराठों की पराजय हो गयी। इस प्रकार मराठे बहुत बड़े संकट में पड़ गये, परन्तु इसी समय, कलकत्ता की कौंसिल ने इस मामले में हस्तक्षेप किया क्योंकि बम्बई की सरकार ने यह समझौता बिना कलकत्ते की कौंसिल की स्वीकृति के किया था। अतएवं उसने बम्बई की नीति की घोर निन्दा की और उसके समझौते को समाप्त कर दिया।

पुरन्दर की सन्धि : अब कलकत्ता कौंसिल ने अपना प्रतिनिधि पूना की सरकार के पास भेजा और 1776 में उसके साथ एक सन्धि कर ली जो पुरन्दर की सन्धि के नाम से प्रसिद्ध है। इस सन्धि द्वारा यह निश्चित हुआ कि सालसेट का द्वीप अंग्रेजों के ही अधिकार में रहेगा और भड़ौच जिले की आय भी कम्पनी को प्राप्त होगी। दस लाख रुपये मराठे अंग्रेजों को क्षतिपूर्ति के रूप में देंगे। अंग्रेज रघुनाथ राव की सहायता न करेंगे भंग कर दी जाएगी और उसे एक अच्छी पेन्शन देकर गुजरात भेज दिया जाएगा।

तालगांव युद्ध और बड़गांव की सन्धि : पुरन्दर की सन्धि से बम्बई की सरकार असन्तुष्ट थी तथा उसने गृह--सरकार से राघोबा की सहायता देने की अनुमति प्राप्त करके पुरन्दर की सन्धि को भंग कर दिया और राघोबा को पुनः सूरत में शरण दे दी तथा उसको पेशवा बनाने के लिए 1778 में पुनः एक ब्रिटिश सेना ने मराठों पर आक्रमण कर दिया। इस समय तक मराठे अपनी सेना को संगठित कर चुके थे तथा तालगांव नामक एक स्थान को पर उन्होंने अंग्रेजों को भीषण रूप से पराजित किया। अंग्रेजों का सेनापति अपनी तोपें तालाब में फेंक कर भाग गया तथा चारों ओर से घेर कर अंग्रेजों का सेनापति अपनी तोपें तालाब में फेंक कर भाग गया तथा चारों से घिर कर अंग्रेजों को बड़गांव की अपमानजनक संधि पर हस्ताक्षर करने पड़े। इस संधि द्वारा अंग्रेजो ने बे समस्त प्रदेश मराठों को लौटा देने का वचय दिया जो उन्होंने 1773 के पश्चात् जीते थे। राघोबा ने भागकर माधवजी सिंधिया के यहां शरण ली। इस सीन्ध से अंग्रेजों की प्रतिष्ठा धूल में मिल गयी।

पुनः युद्ध का आरम्भ : हेस्टिंग्स ने इस सन्धि को मानने से अस्वीकार कर दिया। उसने लिखा "हम लोगों ने पहले ही बड़गांव की संधि तोड़ दी है। भगवान करे कि हमारे राष्ट्रीय चरित्र पर जो कलंक लगा है, उसे आसानी से हम हटा सकें।

हेस्टिंग्स ने अंग्रेजों की खोई हुई मर्यादा को लौटाने के लिए गोडार्ड के अधीन बंगाल से से एक सुसंगठित सेना भेजी। यह सेना मध्य भारत से गुजरती हुई अहमदाबाद तथा बेसीन पर अधिकार करती हुई पूना की ओर बढ़ी किन्तु मराठों के विरोध के कारण उसे पीछे हटना पड़ा। इसी समय बंगाल से एक दूसरी सेना खाना हुई। इस सेना ने गोहप के राज्यकी सहायता से ग्वालियर पर अधिकार कर लिया और माधोजी सिंधिया को सन्धि करने पर विवश किया।

सालबाई की सन्धि : मई, 1782 में सालबाई नामक स्थान पर अंग्रेजों तथा मराठों में सन्धि हो गयी। इस सन्धि के अन्तर्गत सालसेट पर अंग्रेजों का अधिकार स्वीकार कर लिया गया। नारायणराव का पुत्र माधवराव नारायण को अंग्रेजों ने पेशवा मान लिया। यमुना नदी के पश्चिम के प्रदेश पर सिंधिया का अधिकार बना रहा। पूना सरकार की ओर से रघोबा को पेन्शन दी गयी।

सालबाई की सन्धि का महत्त्व : सालबाई की सन्धि से अंग्रेजी को विशेष लाभ नहीं हो सका। कम्पनी सरकार को बम्बई के सालसेट मिला, किन्तु इस युद्ध के कारण उसका खजाना खाली पड़ गया और उसकी आर्थिक स्थिति इतनी बिगड़ गई कि हेस्टिंग्स को अन्यायपूर्ण और आपत्तिजनक नीति का अनुसरण करना पड़ा। इस सन्धि के फलस्वरूप भारत के राजनीतिक रंगमंच पर अंग्रेजों का स्थान प्रमुख भी नहीं हुआ, जैसा कि कुछ इतिहासकार मानते हैं। इससे मराठा शक्ति का अन्त नहीं हुआ। फिर भी भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना के इतिहास में इस सन्धि का एक विशेष स्थान है। इस युद्ध में अपार धन–जन की क्षति होने पर भी मराठों की आंतरिक दुर्बलता से अंग्रेज परिचित हो गए जिसका कालान्तर में उन्होंने लाभ उठाया। इसके अतिरिक्त सालबाई की सन्धि के बीच लगभग बीस वर्षों तक मराठों तथा कम्पनी सरकार के बीच शान्ति बनी रही। फलतः कम्पनी सरकार को अपने अन्य शत्रुओं को दबाने का अच्छा मौका मिल गया। इसीलिए डॉ॰ दत्ता का कहना है कि "भारत में अंग्रेजी सत्ता का इतिहास इस समय से (सालबाई की सन्धि के समय से) एक नयी दिशा की ओर मुड़ता है।

द्वितीय आंग्ल-मराठा युद्ध

लार्ड वेलेजली और मराठे : सालबाई की सन्धि के बाद कुछ दिनों तक अंग्रेजों और मराठों का सम्बन्ध सामान्य बना रहा, लेकिन 1798 में लार्ड वेलेजली गवर्नर जनरल होकर भारत आया। उसकी साम्राज्यवादी नीति ने आंग्ल–मराठा संघर्ष अवश्यम्भावी बना दिया। इस समय केवल मराठों की ही ऐसी शक्ति थी जो कम्पनी के लिए घातक सिद्ध हो सकती थी। यद्यपि पेशवा माधवराव की मृत्यु के पश्चात् पेशवा की शक्ति दुर्बल हो गयी थी, मराठा संघ में आंतरिक संघर्ष आरम्भ हो गया था। यद्यपि तत्कालीन पेशवा बाजीराव द्वितीय दुर्बल था, तब भी मराठा संघ में आंतरिक संघर्ष आरम्भ हो गया था और तत्कालीन पेशवा बाजीराव द्वितीय दुर्बल था, तब भी मराठा संघ के कई सदस्य शक्तिशाली और प्रभावशाली थे। इनमें से केवल बड़ौदा के गायकवाड़ ने अंग्रेजों के प्रति तटस्थता की नीति अपनायी अन्यथा भोंसले, सिंधिया और होल्कर तीनों ही अंग्रेजों के प्रभाव में वृद्धि पसन्द ही करते थे। दौलत राव सिन्धिया की सीमाएं उत्तर में यमुना और चम्बल से लेकर दक्षिण में तुंगभद्रा नदी तक फैली हुई थी, मुगल बादशाह शाहआलम पूर्णतया उसके प्रभाव में था और दिल्ली की राजनीति उसके अधिकार में थी। पेरन जैसे फ्रांसीसी अधिकारियों ने उसकी सेना का यूरोपीय तरीकों से संगठन किया था। राजस्थान और मध्यभारत में उसका आंतक था और पेशवा पर भी उसका काफी प्रभाव था। जसवन्त राव होल्कर ने इन्दौर को अपनी राजधानी बनाया था। मराठा सरदारों में वह सबसे अधिक महत्वाकांक्षी था तथा पूना दरबार में प्रभाव रखने और सीमा विस्तार में सिन्धिया से उसकी प्रतिस्पर्धा रहती थी। नागपुर के भोंसले वंश की सीमाए नागपुर से कटक तक फैली हुई थी और अंग्रेजों के बंगाल और मद्रास की सीमाओं को विभाजित करती थी। इन शक्तिशाली मराठों से अंग्रेजों के सम्बन्ध सर्वदा संदेहपूर्ण रहे थे। अतएव कठोर साम्राज्यवादी लार्ड वेलेजली ने भारत पहुंचते ही मराठों की राजनीति में हस्तक्षेप करने का निश्चय किया। इसके लिए उसे तुरंत ही अवसर भी प्राप्त हो गया।

इस समय मराठा सरदारों में गम्भीर मतभेद था। सिन्धिया और होल्कर एक दूसरे के शत्रु बने हुए थे। पेशवा बाजीराव मराठा को नेतृत्व करने में अक्षम था। ऐसी स्थिति में यह आशा करना व्यर्थ था कि मराठे अंग्रेजों के विरुद्ध कोई सगठित कदम उठा सकते वेलेजली ने शुरू में ही इस तथ्य को समझ लिया था परन्तु वह मराठों से तत्काल उलझना नहीं चाहता था। वह पहले टीपू से निबटना चाहता था और इसमें वह मराठों की सहायता चाहता था। पेशवा बाजीराव इसके लिए तैयार भी हो गया। टीपू को समाप्त करने के बाद वेलेजली ने मराठों की ओर ध्यान दिया। उनकी आन्तरिक राजनीति म हस्तक्षेप करके उसने द्वितीय मराठा युद्ध का सूत्रपात कराया।

मराठों की आन्तरिक राजनीति : 1800 में मराठों के सबसे बड़े नेता नाना फडनवीस की मृत्यु हो गयी। जबतक वह जीवित रहा तबतक मराठों के पारस्परिक कलह को रोकने में सफल रहा। महाराष्ट्र में अंग्रेजों की कुछ भी नहीं चली लेकिन नाना फड़नवीस मृत्यु के उपरान्त मराठा सरदारों की बुद्धिमानी तथा संयम भी चला गया। अब मराठा सरदारों पर किसी प्रकार का नियन्त्रण नहीं रहा। दौलतराव सिन्धिया, जसवन्तराव होल्कर तथा पेशवा बाजीराव द्वितीय में प्रमुख शक्ति के लिए प्रतिद्वन्द्विता प्रारम्भ हो गयी। पेशवा और सिन्धिया ने होल्कर के विरूद्ध संयुक्त मोर्चा बना लिया और उसे नीचा दिखाना चाहा किन्तु होल्कर इसे बर्दाश्त नहीं कर सकता था। उसने 1802 में पेशवा और सिन्धिया की संयुक्त सेना को बुरी तरह परास्त कर पेशवा घोषित कर दिया। भयभीत पेशवा पूना से भागकर अंग्रेजों की शरण में जा पहुचा। लार्ड वेलेजली को वह सुअवसर मिल गया जिसकी वह प्रतिक्षा कर रहा था। उसने तुरंत उसके साथ बेसीन की सन्धि कर ली।

बेसीन की सन्धि और उसका महत्त्व : भागे हुए पेशवा के साथ वेलेजली ने बेसीन में सहायक सन्धि कर ली। इसको बेसीन की सन्धि (1802) कहते हैं। इस सन्धि द्वारा दोनों ने संकट आने पर एक दूसरे की सहायता करने का वचन दिया। पेशवा ने अपने राज्य में एक सहायक सेना रखना स्वीकार कर लिया। अंग्रेजों ने पेशवा की सहायता के लिए छह हजार पैदल सैनिक और तोपखाना आदि देना स्वीकार किया और इस सेना को पेशवा की सीमाओं में ही रखने की व्यवस्था की गई। पेशवा ने इस सहायक सेना के व्यय के लिए छब्बीस लाख वार्षिक आय की भूमि अंग्रेजों को देना स्वीकार किया। यह भी निश्चित किया गया कि इस सेना के उपयोग के लिए जो निश्चित किया गया कि इस सेना के उपयोग के लिए जो भी वस्तुएं आयेंगी उन पर पेशवा कोई कर नहीं लेगा उसमें यह भी वचन दिया कि बिना अंग्रेजों की स्वीकृति के वह किसी यूरोपिय को अपने यहां नौकर नहीं रखेगा और भविष्य में बिना अंग्रेजों की अनुमति के वह किसी राज्य के साथ युद्ध, सन्धि अथवा पत्र–व्यवहार न करेगा। पेशवा ने सूरत पर अपना अधिकार छोड़ दिया और यह वादा किया कि हैदराबाद के निजाम और गुजरात के गायकवाड से अपने मतभेद का निर्णय वह अंग्रेजों से करायेगा।

इस प्रकार अपनी स्वतंत्रता खोकर पेशवा ने अंग्रेज कम्पनी का संरक्षण और सहायता प्राप्त की। 13 मई 1803 को आर्थर बेलेजली के नेतृत्व में अंग्रेजी सेना की सहायता से पेशवा बाजीराव ने पूना में प्रवेश करके अपनी गद्दी प्राप्त की। होल्कर मालवा चला गया।

बेसीन की सन्धि अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना थी चूंकि पेशवा मराठा संघ का प्रधान था अतएव इस सन्धि से सम्पूर्ण मराराष्ट्र की प्रतिष्ठा पर बहुत बड़ा धक्का लगा। अंग्रेजों के संरक्षण में पेशवा के आ जाने का अभिप्राय था मराठों का अंग्रेजी संरक्षण में आ जाना। मराठा जाति से यह उम्मीद की जाती थी कि वह अंग्रेजों की शक्ति का विनाश करने में सबसे आगे रहेगी, लेकिन वह भी अंग्रेजों के सरंक्षण में आ गयी। सिन्धिा इस समय भारत का सबसे बड़ा सरदार था बेसीन की सन्धि को उसके द्वारा स्वीकार किया जाना इस घटना को और भी महत्त्वपूर्ण बना देता है। भारतीय तथा अंग्रेज दोनों इतिहासकारों ने ब्रिटिश साम्राज्य के विस्तार के इतिहास में इस सन्धि को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बतलाया है। राबर्ट्स ने लिखा है कि बेसीन की सन्धि ने कम्पनी को भारत का साम्राज्य दे दिया।" इसी सन्धि के फलस्वरू अंग्रेजों को पश्चिमी भारत में पैर जमाने का मौका मिल गया। डीन हटन ने लिखा है "यह निस्सन्देह एक ऐसा कदम था, जिसने पश्चिमी भारत में अंग्रेजी राज्य के आधार को एकदम बदल दिया। उसने एक ही क्षण में अंग्रेजों की जिम्मेवारियां तिगुनी बढ़ा दी।"

फिर भी यह कहना गलत होगा कि इस सन्धि से दक्षिण पर अंग्रेजों का आधिपत्य हो गया। निस्सन्देह मराठा संघ के प्रमुख पेशवा से सन्धि करके और उससे सहायक सन्धि की शर्तों को स्वीकार कराकर अंग्रेजों के सम्मान और उनकी प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई थी, क्योंकि उस समय मराठे भारत की प्रबलतम शक्ति माने जाते थे, लेकिन भारत में सर्वोच्चता प्राप्त करने के लिए यह सन्धि ही पर्याप्त न थी। इस सन्धि के उपरान्त जो युद्ध हुए उन युद्धों में अंग्रेजों की सफलता ने ही अंग्रेज कम्पनी की स्थिति को सर्वोच्च बनाया। अपनी सत्ता को चिरस्थायी बनाने के लिए अभी अंग्रेजों को बहुत कुछ करना था, पर एक बात निश्चित है कि बेसीन की सन्धि से अंग्रेज मराठा साम्राज्य की असंक्ष्य पेचीदी गड़बड़ियों में फस गये। तत्कालीन बोर्ड ऑफ कन्ट्रोल के अध्यक्ष के सलरे ने कहा भी था कि "यह हमें उलझे हुए और कभी समाप्त न होने वाले मराठों के झगड़ों में फंसा देगी।" स्वयं वलेजली का यह अनुमान था कि मराठों से युद्ध अवश्यम्भावी है और यह सन्धि अंतिम नहीं होगी। उसका अनुमान सही निकला।

द्वितीय मराठा युद्ध : बेसीन की अपमानजनक सन्धि का समाचार सुनकर मराठा सरदार अत्यन्त क्रुद्ध हुए। पांरस्परिक प्रतिद्वन्द्विता रहते हुए भी उनमें आत्म गौरव तथा राष्ट्रीय स्वतंत्रता का भाव जीवित था। उनका कथन था कि पेशवा ने उनके परामर्श के बिना ही मराठों तथा देश की स्वतन्त्रता को अंग्रेजों के हाथ बेच दिया है। अतः इसका प्रतिकार करने के लिए उन्होंने युद्ध की तैयारी कर दी, परन्तु इस आपातकालीन में भी मराठे संगठित नहीं हो सके। सिन्धिया तथा भोंसले तो संगठित हो गए लेकिन होल्कर ने मराठा संघ में शामिल होने से इन्कार कर दिया और गायकवाड ने अपने को इस गुट से बिल्कुल अलग रखा।

उधर वेलेजली भी युद्ध की तैयारी करने में व्यवस्त था। उसने पेशवा को फिर से पूना में स्थापित करने का निश्चय किया। उसने एक सेना आर्थर वेलेजली की अध्यक्षत में पूना पर आक्रमण करने के लिए भेज दी। 13 मार्च 1803 को पेशवा ने अंग्रेजी सेना के साथ पूना में प्रवेश किया। अगस्त के महीने में आर्थर वेलेजली ने अहमदनगर पर अपना अधिकार स्थापित कर लिय। सितम्बर के महीने में सिंधिया तथा भोंसले की संयुक्त सेनाए असायी नामक स्थान पर परास्त हो गयी और नवम्बर के महीने में अंग्रेजी सेना ने भोंसले की सेना को फिर अरगांव नामक स्थान पर परास्त किया। उत्तर में कम्पनी की सेना का संचलान जनरल लेक कर रहा था। इस क्षेत्र में भी जय लक्ष्मी अंग्रेजों को ही प्राप्त हुई और अलीगढ़, दिल्ली तथा आगरा पर उनका

अधिकार स्थापित हो गया। नवम्बर के महीने में लासवाड़ी नामक स्थान पर सिन्धिया फिर परास्त हुआ। भोंसले ने हार से भयभीत होकर अंग्रेजों से देवगांव की सन्धि कर ली। इस सन्धि के अनुसार भोंसले ने कटक का सूबा अंग्रेजों को दे दिया। उसने वार्धा नदी के पश्चिम का सारा प्रदेश भी अंग्रेजों को दे दिया और तय हुआ कि भोंसला के दरबार में एक रेजिडेंट रहेगा और इसके लिए एलफिन्स्टन को उसके दरबार में भेजा गया। भोंसला ने वादा किया कि वह बिना अंग्रेजों की अनुमति के किसी यूरोपिय को अपने यहां आश्रय नहीं देगा।

सुर्जी अर्जुनगांव की सन्धि : इसके बाद 30 दिसम्बर 1803 को सिन्धिया ने सुर्जी अर्जुन गांव नामक स्थान पर अंग्रेजों से सहायक सन्धि कर ली।

इस सन्धि के द्वारा जयपुर, जोधपुर, अहमदनगर, भडोच तथा गंगा एवं यमुना के मध्य के प्रदेश, सिन्धिया ने अंग्रेजों को दे दिया। पेशवा निजाम गायकवाड पर से अपने दावे त्याग दिए। सिन्धिया की राजधानी में भी एक ब्रिटिश रेजिडेंट रख दिया गया। उसने फ्रांसीसियों को अपने देश में बहिष्कृत करने का वचन दिया तथा बेसीन की सन्धि को मान लिया। इसके अतिरिक्त वह एक सहायक सेना रखने को भी प्रस्तुत हो गया।

इस प्रकार द्वितीय मराठा युद्ध ने मराठों के शक्तिशाली नेता सिंधियां को नतमस्तक कर दिया तथा अंग्रजों के भावी साम्राज्य की नींव और भी सुदृढ़ हो गयी। कम्पनी के राज्य की सीमा बहुत बढ़ गयी। महाराष्ट्र से फ्रांसीसियों का प्रभाव समाप्त हो गया और मुगल सम्राट शाहआलम फिर से अंग्रेजों के संरक्षण में आ गया।

तृतीय मराठा युद्ध

मराठा सरदारों में अब केवल होल्कर बच रहा था जो वलेजली के चंगुल से बाहर था। सिन्धिया को पराजित करने के बाद वलेजली ने उसकी ओर देखा और उसे भी संरक्षण में लाने का प्रयास करने लगा। तुरत उसे युद्ध का बहाना मिल गया। होल्कर उन दिनों अंग्रेजों के मित्र राज्य जयपुर में लूट–मार मचा रहा था। इस हालत में जयपुर की सहायता के बहाने वेलेजली ने 1804 में उस पर आक्रमण कर दिया। होल्कर कई युद्धों में परास्त किया गया। अन्त में वह भागकर भरतपुर चला गया। भरतपुर का दुर्ग जाट राजा के अधिकार में था और वहां का दुर्ग मजबूत था। जेनरल लेक ने उस पर चार बार भीषण आक्रमण किया परन्तु उसके सभी प्रयत्न बेकार हुए। इसी बीच कम्पनी के संचालक वेलेजली की अग्रगामी नीति से असन्तुष्ट हो गए और उसे वापस बुला लिया। कर्नल मोन्सन की हार और भरतपुर के घेरे की आरम्भिक असफलता ने कम्पनी के डायरेक्टरों को चिंतित कर दिया था। उन्हें वेलेजली की नीति की सफलता में शंका हो गयी। अतः वेलेजली को तुरत वापस बुला लिया गया और लार्ड कार्नवालिस को पुनः जुलाई 1805 में भारत भेजा गया। कार्नवालिस अहस्तक्षेप की नीति का समर्थक था और वह मराठा सरदारों से सन्तोषजनक समझौता करने के पक्ष में था, परन्तु एकाएक उसकी मृत्यु हो गयी।

मराठे और जार्ज बार्लो : 5 अक्टूबर 1805 को सर जार्ज बार्लो ने गवर्नर जनरल का पद अस्थायी रूप से सम्हाला। वह कार्नवालिस की नीति का समर्थक था। अतएव उसने होल्कर से समझौता कर लिया तथा सिन्धिया और भोंसले से किए गए समझौतों में भी परिवर्तन कर दिया। 22 नवम्बर, 1805 को उसने सिन्धिया से एक नयी संधि करके सुर्जी अर्जुनगाव की सन्धि में संशोधन किया। गोहद की सीमाएँ और ग्वालियर का किला सिन्धिया को वापस मिल गया। यह निश्चित हुआ कि सिन्धिया चम्बल नदी के उत्तर और अंग्रेज चम्बल नदी के दक्षिण की भूमि पर कोई दावा नहीं करेंगे।

7 जनवरी, 1806 को होल्कर के साथ राजपुरघाट की सन्धि की गयी। इसके अनुसार होल्कर ने चम्बल नदी के उत्तर के सम्पूर्ण भू–भाग पर अपना अधिकार छोड़ दिया। उसने एक निश्चित रास्ते से मालवा जाने तथा पूना, बुन्देलखण्ड और अंग्रेजों के मित्र राज्यों की सीमाओं पर कोई अधिकार नहीं करने का वादा किया। उसने यह भी मान लिया कि अंग्रेजों की अनुमति के बिना वह किसी यूरोपीय को अपनी सेवा में नहीं रखेगा। इसके बदले में अंग्रेजों ने चम्बलनदी के दक्षिण की होल्कर की सीमाओं में हस्तक्षेप न करने का वादा किया।

इस प्रकार सर जार्ज बार्लो ने वेलेजली द्वारा अपनायी गयी नीति और उसके द्वारा की गयी सन्धियों में बहुत परिवर्तन कर दिया। पर राजनीतिक दृष्टि से अंग्रेजों के हक में इसका परिणाम अच्छा नहीं निकला। इसके फलस्वरूप मराठा सरदारों को एक बार फिर अपनी शक्ति दृढ़ करने का अवसर मिल गया।

वेलेजली की मराठा नीति का मूल्यांकन : वेलेजली की मराठा नीति के सम्बन्ध में कई विचार व्यक्त किए गए है। इतिहासकार उसकी नीति को बहुत ही सफल मानते हैं। उनका कहना है कि भारत में सर्वोच्च सत्ता की प्राप्ति के लिए मराठों और अंग्रेजों में संघर्ष अनिवार्य था। वेलेजली ने इस स्थिति को समझकर आगे कदम बढ़ाया और मराठा शक्ति को तोड़कर अंग्रेज कम्पनी को भारत की सर्वश्रेष्ठ शक्ति बनाने का प्रयास किया। इसमें उसने काफी हद तक सफलता भी प्राप्त की। मराठा की शक्ति

को उसने अत्यधिक दुर्बल बना दिया और यदि कुछ समय तक उसे पूरी छूट दे दी जाती तो वह निश्चय ही मराठा शक्ति को समाप्त कर देता।

चतुर्थ ऑग्ल-मराठा युद्ध

संघर्ष की पृष्ठभूमि : मराठों के साथ अंग्रेजों का अन्तिम संघर्ष लार्ड हेस्टिंग्स के शासनकाल (1813-23) में हुआ। 1813 में वह गवर्नर–जनरल होकर भारत आया। उस समय कम्पनी की स्थिति तो सुदृढ़ थी लेकिन पूर्ववर्ती गवर्नर–जनरलों द्वारा अहस्तक्षेप की नीति का अनुसरण करने से देशी राज्यों को अंग्रेजों के चंगुल से मुक्त होने के अवसर मिल गए थे। मराठे अपनी खोयी हुई शक्ति फिर प्राप्त करने के प्रयास में लग गए थे। वे अपने पड़ोसी राज्यों में लूट–मार करने लगे थे। हेस्टिंग्स ने आरम्भ से ही अनुभव किया कि अंग्रेजों को एक बार फिर मराठा शक्ति से युद्ध करना पड़ेगा। मराठों की शक्ति में वृद्धि अंग्रेजों के लिए गम्भीर चुनौती हो सकती थी। लार्ड हेस्टिंग्स ने नेपाल में गोरखों और मध्यप्रदेश राजपुताना आदि के पिंडारियों का दमन करने के बाद मराठों के विनाश की ओर ध्यान दिया। पिंडारियों से संघर्ष करते समय भी लार्ड हेस्टिंग्स ने इस बात का पूरा ध्यान रखा कि कहीं उन्हें मराठों की सहायता और संरक्षण न मिल जाये। इस कारण उसने अपनी योजना इस प्रकार बनायी थी कि आवश्यकता पड़ने पर वह मराठों से युद्ध कर सके यद्यपि उसने प्रयत्न यही किया कि उसे पिंडारियों तथा मराठा से एक साथ युद्ध न करना पड़े।

उन्नीसवीं सदी के आरम्भ में मराठों की स्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ था। जार्ज वार्लो और लार्ड मिन्टो के समय में कम्पनी ने अहस्तक्षेप की नीति का अवलम्बन किया था। इस समय यदि मराठे चाहते तो आपस में एकता कायम करके पुनः शक्तिशाली हो सकते थे, लेकिन उनका परस्परिक मनोमालिन्य पूर्ववत बना रहा। वे अभी तक व्यक्तिगत झगड़ों और स्वार्थों में फंसे हुए थे। उनका अपना कोई योग्य नेता भी नहीं था। हेस्टिंग्स को मराठों की इन दुर्बलताओं में बड़ा प्रोत्साहन मिला। इन दिनों मराठा–संघ में पांच प्रमुख सदस्य थे–पेशवा, सिन्धिया, भोंसला, होल्कर और गायकवाड़। इनमें गायकवाड़ पहले से ही अंग्रेजों के प्रभाव में था। हेस्टिंग्स ने कूटनीति का सहारा लेते हुए मराठा संघ की विभिन्न शक्तियों से अलग–अलग निपट लेने की योजना बनायी। यद्यपि मराठा सरदार अंग्रेजों की शक्ति का मुकाबला करने में पूर्णतः अशक्त थे, फिर भी भारत में अंग्रेजी राज की स्थापना उस समय तक सम्भव नहीं थी जब तक मराठा–संघ के सदस्यों को पूरी तरह पराजित करके वश में न कर लिया जाए। लार्ड वेलेजली ने सहायक सन्धियों का जाल बिछाकर मराठों को उसमें फांसने का कार्य भी आरम्भ कर दिया था। किन्तु उसके उत्तराधिकारियों के अहस्तक्षेप की नीति के कारण यह कार्य अधूरा रह गया था। लार्ड हेस्टिंग्स ने भारत आते ही वेलेजली द्वारा किए गए कार्य को पूरा करने तथा पेशवा, भोंसला, सिन्धिया और होल्कर आदि मराठा सरदारों की शक्ति छिन्न–भिन्न करके उनहें कम्पनी के अधीन बनाने का दृढ़ निश्चय कर लिया।

पेशवा के साथ सन्धि : सर्वप्रथम हेस्टिंग्स ने पेशवा की शक्ति का अन्त करने का निश्चय किया। पेशवा अंग्रेजों के व्यवहार से असन्तुष्ट था और अंग्रेजों के चंगुल से निकलने का प्रयास करने लगा था। अतः उसने अंग्रेजों के साथ अपने सम्बंधों को नहीं बिगाड़ते हुए 'अपनी शक्ति को सुदृढ़ करने का प्रयास किया और अपनी सैनिक शक्ति यथेष्ठ मात्रा में बढ़ा ली। अंग्रेज लोग पेशवा की बढ़ती हुई शक्ति को देखकर काफी चिन्तित हुए। उस समय पेशवा के दरबार में एलिफिन्सटन रेजिडेंट था। उसने कोल्हापुर के राजा के साथ एक सन्धि करके उसी पेशवा की अधीनता से मुक्ति दिलाकर बदले में मालवा का दुर्ग प्राप्त कर लिया। एलिफिन्सटन के इस कार्य से पेशवा बड़ा नाराज हुआ। इस समय पेशवा पर त्रिम्बकजी दांगलिया का बड़ा प्रभाव था त्रिम्बकजी की राय में पेशवा ने भोंसले, सिन्धिया तथा होल्कर के पास अपने प्रतिनिधि भेजे और एक गुप्त सन्धि करके सभी को अंग्रेजों के विरुद्ध उठ खड़े होने के लिए आह्वान किया। पेशवा ने अंग्रेजों के मित्र मालवा सरदार गायकवाड़ से अहमदाबाद भू–क्षेत्र की मांग की। इस सम्बन्ध में बातचीत करने के लिए गायकवाड़ का एक राजदूत गंगाधर शास्त्री अंग्रेजों के संरक्षण में पूना गया, जहां धोखे से उसका वध कर दिया गया। अंग्रेज रेजिडेंट एलिफिन्सटन ने इस हत्या के लिए त्रिम्बकजी को दोषी ठहराया और पेशवा से यह मांग की कि त्रिम्बकजी को रेजिडेंट के हवाले कर दिया जाए। पेशवा ने विवश होकर त्रिम्बकजी को रेजिडेंट के हवाले कर दिया जाये। पेशवा ने विवश होकर त्रिम्बकजी को रेजिडेंट के हवाले कर दिया। अंग्रेजों ने उसे थाना के किले में कैद लिया, परन्तु एक वर्ष पश्चात् त्रिम्बकजी किसी तरह कैद से भाग निकला।

एलिफिन्सटन ने त्रिम्बकजी के भाग जाने का सम्पूर्ण दोष पेशवा पर लगाया और लार्ड हेस्टिंग्स के आदेशानुसार पेशवा की शक्ति को बुरी तरह सीमित करने के उद्देश्य से पेशवा पर एक नवीन सन्धि करने के लिए दबाव डालना आरम्भ किया। एलिफिन्सटन ने इस सन्धि को स्वीकार करने के लिए इसी सहायक सेना की टुकड़ियों का पेशवा के विरूद्ध प्रदर्शन आरम्भ कर दिया जिनके व्यय का भार पेशवा सहन कर रहा था। पेशवा को विवश होकर 13 जून, 1817 को एक सन्धि–पत्र पर हस्ताक्षर करने पड़े।

इस सन्धि के अनुसार पेशवा को मराठा–संघ का अध्यक्ष–पद त्यागना पड़ा। सहायक सेना के व्यय के लिए चौंतीस लाख रुपये वार्षिक आय के प्रदेश अंग्रेजों को देने पड़े, जितनी भी सहायक सेना अंग्रेज सरकार उसके यहां रखना उचित समझे

उतनी अंग्रेजी सेना अपने यहां रखने की स्वीकृति देनी पड़ी तथा यह भी स्वीकार करना पडा कि भविष्य में वह विदेशी शक्तियों के साथ कोई भी पत्र–व्यवहार न करेगा और यदि करेगा भी तो रेजिडेंट के मार्फत ही करेगा। इसके अतिरिक्त पेशवा को अपने वे सभी अधिकार जो उसे मालवा, बुन्दलेखण्ड और उत्तर भारत में प्राप्त थे कम्पनी को हस्तान्तरित करने पड़े तथा नर्मदा नदी के उत्तर स्थित अपने राज्य के सभी भू–भाग एवं अहमदनगर का दुर्ग भी अंग्रेजों को देने पड़े। उसे त्रिम्बकजी को बन्दी बनाकर अंग्रेजों को सौंप देने का वचन भी देना पड़ा। यह भी निश्चित हुआ कि जिस समय तक त्रिम्बकजी अंग्रेजों को सौंप दिया जाए उस समय तक त्रिम्बकजी के परिवार को अंग्रेजों के पास बन्धक के रूप में रखा जाए

तत्पश्चात् 6 नवम्बर, 1817 को अंग्रेजों ने गायकवाड़ में भी एक सन्धि की जिसके अनुसार उसने अपनी सन्धि की शर्तों को दी, अंग्रेजों द्वारा उसकी रक्षा के लिए रखी गयी सहायक सेना में एक हजार पैदल और दो रेजिमेंट घुड़सवारों की संख्या बढ़ा दी तथा इस बढ़ी हुई सहायक सेना के व्यय के लिए अपने कुछ जिले अंग्रेजों को सौंप दिये इस सन्धि से अंग्रेजों ने गायकवाड़ को अपने पर और भी अधिक निर्भर बना लिया।

भोंसला के साथ सन्धि : नागपुर के भोंसला राज्य में भी अंग्रेजों को शीघ्र हस्तक्षेप करने का अवसर मिल गया 2 मार्च 1816 को भोंसला राजा रघुजी की मृत्यु हो गयी। उसका लड़का पारसोजी शरीर और बुद्धि से भी बेकार था। उसके बाद गद्दी का मालिक उसका चचेरा भाई अप्पा साहब था। पारसोजी की माँ बुकाबई ने यह प्रयत्न किया कि अप्पा साहब पारसोजी के संरक्षण के रूप में भी न रहे क्योंकि उसे भय था कि कही अप्पा साहब स्वयं गद्दी पर अधिकार न कर ले। बाद में एक समझौता के अनुसार एक संरक्षण–परिषद बनी जिसमें अप्पा साहब को भी सम्मिलित किया गया भोंसले–दरबार के इस आन्तरिक मतभेद का अंग्रेजों ने फायदा उठाया और अपने रेजिडेंट जेन्किन्स के द्वारा अप्पा साहब से एक सहायक सन्धि करने में सफलता प्राप्त की जिसे नागपुर की सन्धि कहते हैं। इस सन्धि ने मराठा संघ को गहरा आघात पहुंचाया और इसके संयुक्त मोर्चे की आशा चूर–चूर हो गयी। इस सन्धि के फलस्वरूप भोंसला वंश की स्वतन्त्रता लगभग समाप्त हो गयी।

सिन्धिया के साथ सम्बन्ध : सिन्धिया ने अंग्रेजों के विरुद्ध कोई विद्रोह नहीं किया, किन्तु लार्ड हेस्टिंग्स को उसकी ओर से इस बात की भारी आशंका थी कि पिंडारियों का दमन करते समय तथा पेशवा के साथ संघर्ष होने पर वह पिंडारियों तथा पेशवा के साथ संघर्ष होने पर वह पिंडारियों तथा पेशवा के साथ सहानुभूति प्रकट करने के लिए अंग्रेजों के विरुद्ध युद्ध आरम्भ कर देगा। अतः इस सम्भावना को टालने के लिए 1817 में लार्ड हेस्टिंग्स ने पिंडारियों के विरुद्ध अभियान आरम्भ करने से पूर्व सिन्धिया पर एक नवीन सन्धि स्वीकार करने के लिए दबाव डाला। उसने सिन्धिया पर पिण्डारियों को आश्रय देने का दोषारोपण करते हुए उससे पिण्डारियों के विरूद्ध सहायता प्रदान करने तथा असीरगढ़ और सिन्धिया के दुर्ग कम्पनी को हस्तांतरित करने की मांग की। उसने सिन्धिया को इस बात से भी अवगत किया कि कम्पनी अपनी 1805 की सन्धि को रद्द करके राजस्थान और मालवा के सभी राज्यों को अपने संरक्षण में ले रही है। इन सभी बातों को एक नवीन सन्धि द्वारा स्वीकार करने के लिए लॉर्ड हेस्टिंग्स सिन्धिया को एक क्षण का भी सोच–विचार करने के लिए अवकाश दिए बिना तुरन्त एक विशाल सेना लेकर उसकी राजधानी ग्वालियर के समीप जा पहुंचा। सिन्धिया से इस अचानक बदलती हुई स्थिति में कुछ भी करते–धरते न बन पड़ा और विवश होकर उसे 5 नवम्बर 1817 को एक नया सन्धि–पत्र पर हस्ताक्षर करने पड़े यह सन्धि ग्वालियर की सन्धि के नाम से प्रसिद्ध है।

इस सन्धि के अनुसार सिन्धिया को पिंडारियों के विरुद्ध अंग्रेजों को सहायता देने तथा पिंडारियों को अपने राज्य सीमा के भीतर प्रविष्ट ने होने देने का वचन देना पड़ा। उसे राजपूत राज्यों पर से अपने सभी अधिकारों को त्यागना पड़ा और इन राज्यों के मामलों में बिना अंग्रेज सरकार की अनुमति प्राप्त किए कभी भी हस्तक्षेप न करने की शर्त माननी पड़ी।

इस प्रकार चतुर्थ मराठा युद्ध के विस्फोट से पूर्व ही अंग्रेजों ने कूटनीति और दबाव से अपनी शक्ति को मजबूत कर लिया था। पूना की सन्धि ने न केवल पेशवा को अपमानित ही किया था। वरन उसे काफी कमजोर भी बना दिया था। गायकवाड़ को भी दुर्बल बना दिया गया। ताकि युद्ध के समय वह अन्य मराठा सरदारों की कोई सहायता न कर सके। नागपुर की सन्धि द्वारा भोंसले दरबार की स्वतंत्रता छीन ली गयी थी और ग्वालियर की सन्धि द्वारा सिन्धिया से उसके राजपूत राज्यों से सम्बन्धित अधिकार ही छिन गए बल्कि उसने पिंडारियों के विरुद्ध अंग्रेजों की सहायता करने का वादा भी करना पड़ा था। इस तरह आधा युद्ध तो अंग्रेज चतुर्थ मराठा युद्ध आरम्भ होने से पहले ही जीत चुक थे।

मराठों की चौथी लड़ाई

निष्कर्ष : चतुर्थ आंग्ला–मराठा युद्ध पेशवा बाजीराव के विद्रोह से आरम्भ हुआ। सभी मराठा सरदार अपमान का घूंट पी रहे थे। जो सन्धियाँ उन्होंने की थी वह मजबूरी में की थी और वे सभी उनसे छुटकारा पाना चाहते थे जिस तरह से अवसर

1817) सिन्धिया को ग्वालियर की सन्धि पर हस्ताक्षर करने थे उसी दिन पेशवा ने पूना के अंग्रेज रेजिडेंसी पर धावा बोलकर उसमें आग लगवाकर जलवा दी। एलिफिन्सटन किसी प्रकार जान बचाकर भाग खड़ा हुआ। उसने पूना से चार मील के अन्तर पर किर्की स्थित अंग्रेजी सेना की छावनी में शरण ली। पेशवा की सेना ने फिर्की पर धावा बोल दिया। भीषण मारकाट के उपरान्त पलड़ा अंग्रेजों का ही भारी रहा। पेशवा अपनी सेना सहित दक्षिण की ओर चल दिया। जनरल स्मित ने 17 नवम्बर को पूना पर अधिकार कर लिया और पेशवा का पीछा करने के लिए दक्षिण की ओर द्रुतगति से अग्रसर हुआ। । जनवरी 1818 में कोरीगांव के युद्धक्षेत्र में अंग्रेजी सेना और पेशवा की सेना में भीषण युद्ध हुआ। वहां भी विजय अंग्रेजों की ही रही। इसके पश्चात् फरवरी में आष्टी में अंग्रेजी सेना का पेशवा की सेना के साथ अन्तिम युद्ध हुआ। इस युद्ध में पेशवा का सुयोग्य सेनापति बापू गोखले भी काम आया और पेशवा को बुरी तरह परास्त होकर पीछे हट जाना पड़ा। अपने सुयोग्य सेनापति के निधन से पेशवा को इतना गहरा आघात पहुंचा और इतनी गहरी निराशा हुई कि उसने जून के महीने में सर जॉन मालकम के समक्ष आत्मसमर्पण कर दिया।

पेशवा के राज्य को अंग्रेजी राज्य में मिला लिया गया। मराठा संघ की एकता के प्रतीक पेशवा के पद को समापत कर दिया गया और बाजीराव द्वितीय को आठ लाख रुपये वार्षिक पेंशन देकर कानपुर के समीप बिठूर में रहने के लिए भेज दिया गया। पेशवा ने अपने अन्तिम दिन बिठूर में ही शान्तिपूर्वक व्यतीत किए और 1853 में वहीं उसकी मृत्यु हो गयी। शिवाजी के वंशज प्रतापसिंह को सतारा का छोटा–सा राज्य दिया गया। पेशवा के मंत्री त्रिम्बकजी को आजन्म कैद की सजा देकर चुनार के किले में रख दिया गया। इस प्रकार हैस्टिंग्स ने पेशवा की शक्ति को ध्वस्त करके मराठा–संघ को भंग करने में सफलता प्राप्त की।

मई 1816 में अप्पा साहब ने अंग्रेजों की सहायक सन्धि स्वीकार कर ली थी। इसके कुछ ही दिनों के बाद अप्पा साहब ने उपयुक्त अवसर प्राप्त करके पारसोजी का वध कर दिया और स्वयं राजसिंहासन पर बैठ गया। राजा बनते ही अप्पा साहब को अनुभव होने लगा कि अंग्रेजों के साथ सहायक सन्धि करके उसने उचित कार्य नहीं किया था। अतः उसने अंग्रेजों के विरूद्ध पेशवा और पिंडारियों के नेताओं के साथ वार्तालाप आरम्भ कर दिया। उसने गुप्त रूप से पेशवा को अंग्रेजों के विरूद्ध सहायता देने का आश्वासन प्रदान किया। इसके उपरान्त जब पेशवा ने पूना की अंग्रेज रेजिडेंसी में आग लगाकर अंग्रेजों के विरूद्ध युद्ध आरम्भ किया तो अप्पा साहब ने भी अंग्रेजों के साथ युद्ध छेड़ दिया। सीताबल्दी के युद्ध में अप्पा साहब को भीषण पराजय का मुंह देखना पड़ा। उसके कुद समय पश्चात् नागपुर में फिर अप्पा साहब की सेना का अंग्रेजी सेना के साथ भीषण युद्ध हुआ। इस बार भी विजयश्री अंग्रेजों के हाथ रही और अप्पा साहब निराश होकर भाग खड़ा हुआ। बहुत दिनों तक इधर–उधर सिंह के यहां आश्रय प्राप्त हुआ और वहीं 1840 में उसकी मृत्यु हो गयी। लार्ड हेस्टिंग्स ने भोंसला के विशाल राज्य का नर्मदा नदी के उत्तर का सम्पूर्ण प्रदेश अंग्रेजी राज्य में मिला लिया और एक अंग्रेज रेजिडेंट भी उसे राज्य में रख दिया। इस प्रकार लार्ड हेस्टिंग्स ने मराठा मंडल के एक शक्तिशाली सदस्य भोंसला को शक्तिहीन बनाकर अंग्रेजों के अधीन करने में सफलता प्राप्त की।

होल्कर के साथ संघर्ष : होल्कर के साथ अंग्रेजों के युद्ध की शुरूआत भी एक अजीब परिस्थिति में हुई। 1811 में यशवन्त राव होल्कर की मृत्यु हो गयी। वह अपने मरने से पहले मल्हारराव नामक एक छोटे लड़के को गोद ले चुका था। वहां अब इस बात का झगड़ा शुरू हुआ कि मल्हारराव का संरक्षक बनकर शासन को कौन संचालित करके। इसमें यशवन्तराव की विधवा रानी तुलसी बाई को सफलता मिली, परन्तु शीघ्र ही उसके विरूद्ध विद्रोह होने लगे। तुलसी बाई मल्हारराव को रक्षा के लिए लार्ड हेस्टिंग्स के साथ एक सन्धि कर ली। अन्य नेताओं ने तुलसीबाई की इस कारवाई को अत्यन्त अपपानजनक माना। इसी समय अंग्रेजों ने अमीर खां के साथ सन्धि करके उसे टोंक का नवाब बना दिया। इस प्रकार उन्हें अमीर खां को होल्कर के पक्ष में तोड़ने में सफलता प्राप्त हो गयी।

अंग्रेजों की इन चालों ने होल्कर राज्य के सैनिक अफसरों की कौंसिल को अंग्रेज विरोधी बना दिया। जैसे ही उन्होंने नवम्बर 1817 में पेशवा बाजीराव द्वितीय द्वारा अंग्रेजों के विरूद्ध युद्ध आरम्भ करने का समाचार सुना, उन्होंने अपनी सेनाएं एकत्रित करके पेशवा के सहायतार्थ दक्षिण की ओर कूच कर दिया। परन्तु उनका मार्ग रोके हुए सर थॉमस हिसलप और सर जॉन माल्कम की अंग्रेजी सेनाएं सुदृढ़ दीवार की भांति खड़ी हुई थी। माल्कम ने होल्कर की सैनिक कौंसिल से समझौता करना चाहा जिसका तुलसीबाई ने समर्थन किया। सैनिक कौसिंल ने क्रोधावेश में आकर तुलसीबाई की हत्या कर डाली। फलतः समझौते की सभी आशाए धूल में मिल गयी और संघर्ष अनिवार्य हो उठा। 21 दिसम्बर 1817 के दिन महीदपुर के मैदान में होल्कर की सेना का कम्पनी की सेना के साथ भीषण युद्ध हुआ। युद्ध में होल्कर की सेना पराजित हुई जिसके पश्चात् युद्ध बन्द हो गया और सन्धि का वार्तालाप आरम्भ हुआ।

अंग्रेजों के मैसूर राज्य के साथ सम्बन्ध

जनवरी 1818 में मन्दरसौर में कम्पनी और होल्कर के बीच सन्धि सम्पनन हुई। इस सन्धि के अनुसार होल्कर ने सहायक सन्धि स्वीकार करके अपनी राजधानी में सहायक सेना तथा अंग्रेज रेजिडेंट रखने की अनुमति प्रदान की। उसे अमीर खां और गफूर खां के राज्यों तथा बूंदी की पहाड़ियों और उनके उत्तर के सभी प्रदेशों पर से अपना अधिकार त्यागना पड़ा तथा राजपूत रियासतों से कर प्राप्त करने का अधिकार कम्पनी को हस्तांतरित करना पड़ा। उसे किसी विदेशी शक्ति के साथ सीधा सम्पर्क न रखने का भी वचन देना पड़ा। इस प्रकार लार्ड हेस्टिंग्स ने होल्कर को भी कम्पनी के अधीन बनाने में सफलता प्राप्त की।

चतुर्थ मराठा युद्ध के परिणाम : इस प्रकार एक–एक करके सभी मराठा सरदारों को परास्त कर दिया गया। सभी के राज्य सीमित कर दिए गये और सभी को पूर्णतः शक्तिहीन बना दिया गया। पेशवा, भोंसले और होलकर युद्ध में हारकर अंग्रेजों के हाथ की कठपुतली बन गए। सिन्धिया और गायकवाड़ ने युद्ध में भाग लेने का साहस ही नहीं किया। पेशवा का पद समाप्त हो गया। मराठा–संघ समाप्त हो गया। इसके साथ ही भारत में अंग्रेजों की शक्ति का मुकाबला करने वाली अन्तिम शक्ति का भी नाश हो गया। नाममात्र के लिए मराठा राज्य और स्वयं अंग्रेजों ने शिवाजी के एक वंशज प्रताप सिंह को सतारा का राजा बनाया परन्तु अब इनमें से किसी में यह साहस न था कि वह आगे अंग्रेज सत्ता का विरोध कर सकता। ग्रीवज के कथनानुसार "अंग्रेजी प्रभाव और सत्ता जादू की तरह भारत में फैल गयी।" इस प्रकार मराठों का भारत की राजनीतिक सत्ता के लिए पहले मुगलों से और बाद में अंग्रेजों से किया गया संघर्ष समाप्त हो गया। जॉन क्लार्क मार्शमैन ने ठीक ही कहा है "इन युद्धों ने भारत के देशी शासकों की सेनाओं को ही नष्ट नहीं किया वरन् देशी मनोवृत्ति को बुरी तरह दबाकर भारत की जनता और देशी शासकों को भली–भांति विदित करा दिया कि भारत की सार्वभौम प्रभुसत्ता एक विदेशी शक्ति अर्थात् अंग्रेजी को प्राप्त हो चुकी है।

मराठों की पराजय के कारण
(Causes for the Deafeat of Marathas)

यद्यपि मराठे मुगलों से अधिक शक्तिशाली थे परन्तु ये अंग्रेजों से सैनिक व्यवस्था, नेतृत्व, कूटनीति तथा साधनों में बहुत पीछे थे। वास्तव में मध्ययुगीन सभ्यता के पूर्वी लोग पुनर्जागरण (Renaissance), विज्ञान तथा आधुनिक अस्त्रों से लैस अंग्रेजों के सन्मुख नहीं ठहर पाए। इनकी पराजय के मुख्य कारण निम्न थे :

1. **अयोग्य नेतृत्व :** मराठों की निरंकुश राज्य व्यवस्था में नेता की भूमिका मुख्य होती थी। निश्चित संविधान के अभाव के कारण स्वार्थी शासक प्रायः उत्पीड़क बन जाते थे। पेशवा बाजीराव द्वितीय तथा दौलतराव होल्कर ने अपने दुष्कर्मों के कारण महान मराठा साम्राज्य को मिट्टी में मिला दिया। बाजीराव द्वितीय को लोग हत्यारा समझते थे तथा उसने अपने निजी स्वार्थ के कारण बसीन की सन्धि से मराठों की स्वतंत्रता गिरवी रख दी। दौलतराव सिन्धिया महादजी सिंधिया का अयोग्य उत्तराधिकारी था। वह आलसी तथा विलासी था। एक बार ब्राउटन ने उसके विषय में लिखा था कि "यह नहीं कि उसकी जनहित कार्यों में प्रवृत्ति नहीं, वरन यह कि वह देर तक इसमें लगा नहीं रहता। एक शेर, एक सुन्दर मुखड़ा – इत्यादि कुछ भी उस के ध्यान को आकर्षित करने के लिए पर्याप्त है।" सर देसाई इन दोनों नेताओं के विषय में लिखते हैं। "इन दोनों नेताओं के दुष्कृत्यों से पूना दरबार और समाज का इतना नैतिक पतन हुआ कि किसी की भी जान, माल अथवा मान सुरक्षित नहीं था। देश के दूर भागों में रहने वाले लोग भी कुशासन, उत्पीड़न तथा लूट आदि से दुःखी थे। दक्षिणी प्रदेश के सरदारऔर जागीरदार तो दुःखी होकर अंग्रेजों की शरण में चले गए।" सम्भवत राय होल्कर इनमें सबसे बुद्धिमान व्यक्ति था परन्तु उसका असंतुलन उन्माद की सीमा तक पहुंच जाता था।

   संक्षेप में यह कह सकते हैं कि उत्तम नेतृत्व का पूर्णतया अभाव था। अच्छे नेता तो 18वीं शताब्दी के अन्त तक ही समाप्त हो गए थे। महादजी सिन्धिया, हरिपन्त फड़के, अहिल्याबाई होल्कर, पेशवा माधव राव, तुकोजी होल्कर तथा नाना फड़नवीस सभी 1790 और 1800 के बीच इस संसार से चल बसे। दूसरी ओर कम्पनी को बहुत उत्तम प्रकार के नेता, एल्फिन्स्टन, जॉन मेल्कम, कर्नल कॉलिन्स, जॉनेथन डंकन, आर्थर वैल्जली (जिसने कालान्तर में नेपालियन को परास्त किया), लार्ड लेक तथा रिचर्ड वैल्जली के रूप में मिले।

2. **मराठा राज्य के स्वाभाविक दोष :** सर जादूनाथ सरकार के अनुसार मराठा राज्य में कुछ स्वभाविक दोष थे। उन्होंने किसी समय भी कोई सामुदायिक विका, विद्या प्रसार, अथवा जनता के एकीकरण के लिए कोई प्रयत्न नहीं किया। मराठों के राज्य के लोगों की एकता कृत्रिम तथा आकस्मिक थी। अतएव अनिश्चित धर्मिक राष्ट्र की भावना जिसने मुगल साम्राज्य के विघटन में विशेष भूमिका निभाई वह मराठा साम्राज्य के प्रसार में सामप्त हो गई थी। ये स्वाभिवक दोष यूरपीय लोगों से टकराने में विशेषरूप से सम्मुख आए।

3. **एक स्थिर आर्थिक नीति का अभाव :** मराठों की आर्थिक नीति स्थिर राजनैतिक अवस्था में सहायक नहीं थी। औरंगजेब के विरुद्ध युद्ध काल में कृषक उजड़ गए थे। वे कृषि छोड़ सैनिक बन गए थे। मुगलों के मराठा प्रदेश से चले जाने पर भी वे उसी लूटमार पर निर्भर थे। पेशवा के अधीन इन सैनिकों ने भरण–पोषण के लिए चौथ सरदेशमुखी प्राप्त की। अतः मराठा साम्राज्य महाराष्ट्र के साधनों पर नहीं अपितु बलपूर्वक एकत्रित की गई धनराशि पर निर्भर था। मराठा साम्राजय के उत्कृष्ट सीमा पर पहुंचने पर वे साधन या तो कम हो गए था समाप्त हो गए। उत्तरकालीन युद्धों के कारण देश की अर्थव्यवस्था और भी बिगड़ गई। वैल्जली ने एक बार लिखा कि "उन्होंने पूना के 150 मील के अन्दर अन्दर घास का एक त्रण भी नहीं छोड़ा, अन्न और घास सभी समाप्त कर दिया है। कोई मकान खड़ा नहीं। उनकी लकड़ी ईधन के रूप में जला डाली है। लोग पशुओं सहित देश छोड़कर चले गए हैं।" 1804 में दक्कन में एक भीषण आकल पड़ा जिससे अनन्त जान और माल की हानि हुई मराठा सरदारों को कर देने के लिए अपना बहुत–सा प्रदेश गिरवी रखना पड़ा। उद्योग तथा विदेशी व्यापार के अभाव से केवल सैनिक सेवा ही "राष्ट्रीय उद्योग बन गया जिससे देश की आर्थिक स्थिति पर विपरीत प्रभाव पड़ा।

4. **मराठा राजनैतिक व्यवस्था की दुर्बलताएँ :** अपने पराकाष्ठा काल में भी मराठा साम्राज्य एक ढीला सा संघ (a loose confederation) था जिसका नेता छत्रपति अथवा पेशवा था। पेशवा ने जब छत्रपति की शक्तियाँ संभाल ली तो अधीनस्थ सरदारों ने पेशवा की। गायकवाड़, होल्कर, सिन्धिया तथा भोंसले जैसे शक्तिशाली सरदारों ने अर्धस्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिए और पेशवा के प्रति राजशक्ति केवल मौखिक ही रह गई। पानीपत के तीसरे युद्ध के पश्चात् ये सामन्तशाही इकाइयां छिन्न–भिन्न हो गई तथा पारस्परिक झगड़ों के कारण और भी निःशक्त। मैलेट जैसे लेखक तो उस समय की राज्य प्रणाली को राज्य प्रणाली ही नहीं मानते। होल्कर, सिन्धिया नागपुर के भोंसले सभी एक–दूसरे के वैरी थे। कई बार तो ये एक–दूसरे के विरूद्ध युद्ध करते थे। जयपुर की गद्दी के लिए माधोसिंह तथा ईश्वरसिंह के बीच हुए गृहयुद्ध (1743-50) में होल्कर तथा सिन्धिया विरोधी धड़ों की ओर से लड़े। आपसी ईर्ष्या तथा द्वेष के कारण, कम्पनी के विरूद्ध इन लोगों ने मिलकर युद्ध नहीं किया। 1803 में जब सिन्धिया तथा भोंसले कम्पनी के विरूद्ध लड़े तो होल्कर अलग रहा और 1804 में ही होल्कर की बारी आ गयी। इस प्रकार मराठों में पारस्परिक सहयोग की भावना नहीं थी।

5. **मराठों की घटिया सैनिक प्रणाली :** यद्यपि व्यक्तिगत वीरता में मराठे कम नहीं थे परन्तु ये लोग अंग्रेजी सैनिक संगठन, अस्त्र–शस्त्र, अनुशासन तथा नेतृत्व में बहुत पीछे थे। अनेक युद्धों में विश्वासघात ने ही बहुत हानि की। फोर्टेस्क्यू अपने अंग्रेजी सेना के इतिहास में लिखता है कि असाई के युद्ध में पोहलम के तोपखाने ने अपने स्वामी को धोखा दिया, दूसरे मुख्य सेनापति फ्रांसीसी कमाण्डर मस्यु पैरों का मुख्य उद्देश्य भारत से धन ले जाना था। उसने दूसरे मराठा युद्ध की पूर्व संध्या पर त्यागपत्र दे दिया। उसका उत्तराधिकारी मस्यु लुई बूरक्विन पहले कलकत्ते में बावर्ची होता था। मराठों के ये लालची विदेशी सैनिक बहुत अच्छे सिद्ध नहीं हुए।

आर्थर वैल्जली का कथन है, और इसे सर अल्फ्रेड लायल ने अपनी पुस्तक Rise and Expansion of British power in India में और भी समर्थित किया है कि मराठों का गुरीला (guerilla) युद्ध प्रणाली को त्यागना एक महान भूल थी। होल्कर ने मॉनसन को इसी प्रणाली से हराया। इसी प्रकार यह भी कहा जाता है कि उन्होंने पदाति तथा तोपखाने पर अधिक बल देकर घुड़सवार सेना की अवहेलना की जिससे गतिशीलता पर प्रभाव पड़ा।

परन्तु वस्तुतः उन्होंने युद्ध की वैज्ञानिक तथा आधुनिक प्रणाली नहीं अपनाई। तोपखाना उत्तम तथा अचूक नहीं बनाया। महादजी सिन्धिया ने सेना का गठन यूरोपीय ढंग से किया। तोपों का बारूद के कारखाने लगाए गए परन्तु ये सब विदेशियों के हाथ में थे जो समय आने पर धोखा दे जाते थे। पूना सरकार ने भी तोपखाना विभाग स्थापित किया परन्तु इसने भी ठीक कार्य नहीं किया। वास्तव में तोपों का बहुत महत्व था। मराठों के वे दुर्ग जो मुगल नहीं जीत सके अंग्रेजों के हाथों सदैव विजित हुए। वास्तव में पदाति, घुड़सवार और तोपखाने का ठीक–ठीक मात्रा में विकास करना चाहिए था।

6. **अंग्रेजों की उत्तम कूटनीति :** कूटनीति में अंग्रेज बहुत आगे थे। युद्ध आरम्भ करने से पूर्व कम्पनी प्रायः भिन्न–भिन्न मित्र बना कर शत्रु को अकेला कर देती थी। द्वितीय मराठा युद्ध में गायकवाड़ तथा दक्षिणी मराठा जागीरदारों को उन्होंने अपनी ओर मिला लिया था। पेशवा बसीन की सन्धि से पूर्व ही उनकी ओर था। इस कूटनीति से उन्हें सिन्धिया को विजय करना सुगम हो गया। इसी प्रकार दक्षिणी मराठा जागीरदारों ने श्री रंगापट्टम् के दुर्ग के विरूद्ध अंग्रेजी अभियान में बहुत सहायता की।

7. **अधिक उत्तम अंग्रेजी गुप्तचर व्यवस्था :** मराठे सैनिक गुप्तचर व्यवस्था की ओर से पूर्णतया अपरिचित थे। मराठा इतिहासकार श्री सरदेसाई ने इस बात का संकेत दिया है कि अंग्रेज अधिकारी भारत में भ्रमण करते समय सैनिक तथा असैनिक जानकारी एकत्रित करते रहते थे और सरकार उस जानकारी से पूर्ण लाभ उठाती रही दुबारा कर दिया करते रहते

थे और सरकार उस जानकारी से पूर्ण लाभ उठाती रही। अनेक अंग्रेज मराठी भाषा समझ और बोल सकते थे। दूसरी ओर मराठे इस क्षेत्र से पूर्णतया अनभिज्ञ थे।

जब मराठा युद्ध हुए तो कम्पनी के पास इन विस्तृत विवरणों के अतिरिक्त मराठों के पारस्परिक मतभेदों के विषय में भी ज्ञान होता था। मैलेट ने सूरत में रहते समय सिन्धिया तथा होल्कर परिवारों के विषय में पूरी जानकारी कम्पनी को भेजी।

8. **अंग्रेजों का प्रगतिशील दृष्टिकोण :** यूरोपीय लोग उस समय तक धर्म तथा देवी बन्धनों से बाहर आ चुके थे तथा अपनी शक्ति का प्रयोग वैज्ञानिक आविष्कारों दूर समुद्री यात्राओं तथा उपनिवेश प्राप्त करने में लगा रहे थे। हम भारतीय लोग मध्ययुगीन तथा प्राचीन विचारों तथा परम्पराओं में जकड़े हुए थे। कर्मकाण्ड तथा भक्ति का बोलबाला था। बाजीराव द्वितीय ब्राह्मनों को भिन्न पदों पर नियुक्तिया देकर पुण्य कमाना चाहता था। जादूनाथ सरकार ने ब्राह्मण–मराठ मतभेद को राज्य शक्ति के ह्रास के लिए उतरदायी ठहराया है। ज.डब्ल्यू. फोरेस्ट ने अपनी पुस्तक Maratha Series में भी इस तथ्य का उल्लेख किया है।

हम यह भी कह सकते हैं कि जिस समय अंग्रेजों और मराठों की टक्कर हुई तो मराठे अपनी शक्ति की चरम सीमा से नीचे आ चुके थे। वह उत्तेजना तथा प्रवाह समाप्त हो चुका था।

इतिहासकारों एवं लेखकों के विचार

एस.एन. सेन (S.N. Sen) : मराठा सैनिक शक्ति का ह्रास तथा पतन का प्रथम कारण सम्भाजी की मृत्यु के पश्चात् सामन्तवाद का उत्थान था जिससे देश में फूट तथा मतभेद बढ़े, जिनसे शिवाजी ने अपने लोगों को बचाने का प्रयत्न किया था। दूसरा शिवाजी के धर्म पर आधारित जातीय सौहार्द के आदर्श को छोड़कर आत्म उन्नति (Personal aggrandisement) में रत होना था, जिससे मराठा सेना का अराष्ट्रीयकरण हो गया। तीसरा तथा अन्तिम कारण मराठा नेताओं का शेष ससार में हुई वैज्ञानिक उन्नति के क्षेत्र में अनभिज्ञता थी। न ही इन लोगों ने उस ज्ञान को प्राप्त करने और प्रयोग करने अथवा बढाने का प्रयत्न किया। यूरोप में सामन्तवाद से शनैः शनैः, राष्ट्रीय राजतन्त्र की ओर तथा राष्ट्रीय राजतन्त्र से लोकतन्त्र की ओर उन्नति हुई और महाराष्ट्र में यह प्रक्रिया पेशवाओं द्वारा पलट दी गई और फलस्वरूप मराठा साम्राज्य का ह्रास तथा पतन होकर वह पूर्णतया समाप्त हो गया। (In Europe there was steady progress from feudalism to national monarchy and from national monarchy to democrcy; in Maharashtra the process was reversed by the Peshwas and the result was decline, decay and fall of the Maratha Empire)

वी. वी. एस खरे (V.V.S. Khare) : मराठों में राष्ट्रभावना का अभाव था। उनकी आन्तरिक ईर्ष्या तथा विश्वासघात ने लोकहित पर विजया पाई। निजी रूप से मराठे एक कुशल तथा वीर सैनिक थे परन्तु उनमें सामूहिक प्रवृत्ति का अभाव था जो राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिए अत्यन्त आवश्यक है। (The Marathas did not possess any national sentiment. The internal jealousey and selfish treachery among them triumphed over over the public interest. While individually the Marathas were clever and brave, they lacked the corporate spirit so essential, for national independence) । उनमें वैज्ञानिक अन्वेषण की भावना लशमात्र भी नहीं थी। उन्होंने तोपखाने का मुख्य रक्षा के लिए अस्त्र के रूप में, विकास नहीं किया। सैनिक सेवा के बदल भूमि देने के रूप में विकास नहीं किया। सैनिक सेवा के बदले भूमि देने की व्यवस्था ने भी सर्वनाश किया। माधवराज की मृत्यु के पश्चात महाराष्ट्र में कोई योग्य नेता नहीं हुआ। जाति के रूप में मराठों में अनुशासन तथा व्यवस्थित पूर्ण- प्रबन्ध नाम के लिए नहीं थे। अंग्रेज कूटनीति में निपुण थे तथा मराठे उनके सामने नहीं ठहर सके।

सर टॉमस मनरो (Sir Thomas Munro) : ने 12-8-1817 को लिखा, जब मैं स्थानीय राज्यों की दुर्बलता तथा उनके प्रबन्ध पर विचार करता हूँ तो मुझे उनमें दूर तक प्रतिरोध करने की शक्ति नहीं दीखती। उनमें हमारी सेना को परास्त करने अथवा छुटपुट आक्रमणों द्वारा युद्ध को लम्बा करने की शक्ति नहीं है। संभव है कि वे कुछ दिनों तक हमारे आगे-आगे भागते रहें परन्तु उन्हें विश्राम करने अथवा लूटने का अवसर नहीं मिलेगा। यह नहीं कि उनके पास साधन, घोड़े अथवा सैनिक नहीं परन्तु उनमें सूझबूझ वाले तथा विजय दिलाने वाले नेता का अभाव है। स्थानीय सरकारों में पद्धति और अनुशासन का अभाव है। अतएव उन्हें पूर्ण लाभ उठाने के लिए अधिक नियमानुसार कार्य करने वाली यूरोपीय सरकारों की अपेक्षा अधिक स्वतन्त्रता चाहिए। दौलतराव सिन्धिया अपनी शक्ति की चरम सीमा पर भी भयावह नहीं था। उस निःशक्त व्यक्ति के हाथों में सभी साधन भी बेकार हो गए। लार्ड लेक का प्रतिरोध करने वाला होल्कर, सिन्धिया से भी कम शक्ति शाली था। होल्कर और सिन्धिया की शक्ति 1805 के पश्चात् इतनी कम हो गई है कि हमें विश्वास नहीं कि वे हमारे प्रदेशों के लिए कभी भी खतरा बन सकें। सरकार की श्रेष्ठता इतनी अधिक है कि संघर्ष के परिणाम के विषय में कोई सन्देह नहीं। (The superiority of our Government is so great that the result of any struggle is no longer doubtful).

अध्याय - 5

सहायक सन्धि प्रणाली

1. **वैलेजली के आगमन के समय भारत की स्थिति :** 1798 ई॰ 37 वर्ष की आयु में लॉर्ड वैलेजली (Lord Wellesley) ने भारत के गवर्नर–जनरल का पद सभाला । 1797 ई॰ में जब वैलेजली अपने नवीन पद के उत्तरदायित्व को संभानले के लिए इंग्लैण्ड से भारत चला तब इंग्लैण्ड के लिए यूरोप और भारत में बहुत कठिनाइयाँ थीं। क्रान्तिकारी फ्रान्स की शक्ति बहुत बढ़ चुकी थी और नेपोलियन का उत्कर्ष हो चुका था। फ्रान्स ने अपने विरुद्ध बने हुए प्रथम गुट को तोड़ दिया था, उसके अंतिम सदस्य आस्ट्रिया को रिंबोली के युद्ध में परास्त करके केम्पोफोर्मियो की सन्धि करने के लिए बाह्य किया था तथा नेपोलियन भारत विजय के लक्ष्य को पूर्ण करने के लिए मिस्र पर आक्रमण करने की तैयारी कर रहा था। भारत में राजनीतिक दृष्टि से कम्पनी की स्थिति अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं थी। उस समय भी मराठा–संघ भारत में सबसे अधिक शक्तिशाली था। यद्यपि पेशवा माधोराव की मृत्यु के पश्चात् पेशवा की शक्ति दुर्बल हो गयी थी, मराठा–संघ में आन्तरिक संघर्ष आरम्भ हो गया था और तत्कालीन पेशवा बाजीराव द्वितीय दुर्बल था परंतु फिर भी मराठा–संघ के कई सदस्य शक्तिशाली और प्रभावशाली थे। इनमें से केवल बड़ौदा के गायकवाड़ ने अंग्रेजो के प्रति तटस्थता की नीति अपनायी थी अन्यथा भौसले, सिन्धिया और होल्कर तीनो ही अंग्रेजी प्रभाव की वृद्धि को पसंद नहीं करते थे। दौलतराव सिन्धिया की सीमाएँ उत्तर में युमना और चम्बल से लेकर दक्षिण में तुंगभद्रा नदी तक फैली हुई थी, मुगल बादशाह शाहआलम उसके हाथ की कठपुतली था, दिल्ली की राजनीति उसके अधिकार में थी, पेरन (Perren) जैसे — फ्रान्सीसी अधिकारियों ने उसकी सेना का यूरोपियन तरीके से संगठन किया था, राजस्थान और मध्य–भारत में उसका आतंक था और पेशवा पर उसका पर्याप्त प्रभाव था। जसवन्तराव होल्कर ने इन्दौर को अपनी राजधानी बनाया था। मराठा सरदारों में वह सबसे अधिक महत्वाकांक्षी था तथा पूना दरबार में प्रभाव रखने और सीमा विस्तार में सिंधिया से उसकी प्रतिस्पर्धा रहती थी। नागपुर के भौंसले वंश की सीमाएँ नागपुर से कटक तक फैली हुई थी और अंग्रेजों की बंगाल और मद्रास की सीमाओं को विभाजित करती थी। इन शक्तिशाली मराठों से अंग्रेजों के सम्बन्ध सर्वदा अविश्वास और सन्देह के रहे थे। मराठों के अतिरिक्त मैसूर का शासक टीपू अंग्रेजों का कट्टर शत्रु था और प्रत्येक प्रकार से अंग्रेजों को भारत से निकालने के लिए उत्सुक था। उसने अफगानिस्तान के अमीर जमानशाह से पत्र–व्यवहार किया था, टर्की के सुल्तान से बात चीत करनी चाही थी, अपनी सेना से फ्रान्सीसी अफसर नियुक्त किए थे और वह फ्रान्स के क्रान्तिकारियों से अंग्रेजों के विरुद्ध सहायता प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहा था।

अंग्रेजों के मित्र राज्यों में अवध, कर्नाटक और हैदराबाद माने जा सकते थे। इनमें से अवध पूर्णतया अंग्रेजों पर निर्भर था और उसकी शक्ति अंग्रेजों के लिए कोई सहायता न थी। कर्नाटक के नवाब ने शासन में अत्यधिक दुर्बलताएँ थी और वह कर्ज में इतना डूबा हुआ था कि वह अंग्रेजों के लिए एक बोझ के समान था। हैदराबाद का निजाम सर जान शोर की नीति और मराठों के विरुद्ध खर्दा में अपनी पराजय के कारण अंग्रेजों से असन्तुष्ट था और उन्हें अपना विश्वासपात्र मित्र मानने को तैयार न था। उसने अपने यहाँ फ्रान्सीसीं सैनिक अधिकारी नियुक्त किये हुए थे और अपनी सेना को यूरोपियन तरीके से शिक्षित कर रहा था। इस प्रकार भारतीय राज्यों में से कोई भी अंग्रेजों का मित्र न था और यदि था भी तो शक्तिहीन था तथा अंग्रेजों की सहायता करने में असमर्थ था।

भारत की ऐसी परिस्थितियों में फ्रान्सीसी पुनः अंग्रेजों को भारत से निकालने के लिए प्रयत्नशील थे। आधुनिक समय में नेपोलियन की भारत विजय की योजना को उसकी कल्पना मात्र माना जा सकता है परन्तु उस समय फ्रान्सीसी आक्रमण का भय, निस्सन्देह, वास्तविक था। 1798 ई में नेपोलियन रूस से मिलकर हिरात और कन्धार के मार्ग से पुनः भारत पर आक्रमण करने की योजना बना रहा था और स्थल पर नेपोलियन की निरन्तर सफलताओं के कारण यह योजना अस्वाभाविक नहीं मानी जा सकती थी। इसके अतिरिक्त भारत में विभिन्न भारतीय शासकों के दरबार में फ्रान्सीसी अधिकारियों की नियुक्ति की हुई थी, सिन्धियों ने अपनी सेनाओं का गठन फ्रान्सीसी अफसरों की सहायता से किया था और उनके व्यय के लिए उन्हें जागीर के रूप में गंगा–यमुना के दोआब में भूमि प्रदान कर दी थी तथा टीपू सुल्तान ने अपने को 'नागरिक टीपू' (Citizen Tipu) कहा था, फ्रान्सीसी क्रांतिकारियों के तिरंगे झण्डे को अपने यहाँ फहराया था और जिस समय वैलेजली ने कलकत्ता में कदम रखा था उसी अवसर पर मॉरीशस टीपू से कुछ फ्रान्सीसी सैनिकों ने बंगलौर में प्रवेश किया था।

इस प्रकार वेलेजली के आगमन के समय अंग्रेज कम्पनी को एक प्रथम श्रेणी की शक्ति स्वीकार नहीं किया जा सकता था। परन्तु वेलेजली ने अपने सात वर्ष के कार्यकाल में एक–एक करके अपने सभी शत्रुओं को परास्त किया और कम्पनी को भारत की सर्वश्रेष्ठ शक्ति बना दिया। इसी कारण उसे इंगलैण्ड द्वारा भारत में भेजे गये श्रेष्ठ कूटनीतिज्ञों में स्थान प्रदान किया गया है।

2. **लक्ष्य और नीति** : वैलेजली का लक्ष्य और नीति आरम्भ से ही स्पष्ट थी। उसके अनुसार हस्तक्षेप न करने की नीति पूर्णतया असफल सिद्ध हो चुकी थी तथा अंग्रेज कम्पनी की शक्ति और प्रतिष्ठा की स्थापना हेतु शक्ति का प्रयोग कर भारतीय राजनीति में सक्रिय भाग लेना आवश्यक था। कम्पनी को भारत की सर्वश्रेष्ठ शक्ति बनाना और फ्रान्सीसियों के प्रभाव को सर्वदा के लिए भारत से समाप्त करना उसका लक्ष्य था और इसकी पूर्ति के लिए वह कूटनीति तथा युद्ध दोनों ही बातों के प्रयोग के लिए तत्पर था। अपने इस लक्ष्य की पूर्ति में उसने पूर्ण सफलता प्राप्त की। अपने आने से पहले उसने फ्रान्सीसी प्रभाव को भारत से नष्ट कर दिया और अंग्रेज कम्पनी को भारत की सर्वश्रेष्ठ शक्ति बना दिया। भारत में अंग्रेजी साम्राज्य की स्थापना में उसका महत्त्वपूर्ण योगदान रहा। उसने भारत में अंग्रेज–कम्पनी के प्रभाव को ही नहीं बल्कि सीमाओं को भी बढ़ाया और उसकी पूर्ति के लिए विभिन्न साधनों का प्रयोग किया।

सहायक–सन्धि (Subsidiary Alliance) वैलजली की साम्राज्य विस्तार की नीति का एक महत्त्वपूर्ण साधन था। इसके द्वारा वेलेजली ने अंग्रेज कम्पनी के साम्राज्य का विस्तार किया, भारतीय नरेशों के दरबार और राजनीति में अंग्रेजों के प्रभाव को बढ़ाया और फ्रान्सीसियों के प्रभाव को भारत से नष्ट करने में सहायता प्राप्त की। वैलेजली की स्वयं इस सहायक–सन्धि की उत्पत्ति नहीं की थी। प्रथम, फ्रान्सीसी गवर्नर इपले ने इसका प्रयोग किया था। उसने भारतीय नरेशों को सैनिक सहायता देने के बदले उनसे धन लेने की प्रथा आरम्भ की थी। वही इस सहायक–सन्धि की उत्पत्ति थी। अंग्रेजों ने भी इस प्रथा को स्वीकार कर लिया और क्लाइव तथा उसके बाद के प्रायः सभी अंग्रेज गवर्नर जनरलों ने इसका प्रयोग किया। वलेजली ने इस प्रथा की विस्तृत व्याख्या की, उसमें नवीन शर्तें जोडी, उसे अंग्रेजी राज्य के विस्तार का साधन बनाया और प्रत्येक भारतीय नरेश के साथ इसका प्रयोग किया। इस सन्धि के लिए वेलेजली का यही योगदान था। अंग्रेजों ने इस सन्धि को प्रथम प्रयोग अवध के नवाब के साथ 1765 ई॰ में की गयी सन्धि द्वारा किया था जिसके द्वारा उन्होंने अवध की सीमाओं की सुरक्षा करने का आश्वासन दिया और नवाब ने उसके हेतु होने वाले व्यय को वहन करने का वायदा किया। एक अंग्रेज रेजीडेण्ट भी अवध में उसी समय रखा गया। 1787 ई॰ में सबसे पहली बार कार्नवालिस ने कर्नाटक के नवाब पर यह शर्त लागू की वह किसी ब्राह्य शक्ति से अंग्रेजों की अनुमति के बिना कोई सम्बन्ध नहीं रखेगा और सर जॉन शोर ने इस शर्त को अवध के नवाब पर लागू किया। वैलेजली ने इसमें कुछ अन्य शर्तें भी सम्मिलित की और मुख्यतया उसने माँग की कि अंग्रेजों की सहायता के बदले में सन्धि करने वाला भारतीय नरेश अपने राज्य की भूमि का कुछ निश्चित भाग स्थायी रूप से अंग्रेज कम्पनी को प्रदान करें और इस प्रकार उसने इस सन्धि को कम्पनी के साम्राज्य–विस्तार का साधन बनाया।

इस प्रकार सहायक सन्धि का प्रयोग अंग्रेज वेलेजली के समय से पहले भी कर रहे थे। परन्तु समय के अनुसार इस सन्धि के स्वरूप में परिवर्तन हुआ और वैलेजली ने अपने समय में इस पूर्णता प्रदान की। आरम्भ से लेकर वेलेजली के समय तक हमें सहायक सन्धि के निम्न चार स्वरूप दिखायी देते हैं :

1. प्रथम, इसके द्वारा अंग्रेज किसी भारतीय नरेश को आवश्यकता होने पर सैनिक सहायता देते थे और इसके बदले में उससे एक निश्चित धनराशि प्राप्त कर लेते थे। ऐसी सन्धि 1768 ई॰ में हैदराबाद के निजाम से की गयी थी।
2. द्वितीय, अंग्रेज कम्पनी सन्धि करने वाले भारतीय नरेश की सुरक्षा के लिए एक स्थायी सेना रखती थी और उस सेना के व्यय हेतु उस नरेश से वार्षिक धन लेती थी। यह अंग्रेज सेना उस नरेश के राज्य की सीमाओं के निकट लेकिन कम्पनी की सीमाओं के अन्तर्गत रखी जाती थी। ऐसी एक सन्धि 1784 ई॰ में सिन्धिया के साथ की गयी थी परन्तु यह सन्धि अस्थायी सिद्ध हुई थी।
3. तीसरी स्थिति में अंग्रेज कम्पनी सन्धि करने वाले भारतीय नरेश की सुरक्षा के लिए एक स्थायी सेना रखती थी, उससे निश्चित वार्षिक धन लेती थी और यह सेना उस नरेश के राज्य की सीमाओं के अन्तर्गत ही रखी जाती थी। ऐसी सन्धि 1798 ई॰ में हैदराबाद के निजाम से की गयी थी।

4. चौथी स्थिति में अंग्रेज कम्पनी अपनी सेनाको सन्धि करने वाले राज्य की सहायता के लिए न केवल स्थायी रूप से रखती थी और न केवल उस राज्य की सीमाओं के अन्तर्गत रखती थी, बल्कि उस नरेश से वार्षिक धन के स्थान पर उसके राज्य की भूमि का एक निश्चित भाग सर्वदा के लिए ले लेती थी। ऐसी सन्धियाँ 1800 ई॰ में हैदराबाद के निजाम से 1801 ई॰ में अवध के नवाब से, 1802 ई॰ में पेशवा से और 1803 ई॰ व 1804 ई॰ में अन्य मराठा सरदारों से की गयी थी। सन्धि की एक शर्त ऐसी थी जिसका प्रयोग वेलेजली ने ही किया था और सहायक सन्धि की शर्तों में यही उसका महत्त्वपूर्ण योगदान था।

उपर्युक्त इस चौथी प्रकार की शर्त के अतिरिक्त वैलेजली ने सहायक–सन्धि में निम्न शर्तें और भी सम्मिलित की थी जिन्हें सन्धि करने वाले भारतीय नरेश को स्वीकार करना पड़ता था :

(i) भारतीय नरेश के दरबार में एक अंग्रेज रेजीडेण्ट रखा जायेगा।

(ii) भारतीय नरेश अंग्रेजों की अनुमति के बिना किसी भी यूरोपियन, अमेरिकन अथवा अंग्रेजों के शत्रु–राज्य के व्यक्ति को अपने राज्य में सेवा प्रदान नहीं करेगा।

(iii) सन्धि करने वाला भारतीय नरेश, अंग्रेजों की अनुमति के बिना, किसी भी विदेशी राज्य (जिनमें भारत के सभी राज्य सम्मिलित होते थे) में कोई भी सम्बन्ध नहीं रखेगा, अर्थात् उसकी विदेश नीति अंग्रेजों के नियन्त्रण में रहेगी।

(iv) अंग्रेज उस नरेश की ब्राह्य आक्रमण से रक्षा करेंगे

(v) अंग्रेज भारतीय नरेश के आन्तरिक शासन में कोई हस्तक्षेप नहीं करेंगे। वेलेजली की उपर्युक्त सहायक–सन्धि अंग्रेजों के लिए प्रत्येक प्रकार से लाभदायक थी तथा भारतीय नरेशों व उनकी प्रजा के लिए प्रत्येक प्रकार से हानिकारक थी।

सहायक सन्धि से कम्पनी को लाभ

1. इस सन्धि के प्रयोग से फ्रान्सीसियों का प्रभाव भारतीय नरेशों के राज्यों से पूर्णतया समाप्त हो गया क्योंकि अब उनको वहाँ नौकरी करने के लिए अवसर प्राप्त नहीं हो सकता था।

2. इससे भारतीय नरेश पूर्णतया एक–दूसरे से प्रथक कर दिये गये क्योंकि अब उनकी विदेश नीति अंग्रेजों के हाथों में चली गयी और वे आपस में मिलने का कोई प्रयत्न नहीं कर सकते थे। इसी से अंग्रेजों को एक–एक करके अपने सभी विरोधी भारतीय नरेशों के राज्यों को समाप्त करने की सुविधा प्राप्त हो सकी।

3. इससे अंग्रेज कम्पनी की सैनिक सीमाएँ उसकी राजनीतिक सीमाओं से बहुत आगे बढ़ गयी क्योंकि जहाँ–जहाँ नहीं अंग्रेजी सेना रखी गयी वहाँ अंग्रेजी सैनिक शक्ति का प्रभाव स्थापित हो गया। इस सन्धि को करने वाला राज्य सैनिक दृष्टि से पूर्णतया क्रम्पनी पर आश्रित होता था क्योंकि उसके राज्य की मुख्य सेना उसकी स्वयं की नहीं बल्कि कम्पनी की थी।

4. इससे कम्पनी को अन्य लाभ भी थे। कम्पनी की सेनाएँ भारतीय नरेशों की सीमाओं में रहती थी और उनका व्यय भी भारतीय नरेश देते थे। इससे कम्पनी बिना किसी व्यय के एक बहुत बड़ी सेना भारत के विभिन्न भागों में रख सकी जिसका प्रयोग वह किसी भी भारतीय नरेश के विरुद्ध कर सकती थी यहाँ तक कि एक नरेश की सीमाओं के अन्तर्गत रखी गयी सेना का प्रयोग उसी नरेश के विरुद्ध किया जाना भी सम्भव था। इससे युद्ध की बुराइयों का प्रभाव भी कम्पनी की सीमाओं से दूर रखा जा सकता था, क्योंकि सेनाओं को लाना, ले जाना, उनका व्यय आदि सभी भारतीय नरेशों की सीमाओं में और उन्हीं के धन के द्वारा होता था। ऑर्थर वेलेजली ने लिखा था "युद्ध की बुराइयाँ अपनी सम्पत्ति और शक्ति के स्रोतों से दूर रखी गयी है।

5. इससे कम्पनी के प्रभाव और उसकी सीमाओं में विस्तार हुआ परन्तु तब भी यूरोपीय राज्यों मे अंग्रेजों के प्रति शंका और ईर्ष्या की सम्भावना बहुत कम थी,

6. अंग्रेज जो सहायक–सेना भारतीय नरेशों की सहायता के लिए रखते थे, उसका व्यय बहुत अधिक था। और उस समय के अनुसार वह व्यय बढ़ता गया। उस व्यय के बढ़ने के आधार पर कम्पनी उस नरेश से और अधिक भूमि प्राप्त कर सकती थी और करती रही। इस प्रकार भविष्य में भी इस सन्धि के द्वारा कम्पनी के राज्य में निरन्तर विस्तार होने की सम्भावना थी।

7. इससे कम्पनी को भारत में शान्ति स्थापित रखने में और धीरे–धीरे अपने हित की पूर्ति मे सहायता प्राप्त हुई [illegible] ने कहा था। "इस अवस्था से अंग्रेज सरकार भारतीयों की महत्वाकांक्षी और हिंसा की उस भावना को अधिकार [illegible] सकी जो एशिया की प्रत्येक सरकार की विशेषता थी और इससे वह भारत में शान्ति स्थापित करने मे समर्थ हो [illegible] इससे स्पष्ट होता है कि इस सहायक सन्धि की व्यवस्था से कम्पनी का प्रभाव भारत मे अत्यधिक ब[illegible]

भारतीय राज्यों को हानि

परन्तु भारतीयों और भारतीय नरेशों के दृष्टि–कोण से यह सहायक सन्धि बहुत हानिकारक साबित हुई। भारतीय [illegible] के लिए यह एक स्थायी दुर्बलता, भ्रष्टाचार, कुशासन और पतन का कारण बनी। इससे भारतीय राज्यों को निम्न प्रकार से हानि हुई

1. अंग्रेज कम्पनी सहायक सेना के व्यय के लिए जो धन माँगती थी वह बहुत अधिक था। इस कारण कम्पनी [illegible] के सबसे अधिक उपजाऊ और सम्पन्न भू–क्षेत्र पर अपना अधिकार कर लेती थी। इससे उस राज्य की आर्थिक स्थिति पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता था। अधिकांश राज्यों में कुशासन का एक मूल कारण उनकी आर्थिक दुर्बलता थी जो कम्पनी की बढ़ती हुई धन की माँग और उस राजा से उसकी सबसे अच्छी भूमि छीन जाने के कारण [illegible]
2. राज्यों में जो अंग्रेजी रेजीडेण्ट नियुक्त किये गये थे उन्हें राज्य के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करने का अधिकार न था। परन्तु इस शर्त का पालन कभी नहीं किया गया रेजीडेण्ट नरेशों के आन्तरिक मामलों मे निरन्तर हस्तक्षेप करते थे जिससे नरेशों की केवल शक्ति ही नष्ट न हुई बल्कि उनका आत्मविश्वास भी समाप्त हो गया और उन्हें शासन मे कोई रुचि न रही।
3. इसने भारतीय नरेशों की राष्ट्रीय भावना, शासन के प्रति उत्तरदायित्व, साहस, सैनिक–संगठन की देखभाल आदि सभी को समाप्त कर दिया। भारतीय नरेश शासन सम्बन्धी कोई भी निर्णय लेने और करने की स्थिति में न रहे जिससे उनका आत्मगौरव और सम्मान नष्ट हो गया। इससे भारतीय राज्य निरन्तर पतन की और गये। मुनरो ने लिखा है "सब राज्यों की राष्ट्रीय चरित्र की स्वतन्त्रता और समस्त सम्मानपूर्ण व्यवहार खोकर ही सुरक्षा प्राप्त हुई थी।"
4. इस व्यवस्था से प्रजा का एक अत्याचारी शासक के विरुद्ध विद्रोह करने का अधिकार भी समाप्त हो गया। भारत [illegible] एक भ्रष्टाचारी शासन को समाप्त करने के तीन ही तरीके थे प्रथम राजवंश के आन्तरिक संघर्ष के द्वारा द्वितीय प्रजा के विद्रोह द्वारा; और तृतीय बाह्य आक्रमण के द्वारा। अब अंग्रेज कम्पनी ने भारतीय नरेशों को इन सभी आन्तरिक और बाह्य खतरों से मुक्त कर दिया। इससे नरेशों में उत्तरदायित्व की भावना समाप्त हो गयी। उनमे से अधिकांश भ्रष्टाचारी एवं अत्याचारी हो गये और कम्पनी ऐसे सभी नरेशों व उनके भ्रष्टाचारी शासनों की रक्षा करने वाली बन गयी। [illegible] ऐसे नरेश और ऐसे शासन से बचने का कोई साधन प्रजा के पास न रहा। इससे नागरिकों का भी नैतिक पतन हुआ

इस प्रकार यह निश्चित है कि भारतीयों की दृष्टि से सहायक सन्धि पूर्णतया हानिकारक थी। उपर्युक्त हानियों के अतिरिक्त भी यह सभी स्वीकार करते है कि सहायक सन्धि की एक स्वाभाविक प्रवृत्ति, जल्दी या देर से, इस सन्धि को स्वीकार करने वाले भारतीय राज्य को अन्त में कम्पनी के हाथों में सौंप देने की थी। भारतीय नरेशों की शक्ति इससे पूर्णतया समाप्त हो गयी और वे प्रायः अंग्रेजों के हाथ की कठपुतली बनते गये। अर्थर वैलेजली ने लिखा, "हमारी नीति और हमारे लक्ष्य ने समस्त भारतीय शक्तियों को शून्य स्थिति में कर दिया है।" इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सहायक सन्धि वैलजली की कूटनीति का एक महान् व्यावहारिक स्वरूप था। अनेक भारतीय नरेश इस मकड़ी के जाले में फँसते गये और इसमें फँसने के पश्चात् ही उन्हें यह ज्ञात हुआ कि वे अपनी सम्पूर्ण शक्ति को खोकर अंग्रेज कम्पनी पर पूर्णतया आश्रित हो गये है। इस प्रकार वैलेजली की सहायक सन्धि बहुत सफल सिद्ध हुई।

सहायक सन्धि का व्यवहारिक रूप

इस सन्धि को व्यवहारिक रूप प्रदान करने का वैलेजली ने तुरन्त की निश्चत् कर लिया तथा सर्वप्रथम अपने मित्र–राज्यों को सहायक सन्धि करने पर बाध्य किया। जिन शक्तियों से युद्ध करना पड़ा उन पर विजय प्राप्त करके भी बलपूर्वक सहायक सन्धि लागू की गयी। हैदराबाद के निजाम तथा अवध के नवाब के साथ युद्ध किये बिना केवल दबाव डालकर तथा मराठा एवं मैसूर के शासक के साथ युद्ध करने के उपरान्त उसने उनके साथ सहायक सन्धि की। फलतः जब वैलेजली भारत [illegible] लौटा वह लगभग सभी प्रमुख शक्तिशाली राज्यों में सहायक सन्धि को लागू कर चुका था।

वेलेजली और निजाम

सहायक सन्धि को सर्वप्रथम निजाम ने स्वीकार किया। निजाम यद्यपि अंग्रेजों से असन्तुष्ट था तथा अंग्रेजों से मैत्री स्थापित करने का प्रयास करने लगा। वैलेजली तो अवसर की तलाश में ही था। उसने तत्काल निजाम के सम्मुख सहायक सन्धि की शर्तें रखी तथा 1798 में निजाम ने सन्धि पत्र पर हस्ताक्षर कर दिये। इस सन्धि के द्वारा निजाम ने समस्त फ्रांसीसी कर्मचारियों को अपने यहां से हटा दिया तथा अंग्रेजों की छह बटालियन निजाम के राज्य की सुरक्षा के लिए तैनात हुई जिनके लिए चौबीस लाख रुपये वार्षिक निजाम ने देना स्वीकार कर लिया। हैदराबाद में एक ब्रिटिश ऐजिडेंट रख लिया गया। इस सन्धि का निजाम ने अंग्रेजी राज्यकाल में सर्वदा पालन किया तथा हमेशा अंग्रेजों का मित्र तथा संरक्षित बना रहा, यद्यपि इसमें उनकी प्रतिष्ठा को आघात पहुंचा तथापि अब निजाम आन्तरिक और बाह्य शत्रुओं के आंतक से सदा के लिए मुक्त हो गया।

अवध के साथ सन्धि

दूसरा राज्य, जिसके साथ वेलेजली ने सहायक सन्धि की, वह अवध का राज्य था। इन दिनों अवध का शासन बिगड़ गया था। अतएव वेलेजली को हस्तक्षेप करने का मौका मिल गया। अफगानिस्तान का शासक जमाशाह भारत पर आक्रमण कर शाहआलम को दिल्ली के सिंहासन पर बिठाने की योजना बना रहा था। अतएव अवध पर आक्रमण हो जाने की आशंका थी। सिखों तथा मराठों द्वारा भी अवध पर आक्रमण करने की सम्भावना थी। अवध का नवाब स्वयं इन आक्रमणों का सामना करने की क्षमता नहीं रखता था। अतएव वेलेजली ने उसके पास यह प्रस्ताव भेजा कि वह अपनी सेना में कमी करे और अंग्रेजी सेना में वृद्धि करे। जब नवाब ने इस शर्त को मानने से इनकार किया तो उसे पदच्युत करने की धमकी दी और उस पर सैनिक दबाव डाला। इस पर भयभीत होकर नवाब को सहायक सन्धि करने पर विवश होना पड़ा।

इस सन्धि के अनुसार अवध का आधा राज्य जिसमें रोहिलखंड और दक्षिण दोआब शामिल थे, अंग्रेजों को मिला। अवध की सेना भंग कर दी गयी, केवल शासन तथा कर वसूलने के लिए थोड़ी सी सेना रखी। अंग्रेज फौजी दस्तों की संख्या बढ़ा दी गयी और कम्पनी के रेजिडेण्ट को अवध के आन्तरिक मामले में हस्तक्षेप करने का अधिकार मिला। नैतिकता के दृष्टिकोण वेलेजली का काम अत्यन्त घृणित ठहराया गया है लेकिन व्यावहारिक दृष्टि से अवध का राज्य चारों और से कम्पनी के राज्य से घिर गया। वहाँ कम्पनी की एक अनुशासित और सुसंगठित सेना रहने लगी जिससे कम्पनी राज्य की सीमा अधिक सुरक्षित हो गयी।

मैसूर की सहायक सन्धि

मैसूर का राजा टीपू सुल्तान अंग्रेजों का कट्टर शत्रु था। वह फ्रांसीसियों से मदद लेकर अंग्रेजों को भारत से बहार निकालना चाहता था। इस कारण टीपू की शक्ति को समाप्त करना वेलेजली ने आवश्यक समझा। फलतः 1799 में मैसूर का चतुर्थ युद्ध हुआ जिसमें टीपू मारा गया। मैसूर के अधिकांश भाग पर अंग्रेजों का अधिकार हो गया। बचे हुए राज्य का शासन पहले के हिन्दू शासक के एक वंशज को दे दिया गया। मैसूर के नये राजा ने सहायक सन्धि स्वीकार कर ली।

मराठों की सहायक सन्धि

मराठों में आपसी संघर्ष के कारण जब पेशवा बाजीराव द्वितीय ने सहायक सन्धि को स्वीकार कर लिया, तो अन्य मराठा सरदारों ने अंग्रेजों के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। वेलेजली ने उन्हें पराजित किया और उन पर भी सहायक सन्धि को लाद दिया।

कर्नाटक

सहायक सन्धि के आधार पर वेलेजली ने कई देशी राज्यों पर कम्पनी का प्रभुत्व कायम कर लिया, लेकिन इतने से ही वह संतुष्ट नहीं हुआ। वह कर्नाटक, सूरत, तंजोर और फर्रुखाबाद को भी अपनी नीति का शिकार बनाना चाहता था। सबसे पहले उसने कर्नाटक की ओर ध्यान दिया। कर्नाटक और अंग्रेजों का सम्बन्ध बहुत पुराना था। इन दिनों कर्नाटक की आर्थिक दशा बहुत खराब हो गयी थी। नवाब ऋण के भार से दबा हुआ था और अंग्रेजी सहायक सेना के खर्च के लिए जो धन देना पड़ता था उसे वह नियमित रूप से नहीं दे रहा था। वेलेजली नवाब के इस शासन का अन्त कर कर्नाटक को कम्पनी राज्य में मिला लेना चाहता था। इसके लिए उसको शीघ्र ही एक बहाना मिल गया। टीपू की पराजय के बाद श्री रंगपट्टम में उसे कुछ ऐसे कागजात मिले जिसके आधार पर वेलेजली ने नवाब मुहम्मद अली और उसके बेटे उमदत-उल-उमरा पर टीपू से मिले रहने और अंग्रेजों के विरुद्ध षड़यन्त्र करने का आरोप लगाया। 1801 में उमदत-उल-उमरा की मृत्यु होने पर वेलेजली ने उसके बेटे अली हुसेन को कर्नाटक की गद्दी से वंचित कर दिया तथा उसके भतीजे आजमउद्दौला के साथ एक सन्धि की।

इस सन्धि के अनुसार आजमउद्दौला कर्नाटक का नवाब बना, कर्नाटक का शासन कम्पनी के हाथ में दिया गया और नवाब को कर्नाटक के राज्य का पाँचवा हिस्सा पेन्शन के रूप में मिलने लगा।

तंजोर

इसी प्रकार वेलेजली ने तंजोर और सूरत को अंग्रेजी राज्य में मिला लिया। तंजोर दक्षिण भारत में स्थित एक छोटा सा मराठा राज्य था। वेलेजली के भारत आने के साथ वहाँ उत्तराधिकार के लिए संघर्ष चल रहा था। तंजोर के राजा तुलाजा की मृत्यु के पश्चात् उसकी गद्दी पर उसके भाई अमरसिंह और उसके गोद लिये हुए लड़के सरफोजी ने दावा किया। तंजोर के पण्डितों की राय के अनुसार गद्दी अमरसिंह को दे दी गयी, परन्तु अमर सिंह एक अयोग्य शासक साबित हुआ और लार्ड कार्नवालिस ने काशी के पंड़ितों की राय लेकर सरफोजी को गद्दी दिला दी। 1799 में सरफोजी ने वेलेचली से एक सन्धि कर ली जिसके अनुसार उसके तंजोर का राज्य कम्पनी को दे दिया और स्वयं चालीस हजार पौंड पेंशन लेना स्वीकार कर लिया।

सूरत

सूरत की रक्षा का भार कम्पनी सरकार पर था और नागरिक शासन वहाँ के नवाब के जिम्मे था। कार्नवालिस के समय में बम्बई कौंसिल सूरत की नवाबों का अंत करना चाहती थी। नवाब के यहां कम्पनी के फौजी दस्ते के खर्च के रुपये बाकी थे। 1799 में नवाब की मृत्यु हो गयी। वेलेजली ने नवाब के भाई तथा भतीजे को 1800 में सूरत का राज्य कम्पनी के हाथ सुपुर्द करने के लिए बाध्य किया और वहां के नवाब को सालाना एक लाख रुपये की पेन्शन निश्चित् कर दी। सूरत के नवाब के साथ वेलेजली का यह बर्ताव अत्यन्त ही अनुचित था।

फर्रुखाबाद

अवध के अधीन फर्रूखाबाद एक छोटा सा राज्य था। अवध के नवाब के साथ सहायक सन्धि करने के उपरान्त फर्रुखाबाद को वेलेजली ने अपने संरक्षण में ले लिया तथा नवाब को पेंशन दे दी गयी।

वैल्जली तथा फ्रांसीसियों का भय
(Wallesley and French Menace)

वैल्जली ने भारत की ओर 1797 में प्रस्थान किया जो कि अंग्रेजी इतिहास में संभवतः सबसे अंधकारमय समय था। फ्रांस के विरुद्ध यूरोपीय शक्तियों का बना हुआ मोर्चा छिन्न–भिन्न हो चुका था। नेपोलियन मिस्र तथा सीरिया की विजय पर तुला था तथा गम्भीरता पूर्वक भारत पर आक्रमण करने की सोच रहा था। 1798 में उसे आशा थी कि वह 100,000 सेना भारत पर आक्रमण करने के लिए फरात नदी पर एकत्रित कर सकेगा। वह सिकन्दर की भांति एलक्जैन्ड्रिया से भारत पर आक्रमण करना चाहता था। 1801 में भी नेपोलियन ने रुस के ज़ार पॉल से सन्धि कर के भारत पर आक्रमण करने की योजना बनाई जिसके अनुसार जनरल मस्सेना 35,000 फ्रांसीसी सैनिक लेकर, उल्म, डून्यूब तथा काला सागर के मार्ग से अस्तरखान पहुचेगा वहाँ 35,000 रुसी सेना उससे मिल जाएगी तथा वे हरात फर्राह, तथा कन्धार के मार्ग से भारत पर आक्रमण करेंगे। इस समय तक अंग्रेजों को स्थल पर नेपोलियन की अदम्य शक्ति का आभास मिल चुका था। यदि नपोलियन की यह योजना सफल हो जाती तो अंग्रेजी व्यापार, जो इतना लाभप्रद था समाप्त हो जाता।

सम्भवतः आज हम कह सकते है कि नेपोलियन की यह योजना कल्पना मात्र ही थी। परन्तु समकालीन लोग ऐसा नहीं सोचते थे। कोर्ट आफ डाइरेक्टर्स की गुप्त समिति ने 18 जून, 1798 के पत्र में वैल्जली को लिखा था, "हमारे पूर्वी सम्राज्य से फ्रांसीसियों को बहुत ईर्ष्या है। उनकी पुरानी सरकार आशा अन्तरीप के स्थान पर किसी अन्य छोटे मार्ग से भारत पहुचना चाहती थी और निस्सन्देह आधुनिक सरकार भी ऐसा करने का भरसक प्रयत्न करेगी कि यदि वे हमारे साम्राज्य का नाश-भ्रष्ट न कर सके तो कम से कम उसे छोटा अवश्य कर दें"। इस प्रकार 1800 में जनरल स्टूअर्ट ने हनरी डुडास को लिखा था कि यह योजना सफल हो सकती है और सम्भवतः सफल हो भी जाती यदि तुर्क लोग फ्रांस के मित्र बन जाते अथवा वे लोग काहिरा पहुँचते ही तुरन्त इस ओर बढ़ आते।

यह भी सुझाव था कि फ्रांसीसी अपने उपनिवेश मॉरिशस का प्रयोग भारत के पश्चिमी तट पर आक्रमण करने में करें क्योंकि अंग्रेज नौसेना सभी बन्दरगाहों की सुरक्षा नहीं कर सकती थी। इसके अतिरिक्त फ्रांसीसी नौसेना सम्भवतः भारतीय प्रयत्न द्वारा, जैसा उन्होंने अमरीकन युद्ध में किया था, सामुद्रिक रूप में सैनिक विशिष्टता भी प्राप्त कर सके

वैल्जली कोई संकट मोल लेने को उद्यत नहीं था। वह जानता था कि मैसूर का टीपू सुलतान जो कम्पनी का पुराना शत्रु था, नेपोलियन से पत्राचार कर रहा था तथा भारत से अंग्रेजों को निकालने की योजना बना रहा था। जिस दिन बैल्जली भारत पहुँचा उस दिन टीपू के दूत मॉरीशस से एक फ्रांसीसीयों तथा कुछ सैनिकों को लेकर तथा फ्रांसीसी सहायकता के वचन के साथ वापिस मंगलोर पहुँचे थे। टीपू ने अपने आप को "नागरिक टीपू" की संज्ञा दी तथा स्वतन्त्रता की पताका श्री रंगापट्टम में फहरा दी। इसके अतिरिक्त उसने फ्रांसीसियों से आक्रामक तथा रक्षात्मक सन्धि कर ली थी। वह कम्पनी के विरुद्ध युद्ध की एक विस्तृत योजना बना रहा था। 1795 में खारड़ा के स्थान पर मराठों के हाथों निजाम की पराजय के पश्चात् अंग्रेज उसका साथ छोड़ गए थे। उसने फ्रांसीसियों के आक्रामक तथा रक्षात्मक सन्धि कर ली थी। वह कम्पनी के विरुद्ध युद्ध की एक विस्तृत योजना बना रहा था। 1795 में खारड़ा के स्थान पर मराठों के हाथों निजाम की पराजय के पश्चात् अंग्रेज उसका साथ छोड़ गए थे तथा उसने फ्रांसीसी कमाण्डर मस्यु रेमा (Monsieure Reymond) को अपने यहाँ नियुक्त कर लिया था तथा निज़ाम ने उसकी सहायता से 14,000 सैनिक तैयार कर लिए थे। इसी प्रकार मराठा सरदार महादजी सिन्धिया ने भी काउण्ड द ब्रैन (Count de Baigne) तथा कालान्तर में मस्यु पैरों (Monsieur Perron) की सहायता से 8,000 पदाति तथा 8,000 घुड़सवारों की एक सेना तैयार कर ली तथा गंगा–जमुना दोआब के कर इस नई सेना के भरण–पोषण के लिए पृथक रख दिए थे चूंकि सिन्धिया इन पदाधिकारियों पर अपना पूर्ण नियंत्रण नहीं रख सकता था अतएव यह समस्त सेना नेपोलियन के काम आ सकती थी। दिल्ली आगरा तो इनके अधीन था ही अतएव ये लोग बंगाल तथा बिहार के विरूद्ध भी अभियान कर सकते थे। वैल्जली ने मस्यु पैरों के 'स्वतन्त्र राज्य' का उल्लेख किया है। वह भारत के बीचों बीच फ्रांसीसी उपनिवेश को सहन नहीं कर सकता था। उसे रणजीत सिंह का फ्रांसीसी कमाण्डरों का प्रयोग करना भी अखरता था। दूसरी ओर काबुल का जमान शाह भी भारत पर आक्रमण की योजना बना रहा था।

अतएव वैल्जली ने फ्रांसीसी भय को दूर करने के लिए निम्नलिखित प्रयत्न किए :

1. उसने बंगाल में रहने वाले अंग्रेजों से युद्ध कोष के लिए धन मांगा और 1,20,785 से अधिक धन केवल बंगाल से ही एकत्रित करके इंग्लैंड भेजा गया। अनेक अंग्रेजों ने नेपोलियन के विरूद्ध युद्ध में भाग लेने का भी प्रस्ताव किया। वैल्जली ने यह भी अनुभव किया कि भारत को नेपोलियन को प्रभाव से बचाने का सबसे उत्तम उपाय यह था कि वह स्वयं भारतीय राजाओं के विवादों में मध्यस्थ बने। इसी आशय से जार्ज बालो ने 1803 में नीति सम्बन्धी पत्र में लिखा था कि "इन (फ्रांसीसियों) को हराने का एकमात्र उपाय यह है कि भारत में कोई राज्य ऐसा न रहे जो हम पर निर्भर न हो अथवा जिसका राजनैतिक आचरण हमारे अधीन न हो।" अर्थात् फ्रांस के सभी वास्तविक तथा संभावित मित्रों का दमन करने की योजना थी तथा इसके लिए उसने भारतीय राज्यों को सहायक सन्धि स्वीकार करने पर बाह्य किया जिससे वे निरस्त्र हो गए तथा उन्होंने फ्रांसीसियों को अपने राज्यों से निकाल दिया। इससे अंग्रेज बिना धन व्यय किए बहुत सी सेना रखने में सफल हो गए। सितम्बर 1798 में वैल्जली ने निजाम को युद्ध अथवा सहायक सन्धि में से एक स्वीकार करने को कहा। निर्बल निज़ाम ने सहायक सन्धि स्वीकार कर ली। उसे फ्रांसीसी सैनिकों तथा अफसरों के अधीन 6 बटालियनों की एक सेना हैदराबाद में रखी गई, जिसका समस्त व्यय उसे देना था। इस प्रकार हैदराबाद में फ्रांसीसी प्रभाव समाप्त हो गया। उसके पश्चात् उसने टीपू की ओर ध्यान दिया जो उस समय फ्रांसीसियों से मिलकर भारत से अंग्रेजों को निकालने की योजना बना रहा था। वैल्ज़ली ने अनुभव किया कि लाल सागर की ओर फ्रांसीसी आक्रमण 1799 के मध्य से पूर्व सम्भव नहीं अतएव उसने उससे पूर्व ही टीपू से निबटने की सोची। टीपू के सहायक सन्धि अस्वीकार करने पर फरवरी 1799 में टीपू से युद्ध आरम्भ हो गया तथा मई 1799 तक यह युद्ध समाप्त हो गया। मैसूर की सीमाए कम कर दी गई तथा सत्ता मैसूर के प्राचीन हिन्दू राजवंश को दे दी गई। एक शत्रु समाप्त हो गया तथा दक्षिणी प्रायद्वीप पर अंग्रेजी प्रभुत्व स्थापित हो गया। हाउस ऑफ कामन्स में वैल्जली के इस कार्य की बहुत सराहना हुई।

   वैल्जली ने फिर उत्तर की ओर ध्यान दिया। अवध की अवस्था बहुत बिगड़ गई थी। फ्रांसीसी आक्रमण के भय को दूर करने के लिए अवध को सहायक सन्धि स्वीकार करने पर बाह्य किया गया तथा उसे रुहेलखण्ड तथा दोआब के उतरी जिले सहायक सेना के व्यय के लिए देने पड़े। फिर मराठों की ओर ध्यान दिया गया। ये लोग अभी तक पूर्णतया स्वतन्त्र थे। सिन्धिया की सेना के फ्रांसीसी अधिकारी अंग्रेजों के लिए भय का कारण बन सकते थे। टीपू की पराजय तथा मृत्यु से पेशवा अति दुखी था। वैल्जली द्वारा सहायक सन्धि का प्रस्ताव पेशवा ने अस्वीकार कर दिया। परन्तु मराठों के आपसी झगड़ों के कारण पेशवा कम्पनी के जाल में फंस गया तथा दिसम्बर 1802 में उसने सहायक सन्धि पर हस्ताक्षर कर दिए। पूना में सहायक सेना तैनात कर दी गई। सिन्धिया तथा भोंसले ने इसे अत्यन्त अपमानजनक माना तथा अंग्रेजों के विरुद्ध युद्ध आरम्भ कर दिया जिसमें वे दोनों पराजित हो गए दोनों को सहायक सन्धि स्वीकार करनी पड़ी तथा अपना महत्त्वपूर्ण प्रदेश अंग्रेजों को देना पड़ा। इस प्रकार इस समस्त प्रदेश से फ्रांसीसी समाप्त हो गए।

3. इसके पश्चात् वैल्जली ने समस्त भारत की रक्षा की योजना बनाई। गोआ की फ्रांसीसियों के हाथों में न जाने देने के उद्देश्य से उसने पुर्तगालियों की अनुमति से गोआ में अंग्रेजी सेना तैनात कर दी। 1801 में इग्लैण्ड तथा डेनमार्क दिपक्षीय धड़ों में थे अतएव वैल्जली ने बंगाल में डेनमार्का के अड्डों -- ट्रांकूबार तथा सीरमपुर को जीत लिया। कलकत्ता के पास होने के कारण सीरमपुर वैल्जली को बहुत चुभता था। यह जैकोबिन लोगों, कानून की पकड़ में न आने वाले भगोड़ों तथा ऋणियों के लिए उचित आश्रय था।

4. वैल्जली की योजना यह भी थी कि तटीय प्रदेश गुजरात मालाबार तथा कटक को घेर कर भारतीय राजाओं को फ्रांसीसी सहायता न पहुचने दी जाए। इसी कारण टीपू से सन्धि में एक शर्त मालाबार का आत्म--समर्पण था। इसी प्रकार मराठा युद्ध के समय उसने भड़ौच के बन्दरगाह तथा चम्पानेर तथा पवनगढ़ के दुर्गों को विजय कर लिया था। भड़ौच के सामरिक महत्व को वैल्जली भली–भांति समझता था। इसी प्रकार कटक को जीत कर उसने बंगाल तथा मद्रास के प्रदेशों को मिला दिया तथा नागपुर के राजा और फ्रांसीसियों के बीच खाई उत्पन्न कर दी।

5. 1799 में उसने महदी अली खां नामक दूत ईरान के शाह के दरबार में भेजा। नवम्बर 1800 में एक अन्य दूत सर जॉन मैल्कम बहुत से बहुमूल्य उपहार लेकर तेहरान पहुँचा। इनके फलस्वरूप शाह से एक सन्धि हुई जिसमें शाह ने फ्रांसीसियों को अपने देश में आने की अनुमति न देने का वचन दिया।

6. वैल्जली ने फ्रांसीसी नाविक अड्डे मॉरिशस पर आक्रमण की योजना बनाई परन्तु एडमिरल रेनियर (Admiral Rainier) ने लण्डन से स्पष्ट आज्ञा के बिना ऐसा करने से मनाही कर दी। इसी बीच उसने डच प्रदेश बटाविया तथा केप कॉलनी पर भी आक्रमण की अनुमति माँगी क्योंकि डच उन दिनों फ्रांस के मित्र थे।

7. 1800 में ही वैल्जली ने एक भारतीय सैनिक टुकड़ी को मिश्र से नेपोलियन के विरुद्ध लडने के लिए भेजा परन्तु पहुचने पर पता लगा कि फ्रांसीसी इससे पूर्व ही हथियार डाल चुके थे। 1802 में यह सेना वापिस आ गई।

8. 1802 में हुई एमीन्ज की सन्धि से पाण्डीचेरी नगर पुनः फ्रांसीसियों को मिल गया। इस अवसर का उपयोग नेपोलियन ने सन्धिया को फ्रांसीसी अधिकारियों द्वारा मुगल सम्राट से सन्धिवार्ता के लिए भी किया। इसी बीच में नेपोलियन ने पुनः युद्ध छिड़ गया तथा वैल्जली ने लॉर्ड लेक को भेज कर दिल्ली तथा आगरे पर अधिकार कर लिया तथा शाह आलम को पर्याप्त पेन्शन दे दी।

इस प्रकार अपनी उग्र तथा सुयोजित नीति से वैल्जली फ्रांसीसियों से न केवल भारत को बचाने में सफल हो गया बल्कि उसने अंग्रेजी साम्राज्य का विस्तार भी कर लिया। ऐसे समय में जब यूरोप में नेपोलियन की पताका फहरा रही थी उसने भारत में अंग्रेजी पताका को ऊचा उठाए रखा। उसने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए जो ढग प्रयोग किए वे अल्फ्रेड लायन (Alfred Lyall) के अनुसार उन ढंगों से दस गुणा अधिक उद्धत और तानाशाही थे जिनके लिए दस–बारह वर्ष पूर्व वॉरेन हेस्टिंग्ज पर महाभियोग का मुकदमा चलाया गया था। सम्भवतः नेपोलियन के विरूद्ध हुए लगातार युद्धों के कारण अंग्रेजी विचारधारा में परिवर्तन आ चुके थे।

सहायक सन्धि-निष्कर्ष

वेलेजली पक्के सिरे का साम्राज्यवादी था। जब वह भारत आया तब देश की राजनीतिक परिस्थिति अत्यन्त संकटपूर्ण थी। सर जॉन शोर की तटस्थता की नीति के कारण कम्पनी भारी खतरे से घिरी थी। यूरोप में हो रही फ्रांसीसी क्रान्ति से परिस्थिति और भी गंभीर हो गई थी। टीपू फ्रांसीसियों के साथ गठबन्धन कर रहा था और नेपोलियन भारत पर हमला करने की ओर से मिस्र पर आधिपत्य स्थापित करने का प्रयत्न कर रहा था। इस संकटपूर्ण परिस्थिति में कम्पनी की सुरक्षा और ब्रिटिश साम्राज्य के हितों की रक्षा एवं वृद्धि के लिए वेलेजली ने भारतीय शक्तियों के प्रति सहायक सन्धि की नीति अपनाई। इग्लैण्ड के साम्राज्य की प्रतिरक्षा बेलेजली की नीति का मूल भाव था। वेलेजली के समय भारत की राजनीतिक स्थिति अग्रगामी राज्य विस्तार के पक्ष में थी। ब्रिटेन के व्यापारिक और औद्योगिक वर्ग भी भारत में अब साम्राज्य–विस्तार नहीं चाहते थे। इससे पूर्व वे शान्ति की नीति के पक्ष में थे क्योंकि उनके अनुसार युद्ध व्यापार के लिए हानिप्रद था। लेकिन उनका आग्रह यह था कि ब्रिटिश माल भारत में अधिक मात्रा में तभी बिकेगा जब अधिक–से–अधिक भारतीय क्षेत्र अंग्रेजों के अधीन हो जाएँ। इसलिए अंग्रेजों ने फ्रांसीसियों का दमन किया और जिन भारतीय राज्यों ने फ्रांसीसियों से सम्पर्क स्थापित किया था उनका भी दमन किया। वेलेजली ने सहायक सन्धि, युद्ध और अधीनस्थ राज्यों का अपहरण करके अपने राज्य का पुनः

बेलेजली ने भारतीय राज्यों को अंग्रेजी राजनीतिक परिधि में लाने के लिए सहायक सन्धि का इस्तेमाल किया इससे अंग्रेजी सत्ता की श्रेष्ठता स्थापित हो गई और नेपोलियन का भय भी टल गया। भारत में अंग्रेजी राज्य और विस्तृत हो गया। वेलेजली इस सहायक सन्धि का आविष्कारक नहीं था। इस प्रणाली का विकास शर्ने–शर्नः हुआ। सभवतः डूप्ले भारत में प्रथम यूरोपीय था जिसने अपनी सेना भारतीय शासकों को किराए पर दी थी। क्लाइव के समय से यह प्रणाली लगभग सभी गवर्नर जनरलो ने अपनाई। वेलेजली की विशेषता यह है कि उसने इस सन्धि का इस्तेमाल अपने सम्पर्क में आने वाले सभी देशों के राजाओं के साथ किया। यूरोप में विलियम पिट ने सहायक सन्धि का इस्तेमाल नेपोलियन के विरूद्ध यूरोपीय देशों की सेना खड़ी करने के लिए खर्च देकर किया। वेलेजली ने भारत में आकर 1798 में इस प्रणाली को थोड़ा परिवर्तित करके भारतीय शासको के संदर्भ में इसका इस्तेमाल किया। वह बजाय भारतीय शासकों को खर्च देने के अपने राज्य में ब्रिटिश सेना कायम रखने के लिए स्वयं खर्च लेने लगा। इस प्रणाली से कम्पनी को पैसा भी मिला और भारतीय शासकों पर उसका नियंत्रण भी स्थापित हो गया।

भारतीय रियासतों ने सैनिक दुर्बलता के कारण, कम्पनी से सुरक्षा प्राप्त करने के लिए अपनी विदेश नीति कम्पनी के अधीन कर दी। कम्पनी की सैनिक सहायता के बदले भारतीय राज्यों को अपनी सुरक्षा और विदेश नीति से सम्बन्धित अधिकार त्यागने पड़े। अब कम्पनी अपने सैनिक बल के कारण निर्भर राज्यों के आंतरिक मामलों में भी हस्तक्षेप कर लेती थी इस तरह कम्पनी के नियंत्रण में क्रमशः वृद्धि होती चली गई और डलहौजी के समय कम्पनी सर्वोच्य सता बन गई।

वेलेजली ने उन भारतीय राज्यों को कम्पनी के अधीनस्थ कर लिया जो उसके संरक्षण में आए और जिन राज्यों ने अब तक ब्रिटिश शक्ति का विरोध किया था, उन पर सहायक सन्धि द्वारा ब्रिटिश प्रभाव स्थापित कर लिया। सहायक सन्धि द्वारा कम्पनी भारतीय राज्यों की सुरक्षा और उनके विदेशी सम्बन्धों पर नियंत्रण रख सकती थी। ये भारतीय राज्य बिना अंग्रेजों की अनुमति के विदेशियों को अपनी सेवा में भी नियुक्त नहीं कर सकते थे।

अल्फ्रेड लॉयल के अनुसार भारतीय युद्धों में कम्पनी भाग लेने की चार स्थितियाँ थी। प्रथम अवस्था में कम्पनी ने भारतीय मित्र राजाओ को उनके युद्धों में सहायता के लिए अपनी सेना किराए पर दी, जैसे 1768 में निजाम से सन्धि का यही आधार था। दूसरी अवस्था में कम्पनी ने स्वयं अपने मित्रों की सहायता से युद्ध में भाग लिया। तीसरी अवस्था में भारतीय मित्रों ने सैनिकों के स्थान पर धन लिया। उस धन की सहायता से कम्पनी ने भारतीय मित्रों के लिए अंग्रेजी अफसरों की देखरेख में सेना भरती कर, उन्हें प्रशिक्षण और अस्त्र–शस्त्र इत्यादि देकर तैयार किया उदाहरणार्थ हैदराबाद की सन्धि (1798) । अन्तिम चरण में कम्पनी ने अपने मित्रों की सीमाओं की रक्षा का भार अपने ऊपर ले लिया और इसी उद्देश्य से अपनी एक सहायक सेना उस राज्य में रख दी। भारतीय मित्रों को इसके बदले अपने प्रदेश का एक भाग कम्पनी को देना पड़ता था जैसा कि 1800 की सन्धि में निज़ाम के साथ हुआ। सहायक सन्धियों से भारतीय राज्य निरस्त्र हो गए क्योंकि कम्पनी का संरक्षण प्राप्त होने से उन्हें अपनी सेना रखने की आवश्यकता नहीं रही। आपस में भारतीय शासक कोई संघ नहीं बना सकते थे। विशेषकर अंग्रेजों के विरूद्ध। इस प्रणाली से कम्पनी को भारतीय राजाओं के खर्चे पर एक बड़ी सेना मिल गई। कम्पनी को निज़ाम से 1800 में मैसूर के कई इलाके और अवध से रुहेलखंड तथा निचला दोआब मिला।

जिन राज्यों ने सहायक सन्धि स्वीकार की, वे थे हैदराबाद (1798 और 1800) मैसूर (1799), तंजोर (1799), अवध (1801), पेशवा (1801) बरार के भोंसले (1803), सिंधिया (1804), जोधपुर, जयपुर, मच्छेरी, बूँदी तथा भरतपुर। वेलेजली के पहले कम्पनी विभिन्न भारतीय शक्ति में से एक थी परन्तु वेलेजली के बाद वह समस्त भारत में सबसे शक्तिशाली बन गई। अव सम्पूर्ण भारत की सुरक्षा का उत्तरदायित्व कम्पनी ने ले लिया।

इतिहासकारों के विचार

पी. ई. राबर्ट्स (P. E. Roberts) : वैल्जली भारत के महान शासकों में से एक था। केवल क्लाइव हेस्टिंग्ज तथा डलहौजी ही उसकी तुलना कर सकते है। परन्तु वास्तविक सफलताओं में वह सफलतम था। वह भारत में उस शुभ घड़ी में आया जब वह एक महान् भूमिका निभा सका, जब हस्तक्षेप न करने की नीति समाप्त होने वाली थी और इसने इस अवसर का अधिकतम लाभ उठाया। वह अपनी अदम्य विस्तृत और साहसी नीति से आगे बढ़ा तथा उसने अंग्रेजी साम्राज्य को वह रूप दिया जो उस समय तक किसी ने भी नहीं सोचा था। यह सत्य है कि कालान्तर में यह अनुभव किया गया कि यह परिवर्तन अनिवार्य था। परंतु जहां अन्य लोग इसको देखते हुए भी पीछे हट गए, यह साहसपूर्वक आगे बढ़ा और न केवल इसका पूर्वानुमान लगाया अपितु आगे बढ़कर इसका स्वागत् किया। उसने देखा कि इग्लैण्ड के लिए भारत में विशिष्ट भूमिका निभाने के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं था।

हेनरी बेवरिज (Henry Beveridge) : वैल्जली ने स्पष्ट रूप से यह देखा कि अंग्रेज इतने आगे बढ़ गए है कि [illegible] है। या तो सारा प्राप्त कर लो या सारा खो दो। इसके अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं था। यदि वे आगे नहीं बढ़ते तो पीछे धकेल दिए जाएंगे। यदि वे अपनी पहुंच में आए साम्राज्य को छोड़ देते है तो निश्चय ही कोई अन्य शक्ति उस पर अधिकार कर लेगी। यह सब आरम्भ में ही मार्क्विस ने अनुभव कर लिया था और एक बार अपना मार्ग निश्चित करने के पश्चात उसने इसकी प्रणाली के रूप में, उत्कृष्ट कौशल तथा चकाचौंध करने वाली सफलतापूर्वक अनुसरण किया। हम उसके कुछ कार्यों को न्यायसंगत बुद्धिमत्तापूर्ण तथा नैतिक नही कह सकते।

फ़िलिप फ्रांसिस (Philip Francis) : सहायत सन्धि के सिद्धान्त को कार्यान्वित करने से अधिक सरल और प्रभावकारी कुछ नहीं हो सकता यदि आप एक बार निजाम, पेशवा अथवा किसी अन्य राजा अथवा जिससे आपकी विशेष मित्रता हो को यह विश्वास दिला दे कि उसकी सरकार अथवा वह स्वयं आपकी सहायता के बिना सुरक्षित नहीं तो आप कृतकार्य हो गए। सन्धि पर हस्ताक्षर होते ही आपकी सेना जो उस राज्य की सीमा पर उद्यत बैठी है, उस देश में प्रवेश कर उसकी राजधानी पर अधिकार कर लेती है तथा उसे उसके महल में सुरक्षित बैठा देती है। यदि वह अदूरदर्शी और ओछा है अथवा आपकी मित्रता के प्रमाणों को स्वीकार करने में शीघ्रता नहीं करता तो उसे मनाने के अन्य भी उपाय है। हाथ में खड्ग सबसे छोटा उपाय है। यदि आप वैल्जली के प्रतिनिधियों तथा अंग्रेजी सेना के पीछे–पीछे चले तो आप उन्हें प्रायद्वीप के दूरतम कोना में अपने साथ दासता तथा विध्वंसता ले जाते हुए पाएंगे। वे उन लोगों से कर प्राप्त करते थे जिनका नाम भी इंग्लैंड ने कैसा भी नहीं सुना था और फिर हम भारत के लोगों की निन्दा करते है कि ये लोग आक्रान्ता है और जब तकिक इस बड़े महाद्वीप में एक भी स्थानीय स्वतन्त्र राज्य शेष है, अंग्रेजों के संस्थानों के लिए कोई सुरक्षा सम्भव नही। हम उनके देश में उनकी अनैतिक महत्वाकांक्षाओं का दोषारोपण करने के लिए जाते हैं उन्हें अत्यधिक लालच के दोष का अपराधी ठहरा कर उनकी सम्पत्ति छीन लेते है।

अध्याय - 6

राजनीतिक बंदोबस्त (1817-1818)

(Political Settlement 1817-1818)

लार्ड हेस्टिंग्ज़ तथा भारतीय राज्य

भारत में आने से पूर्व लार्ड हेस्टिंग्ज 'प्रसारवादी' (Forward) नीति के बड़े आलोचक थें अप्रैल 1791 में हाऊस ऑफ लार्ड्स (House of Lords) में बोलते हुए उन्होंने टीपू सुलतान के विरुद्ध विजय की नीति तथा राज्य–विस्तार की कड़ी आलोचना की थी और इसी प्रकार वह बैल्ज़ली की नीति की भी आलोचना करते रहे।

परन्तु वह बार्लो (Barlow) से भी सहमत नहीं थे। उन्होंने अपने पूर्वाधिकारियों की नीति के विषय में कहा था–"हमारी प्रथम योजना यह है कि स्थानीय शक्तियों के मामलों में न उलझा जाए। दूसरी यह है कि उन सबको नियन्त्रण में लाया जाए। हमने आधे राज्यों को संरक्षण में लेकर शेष आधे राज्यों का शत्रु बना लिया है।" वह इस अनियमितता को समाप्त करना चाहते थे। दूसरे, वह पिण्डारियों के भय से भी पूर्णतया जागरूक थे। देश के भय के वातावरण को समाप्त करना तथा सुरक्षा स्थापित करना आवश्यक था। पिण्डारियों को समाप्त करने के लिए मराठों से झगड़ा करना आवश्यक था। इसके अतिरिक्त वह सिन्धियां, भोंसले तथा होलकर की शेष स्वतन्त्रता को भी समाप्त करना चाहता था। फरवरी 1814 में उसने अपनी डायरी में लिखा था, "हमारा उद्देश्य अंग्रेज शक्ति को सर्वश्रेष्ठ बनाना है, यदि ब्राह्य रूप से नहीं तो वास्तविक रूप से निश्चत ही। हमें शेष रियासतों को अपने अधीन करना है, यदि नाम मात्र नहीं तो वस्तुत : अवश्य"।

अतएवं हेस्टिंगज के भारत में तीन उद्देश्य थे :

1. पिण्डारियों का दमन
2. मराठों को कम्पनी के अधीन लाना तथा
3. छोटी–छोटी रियासतों को अंग्रेजी संरक्षण में लाना।

पिण्डारी

पिण्डारी शब्द की उत्पति के विषय में मतभेद है प्रायः यह स्वीकार किया जाता है कि यह शब्द मराठी भाषा से आया है। सम्भवतः पिण्ड जो एक प्रकार की आसव (ख़मीरा) शराब थी, ये उसके पीने वाले लोग थे। 18वीं और 19 वीं शताब्दियों में ये लोग केवल लूटमार ही करते थे।

इनका पहला उल्लेख मुगलों के महाराष्ट्र पर 1689 के आक्रमण के समय आता है। बाजीराव प्रथम के काल से ये अवैतनिक रूप में मराठों की ओर से लड़ते थे और केवल लूट में भाग लेते थे। पानीपत के युद्ध के पश्चात ये लोग मालवा में बस गए तथा सिन्धिया, होल्कर तथा निज़ाम के सहायक सैनिक बन गए। अब ये सिन्धिया शाही होल्कर शाही तथा निज़ाम शाही पिंडारी कहलाने लगे। मल्हार राव होल्कर ने इन्हें एक सुनहला झण्डा भी दे दिया। 1794 में सिन्धिया ने इन्हें नर्मदा घाटी में जागीर भी प्रदान की जिसका इन्होंने शीघ्र ही विस्तार कर लियां मेल्कन ने इन्हें मराठा शिकारियों के साथ शिकारी कुत्तों की उपमा दी थीं। मराठा शक्ति के क्षीण होते समय ये अधिक उभरने लगे। अब इन्होंने मराठा प्रदेश भी लुटने आरम्भ कर दिए। 18वीं शताब्दी में अव्यवस्था फैलने के कारण इनकी संख्या तथा कार्यक्षेत्र बढ़ते चले गए। वैल्जली के काल में अनेक राज्यों के विलय के समय अनेक अपदस्थ सैनिक इनमें सम्मिलित हो गए। अतः इनकी कोई विशेष जाति अथवा प्रदेश नहीं था।

इनका कोई धर्म–विशेष भी नहीं था, हिन्दू तथा मुसलमान दोनों ही इनके दल में सम्मिलित थे। केवल लूटमार के बन्धन थे। ये लोग गुप्त रूप से कार्य करते थे। प्रायः किसी देश के लूटे जाने के पश्चात् ही उनके आने का पता चलता था। बहुत से समकालीन अंग्रेज लेखकों ने पिण्डारियों की घृणित लुटमार का विवरण दिया है।

19वीं शताब्दी के आरम्भिक वर्ती में पिण्डारियों ने तीन प्रमुख नेता थे, चीतूए वासिल मुहम्मद तथा कसीम खां। पिण्डारियों ने अपने कार्यक्षेत्र का विस्तार कर लिया था। 1812 में उन्होंने अंग्रेजों के अधीन गिरज़ापुर तथा शाहाबाद ज़िलों पर आक्रमण किया। 1815 में उन्होंने निज़ाम के प्रदेश को लुटा तथा 1816 में उत्तरी सरकारों को।

लार्ड हेस्टिंग्ज ने इनके दमन का निश्चय किया। कोर्ट आफ डाइरेक्टर्ज से भी अनुमति मिल गई। उसने मराठा राजपूत तथा भोपाल के नावाब आदि से सहायता का वचन भी ले लिया स्मिथ, पी. इ राबर्टस, तथा एस. एम एडवर्डस जैसे देशभक्त ने इस झूठ को सर्वमान्य बना दिया है कि पिण्डारी, आफगान लुटेरे तथा मराठा सरदार से मिले हुए थे तथा दौलतराव सिन्धिया इनका नाम मात्र सरदार था। इसलिए जब हेस्टिंग्ज ने पिण्डारियों के विरुद्ध अभियान आरम्भ किया तो एक प्रकार से यह अभियान तृतीय मराठा युद्ध का भाग ही बन गया। परन्तु आधुनिक अनुसन्धानों ने यह सिद्ध कर दिया है कि मराठा सरदार इनकी लूटमार से दुःखी थे तथा दौलतराव सिन्धिया ने स्वयं अपनी सेना का प्रयोग इनको दबाने के लिए किया था। 1817 की ग्रीष्म ऋतु में सिन्धिया ने पिण्डारियों से एक निश्चित समझौता किया जिससे पिण्डारियों ने लूटमार छोड़ने का वचन दिया तथा कहा कि सिन्धिया द्वारा दी गई भूमि से ही वे अपना जीवन यापन करेंगे। गवर्नर–जनरल की परिषद् के उपाध्यक्ष एडमान्स्टन (Edmonstone) का निश्चित विश्वास था कि सिन्धिया पिण्डारियों के दमन तथा उनसे अपने सम्बन्ध विच्छेद करने का इच्छुक है। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि हेस्टिंग्ज सिन्धिया से युद्ध करना चाहत था और उसकी 23 दिसम्बर 1816 की नीति से यह स्पष्ट है कि वह नहीं चाहता था कि सिन्धिया पिण्डारियों से सम्बन्ध विच्छेद करे ताकि वह इस बहाने सिन्धिया तथा पिण्डारियों दोनों का दमन कर सके।

इस दोहरे उद्देश्य से हेस्टिंग्ज ने 113,000 सेना तथा 300 तोपें एकत्रित कर ली। उत्तरी सेना की कमान उसने स्वय ले ली तथा दक्षिणी सेना सर टॉमस हिसलोप को दे दी। 1817 तक पिण्डारी लोग चम्बल नदी के पार तक खदेड़ दिए गए थे तथा जनवरी 1818 तक उनके संगठित दल छिन्न–भिन्न कर दिए गए थे। करीम खां ने मेल्कम का आत्म–समर्पण कर दिया तथा उसे गोरखपुर जिले में एक छोटी–सी जागीर दे दी गई। वासिल मुहम्मद ने सिन्धियों के यहाँ शरण ली तथा 1819 उसे अंग्रेजों को सौंप दिया। जेल में उसने आत्महत्या कर ली। पिण्डारियों के तीसरे नेता को जो जगल में भाग गया था शेर ने मार दिया। 1824 तक पिण्डारियों का सफाया हो गया तथा उनका नाम तक भूल सा गया। डफ के अनुसार उनकी कुछ टुकड़ियाँ दक्कन में पेशवा से युद्ध समाप्त होने तक दिखाई देती रही।

हेस्टिंग्ज की मराठा नीति

हेस्टिंग्ज का उद्देश्य अंग्रेजों को भारत में सर्वश्रेष्ठ शक्ति बनाने का था। उसके लिए सिन्धिया भोंसले तथा होल्कर का अन्त आवश्यक था। अतएवं उसने युद्ध की तैयारी की। मराठों के प्रदेश में अव्यवस्था फैली थी जिससे उसका कार्य और भी सरल हो गया। बरार का शासक भोंसले इनमें सबसे निर्बल था। राधोजी भोंसले की 22 मार्च, 1816 को हुई मृत्यु के पश्चात् उसका दुर्बल पुत्र परशुजी गद्दी पर बैठा। राजमाता बुकाबाई तथा राजा के चचेरे भाई आप्पा सहिब के बीच राजा के सरंक्षक होने पर झगड़ा था क्योंकि आप्पा साहिब अपने को परशुजी का उत्तराधिकारी मानते थे। ब्रिटिश रेजीडेन्ट श्री जेन्किन्ज ने इसको सहायक सन्धि पर हस्ताक्षर करवाने का अवसर समझा। आप्पा साहिब अंग्रेजी सहायता चाहते थे और वह हैदराबाद तथा मैसीन की सन्धियों से अधिक अनुकूल शर्तें स्वीकार करने को उद्यत थे। 17 मई, 1716 को उन्होंने नागपुर की सन्धि की जिसके अनुसार पदातियों की 6 बटालियनें घुड़सवार रेजिमेन्ट तथा एक यूरोपीय तोपखाने का दस्ता नागपुर में रख दिया गया। इसके व्यय के लिए उसे 7 1/2 लाख रुपया वार्षिक देना था। इसके अतिरिक्त भोंसले के विदेशी मामले कम्पनी के आधीन कर दिए गए। इस प्रकार एक सामरिक महत्त्व का नगर नागपुर कम्पनी के अधीन आ गया। मेल्कम के अनुसार यह अंग्रेजों के लिए एक बहुत भाग्यशाली घटना थी और इससे मराठा सघ पर घातक प्रहार हुआ।

वसीन की सन्धि (31.12.1802) से ही पेशवा बाजीराव को अंग्रेजों की अधीनता बहुत–खलती थी क्योंकि अंग्रेजी दबाव उन पर प्रतिदिन बढ़ता जा रहा था। कम्पनी ने पेशवा को एक नये "छः धाराओं के प्रतिज्ञा–पत्र" पर हस्ताक्षर करने पर बाध्य किया (7 जुलाई, 1812) जिससे दक्षिणी जागीरदारों को उनकी जागीरे पुनः मिल गई। 1814 में पेशवा में कर के रूप में लगभग एक करोड़ की माँग बड़ौदा के गायकवाड़ से (जो कि अंग्रेजों का सुरक्षित था) अपने अधीनस्थ होने के रूप में प्रस्तुत की। गायकवाड़ ने उल्टी माँग प्रस्तुत की। कम्पनी के कहने पर गायकवाड़ ने अपना दूत गंगाधर शास्त्री पूना भेजा। लौटते समय नासिक के स्थान पर पेशवा के प्रधान मंत्री त्रिम्बकजी के कहने पर गंगाधर का वध कर दिया गया। एलफिंस्टन (Elphinston, जो ब्रिटिश रेजिडेन्ट थे, ने पेश्वा से त्रिम्बकजी अक्टूबर 1816 में थाना जेल से भाग निकल। दूसरी ओर लार्ड हेस्टिंग्ज नेपाल युद्ध से निवृत्त हो गया था। उसने एल्फिस्टन को लिखा कि वह पेशवा से एक निश्चित काल के अन्दर अन्दर त्रेम्बकजी के पुनः लौटने की माँग करे तथा भविष्य में अच्छे आचरण की जमानत दे। यदि पेशवा विलम्ब करे तो तुरंत उसे शत्रु घोषित कर युद्ध की घोषणा कर दे। बम्बई, मद्रास तथा हैदराबाद में सेनाओं को प्रस्तुत रहने को कहा गया। 7 मई, 1817 को एल्फिंस्टन (Elphinstone) ने पेशवा से कहा कि एक मास के भीतर–भीतर त्रिम्बकजी को पेश करो तथा रायगढ़ सिंहगढ़ तथा पुरन्दर

के दुर्ग भी जमानत के रूप में हमारे हवाले कर दो। पेशवा युद्ध अथवा आज्ञा स्वीकार करने के विषय में सोच ही रहा था। कि कर्नल स्मिथ (Colonel Smith) ने पूना का घेरा डाल दिया तथा दुर्ग अपने अधिकार में ले लिया। 13 जून 1817 को पेशवा ने पूर्णतया हथियार डाल दिए तथा एक नई सन्धि पर हस्ताक्षर किए। जिसके अनुसार :

1. मराठा संघ समाप्त हो गया।
2. पेशवा अंग्रेज रेजीडेन्ट के द्वारा ही किसी अन्य शक्ति से सम्बन्ध रखेगा।
3. पेशवा ने गायकवाड़ पर अपनी 4 लाख रुपया वार्षिक की माँग छोड़ दी।
4. पेशवा ने अहमद नगर के दुर्ग, बुन्देलखण्ड, मालवा तथा शेष भारत के अधिकार कम्पनी को दे दिए।
5. पेशवा ने यह भी स्वीकार किया कि कम्पनी यदि चाहे तो पूना में अपनी सेना रख सकती है तथा उसके क्षेत्र में से कम्पनी अपने सेवक भेज सकती है।

नागपुर तथा पुना की सन्धियों से कम्पनी को निश्चित राजनैतिक तथा सैनिक लाभ हुए तथा कम्पनी सर्वश्रेष्ठता की ओर अग्रसर हुई।

सिन्धिया से सन्धि (5 नवम्बर, 1817)

सितम्बर 1817 में लार्ड हेस्टिंग्ज एक विशाल सेना लेकर कानपुर पहुंचा तथा सिन्धियां को एक सन्धि करने को कहा, विलम्ब करने पर युद्ध की धमकी दी। अन्त में सिन्धिया ने एक बहुत ही लज्जाजनक सन्धि स्वीकार की जिसके अनुसार :

1. महाराजा ने 5000 सैनिक पिण्डारियों के विरुद्ध अभियान के लिए देना स्वीकार किया।
2. सिन्धिया अपनी सेना नहीं बढ़ाएगा तथा पिण्डारियों के विरुद्ध जो कार्य उसे दिया जाएगा करेगा।
3. पिण्डारियों के विरुद्ध अभियान के दिनों में असीरगढ़ तथा हिन्दिया के दुर्गों में अंग्रेजी सेना रहेगी। अभियान के अन्त में दुर्ग लौटा दिए जाऐंगे।
4. पिण्डारियों को दी गई भूमि उनके वास्तविक स्वामियों को लोटा दी जाएगी।
5. 1805 की सन्धि के अनुसार राजस्थान की शेष रियासतों से कम्पनी के बातचीत करने पर जो रोक थी वह समाप्त हो गई है।

बाह्य रूप से सिन्धिया अभी भी स्वाधीन था तथा उसके सम्बन्ध कम्पनी से केवल 'मित्रवत' ही थे परन्तु वास्तव में उसकी स्थिति दयनीय हो गई। मराठे अपनी स्वाधीनता खो कर दुःखी थे तथा उन्होंने पेशवा के अधीन मिलकर अंग्रेजों से टक्कर लेने के सोची। पूना की रेजीडन्सी (Residency) पर आक्रमण कर उसे जला दिया गया। अंग्रेजों ने पेशवा की एक विशाल सेना को किर्की के स्थान पर मात दी (5.11.1817)। 17 नवम्बर को स्मिथ ने पूना पर अधिकार कर लिया। पेशवा स्थान–स्थान पर भागता फिरता रहा। कोरेगांव (1.1.1818) तथा अष्टी (20 फरवरी) की पराजय से पेशवा का भाग्य पूर्णतया अस्त हो गया।

नागपुर के आप्पा साहिब (जो परशुजी भोंसले की हत्या करके गद्दी पर बैठ गए थे) ने 26 नवम्बर 1817 को अंग्रेज़ों के विरुद्ध युद्ध घोषित कर दिया परन्तु सीताबर्डी के स्थान पर हार खाई। इन्दौर से आई होल्कर की सेना भी महीदपुर के स्थान पर (21.12.1817) हार गई।

हेस्टिंग्ज के मराठों के राजनैतिक फैसले

हेस्टंग्ज ने बाजीराव द्वितीय तथा पेशवा के प्रश्न, दोनों का हल करने की सोची। बाजीराव को गद्दी से उतार कर 18 लाख रुपय वार्षिक प्रेन्शन देकर कानपुर के समीप बिठूर के स्थान पर भेज दिया गया। सतारा की गदी शिवाजी के वंशज प्रताप सिंह को दे दी गई उसे पर्याप्त प्रतिष्ठापूर्वक रहने के लिए प्रदेश भी दे दिया गया। शेष प्रदेश अंग्रेजी राज्य में मिला लिया गया।

होल्कर ने 6.1.1818 को मन्दसौर की सन्धि से खानदेश साहित नर्मदा नदी के पार का समस्त क्षेत्र कम्पनी को दे दिया। उसने अमीर खां की स्वतन्त्रता प्रमाणित कर दी। उसने अमीर खां की स्वतन्त्रता प्रमाणित कर दी। राजपूत रियासतों पर से तथा कोटा को जालिम सिंह को अधीन परगनों पर अपना अधिकार छोड़ दिया। उसने सहायक सेना रखना तथा अपने विदेशी मामले कम्पनी के अधीन करना स्वीकार कर लिया। उसे अब पेशवा की अधीनता से भी मुक्ति मिल गई। शासक चूंकि उस समय केवल 11 वर्ष का था। अतएवं तातिया जोग वहाँ का मुख्यमंत्री बनाया गया तथा इन्दौर राजधानी बना दी गई।

इसी प्रकार भोंसले की सन्धि भी बहुत कठोर थी। नर्मदा के उत्तर में उसके प्रदेश छीन लिए गए। [illegible] को इस कटी–छंटी रियासत का राजा स्वीकार कर लिया गया। राजा अल्प–व्यस्क था इसलिए ब्रिटिश रेजीडेन्ट ने उसका शासन संभाल लिया। जिला प्रशासन यूरोपीयों के आधीन हो गया। टकसाल तथा वित्त विभाग भी अंग्रेजों के नियंत्रण में रख दिए गए।

जून 1818 में सिन्धिया को एक नई सन्धि मानने पर विवश किया गया। उसने अजमेर अंग्रेजों का तथा इस्लाम नगर का प्रदेश कम्पनी की आज्ञा पर भोपाल के नवाब को दे दिए। सन्धिया ने बिना युद्ध ही अंग्रेजी सर्वश्रेष्ठता स्वीकार कर ली तथा गार्जीयनशिप भी रख लिया। उसने स्वयं ही राजस्थान का प्रभुत्व त्याग दिया तथा अपने अधीनस्थ राजाओं के बीच कम्पनी की मध्यस्थता स्वीकार कर ली। नाममात्र में वह स्वतन्त्र था परन्तु यह स्वतन्त्रता होल्कर अथवा अवध जैसी ही थी।

मराठा युद्ध से हेस्टिंग्ज के उद्देश्य, आकांक्षाए तथा स्वप्न साकार हो गए। मराठा शक्ति नी नष्ट कर दी गई तथा एक विस्तृत प्रदेश भी उसे मिल गया।

राजपूत रियासतों से सम्बन्ध

यद्यपि वैल्जली ने जयपुर से एक सन्धि की थी परन्तु इंग्लैड के आदेशों पर वह सन्धि कॉर्नवालिस तथा बार्लो के काल में रद्द कर दी गई थी। 1805 में सिन्धिया ने राजपूत रियासतों से सन्धिया न करने का वचन दिया था। बार्लो ने भी राजपूत रियासतों को दिया संरक्षण का वचन लौटा लिया था राजपूत रियासतों पर मराठे सरदार ही भिन्न–भिन्न प्रकार से नियन्त्रण रखते थे तथा उनसे कर प्राप्त करते थे।

लार्ड हेस्टिंग्ज की कम्पनी की सर्वश्रेष्ठता की योजना यह थी कि रियासतें आपसी सम्बन्धों में कम्पनी के आधीन हो तथा इन राज्यों के सैनिक साधन कम्पनी के आधीन हो। नवम्बर 1817 में सिन्धिया ने राजपूत राजाओं पर अपना प्रभुत्व छोड़ दिया था और यह कम्पनी को मिल गया था।

राजपूत रियासतें तो चिरकाल से अंग्रेजों के साथ रक्षात्मक सन्धियां करना चाहती थीं कई बार उन्होंने इस विषय में प्रयत्न किए परन्तु किसी अन्य गर्वनर–जनरल ने कोई ध्यान नहीं दिया। हेस्टिंग्ज मराठों को समाप्त करना चाहता था अतएव वह राजपूत रियासतों को अपने प्राकृतिक मित्र तथा मराठों को प्राकृतिक वैरी मानता था। इनको अपने संरक्षण में लेकर मराठों की शक्ति को कम करना तथा अपने राज्य को विस्तृत करना चाहता था। इससे उत्तर में सिक्खों को रोकने में भी सहायता मिलती थी।

उसने दिल्ली में ब्रिटिश रेजीडेन्ट चालर्स मेटकाफ (British Resident Charles Metcalfe) को राजस्थान के तीन बड़े राज्य जोधपुर, जयपुर तथा उदयपुर से सन्धियों के विष्य में बातचीत करने को कहा इसके अतिरिक्त अन्य छोटी–छोटी रियासतों कोटा बूंदी करौली, बीकानेर, जैसलमेर तथा बांसवाड़ा, डूंगरपुर तथा प्रतापगढ़ जो उदयपुर वंश से ही थी, सबके संग सन्धिया की गई

मैटकाफ ने मारवाड़ को विश्वास दिलाया की कम्पनी की उनके आन्तरिक मामलों तथा अधीनस्थ रजवाड़ा से उनके सम्बन्धों में हस्तक्षेप करने की कोई इच्छा नहीं है। अन्त में जोधपुर से 6.1.1818 को सन्धि हो गई। इस सन्धि का आधार शाश्वत मित्रता, रक्षात्मक सन्धि, संरक्षण तथा अधीनस्थ राजवाडों से उनके सम्बन्धों में हस्तक्षेप करने की कोई इच्छा नहीं है। अन्त में जोधपुर से 6.1.1818 को सन्धि हो गई। इस सन्धि का आधार शाश्वत। मित्रता, रक्षात्मक सन्धि, संरक्षण तथा अधीनस्थ सहयोग था इसके अनुसार राज्य को 1500 घुडसवारों की एक सेना कम्पनी की सेवा के लिए देनी होगी। आवश्यकता पड़ने पर सम्पूर्ण सेना तक देनी होगी। इसके अतिरिक्त रियासत कम्पनी को एक लाख आठ हजार रुपया वार्षिक कर के रूप में देगी

उदयपुर ने "सर्वश्रेष्ठता तथा अधीनस्थ सहयोग" आदि शब्दों पर आपत्ति की परन्तु मेटकाफ ने यह सन्देह दूर कर दिए। 13.1.1818 को उदयपुर से भी सन्धि हो गई। महाराणा को कोई सेना नहीं देनी थी परन्तु आने वाले वर्षों तक कम्पनी को का 1/2 भाग तथा तदनन्तर 3/8 भाग कम्पनी को देना था। इस सन्धि से कम्पनी को बहुत आत्मबल मिला।

जयपुर महाराजा ने भी अन्त में सन्धि कर ली। मेटकाफ ने उसे धमकी दी कि यदि वह सन्धि नहीं करेगा तो वह उसके अधीनस्थ रजवाड़ों से सीधी सन्धि कर लेगा। अतएवं उसने भी मारवाड़ के राजा की नई सन्धि कर ली। 12 दिसम्बर 1818

हेस्टिंग्ज की राजपूत रियासतों से सन्धियाँ बहुत कठोर थीं। इन राज्यों में कम्पनी का कभी विरोध नहीं किया। [illegible] भी इन राजाओं की प्राचीन स्वतंत्रता के पुनः स्थापन के लिए प्रयत्न किए। कोर्ट आफ डाइरेक्टर्स ने भी आज्ञा दी थी जिनमें इन सन्धियो को त्याग देने की बात कहीं गई थी तथा इन शर्तों को छोड़ने का प्रस्ताव [illegible] कुछ नहीं किया गया। इस प्रकार सम्राज्यवाद की बाढ़ में राजपूत रियासतों की स्वतंत्रता बह गई।

मुगल सम्राट से व्यवहार

यद्यपि कम्पनी भारत में सर्वश्रेष्ट बन–चुकी थी परन्तु बाह्य आडम्बर तथा सम्मान मुगलों को ही था। गर्वनर–जनरल भी जो पत्र मुगल सम्राट को लिखता था वह एक अर्जदाश्त (Petition) ही होती थी और सम्राट कम्पनी के लिए "हमारा विशेष कृपापात्र भृत्य, आदरणीय पुत्र" इत्यादि शब्दों को प्रयोग करता था। गर्वनर–जनरल की मुद्धा (Seal) में भी "सम्राट का भृत्य" शब्द लिखे थे। अतएवं कम्पनी की सर्वश्रेष्ठता को मनवाने की प्रक्रिया असम्पर्ण ही थी। जब लार्ड हेस्टिग्ज दौरे पर आया तो उसने सम्राट को उस समय तक मिलने से मनाही कर दी जब तक कि पुराना शिष्टाचार इत्यादि समाप्त न कर दिया जाए तथा दानों बराबरी की अवस्था में न मिलें। हेस्टिग्ज के इस प्रतिवाद (Protest) का यह प्रभाव हुआ कि हेस्टिग्ज का उत्तराधिकारी एमहर्स्ट 1827 में सम्राट से बराबरी के सम्मान से मिला।

हेस्टिग्ज के प्रशासनिक सुधार

यद्यपि हेस्टिग्ज युद्ध–क्षेत्र में अधिक सिद्धहस्त था परन्तु उसके काल में कुछ महत्त्वपूर्ण प्रशासनिक सुधार भी हुए। सौभाग्य से उसे सर जॉन मिल्कम, सर टॉमस मनरो, माउंट स्टूअर्ट, एल्फिन्स्टन, जेनकिन्ज तथा चार्ल्स मेटकाफ् जैसे प्रतिभाशाली प्रशासकों का योगदान मिला।

टॉमस मनरो 1820 मे मद्रास का गर्वनर बना और उसने मालाबार, कन्नड़ कोइम्बटूर मदुरै तथा डिण्डीगुल में रैयतवाड़ी पर व्यवस्था लागू की जिसमें कृषकों को भूमि का स्वामी माना गया तथा बिना किसी जमींदार अथवा ग्राम समाज के विचौलिए के, सीधे भूमिकर देना होता था।

एल्फिन्स्टन को पेशवा से प्राप्त किए हुए प्रदेश की भूमि कर व्यवस्था करनी थी। उसने बम्बई में महलवाड़ी तथा रैयतवाड़ी प्रणाली के सम्मिश्रण से इस प्रदेश की भूमि कर व्यवस्था की। इसमें कृपाक के अधिकार सर्वेक्षण के पश्चात निश्चित किए गए तथा भूमिकर के संग्रह आदि का कार्य कुछ वार्तो के लिए पाटिलों को सौंप दिया गया।

बंगाल में रैयत के अधिकारों को सुरक्षित करने के लिए 1822 में बंगाल काश्तकारी अधिनियम (Bengal Tenancy Act) पारित किया गया जिससे यदि रेयत अपना निश्चित किराया आदि देती रहे तो उसे विस्थापित नहीं किया जा सकता, दूसरे किराया भी विशेष परिस्थितियों को छोड़ कर बढ़ाया भी नहीं जा सकता था।

हेस्टिग्ज ने कॉर्नवालिस की न्याय प्रणाली में कुछ सुधार किए। बंगाल में न्यायाधीशों तथा दण्डनायकों (Magistrates) की पृथकता समाप्त कर दी गई तथा कलक्टरों को दण्डनायक का कार्य करने की भी अनुमति हो गई।

हेस्टिग्ज ने प्रैस से नियन्त्रण भी उठा लिए परन्तु सरकार ने समाचारपत्रों के मार्गदर्शन के लिए कुछ नियम बना दिए ताकि ऐसे समाचार प्रकाशित न हों जिससे लोक हित की हानि हो।

अध्याय - 7

ब्रिटिश साम्राज्य का विस्तार (1818-1852)

1857 के महाविद्रोह से पहले के सौ वर्षों में अंग्रेज भारत में साम्राज्य–विस्तार करते हैं और इस महाविद्रोह तक सारे भारतीय महाद्वीप पर प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से अंग्रेजों का अधिकार हो गया। इतिहासकार यह मानते हैं कि इस प्रक्रिया में सन् 1820 के लगभग एक निर्णायक मोड़ आया इस समय तक मराठों की शक्ति समाप्त कर दी गई थी और भारत में कोई ऐसा राज्य नहीं रह गया था जो अंग्रेजों को गंभीर चुनौती दे पाता। इससे भारत में ईस्ट इंडिया कम्पनी के अधिकारियों में आत्म विश्वास बढ़ा था। युरोप में भी अंग्रेजों को आत्मविश्वास बहुत बढ़ गया था। इसके मुख्यतः दो कारण थे पहला तो यह कि नेपोलियन की शक्ति को समाप्त करने में ब्रिटेन प्रमुख भूमिका निभाई थी। इससे एक ओर तो नेपोलियन की महत्त्वाकांक्षाओं से उभरने वाला खतरा समाप्त हो गया था और दूसरी ओर ब्रिटेन की यूरोप प्रतिष्ठा बढ़ गई थी। आत्मविश्वास बढ़ने का दूसरा और अधिक महत्त्वपूर्ण कारण यह था कि इससे पहले के पचास वर्ष ब्रिटेन में अभूतपूर्व गति से आर्थिक विकास के वर्ष थे। औद्योगिक क्रान्ति के आर्थिक लाभ सामने आने लगे थे। 1820 के बाद के दशकों में भारत में साम्राज्य विस्तार की प्रक्रिया जारी रही। इस प्रक्रिया का ब्रिटेन की आर्थिक आवश्यकताओं से सीधा सम्बन्ध था।

1820 से 1856 तक भारत में कई राज्य ब्रिटिश साम्राज्य में मिलाए गए। इनका कुल क्षेत्रफल लगभग 3 लाख 80 हजार वर्गमील और कुल जनसंख्या 3 करोड़ 18 लाख थीं क्षेत्र तथा जनसंख्या की सापेक्ष स्थिति का जायजा देने के लिए यह कह दिया जाए कि सन् 1851 में ब्रिटेन का अपना क्षेत्रफल 89,000 वर्गमील और जनसंख्या 2 करोड़ 8 लाख थी। इस दौरान ब्रिटिश साम्राज्य में मिलाए गए राज्यों को नाम, इन पर अधिकार करने का वर्ष और जनसंख्या के बारे में बताया गया है।

विस्तार की नीति का विभिन्न राज्यों के आकार शासन के स्वरूप तथा भौगोलिक स्थिति में अन्तर से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं था। सिन्ध व पंजाब उत्तर–पश्चिम में स्थित सीमावर्ती राज्य थे। झाँसी, नागपुर, बरार व अवध जैसे राज्य चारों ओर अंग्रेजी सम्राज्य से घिरे हुए थे। जहाँ पंजाब व बरार 75,000 वर्ग किलोमीटर से भी अधिक क्षेत्र में फैले हुए थे पंजाब स्थित फिरोजपुर व वघाट, उड़ीसा स्थित उदयपुर और बुंदेलखंड स्थित जैतपुर इतने छोटे थे कि इन्हें इसमें शामिल ही नहीं किया गया है। इन क्षेत्रों पर अधिकार करने के अलावा इस समय बर्मा और अफगानिस्तान की ओर अभियान भेजे गए। इनका विस्तार पड़ोसी राज्यों के साथ सम्बन्धों के विश्लेषण के अन्तर्गत दिया गया है।

यह उल्लेखनीय है कि भारत में इस तीव्र गति से विस्तार ऐसे समय हुआ जो ब्रिटेन तथा विश्व के इतिहास में साम्राज्यवादी विस्तार का समय नहीं माना जाता। यही स्वीकार किया जाता है कि पुरातन औपनिवेशिक युग अमरीका के स्वतन्त्रता युद्ध के साथ ही अठारहवीं शताब्दी में समाप्त हो गया। नवीन साम्राज्यवादी युग का प्रारम्भ 1870 के दशक से हुआ। इसके बीच में उन्नसवी शताब्दी के मध्य के दशकों को गैर–साम्राज्यवादी युग' यहाँ तक कि 'साम्राज्य–विरोधी युग कहा जाता रहा है। ब्रिटिश इतिहासकार यह तर्क देते रहे कि उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य के दशकों में मुक्त व्यापार सम्बन्धी उदारवादी विचारधारा सर्वाधिक प्रभावी रही। राजनीतिक चिंतक और राजनेता इस विचार के कायल हो गए कि ससार में मुक्त व्यापार की स्थापना मानवता के विकास व ब्रिटिश अर्थव्यवस्था के लिए लाभकारी है। परन्तु अब यह स्वीकार किया जाने लगा है कि सन 1815 से पूर्व के और बाद के 50 वर्षों में समान गति से साम्राज्य विस्तार किया गया। आँकड़ों के आधार पर यह माना गया है कि 1815 से 1865 तक के 50 वर्षों में ब्रिटिश साम्राज्य का 1,000,000 वर्गमील विस्तार किया गया और 1865 से 1914 तक के 50 वर्षों में भी इतना ही विस्तार किया गया।

यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि भारत में तीव्र गति से साम्राज्य विस्तार करने के पीछे उद्देश्य क्या थे। यह प्रश्न न केवल ही महत्त्वपूर्ण नहीं हुआ है बल्कि समकालीन लोगों के लिए भी इस प्रश्न का बहुत महत्त्व था। अंग्रेज अपने देशवासियों की दृष्टि में साम्राज्य विस्तार की नीति को न्यायसंगत ठहराना चाहते थे। वे यह भी चाहते थे कि भारतीय इस विस्तार को स्वीकार माने। इसलिए उन्होंने अपने उद्देश्यों को उसी समय परिभाषित करना शुरु कर दिया था। इतिहासकारों व अर्थशास्त्रियों के लिए तो इस प्रश्न में रुचि लेना स्वाभाविक ही था। इस प्रकार इस प्रश्न पर बहुत–सी धारणाएँ उभरी जो बार–बार दोहराई जाती रही और साम्राज्य सम्बन्धी साहित्य का अभिन्न अंग बन गई। परन्तु विस्तार के उद्देश्यों के विश्लेषण में यह ध्यान रखना जरूरी है कि साम्राज्यवाद ऐसी स्थिति है जो स्वयं नहीं उपजती। इसे पैदा किया अथवा प्राप्त किया जाता है।

प्राप्त करने का साधन है अन्य राज्यों व क्षेत्रों पर अधिकार करने की आवश्यकता अथवा उद्देश्य का कार्य रूप देना इसलिए भारत में, या कहीं पर भी, साम्राज्यवादी प्रक्रिया को समझने के लिए उन आवेगों व आवश्यकताओं का विश्लेषण करना आवश्यक है जिन्होंने किसी देश द्वारा प्राद्यान्य स्थापित करने की प्रक्रिया को सम्भव बनाया। जैसा कि हम देखेंगे इस समय भारत में विस्तार तथा ब्रिटिश अर्थव्यवस्था की आवश्यकताओं में गहरा सम्बन्ध था।

यहाँ पहले एक–एक करके उन धारणाओं को प्रस्तुत किया गया है जो भारत में ब्रिटिश साम्राज्य के संदर्भ में उभरी। फिर ब्रिटेन में औद्योगिक क्रान्ति के इस चरण की आवश्यकताओं व कठिनाइयों का सार दिया गया है जिनके फलस्वरूप भारत में क्षेत्रीय विस्तार करके यहाँ से कच्चा माल प्राप्त करने और मंडियों का विस्तार करने के तरीके सुझाए जा रहे थे अंततः इस माध्यम में भारत के विभिन्न भागों में विस्तार की प्रक्रिया का सार दिया गया है। स्पष्टतः यह माना गया कि सीधा राजनीतिक नियत्रण ही संपूर्ण आर्थिक लाभ उठाने का प्रभावशाली तरीका है। प्रत्येक गर्वनर जनरल पर अधिकतम क्षेत्र पर अधिकार करने के लिए दबाव बनाए रख गया। कभी–कभी न्यायिक आधार पर किसी राज्य का कब्जा करने की आलोचना हुई परन्तु शायद ही किसी राज्य को लौटाया या पुनः स्थापित किया गया।

साम्राज्य-विस्तार सम्बन्धी धारणाएँ

भारत में साम्राज्य–विस्तार सम्बन्धी बहुचर्चित मिथक यह रहा है कि भारत में विस्तार करने के पीछे कोई विशेष उद्देश्य नहीं थे तथा आकस्मिक घटनाओं के कारण अथवा अनजाने ही भारत पर कब्जा कर लिया गया। यह तर्क केब्रिज विश्वविद्यालय के रिजियस प्रोफेसर सर जोन सीले के नाम के साथ जुड़ा हुआ है जिन्होंने 1891 में प्रकाशित पुस्तक द एक्सपेन्शन ऑफ इंग्लैण्ड में इसका प्रतिपादन किया। इसमें इन्होंने लिखा 'हमारा भारतीय साम्राज्य आँख मूँद कर स्थापित कर लिया गया। अंग्रेजों की महान उपलब्धियों में से कोई भी इतनी अनेच्छिक अथवा आकस्मिक नहीं है जितनी कि भारत पर विजय'। ये वाक्य भारत में अंग्रेजी साम्राज्य की स्थापना सम्बन्धी हर विवरण का अभिन्न अंग बन गए। यह पुस्तक इतनी लोकप्रिय हुई कि दो साल में इसकी 80,000 प्रतियाँ बिकी। अंग्रेज यह सोच कर गर्व अनुभव करने लगे कि उन्होंने आकस्मिक परिस्थितियों का लाभ उठाकर एक शानदार साम्राज्य स्थापित कर लिया था। इस आधार पर यह मानना भी सम्भव हो गया कि उनकी नीति आक्रामक नहीं बल्कि शांति प्रिय व व्यावहारिक थी। इस मिथक को इतनी बार दोहराया गया कि साम्राज्य के छिन्न–भिन्न हो जाने के कई दशक बाद आज भी बहुत से इतिहासकार इसे दोहराते हैं। परंतु वास्तव में यह तर्क साम्राज्य के संरचनात्मक आधार को नकारने की प्रवृत्ति का घोतक है। यह कहना सही नहीं है कि ब्रिटिश साम्राज्य के विस्तार का कोई तार्किक आधार नहीं थां अथवा अंग्रेजों में विस्तार की इच्छा नहीं थी। ईस्ट इंडिया कम्पनी ने बहुत लगन और कटिबद्धता से भारत के विभिन्न भागों पर पहले अपना प्रभाव बढ़ाया और फिर इन्हें प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से हस्तगत कर लिया। ब्रिटेन के व्यापारी, उत्पादक और उपभोक्ता भी भारत से प्राप्त होने वाले लाभों के प्रति पूर्णतः सजग थे और कम्पनी पर विस्तार के लिए निरंतर दबाव डालते रहते थे।

कुछ इतिहासकारों ने ब्रिटिश साम्राज्य के विस्तार को उंपातिक (Peripheral) परिस्थितियों का परिणाम माना है। ये तर्क देते हैं कि सम्राज्यवाद के कारण साम्राज्यिक केन्द्र अर्थात् ब्रिटेन में नहीं बल्कि उपांत में अर्थात उन क्षेत्रों में ढूढँने चाहिए जहाँ उपनिवेशीकरण हुआ। उदाहरण के लिए, इतिहासकार क्रिस्टोफर बेली ब्रिटेन द्वारा भारत में साम्राज्य विस्तार का विश्लेषण करते हुए दो कारण देते है–एक साम्राज्य की विस्तृत सीमाओं के प्रति असुरक्षा की भावना और दूसरा, राजस्व को बढ़ाना। उपांत में स्थिति पर शोधकार्य से कुछ नए पहलुओं पर प्रकाश अवश्य पड़ा है। परंतु विस्तार की प्रक्रिया में इस पहलू का विश्लेषण अधिक अर्थपूर्ण है कि विस्तार करने वाले के उद्देश्य क्या थे। उपांत में परिस्थितियाँ तो केवल विस्तार को सम्भव बना सकती है, स्वयं विस्तार की अभिप्रेरणा नहीं हो सकती। इस कारण साम्राज्यिक केन्द्र को छोडकर उपांत में स्थिति के विश्लेषण में साम्राज्यवाद के कारणों का अध्ययन अपूर्ण–सा रह जाता है। इस संदर्भ मे यह कह देना भी आवश्यक है कि विस्तार केवल भारत में ही नहीं हुआ बल्कि विश्व के अन्य भागों में भी हुआ। उपांतिक कारणों पर अर्थात् भारत में ही स्थिति पर ध्यान केंद्रित करने से यह स्पष्ट नहीं होता कि ब्रिटेन ने संसार के अन्य भागों में भी विस्तार क्यों किया। अंग्रेज अधिकारी भी यह तर्क देते रहे कि विस्तार करने का उद्देश्य सामरिक था अर्थात् स्थिर व सुरक्षित सीमा स्थापित करना थां इसी कारण बर्मा, सिन्ध; पंजाब व बर्मा पर अधिकार किया गया। यह भी कहा गया है कि सीमा पर स्थित राज्यों पर अधिकार करने के बाद भी सीमांत प्रदेशों में अस्थिरता बनी रहती थी जिसमें एक के बाद एक युद्ध करना पड़ता थां दूसरे शब्दों में 'अशांत सीमाओं' पर स्थिरता लाने के लिए विस्तार करना पड़ा इसी संदर्भ में यह तर्क दिया जाता है कि भारत की सीमाओं पर खतरा बना रहता था–पूर्व में फ्रांस की महत्त्वाकांक्षाओं से और उत्तर-पश्चिम में रूस की महत्वा कांक्षाओं के कारण। इसलिए

समस्या केवल सीमाओं पर अशांति की ही नहीं थी बल्कि सुरक्षा प्रदान करने की भी थी यह भी कहा जाता है कि भ के भीतर भी अंग्रेज आश्रित राज्यों में अस्थिरता से खतरा महसूस करते थे। इसलिए एक के बाद एक राज्य को मिलाया किया गया। परंतु इस संदर्भ में इस ओर ध्यान देना आवश्यक है कि सामरिक कारण स्वयं में उद्देश्य नहीं प्रदान कर सकते सतर्कता अथवा सीमाओं को हर कीमत पर सुरक्षित बनाने की कटिबद्धता मौजूदा या अपेक्षित हितों को सुरक्षित करने के लि बरती जाती है और इस संदर्भ में साम्राज्य विस्तार के कारण इन हितों के विश्लेषण में ढूँढने होंगे।

इसी प्रकार का यह भी तर्क दिया जाता है कि उस समय संचार के साधन सुगम नहीं थ और कलकत्ता से पूर्व पत्र उत्तर लंदन तक आते–आते एक वर्ष तक लग जाता था। इससे उपनिवेशों के अधिकारियों पर नियत्रण करना कठिन अपनी निजी महत्त्वाकाक्षाएँ पूर्ण करने के लिए मौके पर उपस्थित अधिकारी सक्रिय कदम उठा लेते थ जिनसे युद्ध छिड जाते था। परंतु इतने व्यापक स्तर पर अनवरत विस्तार को देखते हुए इस प्रकार के तर्क केवल आंशिक उत्तर प्रदान कर सकते हैं

साम्राज्यवादी देशों में यह तर्क दिया जाता रहा है उन्होंने गैर–यूरोपीय देशों पर अधिकार वहाँ की जनता की इच्छाओं के ध्यान में रखते हुए किया। भारत में विजयों के सम्बन्ध में भी अंग्रेज अधिकारी और इतिहासकार यह तर्क देते रहे है कि इन राज्यों के लोग अनैतिक और उत्पीडक शासन से मुक्त होना चाहते थे तथा प्रबुद्ध ब्रिटिश शासन की स्थापना चाहते थ भारत में राष्ट्रीयता की भावना और अपने शासन के प्रति निष्ठा की भावना का नितांत अभाव था। सन् 1834 में कुर्ग पर अधिक करते समय लॉर्ड बेटिक ने यह घोषणा की कि कुर्ग की सारी जनता की यह इच्छा है कि अंग्रेजी सरकार उसे अपने सरक्षण में ले ले। इसी प्रकार डलहौजी ने नागपुर को साम्राज्य में मिलाते समय लिखा कि इससे वहाँ के 4,000,000 लोग लाभान्वित होंगे। यह उल्लेखनीय है कि यद्यपि ईस्ट इंडिया कम्पनी यह इच्छा जानने का दावा करती थी, कुर्ग अथवा नागपुर के लोग ने ऐसी इच्छा प्रकट की हो उसका कोई प्रमाण नहीं है कम्पनी भारतीय राजाओं पर अक्सर कमजोर अथवा विश्वासघाती होने के आरोप लगाकर उनका राज्य हड़प लेती थी। पर विश्वासघात का आरोप भी नहीं लगाया जा सका। परन्तु उनके राज्य को बख्शा तब भी नहीं गया। झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई ने कम्पनी के प्रति निष्ठा के आधार पर अपने राज्य को बनाए रखने की अपील बार–बार की किन्तु इस पर कभी ध्यान नहीं दिया गया। वास्तविकता यह है कि राज्यों पर अधिकार करने के जो आधार प्रस्तुत किए जाते थे वे विस्तारवादी नीति के वास्तविक कारण नहीं थे बल्कि उसे न्यायिक ठहराने के खोखले प्रयास थे 1857 विद्रोह के बाद जब ब्रिटिश सरकार ने जनता का आक्रोश देखा और देशी राजाओं की निष्ठा के लाभ महसूस किए तभी राज्यों पर सीधा अधिकार करने की नीति पर परित्याग किया गया।

भारत पर साम्राज्य स्थापित करने का एक कारण यह भी दिया गया कि ब्रिटिश शासन अधिक श्रेष्ठ प्रशासन वाणिज्य और नैतिकता का प्रतिनिधि था जिसकी स्थापना करके भारतीयों को लाभान्वित किया गया। चार्ल्स डार्विन द्वारा प्रतिपादित क्षष्ठतम की उत्तरजीविता के सिद्धान्त को नए साम्राज्यवादी युग में जातीय श्रेष्ठता के सिद्धान्त का आधार माना जाता है, किन्तु डार्विन द्वारा इस सिद्धान्त के प्रतिपादन के पूर्व ही जेम्स मिलने यूरोपीय सभ्यता की श्रेष्ठता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था उनकी पुस्तक को भारत के विषय में जानकारी प्राप्त करने वाले सभी अंग्रेज बहुत चाव से पढ़ते थे। उन्होंने मानव के ऐतिहासिक विकास के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। जिसमें उपलब्धियों के आधार पर संसार की संस्कृतियों का वर्गीकरण किया गया। इसमें उन्होंने भारतीय सभ्यता को सर्वाधिक भ्रष्ट व पिछड़ा हुआ दर्शाया। साथ ही उपयोगितावादी प्रवृत्ति के कारण उन्होंने भारत में सुधार व विकास लाने की आवश्यकता पर जोर डाला और कहा कि प्रबुद्ध ब्रिटिश हस्तक्षेप से पूर्व के पिछड़े हुए लोगों का उद्धार किया जा सकता है। भारत आने वाले अंग्रेज सैनिक व प्रशासनिक अधिकारियों पर इन विचारों का काफी प्रभाव रहा। इनसे विस्तारवादी योजनाओं को एक स्वीकार्य रूप और नैतिक आधार मिला। अंग्रेजों के लिए यह सोचना सम्भव हुआ कि ब्रिटिश साम्राज्य के विस्तार द्वारा वे अधिकतम लोगों का अधिकतम भला कर रहे है। ईसाई धर्म प्रचारकों ने भी इसी प्रकार के विचार रखे परन्तु इस प्रकार के तर्कों से अपने स्वार्थों को मानवतावादी चोगा पहनाने का प्रयास ही माना जा सकता है यदि उस समय ब्रिटिश लोगों ने यह माना कि भारत में अधिकतम क्षेत्र पर विस्तार करना भारतीयों के हित में है तब भी नैतिक तर्कों को विस्तार का कारण नहीं माना जा सकता। नैतिक उद्देश्य स्वयं में साम्राज्य विस्तार के लि अभिप्रेरक नहीं बन सकते। जैसा कि आगे स्पष्ट किया गया है भारत में विस्तार की आवश्यकता पर बार–बार इसलिए जोर दिया जाता रहा क्योंकि ऐसा करना ब्रिटिश अर्थव्यवस्था के हितों के अनुरूप था। अन्य सभी साम्राज्यवादियों की भाँति अग्रेजों ने भी आर्थिक व राजनीतिक लाभ प्राप्त करने के लिए विस्तार किया। इसके पीछे कोई उच्चतर नैतिक उद्देश्य दिखाई नहीं देते वास्तव में मानवतावाद की आड़ मे कई तरह के स्वार्थ सिद्ध हो सकते थ। उपयोगितावादी तो औद्योगिक पूंजीवाद के सैद्धांतिक प्रवक्ता बन ही गए थे।

कार्ल मार्क्स और मार्क्सवादी इतिहासकारों में भी भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के उद्देश्यों को नैतिक आधार प्रदान करने की प्रवृत्ति देखने में आती है ये सभी ब्रिटेन द्वारा साम्राज्य विस्तार को अनैतिक मान कर निन्दा करते हैं परन्तु दूसरी ओर यह तर्क भी देते है कि साम्राज्य की स्थापना से भारतीय शासक और अभिजात वर्ग कमजोर हो गए जिससे भारतीय समाज के प्रगतिशील वर्गों को आगे आने का मौका मिला और इस प्रकार सम्राज्यवाद ने भारतीय समाज के विकास की प्रक्रिया में एक आवश्यक भूमिका निभाई। परन्तु यह उल्लेखनीय है कि इस दूसरे तर्क का सम्बन्ध विस्तार के परिणामो से है, उद्देश्यों से नहीं।

आजकल कुछ इतिहासकार ब्रिटेन द्वारा साम्राज्य विस्तार के कारणों का विश्लेषण विश्व के बदलते हुए आर्थिक और राजनीतिक परिवेश के संदर्भ में करने लगे हैं यह तर्क दिया जाने लगा है कि ईस्ट इंडिया कम्पनी ब्रिटेन में सत्रहवी और अठारवी शताब्दी में होने वाल आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक परिवर्तनों का प्रतिनिधित्व करती थीं ये परिवर्तन कम्पनी के स्वरूप कार्य प्रबन्ध और इसके कर्मचारियों के व्यवहार में साफ झलकते थे। यूरोपीय तकनीक व युद्ध सामग्री से कम्पनी को भारतीय राज्यों से मुकाबला करने में बहुत आसानी हो गई। उद्यमशील व गतिशील ब्रिटिश राष्ट्र ने एशियाई व्यापार की दिशा में मूलभूत परिवर्तन किया। उसने राजस्व पर अधिकार करके और लाभांश का दोहन करके न केवल भारतीय राज्यों को खोखला कर दिया बल्कि अपनी शक्ति बढ़ाने के लिए यूरोपनुमा अनुशासित फौज तैयार कर ली। बढते हुए वाणिज्यीकरण से पारपरिक अभिजात वर्ग लड़खड़ाने लगा। मुगल सम्राज्य और फिर उसके विघटन के बाद उभरने वाले अन्य राज्य प्रारम्भ में तो कम्पनी की गतिविधियों से लाभान्वित हुए। परन्तु फिर वे इन गीत विधियों को नियंत्रित नहीं कर पाए। वास्तव में, वह राजनीतिक व आर्थिक प्रक्रिया, जिससे भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना हुई, आज भी इतिहासकारों में कटु वाद–विवाद का विषय है।

ब्रिटिश अर्थव्यवस्था की आवश्यकताएँ और साम्राज्य-विस्तार

1820 से 1856 तक हुए भारत में साम्राज्य के विस्तार के कारणों व उद्देश्यों का विश्लेषण इस समय में ब्रिटेन की आर्थिक आवश्यकताओं व दबावों के संदर्भ में करना होगा। ब्रिटिश अर्थव्यवस्था की कौन–सी आवश्यकताएँ व दबाव थे जिन्होंने सम्राज्य विस्तार के लिए आवेग पैदा किया? इस प्रश्न का सन्तोषजनक उत्तर औद्योगिक क्रान्ति के इस चरण में ब्रिटेन की आर्थिक आवश्यकताओं और साम्राज्य विस्तार के मध्य सम्बन्ध का विश्लेषण करके दिया जा सकता है। आपसी मतभेदों के बावजूद मार्कर्सवादी और गैर मार्क्सवादी सभी इतिहासकार आर्थिक पहलू के महत्त्व को स्वीकार करते हैं और यह मानते हैं कि औद्योगिक विकास से विभिन्न वाणिज्यिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक शक्तियाँ उपजी।

ब्रिटेन में आधुनिक उद्योगों का विकास एक निर्बाध प्रक्रिया न होकर एक दीर्घकालिक, अनियमित का कष्टकर प्रक्रिया थी जिसके दौरान विभिन्न प्रकार की समस्याएँ पैदा हुई। यह मानना गलत होगा कि 1870 के बाद जब अन्य पाशचाता देशों में उद्योगीकरण हो गया तभी ब्रिटेन के लिए कठिनाइयों का समय शुरु हुआ। उन्नीसवी शतब्दी के पूर्वार्द्ध में उद्योगीकरण और उत्पादन बढ़ रहा था परन्तु विकास की दर धीमी हो रही थी जिसका एक महत्त्वपूर्ण कारण था उत्पादित माल की खपत में कमी।

अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक ब्रिटेन में कपड़ा उद्योग में व्यापक स्तर पर मशीनों का इस्तेमाल होने लगा था। इससे सूती कपड़े के उत्पादन में बहुत तेजी से वृद्वि हुई। इस वृद्धि का अनुमान इस दौरान कपड़ा मिलों में होने वाली कपास की खपत से लगाया जा सकता है। 1784-86 में ब्रिटिश कपड़ा मिलों में। करोड़ 81 लाख पौंड कपास की खपत से 1 करोड़ 81 लाख पौड कपास की खपत हुई जो 1815-17 में बढ़कर 9 करोड़ 97 लाख पौंड और 1859-60 तक। अरब 5 करोड पौंड हो गई। इतनी तेजी से बढ़ते हुए उत्पादन की ब्रिटेन के घरेलू बाजार में खपत नहीं हो सकती थी। इस कपड़े को बेचने के लिए ब्रिटेन विदेशी मंडियों पर निर्भर था। अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम दशकों में अधिकतर कपड़े की खपत उत्तरी अमरिका और यूरोपीय देशों में होती थीं 1780-1800 के दौरान मूल्यों के आधार पर कुल निर्यात का 75 प्रतिशत भाग इस क्षेत्र में भेजा जाता था। परन्तु 1800 के बाद यह मात्रा धीरे–धीरे कम होने लगी। इसका कारण यह था कि इन भागों में अद्योगीकरण शुरु हो गया था जिससे ये देश आयात शुल्क लगाकर अपने देश के उत्पादकों को संरक्षण प्रदान करने लगें इस दौरान कुल निर्यात तो बढ़ा परन्तु राष्ट्रीय आय के अनुपात में कुल निर्यात कम होता रहा। सन् 1801 में कीमतों के आधार पर कुल निर्यात का मूल्य राष्ट्रीय आय का 18 प्रतिशत था जो 1841 तक घटकर 11 प्रतिशत रह गया और 1851 तक बढ़कर केवल 15 प्रतिशत ही हो पाया। इस दौरान वस्तुओं की कीमतों में गिरावट आई जिससे उत्पादकों की आय अधिक नहीं बढ़ पाई। इन सब प्रवृत्तियों का सबसे विपरीत प्रभाव कपड़ा उद्योग पर पड़ा निर्यात में प्रमुख हिस्सा था ऐसे में निर्यात विकास का प्रेरक नहीं बन सका।

जहाँ तक ब्रिटेन में ही खपत का सवाल था, स्वदेशी मंडी भी सकीर्ण रही। ब्रिटेन की जनसंख्या अवश्य तेजी से बढ़ रही थी परन्तु इस बढ़ती हुई जनसंख्या के लिए रोज़गार जुटाना कठिन हो रहा था। जिन लोगों के पास रोज़गार था उनके वेतन

भी 1815-1860 के दौरान या तो स्थिर या कम हो गए। इससे लोगों की क्रय शक्ति सीमित रही जिससे निर्मित माल के खपत करना कठिन हो गया। इससे निर्मित माल की अधिकता हो गई। जबकि लागत को तेजी से कम करना कठिन था यह माना जाता था कि बढ़ती हुई जन संख्या को कृषि क्षेत्र में जीवनयापन का साधन मिल जाएगा परन्तु 18 के यह स्पष्ट होने लगा कि अर्थव्यवस्था में कृषि का स्थान गौण होता जा रहा है। इस स्थिति मे सामाजिक तनाव बढ़ने लगा 1830 के दशक को भुखमरी का दशक कहा गया है। इस तनाव का राजनीतिक परिणाम 1840 के दशक के चार्टिस्ट आन्दोलन के रूप में समाने आया इस स्थिति में यह लगने लगा कि लागों को रोजी उपलब्ध करवाने के लिए शीघ्र गति से उद्योगीकरण आवश्यक है। इसलिए उत्पादित वस्तुओं की खपत के लिए बाजार के विस्तार की आवश्यकता थी इस उद्देश्य से कई प्रकार की नीतियों का प्रतिपादन किया गया जिनमें दो प्रमुख रही मुक्त व्यापार की नीति अपनाने की जोरदार वकालत और औपचारिक रूप से साम्राज्य विस्तार। मुक्त व्यापार और अहस्तक्षेप की नीति के प्रतिपादक चाहते थे कि आयात और निर्यात पर शुल्क नहीं लगाया जाना चाहिए जिससे उत्पादको को कच्चा माल न्यूनतम कीमतों पर प्राप्त हो सके और सभी देश में उपभोक्ताओं को उत्पादित वस्तुएँ भी सस्ती मिल सके। परन्तु अन्य पश्चिमी देश अपने देश में उद्योगीकरण को बढावा देकर शक्तिशाली बनाना चाहते थे। इसलिए वे ब्रिटेन के राष्ट्रीय हित में सहायक बनने को तैयार नहीं हुए। ऐसे में ब्रिटेन के नीति-निधारक राजनीतिक प्रभाव बढ़ाने के लिए अधिक जोरदार-नीतियाँ अपनाने की माँग करने लगे। ब्रिटेन के प्रसिद्ध विदेशमत्री पामस्टन ने लिखा :

यूरोपीय उत्पादकों की प्रतिद्वद्विता हमारे उत्पादो को यूरोप के बाजारों से वंचित कर रही है। हमें ससार के अन्य भागो में अपनी मिलों में निर्मित माल की खपत के साधन ढूँटने के प्रयास करने चाहिए। संसार बहुत बड़ा है और मनुष्य जाति की आवश्यकताएँ इतनी अधिक है कि उनमें हमारे उत्पादों की खपत हो सकती है। यह सरकार का कर्त्तव्य है कि वह व्यापार के लिए मार्ग खोले और उन्हें सुरक्षित बनाए।

मंडी प्राप्त करने के साथ-साथ भारत में ब्रिटेन के कपड़ा उद्योग के लिए कपास भी प्राप्त की जा सकती थी 1840 के दशक तक ब्रिटेन इस उद्योग के लिए 78 प्रतिशत कपास संयुक्त राज्य अमेरिका से प्राप्त करता था। परन्तु इस समय मुख्यत: दो कारणों से वहाँ से माल मिलने में कठिनाई होने लगी थी, एक तो वहाँ ही कपड़े की मिले लगाई जाने लगी। यह कहा गया कि भारत सदियों से करोड़ों लागों को कपड़ा उपलब्ध करवाता रहा था। इसलिए यह स्पष्ट था कि यहाँ कपास की पैदावार खूब होती है जिसका आयात ब्रिटेन की कपड़ा मिलों के लिए किया जाना चाहिए। सरकार पर इतना दबाव डाला गया कि बोर्ड ऑफ कंट्रोल के अध्यक्ष चार्ल्स हॉबहाऊस ने लिखा कि शायद ही कोई ऐसी डाक आती है जिसमें भारत से कपास के आयात बढ़ाने सम्बन्धी कोई न कोई सुझाव न हो। इस पृष्ठ भूमि में ऑकलैंड के समय भारत में कपास की गुणवत्ता बढ़ाने के लिए प्रयोगों पर 10,000 पौंड खर्च किए गए। यह भी कहा गया कि भारत में कपास का उत्पादन तो होता है परन्तु यातायात के साधनों की कमी की वजह से यह बन्दरगाहों तक शीघ्र नहीं पहुँच पाता। इसलिए रेलमार्गों के निर्माण की माँग की गई। गोदावरी व सिन्ध नदियों पर यातायाता के साधन उपलब्ध कराने सम्बन्धी सुझाव रखे गए। इन मार्गों पर यातायात को सुगम बनाने के संदर्भ में यह माँग भी रखी गई कि इनके आसपास के क्षेत्रों पर नियंत्रण स्थापित किया जाए। यह स्वीकार किया जा रहा था कि संसार के अन्य भागों में राजनीतिक प्रभाव बढ़ने से कच्चा माल प्राप्त करने और निर्मित माल के लिए बाजार प्राप्त करने की समस्याएँ हल हो सकती थी। जैसा कि हम देखेंगे, भारत जैसे सघन आबादी और विपुल ससाधनों वाले देश में असीमित संभावनाएँ दिखाई देने लगी। इस आर्थिक पृष्ठभूमि ने साम्राज्य विस्तार के लिए प्रेरक का कार्य किया

भारत में साम्राज्य विस्तार के अन्य लाभ भी थे। इससे कम्पनी को हथियाए गए क्षेत्र में भूमि पर लगान और अन्य कर वसूल करने का अधिकार मिल जाता था। इस सारे राजस्व में से सरकार, सेनाव्यवस्था व न्याय पर होने वाले खर्च का निकालकर शेष जो बचता था उसे शुद्ध लाभांश माना जाता था। इसका उपयोग व्यापार के लिए किया जाता था। व्यापार का एक विश्वव्यापी ढाँचा उभरा जिसमें भारत से गए अतिरिक्त निर्यात से अंग्रेज अन्य स्थानों से माल खरीद लेते थे और उसका भुगतान देश में बिना भुगतान के अपयोग करते थे। भारत से कृषि उत्पाद तथा कच्चे माल का ब्रिटेन के अलावा अन्य देशों के भी पैमाने पर निर्यात किया जाता था। इन देशों से माल खरीद कर ब्रिटेन जाता था जिसका उपभोग ब्रिटेन में होता था। इसके लिए ब्रिटेन को मुद्रा अथवा वस्तुओं के निर्यात द्वारा भुगतान नहीं करना पडता था। इसे त्रिकोणीय व्यापार कहा जाता है उदाहरण के लिए त्रिकोणीय व्यापार में भारत से अफीम चीन भेजी जाती थी जिसकी माँग उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में चीन में निरंतर बढ़ रही थी। इसके बदले चीन से चाय व सिल्क खरीदी जाती थी जो इंग्लैंड भेजा जाती थी। 1685 में इंग्लैंड ने 85 लाख पौंड की चाय व सिल्क का उपभोग किया जबकि उसने मुश्किल से 10 लाख पौंड के माल का चीन को निर्यात

शेष भुगतान भारत से अफीम निर्यात करके किया जाना था। इस त्रिकोणीय व्यापार में चीनी लोग अफीम का आनन्द उठाते थे, अंग्रेज चाय व सिल्क के उपभोग का और भारतीय ब्रिटिश राज का। व्यापार संतुलन को अपने पक्ष में बनाए रखना ब्रिटेन में उद्योगीकरण की प्रक्रिया की अहम् आवश्यकता थी। इसलिए भारत से किया जाने वाल निर्यात ब्रिटेन के उद्योगों के लिए अत्यन्त लाभकारी था।

भारत के राजस्व से तैयार की गई सेना ब्रिटिश साम्राज्य के विस्तार के लिए उपलब्ध हो गई। इस सेना का उपयोग बर्मा, चीन, अफगानिस्तान, क्रीमिया व अन्य स्थानों पर किया गया।

भौतिक लाभों के अलावा अंग्रेज साम्राज्य की उपलब्धि में गौरव अनुभव करने लगे थें उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में ही नहीं इसके मध्य में भी वे साम्राज्य देखकर फूले नह समाते थे और इस समय भी ऐसी बहुत सी उक्तियाँ थी जिनका मतलब था कि ब्रिटिश साम्राज्य में सूरज कभी नहीं डूबता 10 बड़े चाव से ब्रिटिश सटलसों में साम्राज्य को लाल रंग में दर्शाया जाता था। वे यह भी जानते थे कि भारतीय साम्राज्य उनकी महानता का आधार है। सन् 1836 में ब्रिटेन के राजा विलियम चतुर्थ ने कहा, यह (ब्रिटेन) एक बढ़िया देश है। परन्तु यह अपने उपनिवेशों, विशेषकर भारत, के बिना कुछ भी नहीं है।

अधिकतम क्षेत्र पर रानीतिक नियंत्रण इन सभी हितों को सिद्ध करने का सबसे सुनिश्चित तरीका था। इस स्थिति में ब्रिटिश उत्पादकों तथा उन सब लोगों की जो ब्रिटेन की आर्थिक स्थिति से चिन्तित थे, भारत में विस्तार करने में रुचि बढ़ गई। 1813 से पूर्व जब ईस्ट इंडिया कम्पनी के चार्टर के नवीकरण का प्रश्न उठा तब ब्रिटिश उत्पादकों ने कम्पनी के भारत के साथ व्यापार पर एकधिकार की कटु आलोचना की। इसका कारण यह नहीं था कि उन्हें अपनी औद्योगिक क्षमता पर इतना विश्वास था कि वे स्वतन्त्र व्यापार चाहने लगे थें इसका कारण यह था कि संसार के अन्य स्थानों में बाजार संकुचित हो रहा था। नेपोलियन की शक्ति का अभी अन्त नहीं हुआ था और महाद्वीपीय व्यवस्था के कारण यूरोप में निर्यात मार्ग में बाधाएँ थी। 1811-12 में संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ भी सम्बन्ध खराब हो रहे थें इस स्थिति में ब्रिटिश उत्पादक भारत के बाजार में भागीदार बनना चाहते थे। 1813 के चार्टर ऐक्ट में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के विशेषाधिकार समाप्त कर दिए गए तथा निजी व्यापारियों के भारत के साथ व्यापार करने की छूट दे दी गई। भारत की विशाल मंडी में अपने माल की खपत की व्यापकता को देखकर अंग्रेज उत्पादक दंग रह गए। सन् 1814 में ब्रिटेन से आठ लाख गज कपड़े का भारत में आयात हुआ। 1832 तक यह आयात बढ़कर 570 लाख गज हो गया। यह भी निश्चित था कि भारत में कपड़े की खपत कई गुना और बढ़ सकती थी क्योंकि 1832 में भी यह भारत में कपड़े के कुल उपयोग का केवल चार प्रतिशत था। इस स्थिति में यह माना गया कि भारत में आयात ब्रिटिश कपड़ा उद्योग को संकट की स्थिति में उबार सकता है। आर्थिक लाभ उठाने का सबसे सुनिश्चित तरीका राजनीतिक नियंत्रण स्थापित करना है। इस कारण आर्थिक आवश्यकताएँ साम्राज्य विस्तार के लिए प्रेरणार्थक सिद्ध हुई।

1833 में चार्टर ऐक्ट के नवीकरण से पूर्व ईस्ट इंडिया कम्पनी के एकाधिकार को समाप्त करने की जोरदार माँग की गई। इस दौरान भारत में व्यापार को बढ़ावा मिलने से होने वाले लाभों की बहुत आशावादी स्वरों में चर्चा की गई इस माँग में और कपड़े के व्यापार में मंदी में मध्य सीधा सम्बन्ध था। इसके बाद के दशक में जब ब्रिटेन में भुखमरी का समय आया और चार्टिस्ट आन्दोलन ने और उग्र रूप धारण कर लिया, रूस से खतरे की बात की गई। वास्तव में मध्य एशिया में रूस के प्रभाव को बढ़ने से रोकना और व्यापार को बढ़ावा देना दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू बन गए। इस सबको देखते हुए यह कोई हैरानी की बात नहीं है कि आफगानिस्तान में मुँह की खाने के बाद भी 1843 में सिन्ध का और दो रक्तरंजित युद्धों के बाद 1849 में पंजाब का विलयन किया गया।

इस प्रकार भारत में साम्राज्य निर्माण केवल उद्योगपतियों व साहुकारों के लिए ही नहीं बल्कि ब्रिटेन की आर्थिक प्रगति तथा महाशक्ति की पदवी बनाए रखने के लिए थी आवश्यक दिखाइ दिया। भारत की सामाजिक व राजनीतिक परिस्थितियों ने इस कार्य को सम्भव बनाया यहाँ यह पुनः कहना आवश्यक है कि भारत में उपलब्ध स्थिति साम्राज्य विस्तार का कारण अथवा प्रेरणार्थक तत्त्व नहीं थी, इसने केवल विस्तार की इच्छा को कार्यरूप देना सम्भव बनाया।

यह उललेखनीय है कि गृह सरकार और कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स ईस्ट इंडिया कम्पनी को युद्ध से दूर रहने और भारतीय राज्यों के मामलों में दखल न देने की हिदायत देते रहते थे। परन्तु इन हिदायतों का विशेष प्रभाव नहीं पड़ा और विस्तार की प्रक्रिया अनवरत चलती रही। इसका मूल कारण यह था कि भारत में विस्तार ब्रिटेन की आर्थिक व सामाजिक आवश्यकताओं को सिद्ध करता प्रतीत होता था और व्यवहारिक पहलू यह था कि इस विस्तार के लिए व्यय भारत के राजस्व से होता था। इस विस्तार का भारत ब्रिटिश करदाता पर नहीं पड़ता था। राज्यों पर अधिकार की प्रक्रिया के नैतिक पहलुओं की समय–समय

पर बहुत आलोचना होती थीं परन्तु ऐसे बहुत कम उदाहरण है जब किसी राज्य का पुनः स्थापित किया गया हो। इसके कारण यह है कि युद्धों का आर्थिक दबाव अल्पकालिक ही रहता था जबकि साम्राज्य विस्तार से होने वाले लाभ दीर्घकालीन रहते थें अधीकृत राज्य के राजस्व से सेना व प्रशासन का खर्च निकलने के अलावा राजस्व का बहाने के लिए अतिरिक्त साधन उपलब्ध होते थे, बाजार प्राप्त होता था और विभिन्न प्रकार का कच्चा माल मिलता था।

विस्तार की प्रक्रिया

1820-1856 तक बिना किसी अपवाद के प्रत्येक गर्वनर जनरल ने विस्तारवादी नीति अपनाई और इसके लिए भिन्न-भिन्न तरीके अपनाए गए। परन्तु इनसे यह एक सच अवश्य था कि ईस्ट ईण्डिया कम्पनी ने कभी किसी अनजान क्षेत्र पर अभियान भेजने का अधिकार नहीं किया। हर विलयन से पहले, चाहे वह युद्ध के फलस्वरूप किया अथवा अन्य किसी तरीके से कम्पनी ने भारतीय रियासतों के साथ रानीतिक और वाणिज्यिक सम्बन्ध स्थापित किए। बाद में कम्पनी ने रियासतों पर अधिकार कभी तो पहले की गई सन्धि की धाराओं के अन्तर्गत किया, कभी पहले की गई सन्धियों की धाराओं उल्लंघन करके और कभी किसी प्रकार की सन्धि में किसी प्रकार का प्रावधान न होने पर भी किया। प्रसार की प्रक्रिया के इस स्वरूप को देखते हुए यह कह देना आवश्यक है कि किसी भी रियासत पर अधिकार करने के लिए किसी एक गर्वनर जनरल को उत्तरदायी नहीं माना जा सकता। विलयन की प्रक्रिया को स्रोत पहले स्थापित किए हुए सम्बन्धों में रहता था। उन्नीसवीं शताब्दी की रणनीति में शक्तिशाली देश द्वारा छोटे राज्यों को हड़पना एक स्वीकार्य तरीका माना जाता था। एक सर्वोच्च सत्ता के रूप में कम्पनी किसी भी राज्य पर अधिकार करना न्याय संगत मानती थी जिससे उसे लाभ प्राप्त होने की आशा होती थी। इस प्रकार कि राज्य के शासक ने अपने उत्तरदायित्वों को नहीं निभाया है वहाँ की प्रजा प्रशासन से सन्तुष्ट नहीं है, इस आशा का कार्यरूप देने के बहाने मात्र थे।

गर्वनर–जनरल लौर्ड हिस्टिंग्स के समय (1813-23) कई युद्ध किए गए और प्रत्येक युद्ध के बाद कुछ क्षत्रों पर अधिकार किया गया और ये युद्ध थे–नेपाल युद्ध (1814-16) पिंडारी युद्ध (1817-19) और तृतीय मराठा युद्ध (1817-19)। हेस्टिंग्स की नीति यह थी कि भारत में कम्पनी की सत्ता को सर्वोपरि बनाया जाए और वे यह करने में सकल भी रहे। उनके समय बहुत से अन्य भारतीय राज्यों के साथ, विशेषकर राजपूत राज्यों के साथ, संधियाँ की गई जिनमें यह प्रावधान था कि यदि सन्धिया का उल्लंघन किया गया तो कम्पनी उनको रद्द कर सकती है।

लॉड हेस्टिंग्स के उत्तराधिकारियों ने भी विस्तारवादी नीति अपनाई। भारत की पूर्वी सीमाओं को सुरक्षित करने तथा व्यापार को व्यापक बनाने के लिए लॉर्ड एमहर्स्ट (1823-28) के समय बर्मा से युद्ध किया गया जिसे प्रथम आंग्ल–बर्मी युद्ध कहा जाता है इसके बाद की गई सन्धि से कम्पनी को पूर्वी भारत में आसाम और उसके आस–पास के प्रदेश प्राप्त हुए। इसके अतिरिक्त बर्मा में भी अराकान और तनासरीम क्षेत्र प्राप्त हुए।

लॉड विलियम बेटिक को जो 1828 से 1835 तक गर्वनर जलरल रहे, एक शांतिप्रिय और सुधार वादी गर्वनर जनरल के रूप में जाना जाता है उनके विषय में प्रसिद्ध पाठ्य पुस्तक ब्रिटिशकालीन भारत के लेखक पी.ई. रोबर्टस कहते हैं निस्न्देह वहीं पहले गर्वनर जनरल थे जिन्होंने स्पष्ट रूप से इस सिद्धान्त के अनुसार कार्य किया कि अपनी प्रजा का कल्याण ही भारत में अंग्रेजों का प्रमुख, और सम्भवतः पहला, कर्त्तव्य है। भारतीय रियासतों के प्रति उनकी नीति के विषय में यह कहा गया कि उन्होंने पूर्ण अहस्तक्षेप की नीति अपनाई। यह ठीक है कि उनके समय कोई युद्ध नहीं लड़ा गया परन्तु इसका अभिप्राय यह कदापि नहीं है कि वे विस्तारवादी नीति के विरुद्ध थे। उनके समय बिना युद्ध के ही तीन राज्यों पर अधिकार किया गया और दो अन्य राज्यों में हस्तक्षेप किया गया। वे उपयोगितावादी विचारों के प्रभाव के कारण जो ब्रिटिश साम्राज्यवादी आवश्यकताओं से मेल खाते थे, यह तर्क देते रहे कि ब्रिटिश शासन की स्थापना से भारतीयों को अनेक लाभ प्राप्त होंगे वे इन भारतीय रियासतों से ब्रिटेन को होने वाले भौतिक लाभों के प्रति पूर्णतः सजग रहे। सन् 1831 में उन्होंने मैसूर का शासन अपने हाथ में इस आधार पर ले लिया कि वहाँ की शासन व्यवस्था उचित नहीं थी। 1832 में उन्होंने कछार के पूर्व में स्थित कछार को अपने राज्य में मिला लिया। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, लॉर्ड बेटिक ने इस अधिग्रहण के कारण देते हुए कहा कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने कछार के लोगों की इच्छा पूरी करने के लिए ऐसा किया था। वहाँ पर चाय के बागान लगाए गए। 1834 में इसी आधार पर उन्होंने कुर्ग पर अधिकार कर लिया यह प्रदेश कॉफी उत्पादन के लिए बहुत उपयुक्त पाया गया। उन्होंने अवध के शासकों को भी धमकी दी कि उनके शासन से जनता असन्तुष्ट है और यदि प्रशासन में सुधार नहीं हुआ तो हस्तक्षेप किया जाएगा। 1831 में उनके समय सिन्ध नदी पर एक मैत्री यात्रा का आयोजन किया गया ताकि यह अध्ययन किया जा सके कि सिन्ध नदी मध्य एशिया से व्यापार करने के लिए किस हद तक उपयोगी हो सकती है।

से जाने से पूर्व उन्होंने अपने उत्तराधिकारी के लिए एक स्मृत्ति पत्र लिखा जिसमें उन्होंने अफगानिस्तान के प्रति अधिक सक्रिय नीति अपनाने की हिदायत दी।

लॉड आकलैंड के समय (1836-42) प्रथम अफगान युद्ध लड़ा गया। यह माना जा रहा था कि अफगानिस्तान का शासक दोस्त मोहम्मद रूस की ओर मैत्री का हाथ बढ़ा रहा था जिससे भारतीय उप महाद्वीप के उत्तर–पश्चिम में रूस का प्रभाव बढ़ सकता था। उल्लेखनीय है कि उस समय तक सिन्ध और पंजाब पर अंग्रेजों का अधिकार नहीं था। एक सैनिक अभियान अफगानिस्तान भेजा गया। प्रारम्भ में तो अंग्रेज अपने समर्थक और अफगानिस्तान के भूतपूर्व शासक, शाहशुजा को काबुल की गद्दी पर बैठाने में सफल हो गए। परन्तु अंततः उन्हें मुँह की खानी पड़ी। 1840 के दशक में ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने सिन्ध व पंजाब पर अधिकार कर लिया।

इन विजयों का विश्लेषण करते हुए इतिहासकार क्रिस्टोफर बेली कहते हैं कि सिन्ध पंजाब और अफगानिस्तान पर पैसा और धन बहाने का सबसे महत्त्वपूर्ण कारण यह था कि 1839 में रणजीत सिंह की चिर संभावित मृत्यु के पश्चात राज्य–व्यवस्था का धीरे–धीरे विघटन हो रहा था ये कदम कुछ हद तक महत्त्वपूर्ण सीमावर्ती राज्य में अस्थिरता को बढ़ने से रोकने के प्रयास थे। परन्तु यह तर्क अपूर्ण प्रतीत होता है क्योंकि इतने बड़े क्षेत्र पर इतने कष्ट उठाकर विस्तार करना स्वयं में उद्देश्य नहीं हो सकता। यह तो अन्य उद्देश्यों को प्राप्त करने का साधन मात्र हो सकता है। जैसा कि कहा जा चुका है, 1837 से 1842 तक का समय ब्रिटेन में तीव्र आर्थिक मंदी और सामाजिक असंतोष का था। इसलिए ब्रिटिश सरकार भूमध्य सागर से मध्य एशिया तक के सारे क्षेत्र में अपने माल के लिए मंडी खोजने के प्रति भी उतनी ही चिंतित थी जितनी की भारत में विस्तार करने के प्रति और भारतीय साम्राज्य की सामाजिक आवश्यकताएँ पूरी करने के प्रति। ऐसे में रूस के प्रभाव को बढ़ने से रोकना और व्यापार को बढ़ावा देना दोनों एक ही नीति को दो पहलू बन गए। इस समय अन्य देशों से भी संधियाँ की गई–तुर्की के साथ 1838 की सन्धि, मिस्र और एशिया के साथ 1838 की सन्धियाँ, सन्धि के साथ 1838 की सन्धि और 1839 में अदन पर अधिकार। ये सभी कमद 'कुछ व्यापार कुछ कूटनीति के माध्यम से अपना प्रभाव बढ़ाने के प्रयास थे। यह उल्लेखनीय है कि अफगानिस्तन में बुरी तरह हारने के बाद भी ईस्टइण्डिया कम्पनी ने विस्तार की नीति का परित्याग नहीं किया। 1840 के दशक में कम्पनी के डायरेक्टरों ने भी आक्रामक नीति की वकालत की 1841 में कहा कि किसी भी गर्वनर जनरल को क्षेत्र व राजस्व बढाने का कोई भी मौका हाथ से नही जाने देना चाहिए।

लॉर्ड डलहौजी ने, जो 1848 से 1856 तक गवर्नर जनरल रहे, इस नीति का अक्षरशः पालन किया। जब उन्होंने पद सम्भाला तो वे 36 वर्ष के थे वे एक कार्यकुशल, दृढ़निश्चयी व्यवहार कुशल और आत्मविश्वासी व्यक्ति के रूप में जाने जाते थे। वे साम्राज्य के प्रति गौरव की भावना से प्रेरित थे और पश्चिमी सभ्यता के लाभ भारतीयों को उपलब्ध करवाने को बहुत आतुर थे। भारत आने पर उनके सम्मुख एक बड़ी समस्या बजट में घाटे की थी जिसका कारण इससे पूर्व के दस वर्षों में किए गए युद्धों में धन का व्यय होना था। डलहौजी ने कान्ति की नीति अपनाकर या अर्थव्यवस्था में सुधार लाकर स्थिति से जुझने का कोई प्रयास नही किया बल्कि अधिक राज्यों पर अधिकार करके और उनका राजस्व व प्राप्त करके उसके राजस्व पर ही नहीं बल्कि उसके संसाधनों पर भी अधिकार हो जाता था। साम्राज्य विस्तार से सुरक्षा की भावना भी मजबूत होती थी। इस स्थिति में उन्होंने भारत आकर अपनी दृढ़ व सुविचारित राय प्रकट की कि यह जरूरी नहीं है कि ब्रिटिश सरकार क्षेत्र अथवा राजस्व प्राप्त करने के न्यायपूर्ण अवसरो को, जो समय–समय पर सामने आए, हाथ से निकलने दे अथवा उनकी अवहेलना करे। उन्होंने इस नीति का अक्षरश, पालन किया, अन्तर केवल इतना था कि इस बात का भी ध्यान नहीं रखा कि अवसर न्यायपूर्ण था अथवा नहीं। उल्लेखनीय यह है कि विस्तारवादी नीति अपनाने में उन्हें ब्रिटेन के शासक वर्ग का पूर्ण समर्थन मिला। उन्होंने स्वयं लिखा कि मैनचेस्टर के चैबर ऑफ कॉमर्स और ब्रिटेन के प्रधानमंत्री ने उन्हें कहा है कि वे यह न भूले कि कपास प्राप्त करने क प्रश्न अहम् प्रश्न है। डलहौजी जैसा कर्मठ, दृढ़निश्चयी तथा महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति इस सलाह को अनसुना नहीं कर सकता था।

लॉर्ड डलहौजी ने दो राज्यों पंजाब और पेगू (बर्मा) पर युद्धों के फलस्वरूप अधिकार किया। परन्तु इन विजयों के अलावा उन्होंने इस आधार पर अन्य राज्यों पर अधिकार किया कि कम्पनी भारत में सर्वोच्च सत्ता था। इस कार्य के लिए उन्होंने जो प्रमुख नीति अपनाई वह थी गोद लेने की प्रथा का अन्त करके उन राज्यों पर अधिकार कर लेना जिनके राजा की मृत्यु के समय उनके कोई अपना पुत्र नहीं था। इसके अलावा उन्होंने बरार पर अधिकार इसलिए कर लिया कि हैदराबाद का निजाम कम्पनी को बकाया रकम देने में असमर्थ था। अवध पर बिना किसी कारण के अधिकार कर लिया गया। साम्राज्य विस्तार की इस नीति का प्रमुख कारण यही था कि अंग्रेज भारत के संसाधनों पर अधिकार चाहते थे और सीधा राजनीतिक

नियंत्रण स्थापित करने की स्थिति में थे। डलहौजी के समय के समय कुल 301,200 वर्ग मील क्षेत्र पर अधिकार किया गया जिसकी कुल जनसंख्या 29,100,000 थी।

इस संदर्भ में यहाँ पहले सिन्ध व पंजाब पर अधिकार करने की प्रक्रिया और फिर डलहौजी द्वारा साम्राज्य विस्तार की प्रक्रिया का विश्लेषण किया गया है।

पंजाब पर ब्रिटिश सत्ता की स्थापना

पंजाब में सिक्खों का उत्कर्ष : पन्द्रहवीं शताब्दी में गुरु नानक ने सिक्ख धर्म की स्थापना की। यह धर्म जल्द ही पंजाब के जाट किसानों तथा अन्य छोटी जातियों के बीच काफी लोक प्रिय हो गया। सिक्ख गुरुओं ने नानकजी की मृत्यु के पश्चात इस धर्म को दूर-दूर तक फैलाया, किन्तु सिक्खों का गढ़ पंजाब ही रहा। सिक्खों के दसवें तथा अन्तिम गुरु गोविन्द सिंह (1664-1708) ने सिक्ख जाति को पूर्ण रूप से लडाकू समुदाय में परिवर्तित कर दिया। यह परिवर्तन उन दिनों मुगल शासकों की गलत नीति के कारण अनिवार्य हो गया था। जहाँगीर के शासन काल से ही सिक्खों को प्रतापी मुगलों के साथ उलझना पड़ा था।

सिक्ख और उत्तरकालीन मुगल : 1708 ई॰ में एक धर्मान्ध अफगान ने गुरु गोविन्द सिंह की हत्या कर दी। मरते समय गोविन्द सिंह ने बताया कि "जो गुरु को देखना चाहता है, उन्हें गुरु नानक के ग्रंथ को देखना चाहिए। गुरु हमेशा खालसा के साथ रहते है।" उन्होंने बन्दों को अपना सैनिक उत्तराधिकारी नियुक्त किया था। बन्दा बहादुर डोगरा राजपूत था। उसका जन्म 1660 ई॰ में हुआ था। उसका नाम लक्ष्मण दास था। दक्षिण में उसकी मुलाकात गुरु गोविन्द सिंह से हुई जिन्होंने उसे अपना बन्दा (सेवक) बना लिया। गुरु के मरने के बाद बन्दा ने सिक्खों को एकत्र कर मुगलों के विरुद्ध जबरदस्त अभियान जारी किया। उसने सरहिन्द पर अधिकार कर गुरु पुत्रों की हत्या का बदला लिया। लतीफ के अनुसार, "सिक्खों ने उस स्थान पर रहने वाले प्रत्येक मुसलमानों का सिर काटार, किरचों से बेध कर, गला घोटकर, फाँसी देकर, गोली मारकार टुकड़े-टुकड़े करके और जिन्दा ही जलाकर जान से मार डाला। वजीर खाँ जिसने गुरु पुत्रों की हत्या की थी, उसकी लाश को पेड़ पर लटका कर कौओं और गिद्धों को खाने के लिए छोड़ दिया गया।" ग्रह-युद्ध से मुक्त होने पर बहादुरशाह ने एक विशाल सेना सिक्खों के विरुद्ध भेजी। बन्दा हारकर पहाड़ों में जा छिपा। बहादुरशाह के मरने पर वह फिर पहाडों से बाहर निकला और मुगलों से जूझता रहा। मुगल सम्राट जहादारशाह और फर्रुखशियर ने उसे दबाने के कोशिश की। फर्रूखशियर ने आठ महीनों तक अनवरत परिश्रम के बाद 1736 ई॰ में गुरुदासपुर के युद्ध में सिक्खों को करारी हार दी। बन्दा सात सौ सिक्खों के साथ पकड़ा गया और निर्दयतापूर्वक उसकी हत्या कर दी गयी। बन्दा के तीन वर्षीय पुत्र के टुकड़े-टुकडे कर दिये गये और बन्दा के शरीर का मांस गरम चिमटों से नोच-नोच कर खीच लिया गया।

बन्दा के बाद सिक्ख : बन्दा के मरने से सिक्खों की शक्ति कुछ समय के लिए क्षीण हो गयी, परन्तु उनकी सामाजिक भावना का अन्त ही हो सका। अपने गुरुओं के आदर्शों पर चलते हुए उन्होंने अपना संगठन कार्य जारी रखा। 1765 ई॰ में दिल्ली से लूट का माल लेकर लौटकी हुई नादिरशाह की सेना के पिछले भाग पर सिक्खों ने आक्रमण किया और अफगानों से बहुत सा लूट का माल छीन लिया। कहा जाता है कि नादिरशाह ने पंजाब के सूबेदार से कहा था, "होशियार रहना वह दिन दूर नहीं जबकि विद्रोही सारे देश पर काबू पा ले।" अतः मुगलों ने बनैले पशुओं की तरह सिक्खों का शिकार करना शुरू किया। 1745 में बसौली की पहाड़ियों के निकट सिक्खों की करारी हुई और 7,000 सिक्ख कत्ल कर दिये गये। 1761 ई॰ में पानीपत के तृतीय युद्ध में 12,000 सिक्ख मारे गये। परन्तु इन पराजयों से सिक्खों की शक्ति मिट न सकी। अब्दाली के आक्रमण के कारण जो अराजकता फैली, उससे लाभ उठाकर सिक्खों ने अपनी शक्ति काफी बढ़ा ली और लाहौर पर अधिकार कर पंजाब के स्वामी बन गए। उन्होंने अपने को सार्वभौम घोषित किया और अपने सिक्के चलाय जिसमें अकिर [illegible] दग [illegible] और फतह' (Grace, Power and Rapid Victory) सिक्ख सरदारों ने पंजाब को आपस में बाँट लिया और 12 मिसलों की स्थापना की।

अठारहवीं सदी में पंजाब की स्थिति

अठारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध तक पंजाब उन घटनाओं से अछूता रहा जो भारत में घटना क्रम का निर्धारित करती थी। जैसा कि उल्लेख किया गया है, उस समय पंजाब में बारह मिसलें थी। हर मिसल एक सरदार के शासनाधीन था। मिसल के सरदार मुगलों और अफगान-विजेताओं के विरुद्ध युद्धों के सिलसिले में सिक्खों के फौजी नेता बन गए थे। यद्यपि मिसल को खालसा अथवा समुदाय की एक इकाई मानी जाती थी, किन्तु इनकी स्थिति छोटी रियासतों जैसी थी। धीरे-धीरे मिसल का प्रयोग फौज के नेतृत्व के लिए किया जाने लगा। चूँकि सिक्ख सामन्तों के नेतृत्व में थी अत धीरे-धीरे ये सामान्य सरदार [illegible]

की तरह बनती गयी। 1765 से 1799 के बीच इसके बीच प्रभुत्व और क्षेत्रीय विस्तार के लिए भयकर संघर्ष चला। इसी क्रम में सुकरचकियां मिसल ने अपना महत्त्व काफी बढ़ा लिया। रणजीत सिंह का जन्म इसी मिसल में हुआ था।

महाराजा रणजीत सिंह (1780-1839)

रणजीत सिंह का जन्म 1780 में हुआ था। उनके पिता महासिंह सकुर चकिया मिसल के सरदार थे। जब रणजीत सिंह की उम्र बारह वर्ष की थी उनके पिता की मृत्यु हो गयी परन्तु बालक रणजीत सिंह बहुत ही पराक्रमी, साहसी तथा अध्यवसायी व्यक्ति थे। उन्होंने बड़े ही उत्साह और साहस से शक्ति का विस्तार करना शुरू किया। काबुल के शासक जमाशाह की सहायता करने के कारण उन्हें लाहौर की सूबेदारी और राजा की पदवी मिली। उन्होंने सभी मिसलों को मिलाकर पंजाब में एक सुदृढ़ सिक्ख राज्य की स्थापना की। 1808 ई॰ में उन्होंने भंगियों को हराकर अमृतसर पर अधिकार कर लिया। 1807 ई॰ में उन्होंने लुधियाना पर भी अधिकार कर लिया। 1805 में लॉर्ड लेक से हारकर होल्कर ने रणजीत सिंह से कम्पनी के विरूद्ध सहायता की याचना की परन्तु उन्होंने कम्पनी के साथ युद्ध में फसने से अस्वीकार किया। कहा जाता है कि होल्कर ने ताना देते हुए का था – "अपने एक विपत्ति में पड़े अतिथि और देशवासी के साथ आपका यह धर्म–पालन है, तो स्मरण रखिए कि मेरे कुल में राज्य रह जाएगा, किन्तु आपके कुल की सत्ता नष्ट हो जाएगी।" उसका यह कथन सत्य निकला। उस समय फ्रांसीसी आक्रमण का भारत पर भय था। अतः अंग्रेजों ने रणजीत सिंह को 1809 ई॰ में अमृतसर की सन्धि करने पर विवश किया। इसके अनुसार दोनों में स्थायी मित्रता कायम हुई। सतलुज के पूर्व के राज्यों में हस्तक्षेप नहीं करने का रणजीत सिंह ने वचन दिया। अंग्रेजी राज्य की सीमा सतुलज मानी गयी और लुधियाना में अंग्रेज फौज तैनात कर दी गयी। सतलुज के पूर्व के राज्य अंग्रेजों के संरक्षण में आ गये। अंग्रेजी राज्य की सीमा सतलुज तक पहुँच गयी और लुधियाना में भी अंग्रेज सैनिक रख दिए गए। इस सन्धि की विस्तृत चर्चा आगे की गयी है।

पश्चिम में रणजीत सिंह की शक्ति का विस्तार

रणजीत सिंह सभी सिक्ख मिसलों को जीतकर उन्हें एक राजनीतिक सूत्र में बाँधना चाहते थे, परन्तु अमृतसर की सन्धि से उनका सुनहरा स्वप्न भंग हो गया। अब उन्होंने अपने कार्यक्षेत्र का विस्तार उत्तर, उत्तर–पश्चिम् और पश्चिम् की ओर किया। सन् 1819 ई॰ में उन्होंन अफगानों से पेशावर को जीत लिया और शाहशुजा से प्रसिद्ध कोहनूर हीरा भी प्राप्त कर लिया। इस प्रकार कश्मीर, मुल्तान, कानार, डेरा इस्माइल खाँ, पेशावर आदि को जीतकर रणजीत सिंह ने खैबर के पहाड़ी दर्रे और सिन्ध देश तक अपने राज्य का विस्तार किया।

मित्रता की सन्धि

रुसी प्रभाव को रोकने के उद्देश्य से लॉर्ड विलियन बेंटिक ने रणजीत सिंह से स्वयं भेट की ओर मित्रता की सन्धि को फिर से जारी किया। अंग्रेजों के विरोध के कारण रणजीत सिंह अफगानिस्तान और सिन्ध में अपनी शक्ति नहीं बढ़ा सके। प्रथम अंग्रेज अफगान युद्ध में उन्होंने अफगानों के विरुद्ध अंग्रेजों की सहायता की। इस प्रकार रणजीत सिंह ने एक शक्तिशाली राज्य की स्थापना की। सन् 1839 ई॰ में उनकी मृत्यु हो गयी।

रणजीत सिंह का शासन प्रबन्ध

रणजीत सिंह एक महान् योद्धा एवं विजेता के साथ–साथ, उच्च कोटि के संगठनकर्त्ता भी थे। उनमें सफल शासक के प्रायः सभी गुण मौजूद थे। उन्होंने आधुनिक ढंग से सेना शासनतन्त्र का संगठन कर और अपनी शासन–कुशलता का परिचय दिया। रणजीत सिंह का राज्य चार भागों में बटाँ था जिन्हें प्रान्त कह सकते हैं। ये प्रान्त थे – कश्मीर, मुल्तान, लाहौर और पेशावर। प्रान्त परगनों में बँटे थे और प्रत्येक परगना, तालुका में विभक्त था। प्रत्येक तालुका में 50 से 100 मौजे होते थे। सूबे का शासनभार एक नाजिर पर रहता था। प्रत्येक तालुका में एक कारदार होता था जो एक ही साथ राजस्व कल्क्टर, कोषाध्यक्ष, लेखापाल तथा न्यायाधीश का काम करता था। रणजीत सिंह ने योग्य व्यक्तियों को सरकारी पदों पर नियुक्त कर शासन को संगठित किया और उसे दृढ़ता प्रदान की। राजा स्वयं प्रजा की शिकायतें सुनता था। किसान सुखी थे और उन्हें उपज के अनुसार लगान भी देना पड़ता था। अकाल, महामारी तथा अन्य संकटों के समय किसानों को राज्य की ओर से सहायता दी जाती थी। रणजीत सिंह ने यूरोपीय ढंग से सेना को संगठन किया था और उनके उचित प्रशिक्षण की व्यवस्था भी की। धार्मिक क्षेत्रों में रणजीत सिंह बहुत ही उदार थे।

रणजीत सिंह का चरित्र

भारत के इतिहास मे रणजीत सिंह का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। वे एक साहसी और वीर शासक थ। इनकी आकृति अच्छी नहीं थी। चेचक के कारण इनकी एक आँख मारी गई थी, फिर भी उनका व्यक्तित्व आकर्षक था। उन्होंने पजाब को उस हालत में पाया, जब संध आपस में लड़ते रहते थे। सरदारों में दलबदियाँ थी और मराठे एवं अफगान उन पर दबाव डाल रहे थें। ऐसी स्थिति में अपनी योग्यता और वीरता से ही रणजीत सिंह ने एक शक्तिशाली राज्य की स्थापना की। उन्होंन सेना का संगठन किया और उसमें कई सुधार किए। रणजीत सिंह पढ़े–लिखें नहीं थे, फिर भी वे गुणवान् और धार्मिक बातों में उदार थे। कट्टर सिक्ख होंने पर भी रणजीत सिंह अन्य धार्मिक संप्रदायों के साथ उदारतापूर्ण व्यवहार करते थे। उनका शासन–प्रबंध भी सराहनीय था। अंग्रेजों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करना उनकी राजनीतिज्ञता का अपूर्व उदाहरण है। इन्हीं गुणों के कारण पंजाब–केशरी की संज्ञा दी गयी है। चार्ल्स मेटकॉफ आदि अंग्रेजो ने उनके शासन–प्रबन्ध की प्रशंसा की है और फ्रांसीसी पर्यटक ज्वकेमों ने उन्हें भारत का नेपोलियन बताया था।

अंग्रेजों के साथ रणजीत सिंह का सम्बन्ध

रणजीत सिंह पहला सिक्ख शासक थे जिन्होंने अंग्रेजों के साथ कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित किया। दोनों के बीच 1800 ई॰ में पहली बार सम्बन्ध स्थापित हुआ। उन दिनों भारत पर जमनशाह के आक्रमण की आंशका बनी हुई थी। इससे अंग्रेजों को अपने अधीन के क्षेत्रों की सुरक्षा की चिन्ता होने लगी। अतः कम्पनी सरकार की ओर से युसुफ अली को रणजीत सिंह के पास मित्रवत बातचीत के उद्देश्य से भेजा गया। अंग्रेज अधिकारी चाहते थे कि रणजीत सिंह जमन शाह का साथ न दें। रणजीत सिंह ने अंग्रेजों के प्रस्ताव को मंजूर कर लिया, किन्तु इसी बीच अपने देश अफगानिस्तान में अशान्ति उत्पन्न हो जाने के कारण जमनशाह को वापस लौट जाना पड़ा और कम्पनी ने युसुफ अली को वापस बुला लिया।

लाहौर की सन्धि

1805 ई॰ में रणजीत सिंह को अंग्रेजों के और भी निकट आने का मौका मिला। इस वर्ष जनरल लेक यशवत राव होल्कर का पीछा करता हुआ व्यास नदी तक जा पहुँचा। होल्कर ने रणजीत सिंह से सहायता की याचना की। किन्तु अपने सहयोगियो तथा परामर्शदाताओं की सलाह पर रणजीत सिंह ने अंग्रेजों से उलझना उचित नहीं समझा तथा होल्कर की सहायता नहीं की। इस पर अंग्रेज खुश हुए और जनवरी, 1806 ई॰ में जनरल लेक ने रणजीत सिंह के साथ लाहौर की सन्धि कर ली।

सन्धि के द्वारा यह तय किया गया कि रणजीत सिंह होल्कर को तत्काल अमृतसर छोड़ने को बाध्य कर दें। अग्रेजों ने पजाब से अपनी सेना को हटा लेने का आश्वासन दिया। साथ ही, अंग्रेजों ने यह भी वादा किया की वे रणजीत सिंह के क्षेत्रों पर आक्रमण नहीं करेंगे किन्तु शर्त यह थी कि सिक्ख नेता अंग्रेजों के मित्र बने रहेंगे।

रणजीत सिंह की नीति की कुछ विद्वानों ने समीक्षा की है। उनकी मान्यता है कि अंग्रेजों के विरुद्ध रणजीत सिंह को होल्कर की सहायता करनी चाहिए थी। किन्तु यह समीक्षा उचित नहीं जचती है। कारण, उन दिनों रणजीत सिंह इतने शक्तिशाली नहीं हो पाये थे कि वे सफलतापूर्वक अंग्रेजों को मुकाबलता कर पाते। नतीजा यह होता कि सिक्ख शक्ति का अन्त उसके उत्कर्ष के पूर्व ही हो जाता। पुनः रणजीत सिंह नहीं चाहते थे कि पंजाब अंग्रेज तथा मराठों का रणक्षेत्र बन जाये। एक कारण यह भी थी कि रणजीत सिंह ने अनुभव किया कि होल्कर की शक्ति कुचली जा चुकी है। अतः उसकी मित्रता से उन्हें कोई लाभ नहीं होता, बल्कि होल्कर उनके ऊपर एक बोझ भी बन जाता।

अमृतसर की सन्धि

सिक्ख राष्ट्र को एक सुव्यवस्थिति राज्य का ढाँचा देने के उद्देश्य से सतलुज तथा यमुना के बीच के इलाका पर रणजीत सिंह का अधिकार होना आवश्यक था। रणजीत सिंह की असफलताओं ने भी सिस–सतलुज के राज्यों में उनका हस्तक्षेप अनिवार्य कर दिया। उन राज्यों के सरदार आपस में झगड़ रहे थे और इनमें से कुछ ने रणजीत सिंह से सहायता माँगी। 1806 तथा 1807 में इसी बहाने रणजीत सिंह ने सिस–सतलुज के राज्यों में हस्तक्षेप किया तथा लुधियाना पर अधिकार कर लिया। इस पर कुछ सिक्ख सरदारों ने असंतुष्ट होकर रणजीत सिंह के विरुद्ध ब्रिटिश रेजीडेंट सीटन से शिकयत की, किन्तु इस पर अंग्रेजों ने कोई ध्यान नहीं दिया।

उन दिनों लार्ड मिंटो गवर्नर जनरल था। वह रणजीत सिंह को अपने [illegible] रखना चाहता था। ब्रिटिश सरकार ने घोषणा की कि वह सिस- सतलुज के राज्य पर रणजीत सिंह का [illegible]

करने नहीं देगी। यमुना नदी की ओर रणजीत सिंह के प्रसार को सामरिक तथा कूटनीतिक कारणों से रोकना कम्पनी ने आवश्यक समझा। उन दिनों भारत के उत्तर–पश्चिम से होकर रूसी–फ्रांसीसी आक्रमण होने का भय था। किन्तु रणजीत सिंह के विरुद्ध बल प्रयोग न कर लॉर्ड मिंटो ने कूटनीति का सहारा लिया। उसने सर चार्ल्स मेटकॉफ को सन्धि के उद्देश्य से रणजीत सिंह के पास भेजा। रणजीत सिंह तथा मेटकॉफ के बीच कसूर के नजदीक सेमकरण नामक स्थान पर सिन्ध वार्ता हुई। रणजीत सिंह दो शर्तों पर अंग्रेजों के प्रस्ताव को स्वीकार करने को राजी थे। पहला, अगर काबुल के अमीर के साथ रणजीत सिंह उलझते तो अंग्रेज इसमें हस्तेक्षप नहीं करते और दूसरा, उन्हें मालवा के सिक्ख राज्य पर नियंत्रण स्थापित करने की स्वतंत्रता हो। मेटकॉफ रणजीत सिंह की दूसरी शर्त को मानने को तैयार नहीं हुआ अतः सन्धि वार्ता भंग हो गयी।

1808 में रणजीत सिंह ने मालवा राज्य पर तीसरी बार आक्रमण कर दिया। उन्होंने फरीदकोट, मलेरकोटला अम्बाला तथा शहाबाद को जीत लिया और थानेश्वर के प्रधान से कर वसूल किये। यद्यपि मेटकॉफ ने इस पर आपत्ति उठायी, किन्तु रणजीत सिंह ने इस पर कोई ध्यान नहीं दिया। अंग्रेजों को इससे काफी चिढ़ हो गई। उन दिनों यूरोपीय राजनीति भी अंग्रेजों के अनुकूल हो गयी थी। नेपोलियन प्रायद्वीपीय युद्ध में उलझ गया था, अतः भारत पर रूसी–फ्रांसीसी आक्रमण का भय भी समाप्त हो गया। मेटकॉफ ने रणजीत सिंह को कहा कि सतलुज की बायी ओर के भूभाग द्वितीय मराठा युद्ध के पूर्व सिंधिया के अधीन थे। सिंधिया के हार जाने के बाद वे क्षेत्र अंग्रेजों के संरक्षण में आ गये थे। उसी समय शक्ति–प्रदर्शन के उद्देश्य से सर डेविड आस्टरलोजी के लुधियाना की ओर प्रस्थान किया। रणजीत सिंह को अपनी कमजोर स्थिति का भान था, अतः 25 अप्रैल, 1809 ई॰ को उन्होंने अमृतसर की संधि पर हस्ताक्षर कर दिया।

सन्धि की शर्तें

1. सतलुज नदी रणजीत सिंह तथा कम्पनी के प्रदेशों की सीमा रेखा निश्चित की गयी। सतलुज के पूर्व की ओर रणजीत सिंह अपने राज्य का विस्तार नहीं कर सकते थे।
2. सतलुज के पूर्व में रणजीत सिंह के जो थोड़े–बहुत भू–भाग थे वहां शान्ति–स्थापना के उद्देश्य से वे सीमित संख्या में अपनी फौज रख सके थे।
3. सतलुज के उत्तर के क्षेत्रों के सम्बन्ध में अंग्रेज रणजीत सिंह के कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करेंगे।
4. भविष्य में दोनों मित्रवत सम्बन्ध बनाये रखेंगे।

अमृतसर की सन्धि

अमृतसर की सन्धि के प्रभाव तथा महत्त्व–अमृतसर की सन्धि अनेक दृष्टि से अंग्रेजों के लिये काफी लाभदायक सिद्ध हुई। कूटनीति की दृष्टि से यह अंग्रेजों की विजय थी। लुधियाना में अंग्रेजी शक्ति का प्रदर्शन संधि का महत्त्वपूर्ण कारण था। इस सन्धि ने भारत में ब्रिटिश–प्रतिष्ठा को काफी बढ़ा दिया पुनः इस सन्धि के फलस्वरूप अंग्रेजों को अनेक क्षेत्रीय लाभ भी हुए। पूर्व की ओर सिक्ख राज्य का विस्तार रूक गया और अंग्रेजी राज्य की सीमा सतलुज नदी तक हो गयी। सरकार और दत के शब्दों के "अंग्रेजी राज्य की सीमाएँ यमुना नदी से हटकर सतलुज नदी तक हो गयी और अंग्रेजी सेना लुधियाना में तैनात कर दी गयी," अंग्रेजों को एक लाभ यह भी हुआ कि अब उन्हें सिक्ख प्रतिराध का भय भी नहीं रह गया, अतः निर्भिक होकर वे भारत की अन्य शक्तियों का सामना कर सकते थे। वस्तुतः नेपाल में गोरखों के विरुद्ध अंग्रेजों की सफलता तथा चतुर्थ मराठा युद्ध में विजय इस सन्धि के कारण ही शुरू हुआ।

यद्यपि अंग्रेजों के लिए सन्धि लाभप्रद थी, किन्तु सिक्खों को अनेक दृष्टि से इससे हानि दी हुई। पहला यह सन्धि रणजीत सिंह के लिए कूटनीतिक एवं सैनिक हार थी। इससे रणजीत सिंह के सम्मान को गहरा धक्का लगा। दूसरा, इस सन्धि के कारण अंग्रेज लाहौर के काफी निकट आ गये। वे रणजीत सिंह की सारी गतिविधियों पर ध्यान रखने लगे तथा उनके विरुद्ध षडयन्त्र भी रचने लगे। पंजाब की सारी राजनीतिक का उन्हें ज्ञान हो गया। तीसरा, इस सन्धि के साथ सारे सिक्ख प्रदेशों का स्वामी बनने की रणजीत सिह के सपने मिट्टी में मिल गये।

स्पष्ट है कि अमृतसर की सन्धि रणजीत सिंह की पराजय थी, किन्तु रणजीत सिंह के सामने कोई दूसरा विकल्प भी नहीं था। अंग्रेजों का सामना कर पाना अभी उनके लिए कठिन था। युद्ध में रणजीत सिंह की हार निश्चित थी और परिणाम होता उनकी आँखों के सामने सिक्ख–राज्य का उन्मूलन। वह अपनी विजयों को सुदृढ़ नहीं कर पाये थे, अतः अंग्रेजों के साथ सन्धि करके उन्होंने अपनी बुद्धिमानी का ही परिचय दिया। साथ ही रणजीत सिंह को इस सन्धि से कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण लाभ हुए। उनके राज्य की पूर्वी सीमा अब सुरक्षित हो गयी। अतः दूसरी दिशाओं में वे अपने राज्य की सीमाओं का सहज ही विस्तार

कर सकते थे। जल्द ही उन्होंने मुल्तान, डेरानात, कश्मीर, पेशावर, आदि जीत लिये। बाद में इस सन्धि के कारण सिक्ख को काफी लाभ हुआ। अगर रणजीत सिंह ने मालवा राज्य को जीत लिया होता, तो अंग्रेजो द्वारा पंजाब जीत लेने के क्रम में मालवा भी कम्पनी के राज्य में समाविष्ट हो जाता।

अमृतसर के बाद की स्थिति

यद्यपि अमृतसर की सन्धि हो गई थी फिर भी 1812 ई० तक दोनो पक्षो का सदेह तथा भ्रम बना रहा किन्तु 1812 ई० के बाद दोनों पक्षों के सम्बन्ध उत्तरोत्तर अच्छे होते चले गये। कारण यह था कि अंग्रेज तथा रणजीत सिंह दोनों अपने कार्यों में उलझ गये। एक ओर अंग्रेज नेपाल, पिंडारी, मराठा, भरतपुर के राज्य तथा बर्मा के साथ युद्धों में व्यस्त थे और दूसरी ओर रणजीत सिंह मुल्तान, कश्मीर, पेशावर, डेरानात आदि को जीतने का प्रयास कर रहे थे। रणजीत सिंह ने अपने वादो का पालन किया। अंग्रेजों के विरुद्ध गोरखा को उन्होंने कोई मदद नहीं की। पेशवा तथा नागपुर के मराठा प्रधान की सहायता की याचना ठुकरा दी। 1823 में उन्होंने अंग्रेजों के विरुद्ध भरतपुर के राजा की सहायता नहीं की।

त्रिगुट सन्धि

26 जून, 1838 ई० को रणजीत सिंह काबुल के शहशुजा तथा कम्पनी के बीच एक त्रिगुट सन्धि पर हस्ताक्षर किया गया। इस सन्धि का उद्देश्य अंग्रेजों के शत्रु अफगानिस्तान के शाह दोस्त मुहम्मद को गद्दी पर से हटाकर अंग्रेजो के मित्र शाहशुजा को गद्दी पर बैठा ना था। इस सन्धि से रणजीत सिंह को कोई लाभ नहीं था। फिर भी अंग्रेजों को खुश करने के लिए उन्होंने सन्धि पर हस्ताक्षर कर दिया था, पर योजना पूरी होने से पहले ही जून, 1839 ई० में रणजीत सिंह की मृत्यु हो गयी।

रणजीत सिंह की नीति की आलोचना

रणजीत सिंह ने सदा ही अंग्रेजों को खुश रखने का प्रयास किया, किन्तु वह असफल रहा। ऐसा होना ही था। अंग्रेज भारत में अपने साम्राज्य की सीमा का चतुर्दिक विस्तार करना चाहते थे और इसका सतत् प्रयास कर रहे थे। बकरे की माँ कब तक खैर मनाती। एक–न–एक दिन सिखों की भी बारी आती। ऐसा हुआ भी। अतः रणजीत की नीति बुद्धिमत्तापूर्ण नहीं मानी जा सकती है। अंग्रेजों के प्रति रणजीत सिंह को निर्भीक नीति का पालन करना चाहिए था। अंग्रेजी राज्य के विस्तार को रोकने के लिए उन्होंने कदम नहीं उठाया, भविष्य में उसने अपने उत्तराधिकारियों का मार्ग कठिन बना दिया। इस आधार पर अनेक विद्वानों ने रणजीत सिह की कटु आलोचना की है। एन० के० सिन्हा ने लिखा है, "जैसा कि विस्मार्क का कथन है, प्रत्येक स्थिति में राजनीतिक सन्धि में एक घोड़ा और घुड़सवार होता है अंग्रेजों और सिक्खों की इस सन्धि में रणजीत सिह घोडा और अंग्रेज घुडसवार थे। अंग्रेजों के साथ अपने सम्बन्धो में रणजीत सिंह ने अत्यधिक दुर्बलता का परिचय दिया। वह सदा अनिश्चित रहा और हिचकिचाता रहा।" आर० सी० मजुमदार ने भी रणजीत सिह को इस दृष्टि से अदूरदर्शी बताया है। फिर भी परिस्थितियों को देखते हुए तथा अंग्रजों की तुलना में रणजीत सिंह की शक्ति को तौलते हुए, उसकी नीति की कटु आलोचना युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होती है। उन्होंने अंग्रेजों से युद्ध टालकर अपनी बुद्धिमानी का ही परिचय दिया।

प्रथम सिक्ख युद्ध (1845-1846 ई०)

रणजीत सिंह की मृत्यु के बाद पंजाब की स्थिति : जून, 1839 ई० में रणजीत सिंह की मृत्यु के बाद पंजाब मे राजनीतिक अस्थिरता की स्थिति उत्पन्न हो गयी तथा सरकार में तेजी से परिवर्तन हुए। सिक्ख राज्य में विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्तियाँ शक्तिशाली हो उठी तथा सर्वत्र अशान्ति का साम्राज्य स्थापित हो गया। सेना नागरिक प्रशासन से स्वतंत्र हो गयी और वही राजाओं को गद्दी पर बैठाती एवं उतारती थी। लगभग छः वर्षों तक राज्य में कानून और शान्ति का नाम नहीं रहा और खालसा सेना अति शक्तिशाली बन गयी।

उत्तराधिकार का षड्यन्त्र : लाहौर दरबार षड्यन्त्रों का केन्द्र बन गया। स्वार्थी और भ्रष्ट नेता आगे आए। रणजीत सिह के उत्तराधिकारी अत्यन्त अयोग्य एवं दुर्बल सिद्ध हुए। रणजीत सिंह की मृत्यु के बाद उनका बड़ा लडका खड्ग सिंह गद्दी पर बैठा, किन्तु उसके दुर्बल चरित्र को देखकर दरबार में दलबन्दी तथा षड्यन्त्रों का बाजार गर्म हो उठा। दरबार में कुभाव अविश्वास और अराजकता बढ़ गयी और सिक्ख राष्ट्र का पतन होने लगा। 1840 ई० मे खड्ग सिह की भी मृत्यु हो गयी। दूसरे दिन उसके पुत्र नौनिहाल सिह की हत्या कर दी गयी। अब रणजीत सिंह का दूसरा पुत्र शेर सिंह राजा बना किन्तु 1843 ई० में उसकी भी हत्या कर दी गयी। ऐसी स्थिति में सेना ही सिक्खन जाना का स्थापी [illegible]
ई० म दिलीप सिह को गया राजा घोषित किया। उसकी माता झिंदन उसकी संरक्षिका बनी।

खालसा सेना का सर्वोपरी बनना : इस घटना के बाद दरबार की गुटबन्दी तो कम हो गयी, किन्तु खालसा सेना सर्वेसर्वा बन बैठी। वही वजीरों को बनाती और हटाती थी। 1845 ई॰ में खालसा सैनिको की सख्या दुगुनी हो गयी। इस प्रकार सत्ता वीर और देशभक्त किन्तु बिल्कुल की अनुशासनहीन सेना के हाथों में आ गयी सेना पर किसी का कुछ भी नियंत्रण नहीं रह गया। उसके मार्ग में जो भी आए उनका सफाया कर दिया गया। खालसा सेना ने अत्याचार करना भी शुरू कर दिया।

युद्ध की ओर : पंजाब के सामने सबसे बड़ी समस्या खालसा सेना पर नियंत्रण करना था। इस सेना ने स्वयं अपनी एक पंचायत (खालसा पंचायत) बना ली और उसी के द्वारा अपने निर्णय स्वयं करने लगी। अतः रानी झिन्दन मंत्री लाल सिंह तथा अन्य दरबारी इस सेना से मुक्ति प्राप्त करने का प्रयास करने लगे। खालसा सेना को नियंत्रित करने का एकमात्र उपाय यही था कि अंग्रेजों के विरुद्ध लड़ने के लिए उभाड़ा जाय। यदि वह इस कार्य में सफल हो जाती तो पंजाब के अतिरिक्त समस्त भारत को लाभ होता। दूसरा, इस उपाय सेना को व्यस्त रखा जा सकता था। तीसरा, अगर वह अंग्रेजों से पराजित हो जाती तो उसकी संख्या तथा शक्ति इतनी कम हो जाती कि उस पर नियंत्रण स्थापित करना आसान हो जाता।

प्रथम सिक्ख युद्ध के कारण

1. पंजाब में जो कुछ हो रहा था, उनसे अंग्रेज सचेत थे। यद्यपि रणजीत सिंह के साथ अंग्रेजों ने मित्रता की सन्धि कर रखी थी, फिर भी वे सतलुज पर के क्षेत्रों को लोभ भरी नजरों से देख रहे थे। 1830 ई॰ के बाद से ही उन्होंने पंजाब को चारों और से घेरना शुरू कर दिया था। 1835 में फिरोजपुर को जीत कर 1838 में वहाँ एक सैनिक छावनी स्थापित कर दी गयी थी। लुधियाना में अंग्रेजों की 3500 सैनिक तैनात थे। अम्बाला में भी अंग्रेजी सेना ला कर रख दी गयी थी। अतः सिक्ख नेताओं को विश्वास हो गया कि अंग्रेजों का एकमात्र उद्देश्य पंजाब को जीतना है। सिक्ख नेता बर्न्स, मैकनाटक तथा नेपियर जैसे लोगों की पंजाब को हस्तगत करने की योजना को जान गये थे। अतः सिक्खों ने भी युद्ध की तैयारी शुरू कर दी।

2. अंग्रेज भी सिक्खों के साथ युद्ध करने के लिए पूरी तैयारी में लगे हुए थे। पंजबा की अन्तरिक दुर्बलता का लाभ उठाकर अंग्रेज पंजाब को हस्तगत करने का प्रयास करने लगे। इसके लिए उन्होंने अपनी पूरी सैनिक तैयारी भी कर ली थी। पंजाब के विभिन्न क्षेत्रों में बड़ी संख्या में अंग्रेजी सेना तेनात कर दी गयी थी। सतलुज को पार करने के लिए नौकाओं का एक पुल बना गया था। सिन्ध में भी अंग्रेजी फौजों की संख्या बढ़ा दी गयी।

   1843 ई॰ में अंग्रेजों को सिन्ध पर कब्जा कर लिया। सिक्ख सोचने लगे कि सिन्ध के बाद पंजाब की ही बारी थी। बिना पंजाब को जीते अंग्रेज सिन्ध पर उचित नियंत्रण भी स्थापित नहीं कर सकते थे। अतः सिन्ध-विजय के पश्चात् अंग्रेजों के प्रति सिक्ख और भी संशकित हो उठे थे।

3. 1844 ई॰ में लार्ड एलनबरा भारत का गर्वनर जनरल बना। उसने आते ही पंजाब पर आक्रमण करने की योजना बनानी आरम्भ कर दी थी। अंग्रेजों की नीति यह थी कि ऐसी परिस्थिति का निर्माण कर दिया जाय जिससे सिक्ख स्वयं युद्ध आरम्भ कर दे। इसी उद्देश्य से सिक्खों के कट्टर दुश्मन मेजर ब्रोडफुट को लुधियाना में ब्रिटिश रेजिडेण्ट बहाल किया गया। वह एक गर्म मिजाज का व्यक्ति था। उसने सिक्ख नेताओं के बीच फूट पैदा की और सिक्खों को युद्ध के लिए भड़काया। सिक्ख नेताओं ने अनुभव किया कि अंग्रेज जल्द ही उनके अधिकार ओहदे और सम्पत्ति छीन लेंगे। अब उन्होंने सोचा कि उनकी रक्षा का एक मात्र मार्ग यह था कि खालसा सेना को अंग्रेजों के साथ युद्ध में उलझा दिया जाय। लाहौर दरबार के दरबारियों के द्वारा उकसाये जाने पर खालसा सेना ने 13 दिसम्बर, 1845 को सतलुज पार किया। अंग्रेजों को पर्याप्त बहाना मिल गया। लॉर्ड हार्डिज ने सिक्खों के विरूद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। इस प्रकार सिक्ख युद्ध का प्रारम्भ हुआ।

युद्ध की घटनाएँ

खालसा सेना ने फिरोज पुर पर आक्रमण कर दिया। प्रत्युत्तर में लॉर्ड गफ के नेतृत्व में अंग्रेजी सेना ने लुधियाना से फिरोजपुर की ओर कूच किया। प्रथम सिक्ख युद्ध की अत्यन्त प्रसिद्ध लडाइयाँ मुदकी, फिरोजशाह, अलीवाल तथा समराँव की थी। मुदकी (दिसम्बर, 1845) में अंग्रेजों का सिक्खों के साथ पहली मुठ भेड़ हुई और डेढ़ घटे की लड़ाई मे सिक्ख हार गये। इस पराजय का कारण लाल सिंह का विश्वासघात था। अब अंग्रेजी सेना फिरोजशाह की ओर बढ़ी। 21 दिसम्बर 1845 के दिन शत्रु सैनिकों के बीच घमासान लड़ाई हुई। सिक्ख सेनापतियों के विश्वासघात के कारण इस युद्ध में भी सिक्ख पराजित हुए। 22 दिसम्बर को तेज सिंह के नेतृत्व में सिक्ख सेना को पीछे लौटना पड़ा। कुछ समय के लिए युद्ध बन्द रहा।

जनवरी, 1846 ई॰ को सिक्खों ने लुधियाना पर आक्रमण कर दिया। 20 जनवरी, 1846 को सिक्खों ने सर हेनरी स्मिथ के अधीन अंग्रेज सैनिकों को बुड्डेवाल की लड़ाई में हरा दिया, किन्तु जल्दी ही 28 जनवरी, को स्मिथ ने सिक्खों को अलीवाल की लड़ाई में पराजित कर दिया। शत्रु–पक्षों के बीच 10 फरवरी, 1846 में समरॉव की अन्तिम लडाई हुई। सिक्ख इस बार भी हार गये। अंग्रेजों ने लाहौर पर कब्जा कर लिया।

कुल मिलाकर लगभग 54 दिनों तक प्रथम सिक्ख युद्ध चलता रहा। सिक्खों की हार का कारण सेनापतियों का विश्वासघात था। सैनिकों ने तो अपनी जी–जान लगा दी थी। साहसी हृदय और पराक्रमी बाहु बहुत से थे, पर सचालक मस्तिष्क कोई न था। प्रथम सिक्ख युद्ध का अन्त 9 मार्च, 1846 ई॰ को होने वाली लाहौर की सन्धि के साथ हुआ।

लाहौर की सन्धि : सिक्खो के विरुद्ध प्रथम सिक्ख युद्ध मे अग्रेजो को व्यापक सफलता मिली थी। लाहौर भी उनके चुगल में आ गया था। सारा पंजाब उनके पाँवों पर लोट रहा था। अगर वे चाहते तो उसी समय पंजाब को जीत सकते थे। किन्तु कुछ खास कारणों से उन्होंने ऐसा नहीं किया। पहला, वे सिक्ख राज्य को अफगानिस्तान तथा कम्पनी के राज्य के बीच एक बफर राज्य बनाकर रखना चाहते थे। दूसरा, पंजाब को कम्पनी के राज्य में मिलाना अंग्रेजों के लिए इस कारण से भी लाभदायक नहीं होता कि ऐसी हालत में पंजाब पर शासन करने के लिए उन्हें काफी धन की आवश्यकता होती। तीसरा लॉर्ड हार्डिज को शायद यह विश्वास नहीं था कि कम्पनी सम्पूर्ण देश को अधिकार में कर लेगी। अन्त में यह भी कहा जा सकता है कि अभी अंग्रेजों के मस्तिष्क में रणजीत सिंह की स्मृति शेष थी और इतनी आसानी से वे सिक्खों की मित्रता को भुला नहीं सकते थ

लाहौर की सन्धि की निम्नलिखित शर्तें थीं

1. सतलुज नदी के बाएँ क्षेत्रों पर सिक्खों ने अंग्रेजों के आधिपत्य की स्वीकार कर लिया।
2. अंग्रेजों को सतलुज तथा व्यास नदी के मध्य के सारे क्षेत्र दे दिए गये। कांगड़ा का प्रदेश भी उन्हें प्राप्त हुआ।
3. दिलीप सिंह को अंग्रेजों ने महाराजा बने रहने दिया तथा रानी झिंदन भी महाराजा की संरक्षिका बनी रहीं। लाल सिंह भी मुख्य मंत्री के पर पद बना रहा। यद्यपि सिक्ख राज्य में अंग्रेजों ने आन्तरिक शासन में हस्तक्षेप न करने का आश्वासन दिया किन्तु महाराजा की रक्षा के नाम पर लाहौर में ब्रिटिश फौज की एक टुकड़ी रख दी गयी।
4. क्षतिपूर्ति के रूप में अंग्रेजों ने डेढ़ करोड़ रुपये की मांग की। चूँकि लाहौर दरबार के पास केवल पचास लाख रुपये थे, अतः अंग्रेजों ने महाराजा से कश्मीर छीन कर एक करोड़ रुपये में उसे गुलाब सिंह के हाथों मे बेच दिया।
5. सिक्ख सेना में कटौती कर दी गयी। इसमें अब 12,000 घुड़सवार तथा 22,000 पैदल सैनिक से अधिक नहीं हो सकते थे।
6. महाराज ने आश्वासन दिया कि बिना कम्पनी की अनुमति के वे किसी भी विदेशी को अपने यहाँ नौकरी नहीं देंगे।
7. ब्रिटिश सेना को अब पंजाब से होकर आने–जाने की अनुमति भी मिल गयी।

इन शर्तों को देखकर सहज ही कहा जा सकता है कि प्रथम सिक्ख युद्ध के बाद पंजाब में सिक्खों की शक्ति काफी दुर्बल हो गयी और अंग्रेजों का प्रभाव व्यापक रूप से बढ़ गया। सिक्ख नेता तथा प्रजा समान रूप से इस सन्धि से असंतुष्ट थे। कुछ सिक्ख नेताओं को गुलाब सिंह को कश्मीर दिया जाना पसन्द नहीं आया। लाल सिंह के उकसाने पर कश्मीर में गुलाब सिंह के विरुद्ध विद्रोह हो गया। लॉर्ड हार्डिज ने इस कारण से लाल सिंह को पदच्युत कर दिया तथा 16 जनवरी, 1846 ई॰ को सिक्खों के साथ अंग्रेजों ने एक दूसरी सन्धि की जिसे भैरोवाल की सन्धि कहते हैं।

भैरोवाल की सन्धि

इस सन्धि की निम्नलिखित शर्तें थी :

1. ब्रिटिश रेजिडेंट की देखभाल में आठ सिक्ख सरदारों का एक संरक्षक परिषद् (Council of Regency) बनी जिसका अध्यक्ष ब्रिटिश रेजिडेंट होता।
2. पंजाब में तैनात ब्रिटिश फौज की देखभाल के लिए सिक्खों को प्रतिवर्ष बीस लाख रुपये देना था।
3. यह व्यवस्था आठ वर्ष के लिए की गयी थी, जब तक दिलीप सिंह नाबालिग रहता।

उल्लिखित सन्धियों का प्रतिफल था कि अब ब्रिटिश रेजिडेंट ही पंजाब का वास्तविक शासक हो गया। पंजाब ने अपनी स्वतन्त्रता खो दी तथा वह एक आरक्षित राज्य बन गया। यह ठीक है कि लार्ड हार्डिज ने पंजाब पर कब्जा नहीं किया किन्तु रास्ता साफ हो गया और लॉर्ड हार्डिज ने भारत आते ही इस कार्य को पूरा कर दिया।

द्वितीय सिक्ख युद्ध (1848-49 ई॰)

युद्ध के कारण

1. लॉर्ड हार्डिंज की व्यवस्था अस्थायी सिद्ध हुई। अंग्रेजों के नियंत्रण एव बढ़ते हुए प्रभाव से सिक्ख सरदार असन्तुष्ट थे। प्रथम सिक्ख युद्ध में हार के कारण उनके सम्मान को गहरा धक्का लगा था, किन्तु उनकी राष्ट्रीय आकांक्षाएँ नष्ट नहीं हुई थी। वे इसका प्रतिशोध लेना चाहते थे।

2. युद्ध का एक अन्य कारण अंग्रेजों को रानीझिंदन के प्रति दुर्व्यवहार भी था। अंग्रेजों को यह संदेह हो गया था कि रानी झिंदन उनके विरुद्ध षडयन्त्र कर रही थी। अतः बिना दोष बताए अथवा मुकदमा चलाए ही उन्हें शेखपुरा के महल में रहने के लिए भेज दिया गया। रानी के द्वारा वहाँ षडयन्त्र किये जाने का कोई प्रश्न नहीं था, फिर भी जल्द ही उन्हें बनारस से निर्वासित कर दिया गया। उनकी वार्षिक पेंशन डेढ़ लाख से घटाकर अड़तालीस हजार कर दी गयी। बाद में इस राशि को केवल बारह हजार रहने दिया गया। रानी झिदन के साथ और भी जोर जुल्म किये गये। रानी के साथ अंग्रेजों का यह दुर्व्यवहार सिक्खों के लिए असह्य हो रहा था।

3. अंग्रेजों को भी स्थिति से सन्तोष नहीं था। भारत स्थित ब्रिटिश अफसरशाही के आक्रमक साम्राज्यवादी पक्ष के लोगों की इच्छा थी कि पंजाब पर अब अप्रत्यक्ष ब्रिटिश शासन की स्थापना की जाय।

   अंग्रेजों को अपने इस उद्देश्य की प्राप्ति का 1848 में तब मौका मिल गया जब आजादी के दिवाने सिक्खों ने अनेक जगह विद्रोह कर दिये। इनमें मूलराज का विद्रोह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण था। मूलराज मुल्तान का गवर्नर था आर्थिक कठिनाइयों के कारण लाहौर–दरबार द्वारा माँगी गयी एक मिलियन स्टर्लिंग की राशि वह नहीं दे सका। उसने पदत्याग करना ही उचित समझा। मूलराज के त्यागपत्र देने पर लाहौर–दरबार ने सरदार खॉ सिंह को दो अंग्रेज ऑफिसरों के साथ मुल्तान के गर्वनर का कार्यभार सँभालने के लिए भेजा। ऐसा विश्वास किया जाता है कि मूलराज के द्वारा भड़काए जाने पर बीस अप्रैल, को उन को अंग्रेज ऑफिसरों की हत्या कर दी गयी। पर लॉर्ड एडवर्ड के मुल्तान को जा घेरा।

4. अंग्रेजों ने मूलराज से बदला लेने के उद्देश्य से हजारा के छत्तार सिंह के पुत्र शेर सिंह को मुल्तान भेजा, किन्तु शेर सिंह ने भी विद्रोहियों के साथ मिलकर विद्रोह का झंड़ा गाड़ दिया। प्रथम सिक्ख युद्ध में भाग लेने वाले अन्य सिक्ख सरदार भी अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह में शामिल हो गये। इस प्रकार अंग्रेजों के विरुद्ध सिक्खों का विद्रोह शुरू हुआ।

   ब्रिटिश सरकार शीघ्र ही कारवाई कर सकती थी किन्तु उसने महीनों प्रतीक्षा की और इसी बीच विद्रोह सारे पंजाब में फैल गया। लॉर्ड डलहौजी ने अन्त में 10 अक्टूबर, 1848 को इन शब्दों के साथ सिक्खों के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी, "पूर्ववादिता के बिना, किसी उदाहरण से अप्रभावित सिक्ख जाति ने युद्ध की घोषणा कर दी है। मैं शपथ खाकर करता हूँ कि उनसे इसक पूरा प्रतिशोध लिया जायेगा।

युद्ध की घटनाएँ

द्वितीय सिक्ख युद्ध का प्रारम्भ जोर–शोर से हुआ। 16 नवम्बर को लॉर्ड गफ ने रावी पार किया। 22 नवम्बर, को चिनाब के किनारे रामनगर की लडाई में उसने शेर सिंह से युद्ध किया। इस युद्ध में दोनों पक्ष बराबर रहे। 13 जनवरी, 1849 को चिलियानवाला का युद्ध हुआ। बड़ी कठिनाई से अंग्रेजों ने विजय प्राप्त की। 22 जनवरी, 1849 को अंग्रेजों ने मुल्तान को जा घेरा। मूलराज ने आत्मासमर्पण कर दिया। उसे कैद करके समुद्र पार भेज दिय गया। फरवरी 1849 ई॰ में गुजरात की लड़ाई लड़ी गई, जिसे तोपों की लड़ाई कहा जाता है। अद्‌भुत वीरता का प्रदर्शन करने पर भी सफल नेतृत्व के अभाव में सिक्ख पराजित हो गये। लॉर्ड डलहौजी ने इस युद्ध के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए लिखा है, "भारत में ब्रिटिश युद्धों के इतिहास में इसे सबसे अधिक स्मरणीय युद्धों में एक समझना चाहिए"। 13 मार्च, 1849 को सिक्खों ने रावलपिंडी के निकट अंग्रेजी फौज के सामने आत्मसमर्पण कर दिया। इसके साथ ही युद्ध समाप्त हो गया। एक वृद्ध सैनिक ने समर्पण के इस अवसर पर हथियारों के सामने हाथ जोड़कर कहा, "आज रणजीत सिंह की मृत्यु हो गयी।"

युद्ध के परिणाम

29 मार्च, 1849 को डलहोजी ने पंजाब को कम्पनी के राज्य में मिला लिया। उसने अपनी घोषणा में कहा कि, "पंजाब का [illegible] दिलीप सिंह का सम्पूर्ण राज्य अंग्रेजों के राज्य का एक भाग है।

महाराजा दिलीप सिंह को गद्दी से उतार दिया गया तथा उसे पाँच लाख रुपये सालाना पेंशन देकर उसकी माता [illegible] साथ इंगलैंड भेज दिया गया। दिलीप सिंह ने वहाँ ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया। उससे अंग्रेजों ने प्रसिद्ध कोहिनूर हीरा छीन लिया जो अब ब्रिटिश ताज की शोभा बढ़ा रहा है। सिक्ख सेना तोड़ दी गयी। मूलराज को बर्मा में निर्वासित कर दिया गया। अनेक सिक्खों को मृत्युदण्ड, कारावास आदि की सजा दी गयी तथा उनकी जागीरें जब्त कर ली गयीं। पंजाब के विलय से अंग्रेजी राज्य की सीमाएँ भारत की प्राकृतिक भौगौलिक सीमाओं तक पहुँच गयी। असम से लेकर सुलेमान पर्वत तक और हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक अंग्रेजों का झण्डा फहराने लगा। सारा देश गुलामी की जंजीरों में जकड़ गया। पलासी के द्वारा प्रारम्भ किए गये ब्रिटिश साम्राज्य के विस्तार का कार्य द्वितीय सिक्ख युद्ध ने सम्पन्न कर दिया था।

पंजाब की विजय का औचित्य

डलहौजी द्वारा पंजाब–विजय की नीति की अनेक लेखकों ने समीक्षा की है। ट्राटर के अनुसार, "डलहौजी की नीति किसी सिद्धांत या न्याय पर आधारित नहीं थी।" अंग्रेजों का यह कर्त्तव्य था कि वे मूलराज तथा छत्तर सिंह के विद्रोहों को दबाते। एक महीने से अधिक प्रतीक्षा करके डलहौजी ने सिक्खों के विद्रोहों को फैलने दिया और इसका बहाना बनाकर पंजाब पर आक्रमण कर दिया। यह एक गलत काम था। बेल के अनुसार पंजाब का अंग्रेजी राज्य में मिलाया जाना एक सशस्त्र विश्वासघात था। डलहौजी ने संधियों का उल्लघन किया तथा सिक्खों के पवित्र विश्वास का दुरुपयोग किया। पंजाब में विद्रोह के लिए अथवा विद्रोह को नहीं दबाने के लिए दिलीप सिंह को दोषी ठहराना सर्वथा अनुचित था क्योंकि वास्तविक सत्ता अंग्रेजों के हाथों में थी, महाराजा तो केवल नाममात्र का था। पंजाब में जो कुछ भी हुआ उसकी सारी जिम्मेदारी अंग्रेजों पर थी। दिलीप को गद्दी से हटाया जाना निस्सदेंह एक अन्यायपूर्ण कार्य था। कुछ ब्रिटिश इतिहासकारों ने डलहौजी की नीति को उचित बताया है। उनके मत में पंजाब में अशान्ति और विद्रोह उत्पन्न करके सिक्खों ने पूर्व की संधियों की शर्तों को भंग किया था। साथ ही, पंजाब में होने वाले विद्रोह महाराजा दिलीप सिंह के विरुद्ध न होकर, अंग्रेजों के विरुद्ध थे। अत डलहौजी ने पंजाब को जीत कर उचित ही किया। सच्ची बात तो यह थी कि एक–एक दिन पंजबा को अंग्रेजों की साम्राज्यवादी नीति का शिकार बनना ही था।

सिक्खों की असफलता के कारण

अंग्रेजों के विरुद्ध सिक्ख युद्धों में असफल रहे। फलस्वरूप डलहौजी ने मार्च, 1849 में पंजाब को कम्पनी के राज्य में मिला लिया। सिक्खों की असफलता अथवा पतन के अनेक महत्त्वपूर्ण कारण दिए जा सकते हैं :

1. सिक्ख राजतंत्र का स्वरूप निरंकुश था। ऐसे राज्य केवल शासक की व्यक्तिगत योग्यता पर आधारित रहते है। जैसे ही कोई कमजोर तथा अयोग्य व्यक्ति गद्दी पर आता है, सारी व्यवस्था धराशायी हो जाती है। रणजीत सिंह की योग्यता एवं शक्ति उसके किसी भी उत्तराधिकारी में नहीं थी। ऐसी स्थिति में सिक्खों का पतन अनिवार्य था।

2. रणजीत सिंह के सभी उत्तराधिकारी दुर्बल तथा अयोग्य सिद्ध हुए। खड़ग सिंह अथवा दिलीप सिंह किसी में इतनी योग्यता न थी कि वे सिक्ख, साम्राज्य की गिरती हुई दीवारों को सहारा देते। अंग्रेजों का सामना भला वे क्या कर सकते थे।

3. रणजीत सिंह की मृत्यु के पश्चात् सिक्ख–दरबार षड्यन्त्र तथा विद्रोह का केन्द्र बन गया। अशान्ति एव कुव्यवस्था के वातावरण में खालसा सेना की बन आयी और वह शासन–सत्ता पर हावी हो गयी। सिक्ख नेता सेना की बढ़ती हुई शक्ति से भयभीत हो गये। अतः उन्होंने अपने स्वार्थों की रक्षा के लिए सिक्ख सेना को अंग्रेजों के विरुद्ध युद्धाग्नि में झोंक दिया। यह कोई बुद्धिमत्तापूर्ण नीति नहीं थी। संगठित रूप से सम्भव था कि यह सेना अंग्रेजों के लिए बड़ी मँहगी साबित हो सकती थी। निरर्थक वीर एवं देशभक्त सैनिकों की जान लेकर सिक्ख नेताओं ने अपनी आजादी खो दी।

4. रणजीत सिंह की मृत्यु के बाद पंजबा में स्वर्थी, विश्वासघाती तथा भ्रष्ट नेताओं की बन आयी। लाल सिंह तथा तेज जैसे – भ्रष्ट नेतओं ने निरर्थक युद्ध को अनिवार्य बना दिया और जब युद्ध शुरू हुए तो वे सिक्ख सेना के साथ विश्वासघात करने से भी बाज नहीं आए। ऐसी स्थिति में सिक्खों की हार को आश्चर्यजनक नहीं माना जा सकता है।

विजय के बाद पंजाब की स्थिति

पजाब को कम्पनी के राज्य में मिला लिए जाने के बाद अंग्रेजों ने पंजाब में शान्ति सुव्यवस्था की स्थापना के तथा शासन की समुचित देखभाल के लिए तीन आयुक्तों के एक बोर्ड की स्थापना की। [illegible] और हेनरी लारेंस को पंजाब का मुख्य आयुक्त बनाया गया। पंजाब को चार डिविजनों में विभक्त कर प्रत्येक [illegible]

कमिश्नर की नियुक्ति की गयी। जिलो में डिप्टी कमिश्नर नियुक्त किये गये। एक शक्तिशाली पुलिस व्यवस्था की गयी। न्याय–प्रशासन, वित्त–प्रशासन आदि में सुधार लाये गये और उनकी नई व्यवस्था की गयी। पंजाब में सर्वत्र शान्ति–व्यवस्था स्थापित हो गयी। कृषि का समुचित विकास किया गया तथा यातायात के साधनों को समुन्नत बनाकर तथा उद्योग–वाणिज्य को प्रोत्साहन देकर, लोगों का जीवन खुशहाल बनाया गया, किन्तु यह खुशहाली केवल ऊपरी थी, भारत के अन्य क्षेत्रों की तरह पंजाब का भी अंग्रेजों के द्वारा शोषण ही किया गया।

सिन्ध की विजय

सिन्ध की स्थिति : मुगलों के पतन के बाद 1767 में सिन्ध प्रान्त में स्वतन्त्र राज्य स्थापित हुआ जिस पर तालपुरा जाति के कई सरदारों तथा अमीरों का शासन था। ये सरदार और अमीर वास्तव में बलूचिस्तान से आये थे। उनमें से बड़े अमीर खैरपुर, हैदराबाद और मीरपुर के थे। हैदराबाद का अमीर अपने को अन्य अमीरों का स्वामी मानता था। लेकिन व्यावहारिक दृष्टि से तीनों अमीर एक दूसरे से पूर्णतया स्वतन्त्र थे। इन अमीरों के राज्य की सीमाएँ कच्छ तक फैली हुई थी और अंग्रेजी राज्य की सीमाओं से मिलती थी। इनके राज्य में कराची का बन्दरगाह तथा गक्खर का किला था जो सिन्धु नदी के जलमार्ग की सुरक्षा के लिए बड़ा महत्त्वपूर्ण था।

व्यापारिक दृष्टि से सिन्ध एक महत्त्वपूर्ण इलाका था और अंग्रेज इस महत्त्व को समझते थे। 1630 में ही उन्होंने इस क्षेत्र में अपनी व्यापारिक कोठियाँ बना ली थी। लेकिन इनसे कोई विशेष लाभ नहीं हुआ। अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में सिन्ध का राजनीतिक महत्त्व एकाएक बढ़ गया। उस समय अंग्रेज नेपोलियन के आक्रमण के भय से आंतकित थे। अतः उन्होंने अमीरों से सन्धि करने का प्रयास किया जिसमें अन्ततः वे सफल रहे। 1801 में अंग्रेजों और सिन्ध के अमीरों के मध्य एक सन्धि हुई जिसके अनुसार अमीरों ने अपने राज्य में फ्रांसीसियों को नहीं बसने देने का वादा किया। 1820 में, यह सन्धि पुनः दुहरायी गयी।

सैनिक तथा राजनीतिक दृष्टियों से सन्धि का महत्त्व अब बहुत अधिक बढ़ गया था। इस समय कम्पनी की सरकार को रूसी आक्रमण की आशंका थी जिसके कारण प्रथम अफगान युद्ध हुआ। ऐसी स्थिति में सिन्ध का राजनीतिक महत्त्व और बढ़ गया क्योंकि स्थल मार्ग से बोलन दर्रे से होकर भारत में आने का मार्ग सिन्ध के अमीरों की सीमाओं से होकर था। इसी समय रणजीत सिंह की दृष्टि भी सिन्ध पर लगी। सम्पूर्ण पंजाब को जीतने के बाद वह सिन्ध पर विजय चाहता था। 1823-25 में उसने इसके लिए तैयारी भी कर ली, लेकिन अंग्रेजों ने इसका विरोध किया। तब 1831 में महाराजा रणजीत सिंह ने विलियम बेंटिक के समक्ष यह प्रस्ताव रखा कि वह तथा अंग्रेज मिलकर परस्पर सिन्ध को बाँट ले। परन्तु अंग्रेज सिन्ध पर सिक्खों का प्रभुत्व कायम नहीं होने देना चाहते थे। अतः बेटिंक ने रणजीत सिंह के प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया।

रणजीत सिंह की महत्वाकांक्षाओं से अमीर बहुत संशकित हो गये थे और वे अंग्रेजों से सम्पर्क बढ़ाना चाहते थे। बेंटिक भी इस परिस्थिति में लाभ उठाना चाहता था। अतः जब एलेक्जेंडर बर्न्स को महाराजा रणजीत सिंह के दरबार में भेजा गया तो उसे आदेश दिया गया कि वह सिन्धु नदी के मार्ग से पंजाब जाये। बर्न्स की इस यात्रा का उद्देश्य सिन्धु नदी में जलयात्रा की सुविधाओं को खोजना था। अमीर इस तरह की यात्रा को पसन्द नहीं करते थे लेकिन जब रणजीत सिंह ने अपना क्रोध प्रकट किया तो वे राजी हो गये। बर्न्स सिन्धु को जलमार्ग से लाहौर गया। सिन्ध के नागरिक और अमीर अंग्रेजों से कितना डरते थे, यह उस समय के उनके विचारों से स्पष्ट हो जाता है। एक बलूची सैनिक ने बर्न्स से कहा कि "बुराई हो चुकी है। तुमने हमारे देश को देख लिया है।" एक अन्य सिंधी व्यक्ति ने कहा कि "दुख की बात है कि सिन्ध अब गया क्योंकि अंग्रेजों ने नदी को देख लिया है जो उनके राज्य–विस्तार का मार्ग है।" ये शब्द सत्य साबित हुए।

1832 की सन्धि : लार्ड विलियम बेंटिक सिन्ध के अमीरों के साथ एक ठोस सन्धि करना चाहता था। अतः उसने कच्छ के रेजीडेन्ट कर्नल पोटिंगर को आदेश दिया कि वह अमीरों से एक व्यापारिक सन्धि की बातचीत करे। अमीर पहले तो सन्धि के लिए तैयार नहीं हुए। उन्हें भय था कि व्यापार का आधार बनाकर अंग्रेज वहाँ अपना राजनीतिक प्रभुत्व कायम कर लेंगे। लेकिन विवश होकर पोटिंगर से 1832 में सन्धि करनी पड़ी। इस सन्धि के द्वारा सिन्ध में अंग्रेजों को व्यापार करने की अनुमति मिल गयी किन्तु यह निश्चय किया गया कि सिन्धु नदी से होकर कोई सेना या युद्ध–सामग्री नहीं जायगी और न कोई व्यापारी स्थायी रूप से सिन्ध में बसेगा। दोनों पक्ष इस बात पर वचन बद्ध हुए कि वे एक दूसरों के इलाकों पर अधिकार जमाने की चेष्टा नहीं करेंगे।

1838 की सन्धि : अमीर लोग रणजीत सिंह से बराबर सशंकित रहते थे। रणजीत सिंह के आक्रमण का भय दिखाकर अमीरों को अप्रैल 1838 में पुनः एक सन्धि करने के लिए बाध्य किया गया। इस सन्धि के द्वारा यह निश्चित हुआ कि अंग्रेज अमीरों

एवं रणजीत सिंह के सम्बन्धों को सामान्य कराने में सहायता देंगे। हैदराबाद में एक अंग्रेज रेजीडेन्ट को रहने की अनुमति मिल गयी। यह रेजीडेंट सिन्ध की सीमा में कहीं भी आ जा सकता था और अपनी रक्षा के लिए कुछ सेना भी रख सकता था। इस प्रकार सन्धि के द्वारा सिन्ध में अंग्रेजों का पैर रखने का मौका मिल गया। जैसा कि एक इतिहासकार ने लिखा है एक अंग्रेज रेजीडेंट को एक अनिश्चित सेना के साथ सिन्ध में रखना अमीरों के महल में एक ऐसा बम रखना था जो गवर्नर–जनरल की इच्छा से कभी भी फूट सकता था"

जब पहला अफगान युद्ध हुआ तो महाराजा रणजीत सिंह ने अंग्रेज फौज को पंजाब से होकर गुजरने की अनुमति नहीं दी। तब लार्ड आकलैंड ने निश्चय किया कि वह सिन्ध के मार्ग से ही अंग्रेजी फौज भेजेगा। यह 1832 की सन्धि की शर्त्तों का खुला उल्लंघन था। आकलैंड ने अमीरों को यह सूचना दी कि "जब तक वर्तमान आवश्यकता बनी रहती है तब तक सिन्ध में से फौजी समान ले जाने की रोकवाली शर्त्त को आवश्यक रूप से स्थगित कर दिया जाय।" अंग्रेज इससे भी संतुष्ट नहीं हुए। सिन्ध के अमीरों को बाध्य किया गया कि वे शाहशुजा को पचीस लाख रुपया कर के रूप में दें। इस कर को न तो अमीर कभी देते थे और न शाहशुजा अफगानिस्तान का अमीर था। शाहशुजा के स्वयं 1833 में लिखित रूप से अमीरों को इस कर से मुक्त कर दिया था। यही नहीं बल्कि अंग्रेजों ने स्वयं अमीरों से धन लिया। अमीरों को यह चेतावनी भी दी गयी कि "हमारे पास इतनी शक्ति है कि हम उन्हें कुचल सकते है तथा अपमानित कर सकते है। यदि जरूरत पड़े तो हम ऐसा करने में तनिक भी संकोच नहीं करेंगे चाहे ऐसा करना हमारे साम्राज्य के अथवा इसकी सीमाओं की सुरक्षा तथा एकीकरण के लिए कितना ही कम अनावश्यक क्यों न हो।"

अफगानिस्तान में अंग्रेजों को विफलता मिली जिससे वे इसी निष्कर्ष पर पहुँचे कि अपनी सुरक्षा के लिए उन्हें भारत के भीतर ही प्राकृतिक सीमा की खोज करनी है। कम्पनी के राज्य की पश्चिमी सीमा पर सिन्ध बहावलपुरा तथा पंजाब के राज्य विद्यमान थे। प्राकृतिक सीमा को प्राप्त करने के लिए कम्पनी का दो में से एक काम करना आवश्यक था। या तो वह इन राज्यों को जीतकर इन्हें अपने राज्य में मिला लेती या इन पर अपना पूरा नियंत्रण स्थापित कर लेती जिससे संकट–काल में वह इनका उपयोग कर सकती। कम्पनी ने धीरे–धीरे इन दोनों ही कामों के करने का निश्चय कर लिया। 24 दिसम्बर, 1838 को खैरपुर के अमीर को एक सन्धि करने के लिए विवश किया गया। इस सन्धि की शर्तें निम्न थी :

1. अमीर ने अंग्रेजों की सर्वोच्च सत्ता स्वीकार कर ली।
2. बक्खर का किला अंग्रेजों को दिया गया; तथा
3. अपनी स्थिति के अनुसार अंग्रेजों को सैनिक देने तथा युद्ध में अन्य सहायता देने का वादा किया।

हैदराबाद के अमीर ने इस प्रकार की सन्धि का विरोध किया। तब सर जॉन कीने ने सिन्ध की राजधानी की ओर बढ़ने की धमकी दी तथा अमीर को विवश किया गया कि वह इस सन्धि को स्वीकार करे। इस सन्धि में भी अंग्रेजों ने कम्पनी के पक्ष में बहुत से अनुचित संशोधन किये तथा उसे अमीर के पास उसके हस्ताक्षर के लिए भेजा गया। अमीर ने इस पर एतराज किया तथा तर्क–वितर्क किया किन्तु अन्त में उसे संशोधित प्रलेख पर 11 मार्च 1839 को हस्ताक्षर करना पड़ा। इस सन्धि के अनुसार करांची पर अंग्रेजों का अधिकार हो गया। पाँच सौ सैनिकों की एक सहायक सेना अमीर की सीमाओं में रखने का अधिकार अंग्रेजों को मिला। इसके बदले में अमीर ने प्रति वर्ष तीन लाख रूपया अंग्रेजों को देने का वादा किया।

जुलाई, 1841 में मीरपुर के अमीर के साथ भी इसी प्रकार की एक सन्धि की गयी। लॉर्ड आकलैंड ने इस सन्धि के प्रभावों का इन शब्दों में वर्णन किया – "अमीरों का संघ एक प्रकार से टूट गया है। प्रत्येक सरदार के अधिकारों में अपने अधिकृत प्रदेश है तथा उसे बाध्य होकर अन्य नवाबों के साथ मतभेदों की स्थिति में हमारी मध्यस्थता को स्वीकार करना होगा। सिन्ध औपचारिक रूप से ब्रिटिश सुरक्षा के अधीन कर लिया गया है तथा हमारे भारतीय सम्बन्धों की परम्परा में सूत्रबद्ध कर दिया गया है। सिन्ध की तराई के भाग में टट्टा अथवा सिन्धु नदी के पश्चिम में किसी ऐसे स्थान पर जहाँ अंग्रेज सरकार निश्चित करे, एक ब्रिटिश फौज को तैनात करना होगा तथा तीनों अमीरों को मिलकर समान रूप से फौजों के व्यय के रूप में तीन लाख रुपये की धनराशि देनी होगी।" इस तरह यह स्पष्ट है कि इन सन्धियों के चलते सिन्ध एक प्रकार से अंग्रेजों की अधीनता में चला गया। केवल नाम के लिए सिन्ध को अंग्रेजी राज्य में मिलाना बाकी रह गया।

एलेनबरा की नीति

सिन्ध के अमीरों पर अंग्रेजों के अत्याचार [illegible] पर अमीर लोग पूर्णरूपेण सशस्त्र [illegible] करने के लिए अधीर हो उठे थे। प्रथम अफगान युद्ध के अवसर पर अमीर अंग्रेजों के प्रति पूर्णतया [illegible]

सहायता करते रहे। ऐसे गम्भीर समय में अमीर कुछ भी शरारत कर सकते थे। लेकिन उन्होंने ऐसा कुछ नहीं किया। इतना होने पर भी उनके विरुद्ध कम्पनी सरकार ने शत्रुता का आरोप लगाया। बात यह थी कि प्रथम अफगान युद्ध के समय सिन्ध का राजनीतिक महत्व पूर्णतया स्पष्ट हो गया था और अंग्रेज इस पर अपने अधिकार जमाने का निश्चय कर चुके थे। यह कहना ठीक है कि सिन्ध की विजय अफगान युद्ध से सम्बन्धित ही नहीं बल्कि उसका परिणाम थी। नैपियर के शब्दों में "वह अफगानी तूफान की पूँछ थी।"

लॉर्ड एलेनबरा के भारत पहुँचते ही सिन्ध में नाटकीय घटनाओं के लिए रास्ता तैयार हो गया। इसकी शुरूआत के पहले 1842 में आउट्रम के स्थान पर सर चार्ल्स नैपियर को सिन्ध का नया रेजीडेंट नियुक्त किया गया और उसे व्यापक अधिकार दिया गया। नैपियर एक निश्चित कार्यक्रम लेकर सिन्ध पहुँचा। सिन्ध के अमीरों पर पहले से ही कई आरोप लगाये गये थे। नैपियर ने इन आरोपों को दुहराया और अमीरों से माँग की कि वे एक नयी सन्धि करे। इस सन्धि की शर्त यह थी कि अमीर अंग्रेजी सेना के खर्च के लिए तीन लाख रुपया वार्षिक के बदले सिन्ध का कुछ भाग (करॉची, थट्टा, सक्खर, बक्खर और रोहरी) अंग्रेजों को दे दें, सिन्धु नदी में चलने वालें अंग्रेजी जहाजों के लिए ईंधन का प्रबन्ध करें तथा सिक्का चलाने का अधिकार अंग्रेजों को दे देंगे।

इसी समय खैरपुर में उत्तराधिकार के प्रश्न को लेकर एक विवाद उठ खड़ा हुआ। खैरपुर का अमीर रूस्तम खॉ एकाएक सख्त बीमार पड़ गया और उसके बचने की कोई उम्मीद नहीं रही। उसने मीर मुहम्मद को अपना उत्तराधिकारी घोषित कर दिया। उधर नैपियर ने अली मुराद को रुस्तम खॉ का उत्तराधिकारी बनाना स्वीकार किया और यह घोषित कर दिया कि अमीर के विरुद्ध लगाये गये आरोप सच प्रमाणित हो गये है। नैपियर ने खैरपुर पर आक्रमण कर दिया और 20 जनवरी, 1843 को सभी अमीरो पर प्रस्तावित सन्धि पर हस्ताक्षर करने के लिए खैरपुर बुलाया सभी अमीर इस सन्धि पर हस्ताक्षर करने को तैयार हो गये। लेकिन इसके पूर्व ही नैपियर सेना लेकर आगे बढ़ा तथा खैरपुर और हैदराबाद के मध्य में स्थित ईमानगढ़ के किले को नष्ट कर दिया। आउट्रम ने नैपियर को संयम से काम लेने का सुझाव दिया। लेकिन नैपियर ने उसकी नहीं सुनी और हैदराबाद की ओर चल पड़ा। नैपियर की इन कार्यवाहियों ने जो उसने बिना युद्ध घोषणा किए ही कर डाली थी, अमीरों को बुरी तरह आशंकित और भयभीत कर दिया। किन्तु विवश होकर वे चुप रहे।

नैपियर द्वारा इस प्रकार निरन्तर अमीरों का अपमान करना और सेना लेकर बढ़ना हैदराबाद में विद्रोह का कारण बन गया। आउट्रम ने नैपियर को बार–बार ताकीद की कि वह अपना आगे बढ़ना रोक दे, किन्तु नैपियर ने उसकी एक न सुनी। बलूची सेना नैपियर की इस ज्यादती को सहन न कर सकी और अमीरों के नियन्त्रण से बाहर हो गयी। इतने पर भी अमीरों ने 12 फरवरी, को सन्धि–पत्र पर हस्ताक्षर कर दिये, किन्तु नैपियर बलात झगड़ा मोल लेने के लिए तुला बैठा था। अतः उसने अपना आगे बढ़ना बन्द नहीं किया। उसके कार्यों ने निर्विवाद सिद्ध कर दिया की वह इस प्रकार के बढ़ाव से घटित किसी दुर्घटना को आधार बनाकर युद्ध घोषणा करना और सिन्ध को हड़पना चाहता था। उधर बलूची सेना ने नैपियर को इस पर युद्ध–घोषणा करने का अवसर मिल गया। युद्ध–घोषणा के पाँच दिन पश्चात् 17 फरवरी, 1843 को मियानी की युद्ध–भूमि में अंग्रेजीं सेना और बलूची सेना में भीषण संग्राम हुआ। इस युद्ध में बलूची सेना ने अंग्रेजी सेना का भीषण संहार किया। उधर अंग्रेज तोपचियों के गोलों ने बलूची सेना की पक्तियों का सफाया कर डाला। अन्त में विजय अंग्रेजों की ही रही। इसके पश्चात् 24 मार्च के दिन हैदराबाद के युद्ध में नैपियर ने बची–खुची बालूची सेना की शक्ति भी समाप्त कर डाली 14 अप्रैल को अमरकोट पर अधिकार करके नैपियर ने गवर्नर जनरल एलिनबरों को सूचना दी कि उसने सिन्ध–विजय का कार्य पूर्ण कर डाला है।

गवर्नर–जनरल ने अगस्त, के महीने में सिन्ध को अंग्रेजी साम्राज्य में मिला लेने की घोषणा कर डाली। सिन्ध के अमीरों को देश से निर्वासित कर दिया गया। मुरादअली ने अंग्रेजों की सहायता की थी। इसलिए उसको खैरपुर दे दिया गया। हैदराबाद की लूट में नैपियर को सत्तर हजार रुपये का पुरस्कर मिला। वह सिन्ध का गर्वनर भी नियुक्त हुआ।

सिन्ध को अंग्रेजी राज्य मिलाया जाना एक बड़ी ही अन्यायपूर्ण घटना है जो साम्राज्यवाद के माथे पर भी एक कलंक है। युद्ध का कारण बलूचियों का आउट्रम पर आक्रमण करना बताया जाता है लेकिन स्वयं आलट्रम ने स्पष्ट रूप से यह लिखा था कि अमीर किसी भी प्रकार विद्रोह के लिए उत्तरदायी न थे, उन्होंने स्वयं आउट्रम को बचाने के प्रयत्न किये थे और ठीक समय से उसे सूचना भेज दी थी। स्वयं आउट्रम ने नैपियर को लिखा था कि वह सेना लेकर हैदराबाद की ओर न बढे अन्यथा आपके भी दुश्मनियों के विद्रोह को न रोक सकेंगे। इस षड्यंत्र युद्ध का वास्तविक कारण नैपियर का सेना के साथ आगे बढ़ना था। जब बलूची सरदारों ने यह अनुभव किया कि सन्धि पर हस्ताक्षर करने और पूरी तरह से आत्मसमर्पण करने के बाद

भी अंग्रेज सेना लेकर आगे बढ़ रहे हैं तो उन्हें विश्वास हो गया कि अंग्रेज उन्हें बरबाद करने का निश्चय कर चुके हैं। इस कारण आत्मरक्षा के लिए उन्होंने विद्रोह किया। आउट्रम स्वयं लिखता है कि" क्या नेपियर यह विश्वास करता था कि अमीर अपनी सेना को दूर भेज देंगे और अपना सीना खोलकर उसके सैनिकों की सगीनों का मुकाबला करने के लिए खड़ा हो जायेंगे

सिन्ध के सम्बन्ध में लॉर्ड एलेनबरा और चार्ल्स नैपियर की नीति की बड़ी आलोचना हुई है। कम्पनी के डायरेक्टरों ने इसे स्वीकार नहीं किया यद्यपि उनमें इतना साहस नहीं था कि वे पुनः इस प्रदेश को अमीरों को लौटा देते। इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता है कि अमीरों ने कोई ऐसा आचरण नहीं किया तो अनुचित माना जा सके। वे सदैव वफादार रहे। फिर भी उन्हें अंग्रेजी साम्राज्यवाद का शिकार बनना पड़ा। इन्स ने ठीक ही लिखा है कि "अगर अफगान काण्ड भारतीय इतिहास की घटनाओं में सबसे अधिक भयानक है तो सिन्ध का काण्ड पूर्णतया अनैतिक है।" नैपियर ने स्वय अपनी डायरी म लिखा था कि "हमे सिन्ध पर आधिपत्य जमाने का कोई अधिकार नहीं है, तो भी हम ऐसा करेंगे और यह कार्य कुशलता से पूर्ण लाभदायक उपयोगी तथा मानवता पूर्ण होगा।"

सिन्ध के अमीरों को सजा दी गयी उसका असली कारण यह था कि अंग्रेज अफगानों से पिट गये थे। उन्होन यह दिखना उचित समझा कि ब्रिटिश जाति भी किसी को पीट सकती है। अंग्रेजों का अफगान–अभियान घोर अपमान में समाप्त हुआ था। और जिस व्यक्ति के माथे पर कलंक का टीका लगा था वह था लॉर्ड एलेनबरा। लार्ड एलेनबरा के हृदय में यह शूल खटकने लगा और वह पराजय के अपमान को किसी चमकती हुई जीत से धोने का उपाय सोचने लगा। सिन्ध–विजय के मूल म यही बात थी। एलफिंस्टन ने ठीक ही लिखा है," अफगानिस्तान के पश्चात् घटित होने के कारण इसका सर्व–साधारण के मन पर यह प्रभाव पड़ा, जैसे किसी बलवान व्यक्ति को गलियों में ठोकर मारी गयी हो और वह बदले में घर जा कर अपनी पत्नी को मारे। यह अफगानी तूफान की अन्तिम कडी थी।"

बर्मा में ब्रिटिश सत्ता की स्थापना

बर्मा का प्रथम युद्ध (बर्मा की अभ्युदय) : प्रत्येक भारतीय सरकार को उत्तर–पूर्व सीमा पर ध्यान रखना पडता है। भारत में कम्पनी के राज्य को अभी तक पूर्व की ओर से किसी प्रकार की आपत्ति की आशंका नही थी परन्तु अठारहवीं शताब्दी के दूसरे भाग में बर्मा के अभ्युदय से स्थिति बदल गयी और कम्पनी सरकार को इस ओर भी ध्यान देना पडा जिसके फलस्वरूप बर्मा के साथ अंग्रेजों का युद्ध हुआ।

अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में, जिस समय अंग्रेज उत्तरी भारत में अपनी सत्ता स्थापित करने में लगे थे, उसी युग में तिब्बत–चीनी नस्ल की एक जाति ने बर्मा को जीतकर एक विस्तृत राज्य की स्थापना कर ली। 1750 में अलाम्पोरा नामक बर्मा के राजा ने इरावी नदी के डेल्टा में स्थिति पिगु प्रदेश पर अधिकार कर लिया। उसके उत्तराधिकारियों ने अपने राज्य का खूब विस्तार किया। उन्नीसवीं सदी के आरम्भ में उन्होंने आसाम, मणीपुर आदि पर भी अधिकार कर लिया जिससे उनके राज्य की सीमाएं अंग्रेजी राज्य की सीमाओं से मिलने लगी ऐसी हालत में दोनो शक्तियों के बीच यदाकदा संघर्ष भी होने लगें इस समय अंग्रेज भारत में अन्य जगहों पर युद्ध में व्यस्त थे। अतएव वे इस समय बर्मा के साथ किसी प्रकार का युद्ध करना नहीं चाहते थे। बर्मा से संघर्ष रोकने के लिए उन्होंने अपने कई दूत वहाँ भेजे। 1765 और 1802 में कैप्टेन सिम्स को, 1797 में कैप्टेन कावर्ल को और 1811, 1809, तथा 1803 में कैप्टेन कैनिंग को राजदूत बनाकर बर्मा भेजा गया। लेकिन बर्मियों ने इन राजदूतों की अवहेलना की और उन्हें भेजने का कोई लाभ नहीं हुआ।

इस बीच बर्मा और अंग्रेजों का सम्बन्ध बिगड़ता रहा। बर्मियों ने जब अराकान जीत लिया तो संघर्ष अनिवार्य हो गया। बहुत से लोग अराकान और बर्मा से भागकर भारत चले आते थे। बर्मी सरकार ने उन्हें वापस माँगा लेकिन अंग्रेजों ने ऐसा करने से इनकार कर दिया यद्यपि उन्होंने आश्वासन दिया कि वे भगोड़े लोगों को बर्मा में उत्पात मचाने का अवसर नहीं देंगे। पर बर्मी इससे सन्तुष्ट नहीं हुए जब बर्मा ने आसाम को जीत लिया तो सीमा सम्बन्धी झगड़े और भी बढने लगे। बर्मा के राजा ने एक पत्र लिखकर लॉर्ड हेस्टिंग्स के सामने यह माँग रखी कि अंग्रेज, चटगाँव, ढ़ाका, मुर्शिदाबाद और कासिम बाजार उसे दे दें क्योंकि ये प्रदेश पहले अराकान के अधिकार में थे और अब अराकान बर्मा राज्य का अग है। यह भी कहा गया कि यदि ये स्थान बर्मा को नहीं दियें जायेंगे तो वह युद्ध शुरू कर देगा। गवर्नर–जनरल लॉर्ड हेस्टिंग्स इस समय बर्मा के साथ युद्ध में फसना नहीं चाहता था। क्योंकि भारत की सीमाओं में ही उसकों अनेक समस्याओं से जूझना था। फिर भी उसने बर्मी अधिकारियों को चेतावनी दे दी। गर्वनर–जनरल ने पेगू के गर्वनर को लिखा कि सम्भवतः यह पत्र बर्मा के राजा की स्वीकृति से नहीं लिखा गया और "यदि यह पत्र आवा दरबार की स्वीकृति से भेजा गया है तो अंग्रेज सरकार सभी से युद्ध की घोषणा मानती है।" लेकिन इस समय युद्ध टल गया।

युद्ध के कारण : लॉर्ड एमहर्स्ट (1823-1828) के गवर्नर-जनरल होकर आने के बाद बर्मा के साथ अंग्रेजों का युद्ध अनिवार्य हो गया। युद्ध का मुख्य कारण एक तरफ बर्मा दरबार की अज्ञानता और उछण्डता तथा दूसरी तरफ अंग्रेजी साम्राज्यवाद का विस्तारवादी स्वरूप था। बर्मा के राजा, अन्य राजपदाधिकारी तथा जनता किसी को भी भारतीय परिस्थिति के सम्बन्ध में कोई जानकारी नहीं थी। अराकान, मणीपुर और आसाम-जैसे शक्तिहीन राज्यों को जीतने के बाद उन्हें अपनी शक्ति के बारे में गलतफहमी हो गयी थी। वे अंग्रेजों की शक्ति के सम्बन्ध में कुछ भी सही अन्दाजा नहीं लगा सके। बर्मा के सैनिक अधिकारी आसाम को सरलतापूर्वक जीतकर यह समझ बैठे कि वे अंग्रेजों को भी आसानी से परास्त कर सकते हैं। बर्मी सेनापति महाबुन्देला ने बर्मा के राजा को पत्र लिखा जिसमें उसने "बर्मियों को शेर और अंग्रेजों को गीदड़ बताया।" उसने यह भी बताया कि उसने कई भारतीय राजाओं के साथ पत्र-व्यवहार किया है और सबों ने आश्वासन दिया है कि यदि बर्मा ने अंग्रेजों पर आक्रमण कर दिया तो वे सब अंग्रेजों के विरुद्ध बर्मा का साथ देंगे। बर्मा की अन्धविश्वासी जनता का ख्याल था कि उनका राजा अजेय है और वह अंग्रेजों को आसानी से परास्त कर सकता है। इस तरह बर्मा में "राजा से लेकर भिखारी तक" युद्ध के लिए तैयार थे। उधर अंग्रेजों को इन सारी गतिविधियों का पता था। वे भी युद्ध की तैयारी करने लगे। बर्मा के साथ अंग्रेजों का झगड़ा शाहपुरी के छोटे और निर्जन द्वीप को लेकर शुरू हुआ। चटगाँव के पास कुछ अंग्रेज हाथियों का शिकार कर रहे थे। बर्मियों ने उन्हें पकड लिया। इसी समय उधर से अंग्रेजों की एक नाव गुजर रही थी। माल से भरे इस नाव के अधिकारियों से बर्मियों ने चुँगी माँगी। अंग्रेजों ने इसका विरोध किया और शाहपुरी के टापू पर अपनी सैनिक चौकी स्थापित कर ली । जनवरी, 1823 में बर्मा ने माँग की शाहपुरी का टापू खाली कर दिया जाये। पर अंग्रेज न माने और तब सितम्बर में बर्मियों ने शाहपुरी पर आक्रमण करके उस पर कब्जा जमा लिया। बाद में इस जगह को उन्होंने छोड़ लिया परन्तु यह धमकी वे देते गये कि यदि अंग्रेजों ने शाहपुरी पर पुनः अधिकार किया तो वे ढाका और मुर्शिदाबाद पर आक्रमण कर देंगे।

अंग्रेजों और बर्मियों के बीच कछार के शासक की समस्या को लेकर भी तनातनी बढ़ी। कछार के शासक गोविन्दचन्द्र को अपना राज्य छोड़कर भागना पड़ा था। वह भागकर पहले बंगाल आया जहाँ उसने अंग्रेजों से सहायता माँगी। पर अंग्रेजों ने उसके अनुरोध पर ध्यान नहीं दिया। तदुपरान्त गोविन्दचन्द्र ने बर्मा से सहायता माँगी और बर्मियों की सहायता से वह फिर कछार का शासक बन गया। लॉर्ड एम्हर्स्ट को यह बात एकदम पसन्द नहीं आयी। कछार के राजा का बर्मा के सरंक्षण में जाने से बंगाल की सुरक्षा पर खतरा उत्पन्न हो सकता था। अतः वह गोविन्द चन्द्र को अपनी ओर मिलाने का प्रयास करने लगा। उसने एक अंग्रेजी फौज कछार भेज दी और गोविन्द चन्द्र को कम्पनी के संरक्षण में ले लिया गोविन्द चन्द्र ने दस हजार रुपये वार्षिक देना स्वीकार किया और अपना आन्तरिक शासन अंग्रेजों को सौंप दिया। बर्मा ने इस घटना को बहुत बुरा माना और अंग्रेजों से युद्ध करने के लिए एक सेना कछार भेजी।

इसी समय जैन्तिया के छोटे राज्य ने भी अंग्रेजों का संरक्षण स्वीकार कर लिया। लॉर्ड एम्हर्स्ट आसाम पर भी बर्मियों के अधिकार से असन्तुष्ट था। उसका कहना था कि बर्मी आसाम से ब्रह्मपुत्र नदी के द्वारा अचानक ही केवल पाँच दिन में अपनी बड़ी-से बड़ी सेनाएँ बंगाल की सीमाओं तक ला सकते हैं। अतः वह आसाम को भी बर्मियों के चंगुल से छुड़ाने का यत्न करने लगा।

इसी बीच शाहपुरी द्वीप को लेकर दोनो पक्षो के मध्य पुनः झगडा हो गया। बर्मियों ने मांग रखी कि शाहपुरी को तटस्थ क्षेत्र घोषित कर दिया जाये। अंग्रेज इसके लिए तैयार नहीं हुए। तब फरवरी, 1824 में बर्मियों ने इस द्वीप पर एकाएक हमला करके उसको अपने अधिकार में ले लिया इस पर 24 फरवरी, 1824 को लॉर्ड एम्हर्स्ट ने बर्मा के खिलाफ युद्ध घोषित कर दिया और इस तरह प्रथम आग्ल बर्मा युद्ध शुरू हुआ।

युद्ध की घटनाएँ

लॉर्ड एम्हर्स्ट ने जल-मार्ग द्वारा जनरल सर आर्चिबाल्ड कैम्पबेल की कमान में ग्यारह हजार सैनिकों का विशाल दल कप्तान मैरियट के जहाजी बेड़े के साथ रंगून विजय के लिए भेज दिया। अंग्रेजी सेना ने भीषण आक्रमण करके 11 मई, 1824 के दिन रंगून विजय कर लिया। बर्मा की सेना तथा नगर निवासी अपने साथ सभी प्रकार की खाद्य सामग्री लेकर जंगलों में जा छिपे। अंग्रेजी सेना को रसद की कमी के कारण तथा ऊपर से वर्षा आरम्भ हो जाने और मलेरिया आदि के प्रकोप से भीषण कठिनाइयाँ उठानी पड़ी। वर्षा ऋतु व्यतीत होने तक अंग्रेजी सेना असहनीय आपदायें सहन करती रही।

लॉर्ड एम्हर्स्ट द्वारा भेजी गयी दो अन्य सेनाएँ स्थल मार्ग से बर्मा पर आक्रमण करने के लिए आगे बढी। उन्होंने आसान विजय करके वहाँ से बर्मा की सेना को मार भगाया। उसी समय बर्मा के राजा ने अपने सर्वोत्तम एवं सर्वाधिक योग्य सेनापति महाबुन्देला को एक विशाल सेना सहित बंगाल विजय के लिए भेज दिया था। माबन्देला ने चटगाँव की सीमा पर स्थित रामू नामक स्थान में अंग्रेजी सेना को भीषण पराजय दी जिससे उसका नाम चारों ओर प्रसिद्ध हो गया। कम्पनी सरकार की सम्पूर्ण उत्तर-पूर्व सीमा के लिए भीषण संकट उत्पन्न हो गया और समस्त बंगाल में आतंक की लहर फैल गई।

किन्तु रंगून के हाथ से निकल जाने और अंग्रेजी सेना के नदी–मार्ग से राजधानी की ओर अग्रसर होने की आशंका से बर्मा के राजा ने महाबुन्देला को बंगाल की ओर से हटकर रंगूल वापस आने के लिए आदेश भेज दिया। महाबुन्देला अपने साठ हजार सैनिकों सहित दिसम्बर का महीना आरम्भ होते–होते रंगूल के निकट जा पहुँचा। 15 दिसम्बर के दिन उसकी सेना का अंग्रेजी सेना के साथ भीषण युद्ध हुआ जिसमें पराजित होकर महाबुन्देला को पीछे हट जाना पड़ा। अब महाबुन्देला ने रंगून से लगभग चालीस मील उत्तर की ओर इरावदी के तट पर दोनाब्यु में सुदृढ़ मोर्चा लगाया। फरवरी, 1825 में जनरल कैम्पबेल तैयार होकर रंगून से इरावदी नदी से ऊपर की ओर चला। उसने अपनी सेना दो भागों में बाँटकर एक जहाजी बेड़े के साथ तथा दूसरी नदी के किनारे–किनारे स्थल–मार्ग से आगे बढ़ाई। दोनाब्यु में एक माह तक महाबुन्देला ने अंग्रेजी सेना का वीरतापूर्वक सामना किया और अन्त में अप्रैल के महीने में एक दिन युद्ध के बीच अचानक गोली लग जाने से उसकी मृत्यु हो गई। इसके लगभग तीन सप्ताह पश्चात् विजयी अंग्रेजी सेना ने निचले बर्मा की राजधानी प्रोम पर 25 अप्रैल को अधिकार कर लिया। जनरल कैम्पबेल ने वर्षा ऋतु प्रोम में ही व्यतीत की। महाबुन्देला की मृत्यु से हतोत्साहित बर्मा की सरकार ने सन्धिवार्ता आरम्भ कर दी। किन्तु वार्ता असफल रहने के कारण 1825 के अन्त में युद्ध पुनः आरम्भ हो गया। अंग्रेजी सेनाएँ बर्मा की सेनाओं द्वारा खड़ी की गई बाधाओं का सामना करते हुए दृढतापूर्वक आगे बढ़ती गई। वे बर्मा की राजधानी आवा से केवल साठ मील दूर रह गये और पगान में बर्मा की सेना को फिर से बुरी तरह पराजित करके उन्होंने यांडबू पर अधिकार जमा लिया।

यांडबू की सन्धि

बर्मा के राजा ने निराश होकर 24 फरवरी, 1826 को अंग्रेजो के साथ सन्धि कर ली जो यांडबू की सन्धि के नाम से प्रसिद्ध है। इस सन्धि के अनुसार अंग्रेजों को अराकान और तनासिरिम के प्रान्त सदा के लिए बर्मा के राजा से प्राप्त हुए तथा बर्मा के राजा ने आसाम और कछार से अपनी सेनायें वापिस बुला लेना स्वीकार किया। उसने मणिपुर के राज्य की स्वतंत्रता को मान्यता प्रदान की, कम्पनी के साथ व्यापरिक सन्धि की और अपनी राजधानी आवा में एक अंग्रेज रेजीडेण्ट रखना स्वीकार किया। उसे कम्पनी को युद्ध क्षतिपूर्ति स्वरूप एक करोड़ रुपया भी देना पड़ा।

इस युद्ध से अंग्रेजों को बड़ा लाभ हुआ। उन्हें उत्तरपूर्व में काफी भूमि प्राप्त हो गयी और मुख्य बर्मा में उनके पैर जम गए जिससे बाद में सम्पूर्ण बर्मा जीतने में उन्हें सुविधा हुई। लेकिन इस युद्ध में कम्पनी को भीषण आर्थिक क्षति उठानी पड़ी। इस युद्ध में अंग्रेजों का पिण्डारी युद्ध तथा मराठों की शक्ति ध्वस्त करने में जितना रुपया व्यय हुआ था उससे लगभग दस गुना अधिक व्यय हुआ जिससे कम्पनी का कोष रिक्त हो गया और उसे भीषण आर्थिक समस्याओं का सामना करना पड़ा। उसे इस युद्ध की क्षतिपूर्ति में बर्मा के राजा से केवल एक करोड़ रुपया प्राप्त हुआ जो उसके वास्तविक व्यय का दशांश भी नहीं था। कम्पनी को अपने सेनापतियों की भयानक भूलों तथा अयोग्यता के कारण सैनिकों की भारी संख्या से भी हाथ धोना पड़ा। यदि मद्रास का गवर्नर सर टॉमस मुनरो समय पर सैनिक सहायता न भेज पाता तो बहुत सम्भव था अंग्रेज इस युद्ध में हार जाते।

द्वितीय बर्मा युद्ध

युद्ध के कारण : बर्मा की पहली लडाई के बाद बर्मियों और अंग्रेजों के बीच अच्छा सम्बन्ध नहीं कायम हो सका था। यांडबू की सन्धि से बर्मा के निवासी खिन्न थे। कुछ दिनो के बाद बर्मा की गद्दी पर थारवादी (1838-45) नामक एक नया राजा बैठा। बर्मा के विधान के अनुसार नये राजा के द्वारा पुराने अधिकारों की स्वीकृति अनिवार्य थी, अन्यथा उनका अन्त हो जाता था। इसी आधार पर नये राजा ने यांडबू की सन्धि की शर्तों को मानने से अस्वीकार कर दिया। उसका कहना था कि "अंग्रेजों ने मेरे भाई को हराया, मुझे नहीं। यांडबू की सन्धि मानने की पाबन्दी मुझ पर नहीं है, क्योंकि मैंने यह सन्धि नहीं की।" वह रेजिडेन्ट से एक साधारण व्यक्ति जैसा भेंट करुगाँ, रेजिडेन्ट की हैसियत से नहीं। वे कब समझेंगे कि मैं केवल इगलैण्ड के राजा राजपूत से ही भेंट कर सकता हूँ।" फलतः अंग्रेजों और बर्मियों के बीच सम्बन्ध बहुत खराब हो गया। इसके अतिरिक्त रेजिडेन्ट बर्मा के दरबार में उचित सम्मान नहीं पा रहे थे। अतः 1840 में अंग्रेज रेजिडेन्ट वापस बुला लिया गया

एशिया के राज्यों में यूरोपीय जातियों के प्रवेश को सभी सन्देह और घृणा की भावना से देखते थे। कोई भी राजा अपने यहाँ अंग्रेज रेजिडेण्ट को रखना नहीं चाहता था। यूरोपीय जातियों के प्रति इस घृणा की भावना का प्रमाण चीन के राजा द्वारा बर्मा से राजा को 1836 में लिखे गये उसे पत्र से मिलता है जिसमें चीन ने बर्मा को बताया कि "नगर में अंग्रेजों को रहने देना बुद्धिमानी नहीं है। यह पीपल के वृक्ष की तरह कार्य करते है," बर्मा में अंग्रेजों के प्रति यही घृणा की भावना थी इसलिए वे अंग्रेज रेजीडेन्ट की कोई परवाह नहीं करते थे बल्कि कभी–कभी उसका अपमान तक कर दिया करते थे। इस कारण बर्मा दरबार में कोई अंग्रेज न रहा इसके अतिरिक्त यह समाचार भी फैलने लगे थे। कि अंग्रेज व्यापारियों के साथ दुर्व्यवहार किया जाता है और बर्मा का राजा अंग्रेजों को निकालने के लिए चीन, फ्रांस और स्याम के राजा से सहायता लेने का प्रयत्न कर रहा है। इस प्रकार बर्मा और अंग्रेजों में सन्देह तथा घृणा का वातावरण फैलने लगा।

द्वितीय बर्मा युद्ध का एक कारण था। लॉर्ड डलहौजी ने पूर्व की ओर साम्राज्य विस्तार करने के अभिप्राय से बर्मा को अंग्रेजी राज्य में मिलाने का निश्चय किया। उसके इस निश्चय का एक प्रमुख कारण यह था कि संयुक्त राज्य अमेरिका और फ्रांस दोनों ही पूर्वी देशों पर अपना अधिकार जमाने के लिए प्रयत्न कर रहे थे। डलहौजी को इस बात की भारी आशंका थी कि अमेरिका या फ्रांस किसी दिन अचानक बर्मा पर अधिकार जमा बैठेगा। तब अंग्रेजों को बर्मा के लाभदायक व्यापार से वंचित होगा पड़ेगा। अतः डलहौजी की नीति थी कि किसी अन्य शक्ति द्वारा बर्मा पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने से पहले की बर्मा को अंग्रेजी साम्राज्य में मिला लिया जाये।

यांडबू की सन्धि द्वारा अंग्रेज व्यापारियों को रंगून में बसने तथा व्यापार करने का अधिकार मिल गया था। लेकिन अंग्रेज व्यापारियों का व्यवहार बड़ा ही अनुचित होता था। ये लोग चुंगी तथा अन्य करो की अदायगी को लेकर झगड़ा फसाद करते रहते थे और उल्टे बर्मा निवासियों तथा वहाँ की सरकार के दुर्व्यवहार सम्बन्धी अनेक बातें नमक–मिर्च लगाकर भारत के गर्वतर जनरल के पास पहुँचा देते थे। बर्मा का राजा अंग्रेज व्यापारियों की इस मनमानी से अत्यन्त क्रुद्ध था। कुछ अंग्रेज व्यापारियों ने एक बर्मी की हत्या कर दी। अतः उन पर मुकदमा चलाया गया। यद्यपि न्यायालय ने अभियुक्तों के साथ अत्यन्त उदारतापूर्ण व्यवहार किया तथा उसको साधारण जुर्माना का दंड देकर ही मुक्त कर दिया, पर अंग्रेज इस पर बड़े नाराज हुए। इस प्रकार बर्मा और अंग्रेजों के सम्बन्ध दिन–प्रतिदिन खराब होते रहे। मुख्य झगड़ा व्यापार का था और अंग्रेज व्यापारियों को यह शिकायत थी कि बर्मा राज्य यांडबू की सन्धि से निश्चित किये हुए कर से अधिक व्यापारिक कर लेता है। जिस समय लॉर्ड डलहौजी भारत में गर्वनर–जनरल बनकर आया उस समय अंग्रेज व्यापारियों को सुअवसर प्राप्त हुआ क्योंकि डलहौजी की साम्राज्यवादी और पूर्व में अंग्रेजों के सम्मान की सुरक्षा की नीति उनके हितों की सुरक्षा करने में समर्थ थी। रंगून के अंग्रेज निवासियों ने लॉड डलहौजी के पास एक प्रार्थना–पत्र भेजा जिसमें उन्होंने लिखा कि "उन्होंने बहुत लम्बे समय तक बर्मा सरकार के अत्याचार और अन्याय को बर्दाश्त किया है," और अब उन्हें उससे बचाने का कर्त्तव्य गर्वनर–जनरल का है।

लॉर्ड डलहौजी के पास जब यह प्रार्थना–पत्र पहुँचा तो उसने शीघ्र निर्णयकर लिया कि अंग्रेज नागरिक और व्यापारियों का यह न्यायपूर्ण अधिकार है कि वे अपनी सरकार से अन्याय के विरुद्ध रक्षा की माँग करे और इस कारण बर्मा दरबार से तुरन्त क्षतिपूर्ति की माँग की जानी चाहिए। अंग्रेजों ने सबसे पहले शेफर्ड और लुई कम्पनी के लगभग दस हजार रुपये की माँग बर्मा–दरबार से की, और चूँकि बर्मा दरबार में कोई अंग्रेज रेजिडेण्ट न था, इस कारण नौसेना के प्रधान लेम्बर्ट को आदेश दिया गया कि, "वह अपने समस्त जहाजों और तत्समय उपलब्ध अन्य युद्धपोतों को लेकर रंगून को चल दे।"

द्वितीय बर्मा युद्ध : लैम्बट ने रंगून के बंदरगाह में पहुँचकर लंगर डाल दिया तथा बर्मा के राजा को पत्र लिखकर माँग की कि रंगून के गर्वनर को अंग्रेज व्यापारियों की मानहानि करने के कारण उसक पद से हटा दिया जाये तथा शेफर्ड और लुई की क्षतिपूर्ति स्वरुप दस हजार रुपये दिये जाये। बर्मा का राजा अंग्रेजी युद्धपोतो के रंगून आ पहुँचने का आशय भलीभाँति समझ गया और युद्ध टालने के अभिप्राय से उसेन लैम्बर्ट की माँगे तुरन्त ही स्वीकार कर ली। रंगून के गर्वनर को उसके पद से हटा कर एक दूसरे व्यक्ति को रंगून का गर्वनर बनाकर भेज दिया। लैम्बट ने नये गर्वनर से मिलना चाहा। गर्वनर ने लिख दिया कि वह सुविधानुसार किसी दिन भी मिलने आ सकता है। लैम्बर्ट ने अगले दिन अपने तीन अफसरों को गर्वनर से मिलने के लिए भेज दिया। कहा जाता है कि गर्वनर उस समय आराम कर रहा था। अतः उसके कर्मचारियों ने उन्हें प्रविष्ट होने से रोक दिया परन्तु अंग्रेज अफसर घोड़े कुदाते हुए गर्वनर की कोठी में घुस गये। उस गड़बड़ी में गर्वनर की आँखे खुल गई, किन्तु अंग्रेज अफसरों की असभ्यता देख उसने उनसे मिलना अस्वीकार कर दिया। अंग्रेज अफसर वापस चले गये और उन्होंने लैम्बर्ट के अच्छी तरह कान भरे। लैम्बर्ट ने इस पर समस्त वार्ता भंग कर दी. क्षति–पर्ति के दस हजार रुपयों का भुगतान तत्काल माँगा और रंगून के गर्वनर के व्यवहार को असभ्यतापूर्ण बतलात हुए उसक लिए गर्वतर की ओर से क्षमा–याचना

की माँग की। इसके पश्चात् उसने बर्मा के राजा के एक जहाज को पकड लिया। गर्वनर ने लैम्बर्ट को [illegible] भी अंग्रेजी जहाज नदी में भीतर की ओर न बढे। लैम्बर्ट ने बर्मा के राजा के जहाज को अंग्रेजी जहाज के [illegible] से बाहर भेज दिया। इस पर गर्वनर ने तोपें चलाने की आज्ञा दे डाली। लैम्बर्ट ने भी तोपों का जवाब तोपों से दिया और दोनों ओर से गोलाबारी आरम्भ हो गई।

लार्ड डलहौजी उपर्युक्त घटना का सामाचार मिलते ही कलकत्ता पहुँच गया और बर्मा के राजा के पास अन्तिम चेतावनी भेजी कि वह एक अप्रैल, 1852 तक एक लाख पौंड युद्ध क्षतिपूर्ति के अदा करे तथा दुर्व्यव्हार के लिए क्षमा–याचना रंगून के गर्वनर की ओर से भिजवाने का प्रबन्ध करें नहीं तो अवधि समाप्त होते ही बर्मा पर आक्रमण कर दिया जाएगा। अन्तिम चेतावनी भेजने के साथ ही साथ लॉर्ड डलहौजी ने यह विचार करके कि उक्त शर्तों को पूर्ण नहीं किया जायेगा युद्ध की तयारियां आरम्भ कर दी जिससे की वर्षा आरम्भ होने से पूर्व ही युद्ध का निर्णय किय जा सके। उसने एक विशाल अंग्रेजी सेना जनरल गाडविन के नेतृत्व में चेतावनी के साथ–साथ रंगून भेज दी थी। 2 अप्रैल, 1852 को जनरल गाडविल ने मर्तबान पर अधिकार कर लिया। इसके बाद अंग्रेजी सेना ने रंगून पर आक्रमण कर दिया तथा भीषण युद्ध के उपरान्त रंगून पर भी अंग्रेजों का अधिकार हो गया। इसके पश्चात् अंग्रेजी सेना इरावदी नदी की घाटी में स्थित महत्त्वपूर्ण नगर बसीन की ओर अग्रसर हुई एक महीने पश्चात् अंग्रेजी सेना ने बसीन पर भी अधिकार जमा लिया। इसी बीच पीगू के सम्पूर्ण तट पर भी अंग्रेजों का अधिकार स्थापित हो गया। सितम्बर में लॉर्ड डलहौजी स्वयं रंगून जा पहुँचा और युद्ध का संचालन करने लगा। उसेन अंग्रेजी सेना की सुख–सुविधा के लिए पहले से ही व्यवस्था कर ली थी। अब उसने प्रोम पर आक्रमण कर दिया। 9 अक्तूबर के दिन अंग्रेजी सेना ने प्रोम पर विजय कर लिया। उसके साथ–ही–साथ डलहौजी की युद्ध लिप्सा भी पूर्ण हो गयी। प्रोम विजय ने अंग्रेजो को संपूर्ण निचले बर्मा का स्वामी बना दिया। पर डलहौजी ने आगे बढ़कर ऊपरी बर्मा पर आक्रमण करने का साहस नहीं किया और दिसम्बर 1852 में सम्पूर्ण निचला बर्मा अंग्रेजी साम्राज्य का अंग बना लिया गया। जीते हुए क्षेत्रों को मिलाकर एक प्रान्त बना दिया गया जिसकी राजधानी रंगून में रखी गयी इस प्रकार द्वितीय बर्मा युद्ध का अन्त हुआ। दक्षिण बर्मा को ब्रिटिश साम्राज्य में मिलाने से भारतीय साम्राज्य की सीमायें सालविन नदी तक फैल गयी। उत्तरी बर्मा का समुद्र के साथ कोई सीधा सम्पर्क नहीं रहा और बंगाल की खाड़ी का पूर्वी किनारा चटगाँव से सिंगापुर तक अंग्रेजों के अधिकार में चला गया। इस युद्ध में अंग्रेजों को कोई विशेष क्षति भी नहीं उठानी पड़ी।

द्वितीय बर्मा युद्ध का औचित्य

बर्मा का द्वितीय युद्ध का मूल कारण डलहौजी की साम्राज्यवादी भावना एवं अंग्रेजी सम्मान तथा हितों की रक्षा करना था। इसके औचित्य–अनौचित्य पर विवाद करना ही व्यर्थ है। प्रारम्भ से ही डलहौजी इस बात पर दृढ़ था कि बर्मा को अंग्रेजी राज्य में मिलाना है। अंग्रेज व्यापारियों ने बर्मा दरबार पर अनेक व्यापारियों ने ये आरोप जान–बूझकर लगाये क्योंकि वे डलहौजी की उग्र साम्राज्यवादी प्रवृति को जानते थे और उन्हें पूर्ण विश्वास था कि डलहौजी इन आरोपों को बहाना बनाकर बर्मा पर आक्रमण कर देगा। इसी कारण उसने एक उद्दंड नाविक सेनापति लैम्बर्ट की नियुक्ति की और उसके कार्यों को अनुचित मानते हुए भी उसका समर्थ किया। डलहौजी के समर्थकों का कहना है कि डलहौजी युद्ध नहीं चाहता था और जिन मांगो को उसने बर्मा दरबार के समक्ष रखा वह केवल बर्मी राजा को डराने–धमकाने के लिए तथा बिना युद्ध के समझौता करने के लिए की थी। लेकिन यह सरकार झूठ है। अपनी साम्राज्यवादी नीति को सफल बनाने के लिए डलहौजी युद्ध पर तुला हुआ था। 24, अप्रैल 1852 को उसने लिखा भी था कि "यह प्रश्न मामूली अपमान का नहीं है, बल्कि गम्भीर सम्मान का है। साधारण प्रश्न यह है कि क्या सम्पूर्ण एशिया के आँखों के सामने इंग्लैंड आवा–दरबार के सामने झुक जाये।" बाद में कोर्ट ऑफ डायरक्टर्स के अध्यक्ष ने यह लिखा कि उसने "आवा दरबार को बड़ा कठोर पत्र लिखा था", तो डलहौजी ने उत्तर दिया कि "भारत या अन्य पूर्वी देशों में सभ्य देशों की भाँति कूटनीति की भाषा का प्रयोग सफल नहीं हो सकता। इन देशों में तो कठोर और भय उत्पन्न करने वाली भाषा ही काम दे सकती है।" इस तरह यह स्पष्ट है कि उन्नीसवीं शताब्दी में यूरोपीय जातियाँ अपनी शक्ति और सभ्यता की श्रेष्ठता के आधार पर अपने साम्राज्य का विस्तार करना अपना अधिकार समझती थी। ऐसी स्थिति में यह सोचना कि डलहौजी का व्यवहार उचित था अथवा अनुचित, निरर्थक है।

बर्मा का तृतीय युद्ध

युद्ध के कारण : दक्षिणी बर्मा पर आधिपत्य कायम कर लेने से ही अंग्रेज साम्राज्यवादियों को सन्तोष नहीं हुआ। वे उस उपयुक्त अवसर की ताक में [illegible]

1852 के द्वितीय बर्मा युद्ध के बाद कम्पनी सरकार और बर्मा के सम्बन्ध में लगातार सुधार होता रहा। अंग्रेज व्यापारी अब सन्तुष्ट हो गये थे। फिर भी उनका आर्थिक साम्राज्यवाद का जाल फैलता रहा। नयी–नयी सन्धियाँ करके अंग्रेज अपने अधिकारों में वृद्धि करते रहे। 1862 में दोनो पक्षों के बीच एक सन्धि हुई। इस सन्धि के अनुसार अंग्रेजों को बर्मा की सीमाओं में रहने का अधिकार मिल गया। उन्हें बर्मा की सीमाओं से होकर चीन से व्यापार करने का भी अधिकार प्राप्त हो गया पाँच वर्ष बाद (1867 में) एक दूसरी सन्धि हुई। इस सन्धि के द्वारा बर्मा ने लकड़ी, तेल तथा कीमती पत्थर के अतिरिक्त अन्य सभी वस्तुओं के व्यापार पर से अपना एकाधिपत्य त्याग दिया। अंग्रेजों को बर्मा की राजधानी में अपना रेजिडेन्ट रखने की सुविधा मिली और उसे अंग्रेज नागरिकों के हितों की देखभाल करने का पूरा अधिकार मिला। फिर अन्य क्षेत्रों में भी अंग्रेजों ने कई जायज–नाजायज सुविधाएँ प्राप्त की। बर्मा को विभिन्न वस्तुओं से चुँगी हटाने, विभिन्न एकाधिपत्यों को समाप्त करने, भागों में एक राजनीतिक प्रतिनिधि रखने, पुन्नान और रंगून के बीच जल–यात्रा करने आदि के लिए मजबूर किया गया। इस बात की पूरी कोशिश की गयी कि अंग्रेज पूरी तरह बर्मा के राजनीतिक और आर्थिक जीवन पर छा जायँ। अंग्रेजों का इरादा रंगून से प्रोम तक एक रेलवे लाइन भी बनाने का था। व्यापारिक और सैनिक दृष्टिकोण से वे इसको आवश्यक मानते थे। इस तरह बर्मा में धीरे–धीरे अंग्रेजी साम्राज्यवाद का शिकंजा मजबूत होता गया। लेकिन अंग्रेज लोग इस पर संतुष्ट नहीं थे। वे यह मांग करने लगे कि उत्तरी बर्मा को भी अंग्रेजी राज्य में मिला लिया जाये। वे ब्रिटिश साम्राज्यवाद का अधिकाधिक विस्तार चाहते थे और उसके लिए यह जरूरी था।

दूसरी ओर-बर्मा का राजा भी कई कारणों से बड़ा असन्तुष्ट था। वह अंग्रेजों से घृणा करता था और उनको हमेशा शंका की दृष्टि से देखा करता था। बर्मा का राजा और उसके अधिकारी अभी भी बेवकूफी करते जा रहे थे दो युद्धों में पराजित होने के बाद भी उनके घमंड में लेशमात्र की कमी नहीं आयी थी। वे अपने को अंग्रेजों से बहुत श्रेष्ठ समझते थे। बर्मा की रीति के अनुसार विदेशी प्रतिनिधि को राजा के समक्ष उपस्थित होने के समय अपने पैर से जूते निकाल देने पड़ते थे। इस रिवाज के अनुसार उच्च पदस्थ अंग्रेज अधिकारियों को भी अपने जूते उतारने पड़ते थे। अंग्रेजों को यह प्रथा बिल्कुल पसन्द नहीं थी। 1876 में गर्वनर जनरल ने बर्मा स्थित अंग्रेज अधिकारियों को स्पष्ट आदेश दिया कि वे अब इस रीति का पालन नहीं करें। उधर बर्मा–दरबार भी अपनी जिद पर डटा रहा। बर्मा के राजा ने स्पष्ट कहा कि "वह जूते के लिए अवश्य युद्ध करेगा, यद्यपि उसने पेगू के लिए युद्ध नहीं किया था।" इस तरह इस झगड़े में गतिरोध उत्पन्न हो गया और अंग्रेज प्रतिनिधि ने बर्मा के राजा से मिलना बन्द कर दिया।

इसी समय बर्मा के राजा ने विदेशों में कुछ गतिविधि शुरू की जिसने अंग्रेजों का शंकालु बना दिया। बर्मा की ओर से विदेशी शक्तियों के साथ सम्पर्क कायम करने के प्रयत्न शुरू हुए। 1873 में बर्मा और फ्रांस के मध्य एक व्यापारिक सन्धि हुई। इस सन्धि में एक यह शर्त भी थी कि फ्रांसीसी अधिकारी बर्मी सैनिकों को प्रशिक्षण देंगे तो अंग्रेजों के कान खड़े हो गये। उन्होंने तुरन्त इसका विरोध किया और दबाव डालकर इस सन्धि को खत्म करा दिया इसी तरह की एक दूसरी सन्धि बर्मा ने इटली से की। इसके अनुसार इटली ने बर्मा को कुछ सैनिक साजो–सामान देने के वादे किए। अंग्रेजों ने पुनः हस्तक्षेप किया और सन्धि की इस शर्त को रद्द करवा दिया। बर्मा की सरकार ने अपना एक दूत–मंडल ईरान भेजा और एक दूसरे दूत–मंडल को रूस भेजने का निश्चय किया। राजा ने विदेशी शक्तियों की सहायता से बर्मा में बंदूक और तोप बनाने के कारखाने खुलवाने का यत्न किया। लेकिन यह प्रयास भी असफल रहा। इसके अतिरिक्त बर्मा के राजा मिण्डन ने इंग्लैंड की रानी से प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित करने का भी यत्न किया। लेकिन यहाँ भी उसे असफलता मिली।

धीवा की नीति : 1878 में मिण्डन की मृत्यु के पश्चात् उसका नौजवान पुत्र धीवा बर्मा का राजा बना। इस समय लार्ड लिटन भारत का गर्वनर जनरल था। विदेश नीति के सम्बन्ध में वह अग्रगामी नीति का समर्थक था। अतः अंग्रेजों ने नए राजा से अनेक नयी सुविधाओं की मांग की। इसमें जूते उतारने की रीति को हटाने की बात भी थी। धीवा ने अंग्रेजों के अधिकांश मांगों को मान लिया, लेकिन जूते हटाने के रिवाज को बंद करने से नए राजा ने भी इंकार कर दिया।

इसी बीच बर्मा के राजमहल में कुछ नाटकीय घटनाएं घटी। 1879 में धीवा ने राज परिवार के कोई अस्सी व्यक्तियों को कत्ल करवा दिया। अंग्रेजों को इस घटना की खबर मिल गयी। लार्ड लिटन ने अंग्रेज रेजीडेन्ट को आदेश दिया कि घटना के सम्बन्ध में वह विस्तृत जानकारी प्राप्त करे। अतः रेजिडेन्ट ने राजा को कत्लेआम के सम्बन्ध में एक कठोर पत्र लिखा। बर्मा – दरबार ने इस पत्र की अवहेलना की और कहा कि यह काम राज्य के हित में किया गया है। इस बार अंग्रेजों ने सभ्यता के नाम पर सम्पूर्ण बर्मा की जीतने की मांग की। उनका कहना था कि साधारण जनता को क्रूर और अत्याचारी शासक से बचाने के लिए बर्मा पर अंग्रेजी आधिपत्य आवश्यक है। लेकिन भारत सरकार ने जल्दी म कोई काम करने से इंकार कर

दिया। इसका एक कारण यह था कि ब्रिटिश सरकार ने भारत सरकार को किसी आक्रमण नीति का अवलम्बन करने की इजाजत नहीं दी। अफगानिस्तान में लार्ड लिटन की अग्रगामी नीति असफल हो चुकी थी और डिजरैली मन्त्री मंडल का पतन हो चुका था। इस समय उदारवादी नेता ग्लैडस्टोन इंग्लैंड का प्रधानमंत्री था। उसने सयम से काम लेने का आदेश दिया। पर बर्मा–दरबार और अंग्रेजों को सम्बन्ध एक दम खराब हो गया। अक्टूबर 1879 में अंग्रेज रेजीडेन्ट और सभी अन्य अंग्रेज नागरिकों में मांडले को छोड़ दिया।

धीवा ने भी मिण्डन की तरह कुछ यूरोपीय राज्यों से सम्बन्ध–सम्पर्क बढ़ाने का यत्न किया। 1883 में उसने अपना एक राजदूत पेरिस भेजा। इस समय तक फ्रांस ने दक्षिण पूर्व एशिया के देशों (कोचीन चीन और टोनकिन) पर अपना प्रभाव कायम कर लिया था और यह विश्वास किया जाता था कि वह बर्मा में भी अपना जाल फैलाने का प्रयत्न करेगा। इस कारण ज्योंही धीवा का राजदूत पेरिस पहुँचा, अंग्रेजों ने राजनैयिक माध्यम से विरोध प्रकट किया और फ्रांस से यह दावा कराया कि यदि बर्मा से कोई सन्धि की गयी तो वह पूर्णतया और शुद्ध व्यापारिक सन्धि होगी। जनवरी, 1885 में बर्मा और फ्रांस के बीच एक व्यापारिक सन्धि सम्पन्न हो गयी। इसमें कोई राजनीतिक धारा न थी फिर भी अंग्रेज इससे बहुत असन्तुष्ट थे। इसी बीच यह अफवाह फैली कि बर्मा ने फ्रांसीसियों को रेल लाइन बनाने, हीरे निकालने, मॉडले में एक बैंक खोलने के अधिकार और अन्य व्यापारिक सुविधाएँ प्रदान कर दी है। यद्यपि यह समाचार अफवाह–मात्र ही था, परन्तु अंग्रेजों के कान खड़े हो गये। उनको भय हुआ कि बर्मा के व्यापार पर उनके एकाधिपत्य को नष्ट करने वाला एक दूसरा यूरोपीय प्रतिस्पर्धी मैदान में आ रहा है। अंग्रेज व्यापारियों को यह स्थिति कबूल न थी। अतः वे भारत सरकार पर बर्मा को जीतने के लिए दबाव डालने लगे। लन्दन चैम्बर ऑफ कामर्स ने भारत सचिव से मांग की कि या तो सम्पूर्ण बर्मा पर अधिकार कर लिया जाये या वहाँ एक ऐसे शासक को गद्दी पर बैठाया जाये तो पूर्णतया अंग्रेजों पर निर्भर हो। व्यापारी वर्ग के इस दबाव ने ब्रिटिश सरकार को झुका दिया और यह निश्चय कर लिया गया कि सम्पूर्ण बर्मा को अंग्रेजी राज्य में मिला लेना आवश्यक है। तत्कालीन गर्वनर जनरल लार्ड डफरिन आरम्भ से ही सम्पूर्ण बर्मा को जीतने के लिए तत्पर था, क्योंकि वह किसी भी शर्त पर वहाँ फ्रांसीसी प्रभाव की वृद्धि देखना नहीं चाहता था।

बर्मा का तृतीय युद्ध

इस स्थिति में अंग्रेजों और बर्मा का युद्ध अब अनिवार्य हो गया। इसी समय बर्मा और मणिपुर की सीमा को लेकर एक विवाद उठ खड़ा हुआ। 1881 में भारत सरकार के एक आयोग ने इस सीमा को निश्चित किया था। लेकिन बर्मा की सरकार ने इसे मानने से इन्कार कर दिया। उसने यह भी धमकी दी की वह सीमा पर गड़े पत्थरों को उखाड़ फेंकेगा। अंग्रेजों ने प्रत्युत्तर में मणिपुर के शासक को आदेश दिया कि यदि बर्मी ऐसा करें तो उनके विरुद्ध सैनिक कार्यवाही की जाये। इस मौके पर बर्मा के राजा ने संयम से काम लिया। उसने अपनी धमकी को कार्यान्वित नहीं किया और इस कारण किसी तरह का खुला झगड़ा नहीं हुआ।

लेकिन युद्ध को अधिक दिनों तक टाला नहीं जा सकता था। एक अंग्रेज व्यापारिक कम्पनी–बम्बई–बर्मा व्यापारिक कारपोरेशन को बर्मा में जंगलों का ठेका दिया गया था। यह एक बेईमान कम्पनी थी और बिना उचित टैक्स दिये ही अपन कार्य करती थी। बर्मा सरकार ने कम्पनी को रंगे हाथ पकड़ लिया। यह पाया गया कि कम्पनी ने दस लाख रुपये के टैक्स की चोरी की है। बर्मा सरकार ने इस कम्पनी के ठेके को समाप्त कर देने का निश्चय किया। लेकिन बाद में उस पर साढे तेईस लाख का जुर्माना करके छोड़ देने का फैसला हुआ। यह आदेश हुआ कि कम्पनी इस रकम का चार बराबर किश्तों में भुगतान कर दे। लेकिन कम्पनी को यह मंजूर नहीं हुआ उसने तत्काल अंग्रेज सरकार से अपील की। भारत सरकार बर्मा के मामले में हस्तक्षेप करने का बहाना पहले से ही खोज रही थी। अतः अंग्रेज कमिश्नर ने इस जुर्माने को रद्द करने की मांग की और यह सुझाव दिया कि इस मामले को निष्पक्ष जाँच के लिए गर्वनर जनरल द्वारा नियुक्त एक प्रतिनिधि के समक्ष सौंपा जाये। बर्मा सरकार ने इस मांग को ठुकरा दिया। तब 22 अक्टूबर, 1885 को बर्मा–दरबार के सामने निम्नलिखित अन्तिम शर्तें रखी गई

1. बर्मा–दरबार एक अंग्रेज प्रतिनिधि को अपने दरबार में बुलाये और उसकी राय से कम्पनी के झगड़े का फैसला कर
2. अंग्रेज प्रतिनिधि के पहुँचने तक कम्पनी के विरुद्ध कोई कार्यवाही न की जाये।
3. भविष्य में एक अंग्रेज प्रतिनिधि हमेशा बर्मा–दरबार में रहे।
4. बर्मा विदेशों से अपने सम्बन्ध भारत के गर्वनर जनरल की राय से स्थापित करे।
5. अंग्रेजों को चीन से व्यापार करने की पर्ण सविधा दी जाये।

यह भी कहा गया कि पहली तीनो मांगें बिना किसी विवाद के 10 नवम्बर 1885 तक स्वीकार कर ली जानी चाहिए।

9 नवम्बर के बर्मा–दरबार ने उत्तर भेज दिया जिसमें कहा गया कि यदि अंग्रेज कम्पनी बर्मा के राजा से कोई प्रार्थना करेगी तो उस पर अवश्य विचार किया जायेगा। बर्मा ने तीसरी और पाँचवीं मांग को भी स्वीकार कर लिया। चौथी मांग के विषय में बर्मा ने मांग की कि उसका निर्णय फ्रांस, जर्मनी और इटली के राज्यों को करने दिया जाये क्योंकि यह राज्य बर्मा और इंग्लैंड दोनों के ही मित्र–राज्य हैं।

लार्ड डफरिन ने अपनी मांगें भेजने के पश्चात् ही युद्ध की तैयारियाँ आरम्भ कर दी थी और जैसे ही बर्मा–दरबार का उपर्युक्त उत्तर उसे मिला, उसने अंग्रेज सेनाओं को बर्मा की राजधानी मॉडले की ओर बढ़ने का आदेश दे दिया। राजा धीवा ने भी तुरन्त युद्ध की घोषणा कर दी।

इस बार युद्ध अधिक नहीं हुआ और अंग्रेजों ने सरलता से नवम्बर 1885 में मॉडले पर अधिकार कर लिया। राजा धीवा ने आत्मसमर्पण कर दिया। एक जनवरी, 1886 को सम्पूर्ण बर्मा को अंग्रेजी राज्य में सम्मिलित कर लिया गया। इस तरह भारत की तरह बर्मा भी अंग्रेजी साम्राज्यवाद के गहन अन्धकार में डूब गया। वह अंग्रेजों के भारतीय साम्राज्य का एक सूबा बन गया और भारत के साथ उसका भाग्य भी गुँथ गया।

इस प्रकार अंग्रेजों ने 1818 तक अपने भारतीय उपनिवेश स्थापित कर लिए। कालान्तर में अपनी नीतियों से न केवल अपने भारतीय उपनिवेश का सुदृढिकरण किया और अपनी सत्ता को मजबूत बनाया बलिक उसकी सुरक्षा के उद्देश्य से सिन्ध, बर्मा, सिक्किम, तिब्बत, भूटान, अफगानिस्तान आदि राज्यों को या जो जीत कर उन्हें अपने अधीन कर लिया था उनके साथ संधियाँ करके उनके कुछ महत्वपूर्ण क्षेत्रों पर कब्जा कर लिया तथा विशेष सुविधाएँ प्राप्त कर ली।

नेपाल

बंगाल पर अधिकार करने के उपरान्त अंग्रेजों ने नेपाल तथा तिब्बत से व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करने के लिए प्रयास करना आरम्भ किया। इन पर्वतीय राज्यों में उनका ऊनी कपड़ा बिक सकता था और इनमें से उन्हें चीन के आन्तरिक प्रदेशों से व्यापार करने के लिए मार्ग भी मिल सकता था। इनमें से उन्हें सोना तथा इमारती लकड़ी, जिसकी कि उन्हें जहाज़ों के लिए जरूरत थी, मिल सकती थी। उनका यह विचार था कि नेपाल में सोने की खाने थी। इसके अतिरिक्त तिब्बत तथा चीन के लिए इस राज्य में से मार्ग था। उन दिनों यदि वे किसी राज्य को अपने प्रभुत्व में लेना चाहते थे तो पहले वे उसके आन्तरिक झगड़ों में हस्तक्षेप करते थे। संयोग से नेपाल की राजनैतिक दशा ऐसी थी कि उनको हस्तक्षेप करने का अवसर भी शीघ्र ही मिल गया। यह राज्य उन दिनों चार राज्यों में विभाजित था। उनके नाम थे – काठमांडू, पाटन, भटगांव और गुरखा। इनमें सबसे अधिक शक्तिशाली राज्य था, गुरखा राज्य। सन् 1749 में गुरखा के राजा पृथ्वीनारायण ने संपूर्ण नेपाल को अपने आधिपत्य में लाने के लिए प्रयास करना आरम्भ किया। सन् 1767 में उसने काठमांडू नगर को घेर लिया। वहाँ के राजा जयप्रकाशमल ने अंग्रेजों से सहायता माँगी। बंगाल सरकार ने उसे सहायता देना स्वीकार किया और कप्तान किनलोच के नेतृत्व में एक सेना काठमांडू भेजी, परन्तु उसको वहाँ पहुँचने में विलम्ब हो गया और सन् 1768 में पृथ्वीनारायण ने काठमांडू पर अधिकार कर लिया। अंग्रेजों के हस्तक्षेप से वह सशंकित हो गया। उसे पहले से ही ज्ञात था कि व्यापार करते–करते उन्होंने बंगाल पर अधिकार कर लिया था। फलतः उसने उन सब सौदागरों को जो अंग्रेजी राज्य से व्यापार करते थे अपने राज्य से निकाल दिया। साथ–साथ उसने गोरी चमड़ी वाले कापूचिन मिशनरियों को भी निकाल बाहर किया, परन्तु इससे कम्पनी के अधिकारी निरुत्साहित नहीं हुए। सन् 1770 में गर्वनर काटियर ने जेम्स लोगन नामक दूत को व्यापार करने की अनुमति माँगने के लिए काठमांडू भेजा। पृथ्वीनारायण ने उसका स्वागत करने के बजाय उसे देश से निकलवा दिया। इसके पश्चात् बंगाल में वारेन हेस्टिंग्ज गर्वनर के पद पर नियुक्त हुआ। उसने अमरपुरा, बीजीपुर तथा रूटेहाट जिलों पर जोकि अंग्रेजी राज्य में स्थित थे, पृथ्वीनारायण का जागीरी अधिकार मानकर उससे सम्बन्ध अच्छे कर लिए, परन्तु वह फिर भी कम्पनी को नेपाल में व्यापार करने की अनुमति देने को उद्यत नहीं हुआ। वारेन हेस्टिंग्ज ने तिब्बत से भी व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास किया। इसके लिए उसने जार्ज बोंगले को ल्हासा भेजा। वहाँ तेशूलामा तो कम्पनी को व्यापारिक सुविधाएँ देने को उद्यत हो गया, परन्तु नेपाल सरकार जब तक मार्ग नहीं देती तब तक तिब्बत से व्यापार नहीं हो सकता था। व्यापार की अनुमति प्राप्त करने के लिए हेस्टिंग्ज ने सन् 1784 में फाक्सक्राफ्ट नामक दूत काठमांडू भेजा, परन्तु उसको भी वहाँ से निराश होकर लौटना पड़ा। इसके पश्चात् नेपाल नरेश का तिब्बत से युद्ध हो गया और चूँकि चीन ने तिब्बत की सहायता के लिए सेना भेजी, अतएव उसने अंग्रेजों से सहायता की प्रार्थना की। इसके बदले में उसने 1 मार्च, सन् 1792 को कम्पनी से एक व्यापारिक सन्धि की जिसके अनुसार आयात–कर घटाकर 2½ प्रतिशत कर दिया गया और अंग्रेज राज्य के व्यापारियों को नेपाल में व्यापार करने की अनुमति मिल गई। कार्नवालिस ने नेपाल सरकार का चीन से समझौता करवाने के लिए कप्तान कर्वीपेट्रिक को काठमांडू भेजा परन्तु उसका वास्तविक उद्देश्य नेपाल के गुरखा सरकार तथा अन्य राज्यों का ज्ञान प्राप्त करना था। नेपाल नरेश अंग्रेजों से सैनिक सहायता चाहता था न कि सन्धि करवाने में उनकी मध्यस्थता और सैनिक सहायता ।

मिलने के कारण वह उनसे असन्तुष्ट हो गया। चीन से सन्धि होते ही उसने आयात–निर्यात कर पूर्ववत लगा दिया और व्यापारिक सन्धि को भंग कर दिया, परन्तु इससे नेपाल का अंग्रेजों से बचाव न हो सका। सन् 1800 में नेपाल नरेश रनबहादुर के अत्याचार से तंग आकर राज्य कर्मचारियों ने उसे देश से निकाल दिया। वेलेजली ने उसको बनारस मे शरण दी। यह सुनकर नेपाल की नई सरकार भयभीत हो गई और हस्तक्षेप के भय से उसने 26 अक्टूबर, 1801 को अंग्रेजों से एक सन्धि की जिसके अनुसार उसने रनबहादुर का खर्चा देना और काठमांडू में अंग्रेज रेजीडेंट रखना स्वीकार किया। अगले वर्ष वेलेजली ने कप्तान नाक्स को रेजीडेंट नियुक्त करके काठमान्डू भेजा, परन्तु नेपाल सरकार ने न तो उसे नेपालियों से मिलने दिया और न ही उसे चारों ओर निगरानी के लिए अपने सैनिकों को नियुक्त किया। इस पर रेजीडेंट ने आपत्ति की, परन्तु नेपाल सरकार ने उसकी एक न सुनी। अन्त में विवश होकर वेलेजली ने रेजीडेंट को वापस बुला लिया (1803)। सन् 1802 की सन्धि का भी उसने भंग कर दिया और रनबहादुर को नेपाल लौट जाने दिया। इस समय वह मराठों से संघर्ष की तैयारी कर रहा था फलतः नेपाल पर प्रभुत्व स्थापित करने का विचार उसे स्थगित कर देना पड़ा।

वेलेजली के भारत में बुला लिये जाने के पश्चात् नौ वर्ष तक कम्पनी ने निर्हस्तक्षेप की नीति का पालन किया। इसी बीच नेपाल में क्रान्ति हुई जिसके परिणाम–स्वरूप गुरखों की शक्ति द्रुत गति से बढ़ने लगी। इस क्रान्ति का कारण रनबहादुर का अत्याचार था। इसको रोकने के लिए उसके चाचा शेर बहादुर ने उसका वध कर दिया (1805)। रनबहादुर का पुत्र गिरबन जुद्धा विक्रमशाह अल्पव्यस्क था, फलतः राज्य की सब शक्ति प्रधान मन्त्री भीमसेन थापा के हाथ में आ गई। उसने राज्य विस्तार करना आरम्भ किया। परिचय में उसने कांगड़ा के कुछ भाग पर अधिकार करके नेपाल की सीमा को सतलुज नदी तक बढ़ा लिया। पूरब में नेपाल की सीमा सिक्किम तक पहुँच गई। उत्तर की ओर चीन के भय से राज्य विस्तार न हो सका परन्तु दक्षिण में तराई प्रदेश पर किसी का अधिकार न था, अतः उसने धीरे–धीरे तराई पर अधिकार करना आरम्भ किया। इधर रूहेलखंड तथा गोरखपुर के अंग्रेजी राज्य में मिला लिए जाने से नेपाल तथा अंग्रेजी राज्यों की सीमाएँ तराई में एक–दूसरे से मिल गई और चूँकि उनको निर्धारित नहीं किया गया था, अतएव उनमें सीमा–सम्बन्धी झगड़े आरम्भ हो गए। इनमें झगड़े की सबसे बड़ी जड़ शिवराज तथा बुटवल के जिले थे। शिवराज पर नेपाल सरकार ने कम्पनी तथा अवध की सन् 1801 की सन्धि के पहले ही अधिकार कर लिया था। बुटबल, पालपा राज्य का एक अंग था। वह राज्य नेपाल के आधीन था। वहाँ का राजा अंग्रेजों से मिल गया था और उनकी आधीनता स्वीकार करना चाहता था। इस सम्बन्ध में उसने लार्ड वेलेजली को लिखा था, परन्तु उस समय वेलेजली नेपाल से युद्ध नहीं करना चाहता था और उसने पालपा नरेश की प्रार्थना स्वीकार नहीं की। पालपा नरेश की कुचक्रों का रनबहादुर को पता था। स्वदेश लौटकर उसने उसको लिखा कि वह उसकी बहिन से विवाह करना चाहता था। इस बहाने उसने उसको काठमांडू बुलाकर बंदी बना लिया। यह समाचार सुनकर पालपा नरेश के मन्त्री ने कम्पनी से समझौता कर लिया। इसके अनुसार कम्पनी ने उसे बुटवल का मालिक स्वीकार किया और यह भी निश्चित हुआ कि वह बुटबल के लिए पालपा के राजा को 32,000 रु. वार्षिक कर देगा। नेपाल सरकार ने इस समझौते को मानने से इन्कार कर दिया। क्रुद्ध होकर उसने पालपा को अपने राज्य में मिला लिया और बुटबल को भी धीरे–धीरे अधिकार में लाना शुरू किया। सर जार्ज बार्लो ने इस पर आपत्ति की। उसने नेपाल सरकार को लिखा कि वह शिवराज पर उसका अधिकार मान लेगा, परन्तु शर्त यह थी कि वह बुटबल पर अधिकार न करे। नेपाल सरकार इसके लिए उद्यत न थी क्योंकि वह बुटबल को अपने राज्य का अंग मानती थी। इस बीच में तराई में स्थित बाइस गाँवों के सम्बन्ध में एक नया झगड़ा पैदा हो गया। नेपाल सरकार कहती थी कि वे गाँव रूटेहाट जिले में थे। उस जिले पर वारेन हेस्टिंग्ज ने सन् 1783 में उसका अधिकार मान लिया था। अंग्रेज सरकार यह कहती थी कि वे नूमोर जिले में थे। वास्तव में तराई में गुरखों की प्रगति अंग्रेज सरकार को असह्य थी, क्योंकि इससे उनके राज्य को खतरा था, परन्तु बिना युद्ध के उनको वहाँ से निकाला भी नहीं जा सकता था। इसके अतिरिक्त, अंग्रेज सरकार नेपाल में व्यापारिक सुविधाएँ भी प्राप्त करना चाहती थीं। इनको प्राप्त करने के लिए भी युद्ध आवश्यक था क्योंकि शान्तिपूर्वक नेपाल सरकार उनको देने को उद्यत न थी। आरम्भ से ही वह अंग्रेजों को सन्देह की दृष्टि से देखती थी। फलतः अंग्रेज सरकार ने शिवराज पर भी नेपाल सरकार का अधिकार मानने से मना कर दिया और युद्ध का बहाना ढूँढने लगी।

गोरखा युद्ध (1814-1816)

सन् 1813 तक अंग्रेज सरकार को नेपाल पर आक्रमण करने का अवकाश न मिला। उस वर्ष तक वह फ्रांसीसियों के आक्रमण के भय से परेशान रही और उत्तर–पश्चिम में रणजीतसिंह से सीमा सम्बन्धी झगडे को निबटाती रही। फ्रांसीसी आक्रमण का भय सन् 1810 में दूर हो गया और सन् 1812 में रणजीतसिंह से भी सम्बन्ध अच्छे हो गए। अगले वर्ष लार्ड हेस्टिंग्ज गवर्नर जनरल नियुक्त होकर भारत आया। आते ही उसने मराठों तथा पिंडारियों का दमन करके भारत में शान्ति स्थापित करने का सकल्प किया, परन्तु उन पर आक्रमण करने के पूर्व गोरखों को तराई से हटाना आवश्यक था। हेस्टिंग्ज का भय था कि कहीं वे पीछे से आक्रमण न कर दें। उनको युद्ध के लिए उकसाने के लिए उसने सोच समझकर उन सब मुद्दों पर आंदोलन कर दिया जिनके बारे झगड़े का अभी तक कोई निर्णय नहीं हुआ था। वहाँ शान्ति तथा सुव्यवस्था के लिए कुछ गाँवों को

स्थापित किए गए गुरखे यह सब चुपचाप देखते रहे। वर्षा ऋतु के आरम्भ में हेस्टिंग्ज ने ज्योंही वहाँ से अपनी सेना को हटाया त्योंही उन्होंने उन थानों को हटाने का निश्चय किया। 29 मई, 1814 को प्रातःकाल उन्होंने बुटबल के मुख्य थाने पर आक्रमण किया। इससे उस थाने का थानेदार और 18 सिपाही मारे गए 6 सिपाही घायल हुए और शेष जान बचाकर भाग गए। वर्षा ऋतु में वहाँ सेना भेजना कठिन था। फलतः हेस्टिंग्ज ने वहाँ से सब थाने हटा लिए और गोरखों ने उन पर अधिकार कर लिया। इसके पश्चात् ज्योंही शरद ऋतु आरम्भ हुई उसने नेपाल के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी।

हेस्टिंग्ज ने नेपाल पर तीन तरफ से आक्रमण करने की योजना बनाई। पूरब से जनरल जिलेस्पी के नेतृत्व में, दक्षिण से जनरल माटिडेल के नेतृत्व में और पश्चिम से कर्नल आक्टरलोनी के नेतृत्व में अंग्रेज सेनाओं ने नेपाल पर आक्रमण किया। अंग्रेजों ने केवल सैन्य–बल का ही प्रयोग नहीं किया बलिक कूटनीति तथा उत्कोच का भी आश्रय लिया। लालच देकर उन्होंने नेपाल के सेनापति अमरसिंह थापा, उसके पुत्र रणजोरसिंह थापा और कुमाऊं के गर्वनर भूमशाह को अपनी ओर मिलाने का प्रयत्न किया, परन्तु इसमें सर्वथा निष्फल रहे। प्रकृति ने नेपालियों का साथ दिया। पर्वतों तथा जंगलों ने अंग्रेजों का आगे बढ़ाना कठिन कर दिया। नेपालियों को उनमें युद्ध करने का अभ्यास था और वे पर्वतीय तथा जंगली मार्गों से परिचित थे। अंग्रेज सिपाहियों को केवल मैदान में युद्ध करने की शिक्षा मिली थी। जलवायु भी उनके अनुकूल न था। उनको ऐसे वीर तथा साहसी शत्रु से भी अभी तक मुकाबला नहीं हुआ था और फिर गोरखे केवल वीर ही नहीं थे, उनको यूरोपीय युद्ध प्रणाली का भी ज्ञान था। उन्होंने डटकर अंग्रेज सेनाओं का सामना किया और उनके छक्के छुड़ा दिये। भौगोलिक कठिनाइयों और गोरखों की वीरता के कारण अंग्रेजों को आरम्भ में विफलता का मुँह देखना पड़ा। उनकी इस युद्ध में भारी जन क्षति हुई। कलंगा के पर्वतीय दुर्ग पर आक्रमण करते समय जनरल जिलेस्पी को अपने प्राण गंवाने पड़े। जनरल मार्टिडेल, जैतक के पर्वतीय दुर्ग के सामने पराजित हुआ। इन विफलताओं से अंग्रेज सिपाहियों का साहस भंग हो गया। वे गुरखों के सामने भागने लगे। उधर नेपाल सरकार ने रणजीत सिंह और दौलतराव सिंधिया से अंग्रेजों के विरुद्ध सन्धि की बातचीत शुरू कर दी। इससे अंग्रेजों की स्थिति और भी गम्भीर हो गई, परन्तु अन्त में बढ़िया तोपों तथा रण कौशल के कारण विजय उन्हीं की हुई। पश्चिम में कर्नल आक्टरलोनी धीरे–धीरे आगे बढ़ता हुआ मलाँव के किले तक पहुँच गया और उसने इस किले का घेरा डाल दिया। यह दुर्ग काठमांडू के मार्ग में अन्तिम दुर्ग था। मई सन् 1815 में उसने इस दुर्ग पर अधिकार कर लिया। जनवरी, 1815 में कर्नल जेस्पर निकोल्स ने कुमाँऊ पर अधिकार कर लिया।

इन पराजयों से गोरखों का साहस भंग हो गया। रणजीत सिंह तथा दौलतराव सिंधिया ने उन्हें सहायता देने से इन्कार कर दिया था और अब काठमाँडू खतरे में था। इस परिस्थिति में सन्धि की अंग्रेजों से प्रार्थना करने के अतिरिक्त उनके पास बचावट का कोई दूसरा मार्ग ही न था। अंग्रेज सरकार ने उनकी प्रार्थना को स्वीकार किया और नवम्बर, 1815 में दोनों राज्यों के बीच सिगोली नामक स्थान पर सन्धि हो गई। इसके अनुसार यह निश्चित हुआ कि नेपाल सरकार कुमाँऊ, गढ़वाल तथा तराई का अधिकांश भाग अंग्रेजों को दे, सिक्किम पर से अपने प्रभुत्व को हटा ले और काठमाँडू में एक अंग्रेज रेजीडेंट रखना स्वीकार करे। यह सन्धि नेपाल सरकार के प्रतिनिधियों ने की थी। नेपाल सरकार को जब यह ज्ञात हुआ कि उन्होंने काठमांडू में अंग्रेज रेजीडेंट का रखना स्वीकार कर लिया था तो उसने सन्धि पर हस्ताक्षर करने से इनकार कर दिया और अंग्रेज सरकार से इस शर्त को हटा देने की प्रार्थना की। उसे यह भय था कि रेजीडेंट रखने से उसकी स्वतंत्रता समाप्त हो जाएगी। लार्ड हेस्टिंग्ज इस शर्त को हटाने के लिए राजी नहीं हुआ। फलतः युद्ध पुनः आरम्भ हो गया। कर्नल आक्टरलोनी ने काठमांडू की ओर बढ़ना शुरू किया और बढ़ते–बढ़ते मकवानपुर तक पहुँच गया। 28 फरवरी, 1816 को उसने वहाँ गुरखों को बुरी तरह परास्त किया। यह समाचार सुनकर नेपाल सरकार ने सिगौली की सन्धि को स्वीकार कर लिया (मार्च, 1816)। इसके परिणामस्वरूप *शिमला, नैनीताल,* अलमोड़ा, रानीखेत इत्यादि पर्वतीय नगर जो आगे चलकर हिल स्टेशन के रूप में प्रयोग किये जाने लगे, कम्पनी के अधिकार में आ गए। सिक्ख राज्य तथा गुरखा राज्य के बीच का प्रदेश अंग्रेजों के हाथ में आ जाने से उन दोनों राज्यों का मिलकर अंग्रेजों का विरोध करना कठिन हो गया। पूरब में सिक्किम राज्य के अंग्रेजों के प्रभुत्व में आ जाने से उस दिशा में गुरखों के राज्य विस्तार पर रोक लग गई। इसके पश्चात् द्वितीय सिक्ख युद्ध तक नेपाल सरकार यह अवसर देखती रही कि कब अंग्रेजों पर विपत्ति आये ताकि वह उन प्रदेशों पर जिनको कि वह खो बैठी थी, पुनः अधिकार कर ले। इसके लिए उसने रणजीतसिंह से मित्रता करने के निष्फल प्रयास किए। द्वितीय सिक्ख युद्ध के समय नेपाल का प्रधानमंत्री जंगबहादुर सेना लेकर आखेट के बहाने तराई में उतर आया, परन्तु उसकी सेना में मलेरिया फैल जाने के कारण वह कुछ न कर सका। सन् 1857-1858 के विप्लव में उसने लखनऊ के घेरे में अंग्रेजों की सहायता की जिससे प्रसन्न होकर उन्होंने तराई का कुछ भाग नेपाल को लौटा दिया। इससे दोनों राज्यों के सम्बन्ध अच्छे हो गए। अंग्रेजों ने नेपाल पर अधिकार करने का कभी प्रयास नहीं किया क्योंकि वे उसे भारत तथा चीन साम्राज्य के बीच में 'बफर स्टेट' के रूप में रखना चाहते थे। नेपाल ने इतनी शक्ति नहीं थी कि वह अंग्रेजों से लोहा ले सके। फलतः दोनों राज्यों में फिर कभी युद्ध नहीं हुआ।

अध्याय - 8

लैप्स का सिद्धान्त (Doctrine of Lapse)

लॉर्ड डलहौजी (1848-56)

लार्ड हार्डिंग के स्थान पर 1848 में अर्ल आफ डलहौजी गर्वनर–जनरल नियुक्त किया गया। वह स्काटलैंड के अभिजात व्यक्ति का पुत्र था और कार्यक्षमता और विस्तृत जानकारी के लिए प्रसिद्ध था। एक समय में वह बोर्ड ऑफ ट्रेड का सदस्य रह चुका था और एक सच्चरित्र अधिकारी के रूप में उसने ख्याति प्राप्त की थी। रईस होने के अतिरिक्त वह निरकुश भी था और अपने नए पद के लिए बहुत उपयुक्त था। उस समय वह केवल 36 वर्ष का था।

उसके शासन के आठ वर्ष प्रत्येक क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण। कार्यों के लिए प्रसिद्ध है। उसे भारतीय इतिहास में सबसे महान गवनर–जनरलो में से एक माना जाता है। भारत में अंग्रेजी साम्राज्य के बनाने में उनका बहुत योगदान था। भारत की किसी भी रियासत के विलय करने के अवसर को उसने नहीं जाने दिया। इन्नज के अनुसार, "उसके पूर्ववर्ती गर्वनर–जनरल प्रायः किसी रियासत के विलय को यदि वे टाल सकते तो टाल जाते परन्तु डलहौजी बिलकुल विपरीत प्रकृति का व्यक्ति था अर्थात् यदि उसे कोई उचित बहाना मिलता तो वह राज्य को अंग्रेजी साम्राज्य में विलय कर लेता।" उसके विलय, शक्ति द्वारा और शांतिमय दोनों प्रकार के थे। युद्ध से उसने पंजाब और पीगू (बर्मा) जीता और शान्ति के प्रयोग से उसने व्यपगत के सिद्धान्त द्वारा अवध, सतारा, जैतपुर, झांसी और नागपुर प्राप्त कर लिए। सामाजिक और जन–साधारण के हित में किए गए सुधारों में भी उसका बहुत–सा योगदान था और हम यह कह सकते हैं कि आधुनिक भारत के भवन की आधारशिला उसी ने रखी थी।

शांतिपूर्ण विलय-व्यपगत का सिद्धान्त
(Doctrine of Lapse : Annexations of Peace)

डलहौजी के कार्य का विवरण व्यपगत के सिद्धान्त की चर्चा के बिना अधूरा रह जाता है। इस सिद्धान्त के द्वारा कुछ महत्त्वपूर्ण रियासतें साम्राज्य में विलप कर ली गई। डलहौजी के इस विश्वास की कि "झूठे रजवाडो" और कृत्रिम मध्यस्थ शक्तियों" (artifical intermediate powers) द्वारा प्रशासन की पुरानी पद्धति से प्रजा की मुसीबतें बढ़ती हैं और यह सब गलत है, ध्यान में रख कर ही, उसके व्यपगत के सिद्धान्त को अधिक अच्छी प्रकार समझा जा सकता है। वास्तव में उसकी स्पष्ट और सीधी स्काटिश मनोवृत्ति यह चाहती थी कि "मुगल सर्वशक्ति (Mughal Sovereignty) के मुखौटे को तोड़ दिया जाए और जो भारतीय राजे मुगलों के उत्तराधिकारी होने का दावा करते हैं उन्हें समाप्त कर दिया जाए।"

उसके अनुसार भारत में तीन प्रकार की रियासतें थीं :–

1. वे सियासते जों कभी भी उच्चतर शक्ति के अधीन नहीं थीं और न ही कर देती थी।
2. वे भारतीय रियासतें जो मुगल सम्राट अथवा पेशवा के अधीन थी और उन्हें कर देती थी परन्तु अब वे अंग्रेजों की अधीनस्थ थीं।
3. वे रियासतें जो अंग्रेजों ने सनदों द्वारा स्थापित की थीं अथवा पुनर्जीवित की गई थीं।

अपनी नीति का 1854 में पुनरावलोकन करते हुए डलहौजी ने कहा था, "प्रथम श्रेणी की रियासतों के गोद लेने के मामलो में हमें हस्तक्षेप का अधिकार नहीं है। दूसरी श्रेणी के गोद लेने के लिए रियासतों को हमारी अनुमति परमावश्यक है। हम मनाही कर सकते हैं। परन्तु प्रायः हम अनुमति दे देंगे। परन्तु तीसरी श्रेणी की रियासतों में मेरा विश्वास है कि उत्तराधिकार में गोद लेने की आज्ञा दी ही नहीं जानी चाहिए।"

मुगल साम्राज्य के पतन और मराठा संघ की हार के पश्चात् कम्पनी ही भारत में सर्वश्रेष्ठ बन गई थी। डलहौजी का विचार था कि "स्वस्थ और बुद्धिमत्तापूर्ण नीति के अनुसार कम्पनी का कर्तव्य है कि वह अधिक राजस्व को और प्रदेशों को प्राप्त करने का कोई भी अवसर, जो समय–समय पर उसे मिले, हाथ से न जाने दे, चाहे वह अवसर स्वाभाविक उत्तराधिकारी की मृत्यु से प्राप्त हो अथवा किसी अन्य प्रकार के कारणों द्वारा उत्तराधिकारियों के न होने से प्राप्त हो जहाँ कि हिन्दू कानून के अनुसार गोद लेने की प्रथा में सरकार की स्वीकृति आवश्यक है।"

डलहौजी यह स्वीकार करता था कि राजाओ की निजी सम्पत्ति के उत्तराधिकार के लिए उसके दत्तक पुत्र को अनुमति दे परन्तु गद्दी पर अधिकार के लिए उसे अनुमति नहीं है। उसके लिए सरकार की अनुमति आवश्यक है, सरकार तीसरी श्रेणी के लिए गोद लिए पुत्र को गद्दी पर बैठने की अनुमति नहीं देगी और न रियासतें स्थापित हो जाएगी।

उन अवस्थाओं में गोद लेने के अधिकार के स्थान पर सर्वश्रेष्ठ शक्ति द्वारा व्यपगत का अधिकार स्थापित किया गया क्योंकि जो शक्ति अधिकार देती है वह ले भी सकती हैं।

डलहौजी के समय बिना युद्ध के विस्तार

डलहौजी का नाम भारतीय राजाओं को अपना पुत्र न होने पर गोद लेने की अनुमति न देकर उनके राज्यों पर अधिकार करने की नीति से जुड़ा हुआ है। इस नीति का प्रारम्भ डलहौजी ने नहीं किया। परन्तु डलहौजी ने बहुत व्यापक स्तर पर इसका इस्तेमाल करके साम्राज्य विस्तार किया। उसे नाममात्र के रजवाड़ों तथा दिखावे के लिए बनाए गए राजघरानो के अस्तित्व मात्र के चिढ़ थी। इस समय (यह स्पष्ट नहीं है कि क्यों) कई भारतीय रियासतों के ऐसे राजाओं की मृत्यु हुई जिनके पुत्र नहीं थे। डलहौजी ने उन्हें दत्तक पुत्र अपनाने का अधिकार नहीं दिया। इतिहासकार विभिन्न पहलुओं पर विवाद करते रहे हैं जैसे कि कम्पनी को ऐसा करने का अधिकार किन परिस्थितियों में था? क्या कम्पनी को इन राज्यों पर अधिकार करना चाहिए था? हिन्दू व मुस्लिम परंपराओ तथा अंतरर्राष्ट्रीय कानूनों के अंतगर्त स्थिति क्या थी? परन्तु वास्तविकता यह दिखाई देती है कि डलहौजी भारतीय उपमहाद्वीप के अधिकतम संसाधनों पर अंग्रेजों का सीधा नियंत्रण स्थापित करने पर तुले हुए थे और उन्हें ब्रिटिश राष्ट्र की सहमति प्राप्त थी। उन्होंने लिखा – सरकार ने मुक्त में एक बाहर के व्यक्ति को राज्य पर अधिकार देनें से इनकार कर दिया और इसे अपने राज्य में मिलाने की बुद्धिमानी की। दत्तक पुत्र को गोद लेने की प्रथा का अन्त करके डलहौजी ने जिन राज्यों पर अधिकार किया वे थे – सतारा, जैतपुर, संभलपुर, बघाट, उदयपुर (उड़ीसा), झाँसी और नागपुर डलहौजी ने आते ही 1848 में सतारा पर अधिकार किया सन् 1818 में लॉर्ड हेस्टिंग्स ने मराठा साम्राज्य पर अधिकार करते समय सतारा का राज्य शिवाजी के वंशज प्रतापसिंह को उसके बेटों और उत्तराधिकारियों को दे दिया था। 1848 में सतारा के राजा अप्पा साहिब की मृत्यु हुई जिनके अपना पुत्र नहीं था। मृत्यु के कुछ पहले उन्होंने कम्पनी की अनुमति के बिना लड़का गोद ले लिया था। परन्तु डलहौजी ने उसे स्वीकृति नहीं दी और इस आधार पर कि सतारा एक आश्रित शन्य था, इसे अपने साम्राज्य में मिला लिया। इस कार्य की काफी आलोचना हुई। उदार राजनेता जोसेफ ह्यूम ने हाउस ऑफ कॉमस में इस नीति को जिसकी लाठी उसकी भैंस की नीति कहा। परन्तु बोर्ड ऑफ डायरेक्टर्स ने इसे स्वीकृति दे दी। संभलपुर के राजा नारायण सिंह के कोई पुत्र नहीं था और न ही उन्होंने किसी को गोद लिया था। उनकी मृत्यु पर उनके राज्य को ब्रिटिश राज्य में मिला लिया गया। झाँसी की स्थापना 1818 में मराठों तथा ईस्ट इंडिया कम्पनी के मध्य संघर्ष के बाद हुई थी। झाँसी के राजा कम्पनी के प्रति वफादार रहे थें यहाँ के राजा गंगाधर राव के कोई लड़का नहीं था। उन्होंने एक लड़का गोद लिया और कुछ समय बाद 1853 में उनकी मृत्यु हो गई। डलहौजी ने झाँसी को अपने राज्य में इस आधार पर सम्मिलित कर लिया कि उनकी मृत्यु से पहले कम्पनी ने गोद लिए हुए पुत्र को मान्यता नहीं दी थी। झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई कम्पनी सरकार के साथ पत्र–व्यवहार करती रही और अंततः 1857 में विद्रोह की आँधी में कूद पड़ी। इस प्रकार 1818 में नागपुर में भोंसले राजा की हार के बाद अल्पायु रघुजी तृतीय को नागपुर का राजा घोषित किया गया। 1830 में इनके व्यस्क होने पर इन्हें शासन की बागडोर सौंप दी गई। परन्तु 1854 में इनकी मृत्यु हो गई। इनके कोई पुत्र नहीं था। रानियों ने पुत्र गोद लेने का प्रयास किया। परन्तु कम्पनी ने इस बड़े राज्य पर अधिकार कर लिया।

इन सभी राज्यों का अधिग्रहण करते समय कम्पनी ने अपने कानूनी व सैद्धान्तिक अधिकारों का प्रतिपादन किया। इन राज्यों के अधिग्रहण को ब्रिटेन तथा भारत में स्वीकार्य बनाने के लिए ऐसा करना आवश्यक था। परन्तु यह भी उल्लेखनीय है कि भौतिक लाभों के प्रति पूर्ण सजगता देखने में आती है। उदाहरण के लिए नागपुर पर अधिकार करने के उद्देश्यों के विषय में गर्वनर–जनरल ने लिखा :

नागपुर पर अधिकार करने से हमें ऐसा क्षेत्र मिलेगा जो 80,000 वर्गमील में फैला हुआ है, जिसका वार्षिक राजस्व 40 लाख पौंड है और जिसमें 40,000 लोग रहते है जो काफी समय से हमारे राज्य में शामिल होने को उत्सुक है। इससे निजाम के राज्य के चारों और के क्षेत्र पर हमारा अधिकार हो जाएगा यह आंतरिक शासन की संबद्धता के लिए लाभकारी रहेगा। इससे कई ब्रिटिश प्रान्तों में अविच्छिन्नता हो जाएगी। इससे कलकत्ते से बम्बई के मध्य का सीधा मार्ग ब्रिटिश क्षेत्र बन जाएगा जबकि अब यह सड़क काफी दूर तक विदेशी (भारतीय) राज्यों में है इन सभी लाभो का यदि एक वाक्य में सारांश दिया जाए तो यह कहा जा सकता है कि नागपुर पर अधिकार से हमारी सैनिक शक्ति संगठित होगी, हमारे वाणिज्यिक संसाधनों में वृद्धि होगी और भौतिक दृष्टि से हमारी शक्ति सुदृढ़ होगी।

इन लाभों के साथ–साथ अन्य स्थानों पर यह भी स्पष्ट किया गया कि इससे ब्रिटिश कपड़ा मिलों के लिए कपास मिलेगी क्योंकि कपास के यातायात पर से बाधाएँ कट जाएँगी।

डलहौजी ने केवल युद्ध द्वारा और गोद लेने की प्रथा का अन्त करके ही अपना साम्राज्य नहीं बढ़ाया। जिन क्षेत्रों पर इस आधार नहीं ढूँढे जा सकते थे वहाँ अन्य कारण गढ़ लिए गए। इनमें बरार और अवध का अधिग्रहण महत्त्वपूर्ण है।

लैप्स का सिद्धान्त

हैदराबाद के निजाम बेलेजली के समय से रखी गई सेना के खर्च की वार्षिक किस्त नहीं दे पा रहे थे। इसलिए कम्पनी ने उनके राज्य के एक तिहाई भाग बरार को कम्पनी को हस्तांतरित करने की माँग रखी। इस क्षेत्र की इच्छा करने का कारण यह था कि यह मध्य भारत मे स्थित था और इसलिए प्रशासन व सेना को संघटित करने सम्बन्धी व सभी उद्देश्य यहां लागू होते थे जिनका जिक्र ऊपर नागपुर पर अधिकार करने के संदर्भ में किया गया है। इसके साथ–साथ यहाँ कपास की खेती प्रचुर मात्रा में होती थी। नागपुर व बरार से होने वाले लाभो पर टिप्पणी करते हुए लॉर्ड डलहौजी ने लिखा

नागपुर और बरार इग्लैण्ड में कपास की सारी माँग को पूरा कर सकते है। परन्तु सड़के न होने के कारण इनक अदरूनी मार्गो में पहुँचना कठिन है। इन पर विदेशियों (गैर ब्रिटिश) का अधिकार है जिससे इनमें बहुत से शुल्क लगाए जाते है जिन्हे जब चाहे बढ़ा दिया जाता है। इन सब कारणों से ये कपास की माँग को पूरा नहीं कर पाते।

ऐसा माना गया कि इन राज्यों पर अधिकार करने मात्र से सभी बाधाएँ समाप्त हो जाएँगी। 1854 में नागपुर के साथ–साथ बरार पर भी अधिकार कर लिया गया। कम्पनी के निदेशकों ने गर्वनर–जनरल तथा अन्य अधिकारियों को इतनी सन्तोषजनक सन्धियाँ करने के लिए, जिनके उद्देश्य इतने सराहनीय थे, हार्दिक धन्यवाद दिया।

अपना कार्यकाल पूर्ण होने से पूर्व 1856 में डलहौजी ने अवध पर अधिकार कर लिया। यह अधिकार न तो राजा के पुत्र न होने की स्थिति में किया गया और न विजय द्वारा। अवध के नवाब सदा ही निष्ठावान रहे थे इसलिए उन पर विश्वासघात का आरोप भी नहीं लगाया जा सकता था। डलहौजी ने अवध का अधिग्रहण इस आधार पर किया कि इस राज्य में कुप्रबन्ध था। 1801 में वेलेजली के समय अवध को एक संरक्षित राज्य बना लिया गया था। 1819 में अवध के नवाब को राजा की पदवी दी गई। अवध में राज्य के सभी मामलों में रेजीडेंट का प्रभाव बहुत अधिक था कम्पनी के दबाव के कारण अर्थव्यवस्था में भी परिवर्तन किए गए। जिससे अवध की अर्थव्यवस्था और यहाँ की सरकार के राजस्व पर विपरीत प्रभाव पड़ा। अवध में नील व कपास जैसी वाणिज्यिक फसलों की खेती को बढ़ावा दिया गया। इससे यहाँ की कृषि पर आधारित अर्थव्यवस्था अस्त–व्यस्त हो गई। जब विदेशों में नील की माँग कम होने लगी तो स्थिति और भी खराब हो गई। 1830 के दशक तक अवध आर्थिक मन्दी की चपेट में आ गया। अंग्रेज अधिकारी और इतिहासकार अवध में स्थिति बिगड़ने के लिए अवध के राजा और दरबार की विलासप्रियता और भ्रष्टाचार को ही उत्तरदायी मानते रहे। 1831 में लॉर्ड विलियम बेंटिक, 1837 में लॉर्ड ऑकलेंड और 1847 में लार्ड हार्डिंग ने अवध के नवाबों को प्रशासन में सुधार लाने की न केवल सलाह दी बल्कि यह धमकी भी दी कि अन्यथा कम्पनी अवध का प्रशासन अपने हाथ में ले लेगी। परन्तु समस्या यह नहीं थी की अवध के शासक कार्यकुशल प्रशासन स्थापित करके खुशहाली नहीं लाना चाहते थे। जैसा कि कहाँ जा चुका है समस्या यह भी थी कि कम्पनी के माध्यम से ब्रिटिश औद्योगिक पूँजीवाद की आवश्यकताओं का अवध की अर्थव्यवस्था पर विपरीत प्रभाव पड़ रहा था और 1837 के बाद तो शासन कम्पनी के हाथ में ही आ गया था।

डलहौजी द्वारा लिखे गए विभिन्न पत्रो व टिप्पणियों से यह स्पष्ट होता है कि वे अवध पर अधिकार करने को बहुत आतुर थे। 1851 में उन्होंने लिखा कि अवध रुपी चेरी की फसल काफी समय से पक रही है। यह कभी हमारे मुँह में जरूर गिरेगी। 1853 में उन्होंने फिर लिखा, भारत से जाने से पहले इस चेरी को निगलने से मुझे बहुत सन्तोष मिलेगा। परन्तु डायरेक्टर्स ने इस समय सतर्कतापूर्ण नीति अपनाने की सलाह दी क्योंकि 1853 में कम्पनी के चार्टर का नवीकरण होना था और डायरेक्टर्स यह नहीं चाहते थे कि कोई ऐसा कदम उठाया जाए जिसके आधार पर ब्रिटेन में कम्पनी की नीतियों की आलोचना करने का मौका मिले।

चार्टर ऐक्ट के पास होने के बाद स्वयं कोर्ट ऑफ डाययरेक्टर्स ने डलहौजी को लिखा कि वे अपना कार्यकाल पूरा होने से पहले अवध पर अधिकार करने की तैयारी करें क्योंकि उनके उत्तराधिकारी को इस कार्य के लिए आवश्यक अनुभव व प्रतिष्ठा उपलब्ध नहीं होंगे। परन्तु समस्या यह थी कि अवध पर न तो राजा के पुत्र न होने के बहाने अधिकार किया जा सकता था और न विश्वासघात के आरोप पर क्योंकि अवध के नवाब सदा ही निष्ठावान रहे थे। इस स्थिति में डलहौजी ने भी यह सलाह दी कि अवध के राजा को नाम मात्र की सत्ता के साथ बनाए रखा जाए और शासन प्रबन्ध अपने हाथ में ले लिया जाए। परन्तु कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स ने अवध पर प्रत्यक्ष अधिकार करने का निर्णय लिया। अततः इस आधार पर अवध के विलयन किया गया कि इस राज्य में शासन प्रबन्ध ठीक से नहीं हो रहा था। 1854 में कर्नल ऊटरम को अवध में रेजीडेंट बनाया गया और उन्हें अवध की स्थिति पर एक रिपोर्ट तैयार करने को कहा गया। अवध की स्थिति का वैधिवत सर्वेक्षण मूल्यांकन नहीं किया गया बल्कि एक तरह से एक आरोपपत्र प्रस्तुत किया गया। अंततः उनकी इस रिपोर्ट के आधार पर अवध पर फरवरी 1856 में अधिकार कर लिया गया और अवध के नवाब को पेंशन दे दी गई। व्यापक स्तर पर 1857 में अवध की जनता द्वारा विद्रोह में भाग लेना यह घोषणा करने के समान था कि जनता ने अवध पर अंग्रेजों द्वारा अधिकार का स्वागत नहीं किया।

व्यपगत के सिद्धान्त की समीक्षा

1. जब से कम्पनी ने भारत में राज्य विस्तार करना आरम्भ किया था तब से कम्पनी ने बार–बार भारतीयों के अधिकारों (Rights) और विशेषाधिकरो (Privilages) की ही नहीं वरन् उनके जातिय कानून और धार्मिक तथा सामाजिक प्रथाओं तथा पूर्वाग्रहों (Prejudices) इत्यादि की रक्षा करने और उनका सम्मान करने का आश्वासन दिया था। हिन्दुओं में पुत्र गोद लेने की प्रथा बहुत प्राचीन थी और वह बड़ी धूमधाम से और धार्मिक कर्मकाण्ड के अनुसार ही मनाई जाती थी। मुगलों और पेशवाओं के अधीन उत्तराधिकारी को स्वीकृति के लिए केवल नजराना ही देना होता था। लॉर्ड डलहौजी ने एक मृतप्राय रिवाज को पुनर्जीवित किया और उसका साम्राज्यवादी उद्देश्यों के लिए प्रयोग किया। "व्यपगत का सिद्धान्त" (Doctrine of Lapse) चार्ल्स प्रथम के व्यक्तिगत शासन के दिनों में सामन्त शाही के करों को पुनः लागू करने के समान न्याय के नाम पर लूटमार का एक साधन मात्र ही था।
2. आश्रित रियासतों (Dependent States) और संरक्षित मित्र (Protected allies) रियासतों का भेद एक काल्पनिक था और केवल बाल की खाल उतारने वाली बात थी झगड़े वाले मामलों में कम्पनी अथवा कोर्ट ऑफ डारेक्टर्ज द्वारा अर्थ ही निणार्यक माने जाते थे कोई उच्चतम न्यायालय तो था नहीं जो इन प्रश्नों पर निष्पक्ष निर्णय दे सके।
3. लॉर्ड डलहौजी ने प्रायः परम्पराओं को तोड़ा और बहुत से अवसरों पर साम्राज्यवादी भावना को ही उसने अपना पथप्रदर्शक माना। ली वार्नर (Lee Warner) जैसे व्यक्ति भी यह स्वीकार करते है कि सतारा और नागपुर के मामले में वह साम्राज्यवादी भावनाओं द्वारा ही प्रेरित हुआ क्योंकि ये दोनों रियासते बम्बई मद्रास और मद्रास–कलकत्ता के बीच संचार व्यवस्था में रुकावट डालती थी।
4. कोर्ट ऑफ डाइरेक्टर्स ने करोली के विलय की आज्ञा नहीं दी और इस प्रकार लार्ड कैनिंग ने बघाट और ऊदेपुर राज्य वापिस कर दिए थे।

डलहौजी विलयवादी था। उसने व्यपगत का सिद्धान्त आक्रमक उद्देश्यों के लिए किया। यदि अवध जैसे प्रदेशों के व्यपगत का सिद्धान्त लागू नहीं हो सका तो उसने 'अच्छे प्रशासन' की आड़ लेकर प्रदेश का विलय कर लिया। देशी राजाओं का विचार था कि उनके प्रदेश व्यपगत के सिद्धान्त के कारण नहीं विलप किए अपितु 'नैतिक व्यपगत' (Lapse of all Morals) के कारण। पी. ई. राबर्ट्स के कथनानुसार, "कारण कुछ भी रहे हो स्थानीय राजे यह विश्वास करने लगे थे कि सभी राज्यों का अस्तित्व खतरे में है" और उनका विलप हो जाना केवल समय का ही प्रश्न है। डलहौजी के कार्यों से उसकी नीति का आभास ही नहीं मिला अपितु उन्होंने यह सिद्ध भी कर दिया था। व्यपगत का सिद्धान्त डलहौजी के साम्राज्यपाद को और 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' के कथन को करता था।

उपाधियों और पेंशनों को बन्द करना

1801 से ही कर्नाटक का नवाब नाममात्र सा व्यक्ति था। 1853 में कर्नाटक के नवाब की मृत्यु पर मद्रास सरकार के सुझाव से सहमत होकर उसके उत्तराधिकारी को मान्यता नहीं दी गई और इस प्रपच को समाप्त कर दिया गया परन्तु 1867 में गर्वनर जनरल का यह निर्णय कुछ सीमा तक बदल दिया गया। 1855 में तंजोर के राजा की मृत्यु हो गई। उसके पश्चात् उसकी सोलह विधवाएँ और दो बेटियाँ रह गई थी। इस उपाधि को भी समाप्त कर दिया गया। इस प्रकार डलहौजी की यह योजना थी कि मुग़ल सम्राट की उपाधि भी समाप्त कर दी जाए परन्तु डाइरेक्टर्स ने इस सुझाव को स्वीकार नहीं किया। पेशवा बाजीराव द्वितीय को 8 लाख रुपये वार्षिक की पेन्शन मिलती थी। 1853 में उसकी मृत्यु पर यह पेंशन उसके दत्तक पुत्र नाना साहिब को नहीं दी गई क्योंकि यह पेन्शन निजी रूप से बाजीराव को दी गई थी न कि पेशवा को।

बराड़ का विलय 1853

हैदराबाद के निजाम की और बहुत सी धनराशि जो उसे सहायक सेना के भरण–पोषण के लिए देनी थी, शेष थी। उसे 1853 में उस धन के बदले बराड़ प्रदेश देने पर बाध्य किया गया। यह अनुमान लगाया गया है कि वह समस्त उर्वर प्रदेश जो विलय किया गया, लगभग 50 लाख रुपया वार्षिक कर देता था।

अवध का विलय 1856

यद्यपि बक्सर के युद्ध (1764) में अवध का नवाब पराजित हो गया और अंग्रेज चाहते तो अवध को उसी समय अपने अधीन कर सकते थे परन्तु उन्होंने यह उचित समझा कि अवध का नवाब केवल कारा और इलाहाबाद के जिले अंग्रेजो को दे दे। 1801 में वैल्ज़ली ने नवाब को एक अन्य सन्धि पर हस्ताक्षर करने पर बाध्य किया और लोअर दोआब और रुहेलखण्ड के जिले ले लिए। इसके पश्चात अवध के नवाब अपने देश की आन्तरिक शान्ति और बाहरी सुरक्षा के लिए कम्पनी पर दिन प्रतिदिन अधिक से अधिक निर्भर करने लगे। देश के कल्याण की ओर से आंख मूद ली और प्रजा कम्पनी और नवाब के कुप्रशासन और वित्तीय बोझ के नीचे पिसने लगी।

लैप्स का सिद्धान्त

विलियम बैंटिंक ने नवाब को कडी चेतावनी दी। एक समय कम्पनी के डाइरेक्टरों ने बैंटिक को यह अनुमति [illegible] कि अवध का विलय कर ले परन्तु फिर भी बैंटिक ने ऐसा नहीं किया। 1837 में लॉर्ड ऑकलैंड ने एक नई सन्धि [illegible] अली शाह से की जिसके अन्तर्गत यह धारा थी की, "अवध के अन्दर अव्यवस्था तथा कुप्रशासन होने की स्थिति में कम्पनी को उसके आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप करने का अधिकार होगा" परन्तु डाइरेक्टरों ने इस सन्धि को स्वीकार नहीं किया और यह एक प्रकार से मृत पत्र (Dead Letter) सा ही रहा। 1847 में लॉर्ड हार्डिंग ने नवाब को एक और चेतावनी दी।

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक अंग्रेज अवध के विलय के पक्ष मे हो गए थे। वास्तव में मध्य विक्टोरिया युग के साम्राज्यवादी यह विश्वास करने लग गए थे कि अंग्रेज ही अच्छा प्रशासन देने के योग्य है, भारतीयों का उनके शासन के अधीन रहना तथा अवध का विलय परम आवश्यक है। लण्डन टाइम्ज ने इसी प्रकार की भावना के अन्तर्गत कहा था कि "भारतीय जाति बहुत तुच्छ सी जाति है तथा पृथ्वी के दूसरे छोर से एक महान जाति उन पर राज्य करने के लिए पहुँच गई।" इसलिए इस विलय के कार्य में डलहौजी को न तो किसी सन्धि का ध्यान था और न ही वह भावुकता से प्रेरित हुआ।

अवध के विलय का मुख्य कारण केवल वहाँ का कुशासन ही था। इस बात पर ध्यान नहीं दिया गया कि इस कुशासन का मुख्य कारण अंग्रेज स्वयं ही थे। समकालीन अनेक लेखकों ने बार–बार यह कहा कि उस देश में अंग्रेज हस्तक्षेप ने वहां की राजव्यवस्था को ऐसा बना दिया है कि यह अंग्रेजों के नाम पर बड़ा भारी कलंक है। कुशासन विलय का एक सुगम सा कारण था। प्रोफेसर के. के. दत्ता के कथनानुसार, "भारत में शीघ्रता से फैलते हुए अंग्रेजी साम्राज्य के मध्य में अवध जैसे कुप्रशासन वाले राज्य का होना, अंग्रेजी साम्राज्य के निर्माताओं के लिए एक बड़ा भारी और सर्वथा अवांछनीय तथ्य था और जितना शीघ्र इसे समाप्त किया जा सके उतना ही अच्छा था"।

डलहौजी ने इस प्रदेश के विलय की योजना बहुत दक्षतापूर्ण बनाई। उसने अपने अधिकारी वहाँ के शासन की जांच करने के लिए भेजे जिन्होंने एक विस्तृत विवरण वहां के कुशासन के विषय में उसको भेजा, जिसे लण्डन भेजकर उसने अवध के विलय के लिए ग्रह सरकार की अनुमति प्राप्त कर ली। ग्रह सरकार और ब्रिटिश जनमत तैयार करने के पश्चात् डलहौजी ने बहुत तत्परता से कार्य किया।

1848 में कर्नल सलीमन को लखनऊ में रेजीडेन्ट के रूप में भेजा गया। सलीमन के कुशासन के विस्तृत विवरण भेजे। परन्तु सलीमन विलय के पक्ष में नहीं था। वह चाहता था कि प्रशासन का अधिक से अधिक कार्य अंग्रेजों द्वारा ही चलाया जाए। उसका विचार था, "यदि हम अवध का विलय कर लेते है तो हमारे नाम पर कलंक लग जाएगा और हमारा नाम हमें एक दर्जन अवधो से भी अधिक प्रिय है। हम एक देव के समान हैं और यदि हम अपनी शक्ति का देव के रूप मे प्रयोग करेंगे तो सारे भारत की दृष्टि में गिर जाएँगे।" 1854 में सलीमन के स्थान पर आउट्रम आया। उसने भी यही कहा कि अवध का प्रशासन बहुत दूषित है और लोगों की अवस्था बहुत शोचनीय है। गवर्नर जनरल की परषिद् में तीन तत्वों पर बहस हुई

1. नवाब को गद्दी छोड़ने पर बाध्य किया जाए और अवध का विलय किया जाए।
2. नवाब नाममात्र को रहे परन्तु समस्त शासन अंग्रेजों के हाथ में हो।
3. लखनऊ का रेजीडेंट कुछ सीमित काल के लिए कार्यभार संभाल ले।

परिषद् की साधारण राय तो विलय के ही पक्ष में थी। सारे कार्य को डलहौजी ने ऐसे आयोजित किया कि कोर्ट आफ डाइरक्टर्स ने विलय के पक्ष में अपना निर्णय दे दिया और उसे कहा कि अपना कार्य भार छोड़ने से पहले वह इस कार्य को पूर्ण कर दे। परन्तु डलहौजी ने नवाब वाजिद अली शाह को सिंहासन छोडने को कहा। जब उसने इनकार किया तो 13, फरवरी 1856 की घोषणा के अनुसार रियासत का विलय कर लिया गया। डलहौजी ने इसको इन शब्दों में उचित ठहराया, "यदि अंग्रेज सरकार इस प्रकार के कुशासन को जिसमें करोड़ों लोग पिस रहे हैं अधिक समय तक चलाने मे सहायता देती है तो वह मानव और ईश्वर दोनों की दृष्टि में दोषी होगी।" कम्पनी के कुछ रुढ़िवादी डाइरेक्टर इस नीति के पक्ष मे नही थे। ईस्ट इण्डिया कम्पनी की साधारण सभा में इस कार्य को अनुचित ठहराने के लिए एक निन्दा प्रस्ताव भी रखा गया कि यह विलय अंग्रेजों के भारतीय राज्य के इतिहास में सबसे निन्दनीय कार्य है। कम्पनी के एक डाइरेक्टर जॉन शेपर्ड (John Sheppard) ने टिप्पणी की कि "यह विलय भारतीयों की स्वतन्त्रतों को बढ़ावा देने में उतना ही सफल होगा जितना उनके अधिकारों और हितों की रक्षा करने में।" भारतीयों के अनुसार अवध का विलय एक "वास्तविक विश्वास की महान अवहेलना है" जिसका अन्तर्राष्ट्रीय कानून आज्ञा नहीं देता। कुछ लेखकों ने इसे एक "महान डकैती" (Dacoitee in excelsis) बतलाया।

इकाई - II

अध्याय - 9

औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध प्रतिक्रिया

(Reaction to Colonial Rule)

(a) कंपनी के शासन काल में असंतोष व विद्रोह
Discontent and Disaffection During Company's Rule

23 जून 1757 को सिराजुद्दाला को प्लासी के युद्ध में हराने के बाद ईस्ट इंडिया कम्पनी ने बंगाल पर अपना निमन्त्रण स्थापित किया। 1764 में बक्सर के युद्ध ने इस अधिकार को और भी स्पष्ट कर दिया और इसी के साथ भारत को अंग्रेजी उपनिवेश में बदलने की प्रक्रिया शुरु हो गई। कालांतर में जहाँ एक ओर 'युद्ध' और 'कूटनीति' के माध्यम से भारत में अंग्रेजी अधिपत्य का विस्तार हुआ वहीं दूसरी ओर नवनिर्मित और विकसित प्रशानिक व्यवस्था की सहायता से अंग्रेजी सत्ता का सुदृढीकरण किया गया। स्वयं को सर्वोच्च सत्ता घोषित करते हुए अंग्रेजों ने यह दावा किया कि उन्होंने 'कानून का शासन' स्थापित करते हुए भारतीयों को शान्ति और सुरक्षा प्रदान की। भारत पर अपने निमंत्रण के प्रति शासकीय वर्ग आश्वस्त था, परन्तु इस विदेशी शासन ने जिस दासता और शोषण को जन्म दिया था, उसे भारतीयों ने स्वीकार नही किया। अनेक जनविद्रोहों के माध्यम से भारतीयों ने इसका विरोध किया।

'फितूरी' 'हल' 'डींग' 'उल्लुगन' तथा अन्य जनविद्रोह इतिहासकारों के शोध का एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा बनते जा रहे हैं। अंग्रेजी शासन के अधीन घटित इन विद्रोहों के बारे में जो लिखित प्रमाण उपलब्ध है, वे विद्रोहियों द्वारा नहीं लिखे गए थे, क्योंकि हिस्सा लेने वाले अधिकांश व्यक्ति अनपढ़ थे। इसके विपरीत विदेशी सत्ता ने अपने दस्तावेजो, गुप्त रिपोर्टो और सरकारी पत्रव्यवहार में जो विस्तृत विवरण संकलित किए उनमें इन जन विद्रोहों को अनपढ़ किसानों के बर्बरता और 'हिंसात्मक कार्य', (सांप्रदायिक दंगों' 'डकैत', आदि की संज्ञा देते हुए, इन्हें केवल 'कानून और व्यवस्था की समस्या बताया।' सरकारी दृष्टिकोण में, केवल इस बात पर बल दिया गया कि इन 'हिंसात्मक' और 'क्रूर' विद्रोहों को दबाकर सरकार ने प्रशासन के सामने उठने वाली समस्याओं को सफलतापूर्वक दबा दिया था। इस प्रकार 'जनविद्रोहों के वास्तविक स्वरुप और उसमें अंतनिहित अंग्रेजी सत्ता के खिलाफ परन्तु आधुनिक शोधकार्यों ने इन सरकारी पूर्व धारणाओं का खंडन करते हुए यह स्पष्ट किया है कि जब भारतीयों ने शोषण के खिलाफ आवाज उठाई तो उन्होंने अंग्रेजों के साथ–साथ उन भारतीयों को भी चुनौती दी जो उनके शोषक थे।

जनविद्रोहों का शाब्दिक अर्थ और भारतीय औपनिवेशिक परिस्थितियों में इनमें सम्मिलित वर्गों का अध्ययन इतिहासकारों में एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। यूरोप के इतिहासकारों ने जन संस्कृति और जनविद्रोहों का काफी अध्ययन–विलेषण किया है। पीटर बर्क, हाब्सबॉन, क्रिस्टोफर हिल, लेफेबरे, सोबोल, ई० पी० थामसन जैसे अन्य निर्धन व्यवक्तियों की भूमिका पर प्रकाश डाला है। औपनिवेशिक जनविद्रोह के अन्तर्गत भारत के संदर्भ में जो शोधकार्य पहले हुआ है उसमें प्रारम्भिक वर्षों में हुए किसान विद्रोहों को ही शामिल किया गया। एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक Civil Disturbances during the British rule in india a1765 – 1857 में इतिहासकार एस० बी० चौधरी ने जिन विद्रोहों में किसान विद्राहों के साथ भारतीय शासकीय वर्ग के असन्तोष एवं धार्मिक नेताओं द्वारा संगठित आन्दोलनों को भी सम्मिलित किया है। परन्तु उन्होंने आदिवासियों के विद्रोहो को इस श्रेणी में नही रखा। इस कमी को अब दूर कर दिया गया है। अनेक मानव–शास्त्रियों और इतिहासकारों ने अपने शोधकार्यों में देश के विभिन्न हिस्सों में बसे आदिवासियों के रहन–सहन अंग्रेजी शासन के प्रभाव और उनमें उत्पन विद्रोहों को उजागर किया है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि 1857 से पहले अंग्रेजी शासन के खिलाफ जो जन विद्रोह हुए उनमें प्रमुख रुप से किसान और आदिवासी वर्गों ने भाग लिया। इन दोनों वर्गों के बारे में एक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह भी है कि अंग्रेजी शासन काल के दौरान इन दोनों को सामाजिक या आर्थिक स्तर पर संपूर्ण इकाइयों के रुप में स्पष्ट करना कठिन था। उदाहरण के लिए अनेक स्थानों पर आदिवासी हिन्दू समाज का एक हिस्सा बन चुके थे और वे बाहरी प्रभाव से अछूते नहीं थे। इसी तरह सभी किसान भूमि से जुड़े हुए नहीं थे, इनमें से अनेक सेना में भर्ती हो चुके थे। किसानों में धनी भूमिपति, भूमिहीन किसान, खेतिहर मजदूर ओर काश्तकारों की अनेक श्रेणियाँ थी। यही कारण है कि इस अध्याय में जन विद्रोहों में निर्धन किसानों और आदिवासियों के विद्रोहों के साथ–साथ अपस्थ शासकीय और बडे जमींदारों के विद्रोहों को भी सम्मिलित किया गया है।

जनविद्रोहों के कारण :

अंग्रेजी ने जिस प्रक्रिया से भारत को उपनिवेश मे बदलकर उसका शोषण किया, उसी प्रक्रिया ने उन कारणों को भी जन्म दिया जो उस सत्ता के खिलाफ शुरु हुए विभिन्न जनविद्रोहों के पीछे निहित थे।

आर्थिक कारण

भारतीय सूती वस्त्र व्यापार से आकर्षित होकर जब ईस्ट इंडिया कम्पनी भारत आई तो उसका उद्देश्य अधिक से अधिक मुनाफा कमाना था। बंगाल को जीतने के बाद उसने स्थानीय धन से अपने निर्यात के लिए सामान खरीदना शुरु किया। भू-राजस्व ही आमदनी का प्रमुख साधन था, इसलिए कम्पनी ने इस ओर विशेष ध्यान दिया। इस प्रकार भूमिकार ओर उसके साथ जुडी हुई आर्थिक नीतियाँ भारतीयों के शोषण का प्रमुख माध्यम बन गई। जहाँ एक ओर अंग्रेज अफसरों ने 'दस्तक' का दुरुपयोग करके व्यक्तिगत स्तर का मुनाफा कमाया, वही दूसरी ओर अधिक भू-राजस्व प्राप्त करने क लिए भूमिकर इकट्ठा करने का अधिकार नीलामी के माध्यम से बेचा। 1765 में दीवानी मिलने के बाद बंगाल के रजा खाँ और पटना में शिताब राय की नियुक्ति की गई, परन्तु बहुत जल्दी ही यह स्पष्ट हो गया कि निर्धारित भूमिकर इतना अधिक था कि उसे जमींदार चुका नहीं सकते थे। 1765-1772 के बीच बंगाल का इतना अधिक शोषण हुआ कि वहाँ गरीबी भूखमरी और अराजकता फैल गई। 1769-1770 के भयावह अकाल ने स्थिति को और भी गंभीर बना दिया। स्वयं अंग्रेज प्रशासको को यह स्वीकार करना पड़ा कि बंगाल की यह दुर्दशा उनके शासन का ही परिणाम था। 1769 में मुर्शिदाबाद स्थित कम्पनी रेजीडेंट बेचेर ने अपनी रिपोर्ट में लिखा – "किसी भी अंग्रेज के लिए यह सोच पाना बड़ा कठिन होगा कि कम्पनी को दीवानी मिलने के बाद से इस देश की जनता की हालत बदतर हो गई और इस सच्चाई से इन्कार नहीं किया जा सकता कि यह खूबसूरत देश जो अत्यन्त निरकुंश और तानाशाह व्यवस्था के अधीन भी फलता-फूलता रहा था अब विनाश के कगार पर खड़ा है जबकि प्रशासन में अंग्रेजी का सचमच काफी बड़ा हिस्सा है।"

1769–1770 के बीच बंगाल के भीषण अकाल की चपेट में एक तिहाई से अधिक जनसंख्या की मृत्यु हो गई, परन्तु इस स्थिति में अंग्रेजों का उद्देश्य केवल भूमिकर प्राप्त करने का ही रहा। डब्ल्यू० डब्ल्यू० हंटर ने अपनी पुस्तक द अनाल्स ऑफ रूरल बगाल में इसी सत्य को स्वीकार करते हुए लिखा कि 1770 के अकाल के दौरान सरकार ने केवल 9000 रु० सहायतार्थ दिए परन्तु भ्रष्टाचार इतना अधिक व्याप्त था कि इस सहायता कभी पड़ितों तक पहुँचने की गारंटी नहीं थी।

बंगाल ने इन्हीं प्रारम्भिक वर्षों की दयनीय स्थिति को बंकिमचन्द्र ने अपने उपन्यास आनन्दमठ में इस प्रकार से चित्रित किया है: "अंग्रेज इन दिनों बंगाल के दीवान थे। वे सरकारी मालगुजारी के पैसे तो वसूल करते थे पर तब तक उन्होंने बंगाल-वासियों की जान-माल की सुरक्षा की जिम्मेदारी नही ली थी। उन दिनो पैसा वसूलने की जिम्मेदारी अंग्रेजों की थी और जान-माल की सुरक्षा का भार पापी, नराधम, विश्वासघाती, मनुष्य जाति के कलंक मीर जाफर पर था। मीर जाफर गोली खाता था और पाँव फैलाकर सोता था। अंग्रेज पैसा वसूलते थे और रपट लिखते थे। बंगाली रोता था। और कंगाल होता जाता था।"

1772 में जब वॉरेन हेस्टिंग्स गर्वनर बना तो उसने भूमिकर व्यवस्था की और विशेष ध्यान दिया, परन्तु इससे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन कॉर्नवालिस ने ही किया। उसने 1793 में स्थायी बंदोबस्त लागू किया। इसी बीच टॉमस मनरो ने मद्रास में और 1824 में एलफिन्स्टन ने बम्बई में रेयतवाड़ी व्यवस्था लागू की। 1819 में होल्ट में केन्जी ने पश्चिमोत्तर प्रदेश में महलवाड़ी व्यवस्था को जन्म दिया। इसम कुछ परिवर्तन करके विलियम बेटिंक ने इसे पंजाब और मध्यप्रदेश को लागू किया। इस प्रकार अंग्रेजों ने भूमिकर व्यवस्था में परिवर्तन परन्तु इन नीतियों ने भूमि से जुड़े हुए व्यवक्तियों के अधिकारों और ग्रामीण सम्बन्धों में जो परिवर्तन किए, उससे किसानों का आर्थिक शोषण हुआ।

अंग्रेजी सत्ता ने भूमिकर को नियमित रुप से और निश्चित समय पर इकट्ठा करने की व्यवस्था की। प्रारम्भ से ही निर्धारित कर इतना अधिक था कि अनेक जमींदार इसे देने में असमर्थ रहे। परिणाम स्वरुप उनकी जमीनें नीलाम कर दी गई। उदाहरणार्थ मालाबार में निर्धारित भूमिकर कुल उत्पादन का 30–40 प्रतिशत था। 1813 में भूमिकर न चुका पाने के कारण 203 जमीनों की नीलामी की गई। टॉमस मनरो एवं हडलस्टन जैसे अधिकारियों ने यह स्वीकार किया कि भूमिकर बहुत अधिक था, परन्तु उसे कम करने के बजाए और भी बढ़ा दिया गया । प्रारम्भिक वार्तों में जब जमीनों की नीलामी हुई तो उसे खरीदने वालों में जमीदारों के साथ-साथ वे व्यक्ति भी थे जिन्होंने कम्पनी के व्यापार और प्रशासन में हिस्सा लेकर मुनाफा कमाया था। अपने अध्ययन में बी० एस० कोहन ने यह बताया है कि प्रारम्भिक वार्तों में जब बनारस और जौनपुर में 205 जमीनों की नीलामी हुई तो 58 भूमि के टुकड़े महाजनों, 48 जमींदारों 38 प्रशासन में कार्यरत भारतीयों, 30 बनारस के राजा और 4 अन्य वर्षों में जिन जमींदारों को अपनी भूमि से हाथ धोना पडा उनम अंग्रेजी प्रशासन के खिलाफ असन्तोष पैदा होना स्वाभाविक ही था।

कालांतर में स्थायी बन्दोबस्त ने जमींदारों को भूमि का मालिक घोषित करते हुए उनके भूस्वामित्व को पक्का कर दिया : किसानों की स्थिति इन जमींदारों के नियन्त्रण में गई। स्थायी बंदोबस्त ने किसानों के [illegible]

इसके साथ ही भूमिकार न देने की स्थिति में उन्हें भूमि से बेदखल भी किया जा सकता था। किसानों का शोषण जमींदारों और उनके द्वारा नियुक्त गुमाश्चतों ने जमकर किया। अपनी आजीविका को बचाने के लिए किसानों को महाजनों से आधार लेना पड़ा। रैयतवाड़ी व्यवस्था ने किसानों को भूमि का मालिक घोषित तो किया, परन्तु सरकार द्वारा निर्धारित उच्च भूमिकर किसानों को महाजनों के चंगुल से बचा नहीं सका। महलवाड़ी व्यवस्था में भी भूमिकर का अधिक बोझ किसानों पर ही पड़ा। इस प्रकार 'सरकार', 'साहूकार' और 'जमीदारों' के शोषण तले दबे किसानों में असन्तोश उत्पन्न होना स्वाभाविक ही था।

आदिवासी क्षेत्रों में स्थिति और भी गंभीर थी। अंग्रेजों द्वारा बगाल, बिहार, मध्य भारत को पूर्वी हिस्सा, गुजरात और बम्बई के आदिवासी क्षेत्रों में जब स्थायी बंदोबस्त और दूसरी भूमिकर व्यवस्थाएँ लागू की गई तो वहाँ पर इस व्यवस्था के साथ जुड़े नए सिद्धान्त भी लागू हुए। परन्तु स्थानीय निवासी इनसे परिचित नहीं थे। उदाहरण के लिए स्थायी बंदोबस्त ने भूमि पर व्यक्तिगत अधिकारों को स्पष्ट किया जिससे भूमिक्रय और विक्रय की वस्तु बन गई। परन्तु आदिवासी इस परिवर्तन को समझने में असमर्थ रहे। भूमि के बढ़ते हुए महत्त्व को देखकर मैदानी इलाकों सबसे छोटे व्यापारी और महाजन इन आदिवासी क्षेत्रों में आकर बसने लगे। उन्होंने आदिवासियों द्वारा तैयार की गई वस्तुओं को कम दाम पर खरीदा और उनके श्रम का भी शोषण किया। इतना ही नहीं बल्कि उधार उन्हें हमेशा के लिए अपने–पंगुल में फँसा लिया और कानून की सहायता से उनकी जमीनों को भी हड़पना शुरु कर दिया। छोटानगपुर के आदिवासी क्षेत्रों में देखा गया कि उधार न चुका पाने की स्थिति जिससे उन्हें जीवनपर्यन्त महाजनों के लिए मुफ्त काम करना पड़ता था। आर्थिक शोषण की इस प्रक्रिया को जब आदिवासी समझ नहीं पाए तो वे मैदानों से आकर बसे लोगों से घृणा करने लगे।

राजनीतिक और प्रशासनिक कारण

अपने साम्राज्य का भारत में विस्तार करते समय अंग्रेजों ने स्वतन्त्र राज्यों को केवल जीता ही नहीं, बल्कि अधीनस्थ राज्यों एवं स्थानीय शक्तिशाली परिवारों के अधिकारों पर अंकुश भी लगाया। उदाहरण के लिए 1770 में अंग्रेजों ने मराठों के उत्तराधिकार तथा 1799 में अवध और 1820–30 के बीच अनेक राजपूरा राज्यों के उत्तराधिकार में हस्तक्षेप किया। दक्षिण भारत में आरकॉट के नवाब की आड़ में उन्होंने पोलीगारों की आरकॉट के नवाब की आड़ में उन्होंने पोलीगारो की शक्ति को नष्ट करने का प्रयास किया।

अपने साम्राज्य को स्थापत्व प्रदान करने के लिए शासकों ने जिस प्रशासनिक व्यवस्था को जन्म दिया, उसका आधार सेना और पुलिस', 'न्याय व्यवस्था' 'राजस्व विभाग' और 'नौकर शाही' था इनकी सहायता से विदेशी सत्ता ने अपने नियंत्रण का मजबूत किया, परन्तु भारतीयों में इस व्यवस्था ने तटस्थता, नफरत और आक्रोश की भावना उत्पन्न की। परिणामस्वरूप जब विद्रोह शुरु हुए तब सरकारी इमारतों को शोषण का प्रतीक मानते हुए विद्रोहियों ने उन्हें नष्ट किया।

अंग्रेजी सता भारत में यूरोपीयकृत सेना पर आधारित थी। सी० ए० बेली का कहना है कि बंगाल और बिहार से बाहर ईस्ट इंडिया कम्पनी का शासन 'सैन्य निरंकुशता' पर आधारित था। अंग्रेजी प्रशासन ने आन्तरिक शान्ति और सुरक्षा स्थापित करने के लिए पुलिस विभाग का निर्माण किया। इसके परिणाम–स्वरुप जमींदारों के अधीन ऐसे कर्मियों की नियुक्ति बंद हो गई जो पुलिस का काम करते थे। डेविड आरनोल्ड के अनुसार भारतीय औपनिवेशिक व्यवस्था में पुलिस 'जज', 'जेलर' और 'प्रबंधक' का काम करती थी और साधारण किसानों, मजदूरों तथा अन्य भारतीयों के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित करने वाली कड़ी थी। परन्तु अधिकतर पुलिसकर्मी भ्रष्ट और स्थानीय समस्याओं से परिचित नही थे।

अंग्रेजी प्रशासन को चलाने के लिए जिस नौकर शाही व्यवस्था को जन्म दिया गया उसमें उच्च ओहदों पर केवल अंग्रेजी की ही नियुक्ति की जाती थी। अपनी स्थिति को मजबूत करने के लिए जब अंग्रेजों ने सामन्ती तत्त्व सहयोग प्राप्त किया तो वे भी जनसाधारण के शोषण के कारण बन गए। उदाहरण के लिए अंग्रेजी ने कोल और भील आदिवासियों के मुखियों को सरकारी उपाधियाँ और जंगलों में विशेष अधिकार प्रदान किए। इसी तरह दक्कन में भील आदिवासियों के मुखियों को 'राजा' की संज्ञा और निश्चित अनुदान देने की व्यवस्था की गई।

किसानों और आदिवासियों में भूमिकर विभाग और न्यायिक ढाँच ने विरोध की भावना मुखरित की। भूमिकर इक्टठा करने के लिए 'अमला', 'कानूनगो' जैसे अधिकारियों की नियुक्ति की गई। उनके व्यवहार से भारती असंतुष्ट थे। अंग्रेजों द्वारा स्थापित न्याय व्यवस्था में श्रृखलाबद्ध अदालतों की व्यवस्था थी जिसमें अंग्रेजी कानूनों के साथ–साथ निम्न स्तर पर हिन्दू और मुसलिम कानून भी लागू किए गए। परन्तु जहाँ एक ओर अंग्रेज न्यायाधीश भारतीय परम्पराओं और परिस्थितियों से अवगत नहीं थे, वही दूसरी ओर जनसाधारण के लिए इस जटिल न्याय–व्यवस्था को समझाना कठिन था। धोखा–धड़ी के जुल्म में नंदकुमार को दिया गया मृत्युदंड इसी स्थिति का परिचायक था। इस प्रणाली का लाभ महाजनों ने खूब उठाया ओर उधार न चुका पाने की स्थिति में गिरवी रखी जमीनों पर अपना कब्जा जमा लिया। आदिवासी क्षेत्रों मे जिस तरह से दीवानी और फौजादारी अदालतों को बार–बार बदला गया उससे भी अराजकता की स्थिति पैदा हुई। उदाहरण के लिए बिदनापुर जिले में 1795 में मजिस्ट्रेट को पहले फौजदारी मुकदमें सुनने का अधिकार

दिया गया। 1787 में कलक्टरो को कर एजेंट नियुक्त करने के साथ साथ जज, पुलिस एव मजिस्ट्रेट के सभी कार्य सौंप दिए गए। 1793 मे कॉर्नवालिस ने दाबारा दीवानी और फौजदारी अदालतो को अलग–अलग कर दिया। ऐसी स्थिति म जहाँ एक ओर स्थानीय निवासी इस न्याय–व्यवस्था को समझने में असमर्थ थे वहीं दूसरी और अंग्रेज न्यायाधीशो के लिए स्थानीय समस्याओ को जानना कठिन था। जब महाजनों ने इसकी सहायता से गरीब किसानों की गिरवी पड़ी जमीनों पर कब्जा कर लिया तो इस अवधारणा का जन्म हुआ कि गरीबों को न्याय नहीं मिल सकता था और न्याय व्यवस्था केवल धनी व्यक्तियों के लिए बनाई गई थी।

सामाजिक और धार्मिक कारण :

अंग्रेजी शासन के दौरान भारतीय समाज में अनेक परिवर्तन हुए। हिन्दुओं में वर्णव्यवस्था था और उससे जुड़ी विभिन्न जातियो के जिन सामाजिक वर्गों को जन्म दिया था, उनकी प्रतिष्ठा प्रचलित मान्यताओं और धार्मिक आस्थाओं के साथ–साथ आर्थिक स्थिति के साथ भी जुड़ी हुई थी। जब प्रशासन ने अंग्रेजी भाषा को काम काज की भाषा के रूप में अपनाया तब संस्कृत और फारसी के ज्ञाता सरकारी नौकरियों से हाथ धो बैठे। समाज में अंग्रेज शासक वर्ग स्वयं को एक प्रथक श्रेष्ठ वर्ग के रुप में स्थापित करने म सफल हुआ। इसी के साथ अंग्रेज शासकों और उन भारतीयों के साथ सम्बन्ध भी स्थापित हुए जो उने साथ जुड़े हुए थे। ऐसी स्थिति में अनेक ऐसे परिवार समृद्ध परिवार ब्रिटिश सत्ता और उसके द्वारा शुरु किए गए परिवर्तनों को स्वीकार न करने के कारण अपने आप में सिमट कर रह गए। आदिवासी क्षेत्रों में स्थानीय जनता ने बाहर से आकर बसे लोगों का विरोध किया क्योंकि वे उनका शोषण कर रहे थे।

अंग्रेजी शासन के अन्तर्गत अंग्रेजी भाषा और ईसाई धर्म का प्रचार 1813 के बाद होने लगा। ऐसी स्थिति मे जहाँ कुछ व्यक्तियो ने नए धर्म और विचारधाराओं को अपनाया, वहीं दूसरों द्वारा इसका विरोध भी किया गया। आम लोगों की धार्मिक मान्यताएं केवल स्थापित हिन्दू और इस्लाम धर्म से ही बँधी हुई नहीं थी, बल्कि उनमें विभिन्न अनुष्ठानों, अन्धविश्वासों, स्थानीय देवी–देवताओं का भी महत्त्वपूर्ण स्थान मिला हुआ था। अपनी पुस्तक दि पापुलर रिलिजन ऐड फोक्लोर ऑफ नार्दन इण्डिया मे विलियम क्रूक में इसी आदिवासियों द्वारा पर्वतों, नदियों, स्थानीय देवताओं में यह स्पष्ट किया गया है कि तनाव की स्थिति में मान्यताओं का प्रयोग किया। यह स्थिति तब और भी जटिल हो गई जब शोषक और शोवित वर्गों के धर्म भी अलग–अलग हो गए। ऐसी स्थिति में शोषितों द्वारा शोषकों के धार्मिक स्थलों को भी नष्ट किया गया।

इस प्रकार अंग्रेजी शासन के अन्तर्गत होने वाले जनविद्रोहों की पृष्ठ भूमि बढ़ते हुए आर्थिक शोषण, प्रशासनिक जटिलताओं और सामाजिक असन्तोष ने तैयार की।

जन विद्रोहों का स्वरुप और वर्गीकरण

पिछले कुछ वर्षों में अंग्रेजी शासन के दौरान हुए जनविद्रोहों का अध्ययन करते हुए इतिहासकारों ने अवधाराणाओ का प्रयाग किया है, जो यूरोपीय इतिहास कै अध्ययन के दोरान वहाँ के इतिहासकारों द्वारा प्रतिपादित की गई थी। इस प्रकार जहाँ एक ओर इन जन–विद्रोहों के विश्लेषण में सहायता मिल है वहीं शासनकारों में इन अवधारणाओं के प्रयोग पर विवाद भी हो गया है।

इन विद्रोहों के अध्ययन के लिए जो प्रमाण उपलब्ध उनकी सार्थकता और प्रयोग भी इतिहासकारों के लिए एक महत्त्वपूर्ण समस्या है। अनपढ़ होने के कारण किसानों और आदिवासियों के लिए अपने लिखित प्रमाण पीछे, छोड़ देना असम्भव था। इसके विपरीत सत्ता द्वारा संकलित विवरणों का उद्देश्य केवल अपने प्रशासन को मजबूत करना और भविष्य में ऐसे विद्रोह को होने से रोकना था इस प्रकार के दस्तावेज केवल सरकारी मानसिकता और उद्देश्यों को ही प्रकट करते हैं। इस संदर्भ में इतिहासकार रणजीत गुहा ने महत्त्वपूर्ण विचार प्रकट किए है। उनके अनुसार सरकारी लेखन शैली में विद्रोहों को दबाने और उसके पीछे व्याप्त कारणों का विश्लेषण करते समय विद्रोहियों के लिए विशेष 'भाषा' और 'चिन्हों' का प्रयोग किया गया। इस प्रकार के लिखित दस्तावेज 'सत्ता निबन्ध' (Power Discourse) के रुप में सामने आए। रणजीत गुहा के अनुसार इन दस्तावेजों का गहराई से अध्ययन करने पर विद्रोहियों के कार्यों, संगठन और प्रयासों का स्पष्टीकरण सम्भव है। इसी के साथ दूसरे स्रोतों जैसे, मौखिक स्रोतों का प्रयोग कर इन जन विद्रोहों के बारे में और अधिक पता लगाया जा सकता है।

इन विद्रोहों के वर्गीकरण के संदर्भ में भारतीय इतिहासकारों ने भी अनेक महत्त्वपूर्ण विचार प्रकट किए है अपने एक ग्रन्थ में भारत शासन काल के दौरान घटित किसान विद्रोहों का अध्ययन करते हुए इतिहासकार कैथलीन गफ ने यह स्पष्ट किया है कि इन विद्रोहों को 3 द्ववेशियों सिद्धांतों और संगठन के तरीकों के आधार पर पाँच श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है ?

1. **पुनः स्थापन विद्रोह (restorative rebellion) :** इनका उद्देश्य अंग्रेजों को पराजित करके पूर्वास्थित शासकीय तथा सामाजिक सम्बन्धों को करवाने के साथ–साथ नई व्यवस्था को जन्म देना भी था।
2. **धार्मिक आन्दोलन (religious movements) :** किसी विशेष समुदाय द्वारा शुरु किए गए एस प्रकार सिलसिला उद्देश्य अपने क्षेत्रों को स्वतन्त्र करवाने के साथ–साथ नई व्यवस्था को जन्म देना भी था।

3. **सामाजिक डकैती (social banditry) :** कैथलीन गफ ने हॉब्सबॉन द्वारा प्रपलित, श्रेणी का प्रयोग उन विद्रोहों के लिए किया है जिनमें इस श्रेणी से जुडे तत्त्व पाए गए।

4. **आतंकवादी प्रतिशोध (terrorit vengeance) :** ऐसे हिंसात्मक आन्दोलन जिनमें सामूहिक न्याय प्राप्त करने का प्रयास किया गया।

5. **विद्रोह :** ऐसे आन्दोलन जिनमें भाग लेने वालों ने किसी विशेष उत्पन्न कष्ट या कारण को दूर करने का प्रयास किया।

कैथलीन गफ के अनुसार इन पाँचों श्रेणियों के अन्तर्गत रखे गए विद्रोहों को उनके स्वरुप के आधार पर 'पुन; स्थापित' या 'परिवर्तनशील' श्रेणियों में रखा जा सकता है, क्योंकि अपनी परम्परागत संस्कृति और मान्यताओं में बँधे किसानों ने जब अंग्रेजी शासन के दौरान शोषण के खिलाफ आवाज उठाई तो उनके द्वारा शुरु किए गए विद्रोहों का उद्देश्य केवल पुरानी व्यवस्था को दोबारा स्थापित ही नही था, बल्कि अपनी स्थिति को सुधारने के लिए नए परिवर्तन की कल्पना भी थी।

जन आन्दोलन के वर्गीकरण के सम्बन्ध में कुमार सुरेश सिंह के विचार आधिक महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने सभी आदिवासी आन्दोलनों को पाँच प्रकार से विभाजित किया है। इन श्रेणियों का प्रयोग दूसरे इतिहासकारों ने भी किया है और इनके आधार पर अन्य इतिहासकारों द्वारा प्रतिपादित विचारों का अध्यपन भी किया जा सकता है।

सुरेश सिंह के अनुसार जन विद्रोहों के अध्ययन का सबसे सरल तरीका यह है कि प्रत्येक विरोध का अलग अलग अध्ययन करना सम्भव नहीं है। इसे नकारने के बाद उन्होंने जन–विद्रोहों के वर्गीकरण क चार तरीके बताए संघर्ष के विभिन्न प्रकारों के आधार पर वर्गीकरण करना एक ऐसा ही तरीका है। उदाहरण के लिए विद्रोहों में हिस्सा लेने वाले व्यक्तियों के उद्देश्यों के आधार पर सामाजिक संयोजन का विश्लेषण किया जा सकता है।

ब्रिटिश शासन काल के दौरान सभी जन–विद्रोह एक ही समय पर एक ही कारण का परिणाम नहीं थे। इस कारण कुमार सुरेश सिंह ने जन विद्रोहों के पारिभाषिक वर्गीकरण पर बल दिया है। इसके अन्तर्गत उन्होंने तीन चरणो को स्पष्ट किया है। अधिकतर इतिहासकारों ने इसी तरीके को स्वीकार किया है।

(क) **प्राथमिक विरोध आन्दोलन :** इनकी उत्पत्ति प्राक्–औपनिवेशिक और अपरिवर्तित सामाजिक राजनीतिक ढाँचे में हुई। ऐसी व्यवस्था में जब बाहरी तत्त्वों ने अनुचित हस्तक्षेप किया तो उसके खिलाफ परम्परागत शासकीय वर्ग, जैसे राजाओं, जमींदारों, आदिवासी, मुखियों तथा धार्मिक नेताओं ने जन साधारण को नेतृत्त्व प्रदान किया। इनका उद्देश्य पुरानी व्यवस्था को दोबारा स्थापित करना था। भारत में जब अंग्रेजी उपनिवेशवाद का विस्तार हो रहा था, तब ऐसे आन्दोलन हुए।

(ख) **गौण विरोध आन्दोलन :** ऐसे विद्रोह उन ऐतिहासिक परिस्थितियों के अंतर्गत हुए जहाँ परम्परागत और स्थापित व्यवस्था तथा सम्बन्धों के कमजोर होने के साथ–साथ औपनिवेशिक नियन्त्रण स्थापित हा चुका था। इस व्यवस्था में निहित शोषण के खिलाफ नए व्यक्तियों ने नेतृत्त्व प्रदान करते हुए ऐसे विरोधों का सूत्रपात किया, जिनका उद्देश्य समाज और स्थापित ढाँचे में मूलभूत परिवर्तन करना था।

(ग) **लौकिक विरोध आन्दोलन :** उपर्युक्त लिखित औपनिवेशिक परिस्थितियों में ऐसे आन्दोलन भी हुए जिनमें किसानों और आदिवासियों को पढ़े–लिखे व्यक्तियों ने नेतृत्त्व प्रदान किया और उन्होंने अपने आदेशों और उद्देश्यों को धार्मिक आधार पर सही सिद्ध किया। 1857 से पहले जो जन विद्रोह हुए उनमें प्रथम दो चरण दिखाई देते हैं।

जन विद्रोहों के वर्गीकरण का एक तरीका उनमें निहित विरोध प्रकट करने के माध्यमों के आधार पर भी है। इसका प्रयोग हॉटस बॉम ने अपनी पुस्तक प्रिमिटिव रिबेल में किया है। उन्होंने 'अपराध' और 'विद्रोह' की श्रेणियों के मूलभूत अन्तर को स्पष्ट किया है। भारतीय औपनिवेशिक ढाँचे में जब अंग्रेजी शासन के खिलाफ किसानों और आदिवासियों ने विरोध प्रकट किया। तो प्रशासन ने उन्हे 'अपराधी' तथा 'डाकू' आदि की संज्ञा दी। परन्तु इतिहासकार रणजीत गुहा ने स्पष्ट किया है कि इन शब्दों का प्रयोग सत्ता से जुड़े अधिकारियों की मानसिकता को दर्शाता है। उन्होंने अपनी अवधारणाओं का प्रयोग जिन व्यक्तियों के खिलाफ किया, उनकी समझा अलग थी। उदाहरण के लिए विद्रोहियों के जिन कार्यों को प्रशासन ने 'अपराध' की संज्ञा दी, रणजीत गुहा ने 'अपराध' ओर 'विद्रोह' के बीच के अन्तर को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि

1. अपराध गुप्त रुप में किया जाता है, जबकि विद्रोह खुले आम होता है।
2. अपराध के पीछे कुछ व्यक्तियों का हाथ होता है, जबकि विद्रोह सामाजिक प्रयास है।
3. अपराध द्वारा स्थापित सत्ता को कम चुनौती दी गई, परन्तु विद्रोह सत्ता के खिलाफ उन्मुक्त चुनौती है।

हॉब्सबॉम ने विरोध प्रकट करने के तरीके के आधार पर 'सामाजिक डकैती' का अध्ययन भी किया है। उनके अनुसार यह स्थिति प्राक्–औद्योगिक समाज में देखी गई जहाँ शोषण के खिलाफ कुछ व्यक्तियों ने धनी व्यक्तियों के सामान की चोरी की। इसका उद्देश्य गरीब व्यक्तियों को सहायता प्रदान करना था परन्तु विरोध का यह तरीका अधिक लोकप्रिय नहा था। हॉब्सबॉम ने सामाजिक

डकैती और सहस्राब्दिक आन्दोलनों की तुलना और उनके बीच के अन्तर को भी स्पष्ट किया है। उनके अनुसार [illegible] आन्दोलनों में मसीही नेताओं ने अपने अनुयायियों को पूर्ण सांसारिक परिवर्तन की आशा दिलाई।

स्टीफन फुक्स ने अपनी पुस्तक रिबेलियस आंदोलनों का विश्लेषण किया है। उनके अनुसार संसार के सभी धर्मों में यह विश्वास या धारणा व्याप्त है कि इस पृथ्वी पर जनमानस के उद्धार और नवीन समाज की स्थापना के लिए मसीहा का जन्म होगा और वह समाज में फैले शोषण और अत्याचारों को समाप्त करते हुए एक आर्दश संसार का निर्माण करेगा। इस्लाम में 'मुजाहिद वैष्णव धर्म में कल्कि अवतार', ईसाई धर्म, में 'भगवान ईसा का पुनरागमन' और बौद्ध धर्म में 'मैत्रेय' की वापसी इस आस्था को दर्शाती है। स्टीफन फुक्स के अनुसार आधुनिक काल में ऐसे मसीही आन्दोलन उन सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों में शुरु हुए जहाँ बाहरी सभ्यताओं के प्रभाव ने मानसिक तनाव पैदा किया। यह स्थिति विशेष रुप से उपनिवेशों में देखी गई जहाँ स्थानीय समाज और बाहरी सभ्यता और उसके साथ जुड़े शोषण के बीच सांस्कृतिक टकराव ने मानसिक और भावनात्मक तनाव को जन्म दिया। जब इस तनाव ने विस्फोटक रुप धारण किया तब जन उन्मादकता ने 'हिंसा' या 'आत्मस्त्या' का रुप लिया। ऐसे में बाहरी प्रभाव के खिलाफ पुरुषा ने किया और उन्होंने यह घोषणा की कि उनके उद्देश्यों और आदेशों को ईश्वर द्वारा मान्यता प्राप्त थी। उन्होंने अपने अनुयायियों को ऐसा 'स्वर्ण युग' देने के लिए कहा जिसमें मानव जाति को सभी सुख सुविधाएँ प्राप्त होगी। स्टीफन फुक्स के अनुसार अंग्रेजी शासन के दौरान अनेक विरोध आन्दोलनों में इस प्रकार के लक्षण देखे गए।

जन विद्रोहों के वर्गीकरण का पाँचवाँ तरीका इतिहासकार रणजीत गुहा ने प्रतिपादित किया है। उन्होंने अपनी पुस्तक एलिमेंट्स आस्पेक्ट्स ऑफ पिजेंट इनसर्जेन्सी इन कलोनियल इंडिया में विद्रोहियों की संचेतना प्रकाशित इस पुस्तक ने एक नवीन ऐतिहासिक लेखन बोली का सूत्रपात किया है। उन्होंने 'अधीनस्थ वर्ग' के इतिहास को स्वतंत्र रुप से लिखने की कोशिश की। सामी द्वारा प्रयोग में लाए इस शब्द के अन्तर्गत रणजीत गुहा ने उन उनके अनुसार इस शब्द के प्रयोग में 'प्रबल वर्ग' और 'अधीनस्थ वर्ग' के बीच विद्यमान शक्ति सम्बन्धों को स्पष्ट किया जाए कि किसान स्वयं विद्रोह करने में सक्षम था तो इसी के साथ यह भी मानना पड़ता है कि उसके पास संचेतना भी थी। अपनी पुस्तक में रणजीत गुहा ने उन 'प्राथमिक तत्त्वों' का विश्लेषण किया है जो उनके की संचेतना में विद्यमान थे। इन तत्त्वों का वर्णन करने से है जो पाक् औद्योगिक समाज में होने वाले जन विद्रोह को 'पाक्–राजनीतिक' (Pre-political) मानते है। रणजीत गुहा के अनुसार यह विचार इस धारणा पर आधारित है कि किसानों को केवल चमत्कारी नेता, विकसित राजनीतिक संगठन और ऊपरी वर्ग ही संगठित कर सकता है। इस प्रकार 'संगठन' को 'राजनीति' का पर्याय मानते हुए केवल उन्हीं विद्रोहों को संचेतन माना जाता है जिनके पीछे संचेतित नेतृत्व, परिभाषित उद्देश्य और उन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए प्रतिपादित कार्यक्रम विद्यमान हो।

रणजीत गुहा की यह धारणा है कि हॉब्सकॉम के इन विचारों को पाक् औद्योगिक अरोपीय समाज में प्रयोग किया जा सकता है परन्तु औपनिवेशिक भारत में घटने वाले किसान विद्रोहों को समझने के लिए यह विचार उपयुक्त नहीं है। अंग्रेजी उपनिवेशवाद के अधीन भारत में किसानों से उत्पादन का अधिशेष सरकार, साहूकार और जमींदारो के स्वामित्व को बढ़ावा दिया और जमींदार उनका शोषण कर रहे थे। निर्धन किसानों में उधार की समस्या उग्ररुप ले रही थी। ऐसी स्थिति में प्रबल वर्गों और शाषित किसानों के बीच स्थापित सम्बन्धों का आधार राजनीति ही थी।

रणजीत गुहा ने इस बात पर भी बल दिया है कि किसानों द्वारा प्रकट किए गए विरोध 'सहज' या 'अनायास' ही शुरु नहीं हुए थे शोषित किसान शोषकों की स्थिति से पूरी तरह परिचित थे। यही कारण है कि रणजीत गुहा ने इन विरोध आन्दोलनों के लिए 'विद्रोह' (*insuragency*) शपद का प्रयोग किया है।

किसानों की संचेतना का विश्लेषण करते हुए रणजीत गुहा ने यह विचार प्रकट किया है कि किसानों का प्रबल वर्गों द्वारा केवल आर्थिक शोषण ही नहीं हो रहा था, प्रबल वर्गों के अचार–व्यवहार दृष्टिकोण सामाजिक प्रतिष्ठा से अपनी ही स्थिति के बारे में पता चलता था। इस प्रकार किसानों में नकारात्मक संचेतना पाई गई और विद्रोह के दौरान किसानों ने प्रबल वर्ग की प्रतिष्ठा के प्रतीकों को नष्ट करने या स्वयं अपनाने का प्रयास किया।

इस प्रकार जन विद्रोहों के अध्ययन के लिए रणजीत गुहा ने एक नई ऐतिहासिक लेखन– शैली प्रतिपादित की है। अपने विचारों को प्रकट करने के लिए उन्होंने 1783 से 1900 के बीच घटित विद्रोहों का वर्णन किया है, परन्तु उनके द्वारा प्रकट धारणाएँ सभी विद्रोहों में मिलना कठिन है। वास्तव में रणजीत गुहा ने इस ओर ध्यान ही नहीं दिया है कि ये सभी विद्रोह एक लम्बे समय के दौरान घटे थे और उनके स्वरुप में समय ओर परिस्थितियों के कारण अनेक अन्तर पाए जाते हैं। सबसे महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि अधीनस्थ और प्रबल वर्गों की जो व्याख्या रणजीत गुहा ने की है, वह भी दो सपूर्ण है। इन दानों ही वर्गों का सम्पूर्ण इकाइयों के रुप में स्पष्ट करना कठिन है।

[illegible] प्रयोग करके जनविद्रोहों के स्वरुप के बारे में महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले जा सकते है।

उपर्युक्त लिखित विचारों के आधार पर 1757 से 1857 के बीच हुए विभिन्न जन विद्राहों का अध्ययन करने से इन विद्राहों की कुछ विशेषताएँ स्पष्ट होती है। अब हम इन विशेषताओं के बारे में विस्तार से चर्चा करेंगे।

जन विद्रोहों की विशेषताएँ

1. सभी जन विद्रोह शोषण के खिलाफ शुरु हुए थे। इस शोषण का प्रमुख प्रतीक अंग्रेजी शासन था जिसकी नीतियों के कारण भारतीयों के अधिकारों, सामाजिक प्रतिष्ठा और आर्थिक स्थिति पर आघात हुआ था। विद्रोहियों ने अपने शोषण को स्वीकार न रहते हुए अंग्रेजी सत्ता का विरोध किया। विरोध प्रकट करने वालों में विस्थापित और असन्तुष्ट शासकीय वर्ग ओर साधारण किसान और आदिवासी सम्मिलित थे। अनुचित धन और सेना की माँग करते हुए बनारस पर हमला कर उसे बन्दी बना लिया तब उसके खिलाफ विद्रोह किया। आदिवासियों ने अपने विद्रोहों के दौरान अंग्रेज अधिकारियों और उनकी संस्थाओं को शोषण का प्रतीक मानते हुए उन्हें नष्ट करने की चेष्टा की।

2. इन जन विद्रहों के पीछे जो असन्तोष छिपा हुआ था, उसका एक प्रमुख कारण आर्थिक शोषण था। अंग्रेजी शासन द्वारा निर्धारित भूमिकर, जमींदारों की बढ़ती हुई अनुचित माँगे, महाजनों के ब्याज और गरीबी के किसानों और आदिवासियों पर आर्थिक दबाव डाला। इस दबाव से छुटकारा पाने के लिए इन वर्गों ने विरोध किया। इस विरोध के जरिए उन्होंने अंग्रेजों के साथ–साथ भारतीय जमींदारों, प्रतिष्ठित शासकीय वर्ग और महाजनों को भी चुनौती दी। इस प्रकार जहाँ एक और बंगाल के अकाल (1769–70) के बाद गरीब किसान, फकीरों अंग्रेजी प्रशासन को चुनौती देने लगे वही दूसरी और रंगपुर के विरोध (1783) में किसानों ने जमींदारों को अधिक भूमिकर देने में इनकार करते हुए विद्रोह किया।

3. इन जन विद्रोहों की एक और मूलभूत विशेषता यह थी कि इनका उद्देश्य अपने समुदाय समाज और क्षेत्र में शोषण और बाहरी प्रभाव को समाप्त कर, पूर्ण स्थापित व्यवस्था कर सम्बन्धों को पुनः स्थापित करना था। अधिकांश विद्रोहों में किसी मूलभूत परिवर्तन की कल्पना नहीं की गई। जहाँ एक ओर विस्थापित जमींदार और शासक अपनी जमीनों को दुबारा प्राप्त करना चाहते थे, वही जमींदारों और महाजनों को बाहर निकालने का प्रयास किया गया। इसी के साथ–साथ कुछ जन विद्राहों के दौरान सुधारवादी प्रवृत्तियाँ भी देखी गई, खास तौर से संथाल विद्रोह में।

4. 1857 से पहले जो भी जन विद्रोह हुए उनका नेतृत्त्व स्थानीय वर्गों ने ही किया था। भूमिज और संथाल, विद्रोहों में उन्हीं के आदिवासी समुदायों से नेता सामने आए। अनेक जन विद्राहों में भारतीय शासकीय वर्ग ने भी नेतृत्त्व किया था।

5. इन जन विद्राहों में विरोध प्रकट करने के लिए हिंसा और 'लूटमार' का प्रयोग व्यापक स्तर पर किया गया। प्रबल वर्गों के घरों और धन–संम्पदा पर आघात करते हुए जनसाधारण ने चुनौती दी। शोषण करने वाले भारतीय और अंग्रेज अधिकारियों की हत्याएँ भी की गई। व्यापक स्तर पर इस्तेमाल संथाल विद्रोह के दौरान देखा बयानों में स्पष्ट रुप से यह कहा कि जब महाजनों के कहने पर पुलिस ने झूठे आरोप में उन्हें बन्दी बनाने अपनी साथियों के साथ मिलकर मानिक मुंडी, दरोगा और उसके पाँच साथियों की हत्या कर दी। इस तरह महाजनों की हत्याएं की गई और उन व्यक्तियों को मौत के घात उतारा गया जिन पर सत्ता का साथ देने का शक था। विद्रोहियों ने लूट के सामान को यों तो परपर बाँट लिया या उसे नष्ट कर दिया। महाजनों के बहीखातों और सरकारी इमारतों को नष्ट किया गया। इस प्रकार 'हिंसा' का इस्तेमाल खुले आम किया गया। 'लूटमार' के माध्यम से विद्रोहियों ने शोषित वर्गों का असंतोश प्रकट करने के साथ–साथ उन्हें सामाजिक न्याय दिलावने का भी प्रयास किया। हॉब्सबॉम ने जिस 'सामाजिक डकैती' से सम्बन्धित विचारधारा का प्रतिपादन किया है, उसके अनेक पहलू इन जन विद्रोहों के दौरान देखे गए।

6. इन जन विद्रोहों के दौरान धर्म का जो प्रयोग किया गया उसके अनेक आयाम देखे गए। शहरों में ईसाई धर्म के खिलाफ उत्पन्न आक्रोश ने भारतीयों में अंग्रेजी शासन के खिलाफ भी नफरत पैदा की। जब विलियम वेंटिक ने सती प्रथा विरोधी कानून पारित किया तो उसके खिलाफ हिन्दुओं ने विरोध प्रकट किया था। अनेक जन विद्राहों में नेताओं ने स्वयं को 'मसीहा' घोषित करते हुए अनुयायियों को यह आश्वासन दिया कि वे इस पृथ्वी पर ऐसे समाज और राज्य का निर्माण करेंगे, जहाँ उन्हें अधिकार मिलेंगे। उन्होंने यह भी घोषणा की कि स्वयं ईश्वर ने उन्हें शोषितों को नेतृत्त्व प्रदान करने के लिए कहा है ओर उनके आदेशों को ईश्वरीय कृपा प्राप्त है। इस प्रकार के सहस्ताब्दिक आन्दोलन 1857 से पहले भी देखे गए। अनेक स्थानों पर मुसलिम धार्मिक नेताओं ने इन विचारों को प्रकट करते हुए गरीब किसानों और कारीगरों का नेतृत्त्व किया। इसी के साथ दो और प्रवृत्तियाँ भी देखी गई। धर्म के नाम पर अंधविश्वास स्वीकार किए गए। संथाल विद्रोह में अनेक निर्दोश स्त्रियों को चुडैल घोषित करके उनकी हत्या कर दी गई। जहाँ शोषक और शोषित वर्गों के धर्म में अन्तर पाया गया, वहाँ विद्रोह के दौरान व्यापक हिंसा का इस्तेमाल हुआ। मोपला विद्राहों में मुसलिम किसानों ने हिन्दू जमींदारों और महाजनों की हत्या की और अपने इस कार्य को उन्होंने सही माना।

7. जब जनसाधारण ने अपने ऊपर गए अत्याचारों के खिलाफ आवाज उठाई तो विद्रोह सहज ही उत्पन्न नहीं हो गए शक्तिशाली शोषकों के खिलाफ विद्रोह शुरु करने से पहले तैयारी की गई और विद्रोह के दौरान संगठन और एकता पर भी ध्यान दिया गया। इस प्रकार की तैयारी के विस्तृत प्रमाण हमारे पास उपलब्ध नहीं है, फिर भी प्राप्त स्रोतों से यह पता चलता है कि जनसाधारण ने पहले शासकों के समक्ष प्रार्थनाएँ की और इन प्रयासों के विफल होने के बाद ही विद्रोह को हिंसा के माध्यम से प्रकट किया।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि अंग्रेजी शासनकाल के दौरान जो जन विद्रोह हुए उनमें हिस्सा लेने वाले व्यक्तियों के आर्थिक स्थिति में अन्तर था, परन्तु प्रत्येक विद्रोह अपने ऊपर किए गए अत्याचारों के खिलाफ शुरु हुआ था। इनमें 'सुधारवादी' और 'पुनः स्थापन' से जुड़ी हुई प्रवृत्तियाँ अधिक मुखरित थी। ऐसे विद्रोह बंगाल, मध्य भारत, पश्चिमी भारत और दक्षिण भारत के विभिन्न हिस्सों में हुए। इनमें से कुछ प्रमुख जन विद्रोहों का विवरण हम यहाँ देंगे।

1. **फतेह शाही का विद्रोह : 1767–1795 :** बिहार में अंग्रेजों को अपनी सत्ता स्थापित करने में कई कड़ प्रतिरोधों का सामना करना पड़ा था। विरोधी तत्त्वों में स्थानीय जमींदार सबसे आगे थे। ऐसे जमींदारों में हुसेपुर (बिहार के सारण जिले के उत्तर–पश्चिम में स्थित) के जमींदार फतेह शाही का ब्रिटिश विरोध विशेषरुप से उल्लेखनीय है। उनके विरोध के कारण अठाहरवीं शताब्दी के अन्तिम तीन दशकों में सारण जिला बुरी तरह अशांत और अस्त–व्यस्त रहा। फतेह शाही की प्रभाव इस्ट इण्डिया कम्पनी के अधिकार क्षेत्र के बाहर गोरखपुर तक फैल गया था। उन्होंने बगावत का झंडा तब उठाया जब कम्पनी ने उनसे भू–राजस्व का बकाया वसूलने की कोशिश की। पटना से सेना बुलाने पर ही उन्हें परास्त किया जा सका। इसके बाद वे गोरखपुर के जंगलो में भाग गए और वही से बार–बार धावा बोलकर कम्पनी को परेशान करते रहे। विदेशी सत्ता के प्रति लोगों में जो आक्रोश व्याप्त था उससे फतेह शाही को अंग्रेजों के विरुद्ध भारी जनसमर्थन मिला। अपने प्रभाव–क्षेत्र में वर्षों तक वे आतंक फैलाते रहे।

   जंगल छोड़कर फतेह शाही ने गोरखपुर के पास तगकुट्टी में अपनी नई जमींदारी स्थापित कर ली। 1808 तक वे लगभग एक सौ गाँव के मालिक बन गए। तगकुही से वे हुसेपुर के इलाके में बराबर धावा बोलते रहे। 1772 में उन्होंने हुसेपुर पर चढ़ाई कर दी और कम्पनी के द्वारा नियुक्त राजस्व ने उनसे समझौता कर लिया और वे हुसेपुर वापस आ गए। लेकिन दो महीनों में ही समझाते की शर्तों की अवहेलना कर वे गोरखपुर में अपने छिपने के स्थान पर चले गए। हुसेपुर की उनकी जमींदारी पर अंग्रेजो ने उनके एक निकटवर्ती सम्बन्धी वसंत शाही को स्थापित कर दिया। किन्तु 1775 में फतेह शाही ने सारण पर धावा बोलकर वसंत शाही को मार डाला। उनके उपद्रव से कम्पनी का राजस्व वसूली का कार्य काफी बाधित होता था। राजस्व वसूलने वाले ठेकेदार उनके आतंक से सदा डरे रहते थे। उनके डर से वसंत शाही लगातार सफलता और लोगों में अंग्रेजों के प्रति बढ़ते असन्तोष से उत्साहित होकर फतेह शाही ने 1777 में बड़ा गाँव के सैनिक अड्डे पर चढ़ाई कर दी जो उनके विद्रोह को दबाने के लिए बनाया गया था। सैनिक अड्डे पर कब्जा करने के बाद उन्होंने हुसेपुर किले के पुनर्निमाण का कार्य शुरु किया और घोषणा की कि मालगुजारी वसूलनेका अधिकार उनका न्यायोचित अधिकार है। ठेकेदार उनके आतंक से भयभीत होकर मालगुजारी का एक चौथाई भाग उन्हें देने लगे।

   1781 में फतेह शाही गोरखपुर और सारण के अन्य जमींदारों के सहयोग से 12,000 की सेना इकट्ठी कर अंग्रेजो से भिड़ गए। इस लड़ाई में अंग्रेजों ने उन्हें हरा तो दिया, किन्तु उनके समर्थकों के खिलाफ कोई कार्रवाई नहीं कर सके, क्योंकि सारण में उनके समर्थकों की गिरफ्तारी का मतलब होता जिले के एक–एक आदमी को गिरफ्तार करना। जन साधारण में ऐसा प्रभाव था। उनका फतेह शाही को अंग्रेजों के विरुद्ध बनारस के राजा चेतसिंह से आर्थिक सहायता मिली थी। 1781 की पराजय के बाद वे सारण में चढ़ाई करने का साहस फिर नहीं जुटा पाए, किन्तु उने छोटे–मोटे छापे 1785 तक जारी रहे। उनका अन्तिम धावा 1795 में चंपारण पर हुआ। जीवन के अन्तिम दिनों में लूट–पाट छोड़कर वे फकीर हो गए हुसेपुर राज का मुख्यालय बाद में हथ्वा आ गया।

2. **देवी सिन्हा का विद्रोह (1782) :** बंगाल में नाशीपुर परिवार की स्थापना करने वाले देवी सिन्हा को ईस्ट इंडिया कम्पनी ने भूमिकर इकट्ठा करने का अधिकार रंगपुर, पुर्णिया, दीनाजपुर एवं इदरापुर क्षेत्रों में दिया था। 1773 में वारेन हेस्टिंग्स ने उसे मुर्शिदाबाद की प्रांतीय कौंसिल में सचिव नियुक्त किया। अपने अधीनस्थ क्षेत्रों से देवी सिन्हा भूमिकर के रुप में 1½ लाख रुपये एकत्र करता था। उसकी कार्यक्षमता से प्रभावित होकर उसे 1781 में इन क्षेत्रों का दीवान भी नियुक्त किया गया और उसने सफलता पूर्वक भूमिकर इकट्ठा करके कम्पनी को निश्चित समय पर सुपुर्द कर दिया। परन्तु अगले वर्ष किसानों ने वहाँ विद्रोह कर दिया। इसका तात्कालिक कारण यह था कि अधिक पैदावार होने के कारण अनाज की कीमत कम हो गई थी और स्थानीय जमींदार निर्धारित करो के साथ–साथ भी किसानो पर लाद रहे थ। इन्हीं दिन से इनके कर किसानो ने जिस विद्रोह का शुरु किया वह रंगपुर और दीनाजपुर के क्षेत्रो में फैल गया। ये शासन के [illegible]

का पता लगाने के लिए जिस ऐजेन्ट को रंगपुर भेजा उसने यह बताया कि किसानों में आक्रोश जमींदारों द्वारा लगाए गए नए करों के पीछे देवी सिन्हा का हाथ था। 1782 में किसानों के इस विद्रोह के कारणों का पता लगाने के लिए एक कमीशन नियुक्त किया गया।

किसानों के इस विद्रोह का नेतृत्त्व देजेनारायण ने किया और उसे किसानों ने नजराना भी भेंट किया। पत्रों के माध्यम से विभिन्न ताल्लुकों के किसानों को इस विद्रोह में शामिल होने के लिए न केवल आमंत्रित ही किया गया, बल्कि यह धमकी भी दी गई कि हिस्सा न लेने पर उनके घरों और फसलों को आग लगा दी जाएगी। देजेनारायण के नेतृत्त्व में जब किसान देमलाह पहुँचे तो वहाँ स्थित सेना के सामने उन्होंने यह स्पष्ट किया कि उनका उद्देश्य केवल न्याय प्राप्त करना था। सेना द्वारा उन पर गोली चलाने पर जब उनके एक साथी की मृत्यु हो गई तो उन्होंने भी दो बरकंदाजों और गौरमोहन की हत्या कर दी। देजेनारायण के बाद किन्हा सिंह ने किसानों का नेतृत्त्व किया। दीनाजपुर और रंगपुर में उनके द्वारा लुट मार और सरकारी अधिकारियों की हत्या की गई। रंगपुर में विरोध प्रकट करने वाले किसानों को अपने–अपने गाँवों में वापस लौटने के लिए कहा गया। परन्तु उनके ऐसा न करने पर रंगपुर के कलक्टर गुडलेड ने बल प्रयोग कर उन पर काबू पा लिया। रंगपुर में घटित इस किसान–विद्रोह का सबसे महत्त्वपूर्ण पहलू यह है कि इसके लिए देवी सिन्हा को दोषी माना गया और उसे सरकारी काम से हटा दिया गया। इस सारी घटना की जाँच करने के लिए वारेन हेस्टिंग्स ने एक कमीशन नियुक्त किया। परन्तु अंग्रेज अधिकारियों ने अलग–अलग विचार प्रकट किए और स्वयं देवी सिन्हा ने अपने ऊपर लगाए गए आरोपों को स्वीकार करने से इनकार कर दिया।

डी० सी० बोलगार ने अपनी पुस्तक महाराजा देवी सिन्हा और नाशीपुर राज में सरकारी दस्तावेजो, बंगाल सरकार की कार्यवाहियों के विवरण तथा नियुक्त कमीशन के ब्योरों का विस्तृत अध्ययन करके यह बताया है कि वास्तव में इस विद्रोह का दोषी देवी सिन्हा नही था। दोषी तो स्थानीय जमींदार थे जो किसानों के ऊपर अधिक–से–अधिक कर लगाने की कोशिश कर रहे थे। सरकारी अधिकारियों के विरोधाभासी विचारों में उनके पक्षपात का पता चलता है। इन दस्तावेजों से यह स्पष्ट होता है कि देवी सिन्हा अपन अधीनस्थ प्रदेशों में दीवान और सुरक्षा प्रदान करन का कार्य सफलतापूर्वक कर रहा था। जब 1782 में विद्रोह शुरु हुआ और किसानों ने रंगपुर के जमींदार कोमल उद्दिन हुसैन की हत्या कर दी, तब अंग्रेजी प्रशासन ने पिटरसन को जाँच करने के लिए भेजा। उसके समक्ष रंगपुर के जमींदारों ने देवी सिन्हा पर यह आरोप लगाया कि उसने जमींदारों से जबर्दस्ती निर्धारित भूमिकर इकट्ठा करने की कोशिश की थी और किसानों पर अनेक अनुचित कर लगाए थे। देवी सिन्हा पर यह भी आरोप लगाया कि उसने प्राप्त धनराशि में से एक बड़ा हिस्सा हड़प लिया था और जान–बूझकर जमीन कम कीमत पर बेची थी।

अपने जवाब में देवी सिन्हा ने इन आरोपों का खंडन करते हुए यह कहा कि जमींदारों ने स्वयं किसानों पर अनुचित कर लगाए थे और उन्हें इस बारे में कुछ भी पता नहीं था। देवी सिन्हा के इन विचारों को रंगपुर के कलक्टर ने सही माना। परन्तु पिटरसन ने जमींदारों के विचारों को सही मानते हुए यह निश्कर्ष निकाला कि 1782 में घटित किसान विद्रोह देवी सिन्हा के गलत कार्यों का परिणाम था। इस विवाद को सुलझाने के लिए वॉरेन हस्टिंग्स के अधीन कोंसिल ने पाँच फैसले किए। इनके आधार पर देवी सिन्हा को बन्दी बनाने और उसकी संपत्ति जब्त करने का आदेश और उसके ऊपर लगे आरोपों की जाँच करने के लिए कमीशन की नियुक्ति करने का आदेश दिया गया।

इस प्रकार अंग्रेजी सत्ता ने देवी सिनहा को दोस्ती स्वीकार किया परन्तु 1783 के बाद जाँच आयोग की कार्यवाही से अनेक महत्त्वपूर्ण तथ्य प्रकट हुए। इनके आधार पर इस आयोग ने यह निश्कर्ष निकला कि रंगपुर ने देवी सिन्हा ने किसानों का शोषण नहीं किया था और न ही उसने भूमिकर बढ़ाया था। 1787 तक देवी सिन्हा पर लगे सभी आरोपों को वापस ले लिया गया।

3. **बिशनपुर का विद्रोह (1789) :** 1769–70 में यह इलाका भी भीषण अकाल की चपेट में आ गया था और यहाँ पर कृषि उत्पादन बुरी तरह से प्रभावित हुआ था, परन्तु इस स्थिति में भी अंग्रेजी प्रशासन ने भूमिकर बढ़ा दिया जब बिशनपुर का राजा निर्धारित भूमिकर अदा करने में असमर्थ हो गया तब उसकी जागीर जब्त करने की धमकी दी गई। इसके विरोध में जब राजा ने विद्रोह किया तो स्थानीय किसान भी उसमें शामिल हो गए। वहाँ पर नियुक्त अंग्रेज कलक्टर हेसलरीज इस स्थिति पर नियंत्रण स्थापित करने में असमर्थ रहा स्थिति पर काबू पाने के लिए कीटिंग के अधीन सेना भेजी गई। परन्तु उसके पहुँचने से पहले ही किसानों ने उत्पादन के प्रमुख केन्द्रों पर हमला करके उन्हें तहस–नहस कर दिया था। इस स्थानीय विद्रोह को अंग्रेजी सेना ने सरलता से दबा दिया।

4. **पलय्यकारों का विरोध** : अठाहरवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में मैसूर के टीपू सुल्तान और मद्रास स्थित अंग्रेजी के बीच जो संघर्ष चल रहा था, उसने अंग्रेजो पक्ष के लिए यह जरुरी था कि दक्षिण भारत में अपने प्रभुत्व को स्थापित कर के

लिए वह पूर्वी घाटों में रहने वाले सेनापतियों या पलय्यकारों को भी अपने अधीन करे। इन पलय्यकारों को भी अपने अधीन करें। इन पलय्यकारों ने विजय नगर राज्य के अन्तिम वर्षों में पूर्वी घाट के जंगलों और पहाड़ी क्षेत्रों पर अपना प्रभाव बढ़ाने के बाद स्वयं को स्वतन्त्र घोषित कर लिया था। टीपू सुल्तान को हराने के साथ–साथ जब अंग्रेजों ने इस ओर ध्यान दिया तब उन्हें एक लम्बे समय तक पलय्यकारों के खिलाफ सैनिक अभियान छेड़ना पड़ा। 1799 1809 के दौरान पलय्यकारों ने भी अंग्रेजों के खिलाफ गुरिल्ला पद्धति अपनाकर संघर्ष किया। विद्रोह के प्रमुख क्षेत्र रामनाथपुरम, तिरुनेलवेल और डिंडीगल थे। विद्रोहियों का उद्देश्य जंबूद्वीप के यूरोपवासियों से अपने को मुक्त कराकर उन्हें उसी समुद्र में उन्हें स्थानीय जनता से सहायता भी मिली और अनेक क्षेत्रों में 'अभिलदारों' की सरकारें भी स्थापित हुई। परन्तु पलय्यकारों का यह प्रयास विफल ही रहा। उन्हें फ्रांसीसी सहायता की जो अपेक्षा थी वह पूरी नहीं हुई और अंग्रेजी सेना उन्हें दबाने में सफल रही।

5. **विजीराम राजे का विद्रोह (1794) :** स्थानीय परिस्थितियों का लाभ उठाते हुए अपने सौतेले भाई की सहायता से विजीराम राजे ने विजगापटनम में अपने राज्य का विस्तार किया था। उसकी निरंकुश नीतियों ने अराजकता को जन्म दिया। वह स्वयं भी अंग्रेजो को निर्धारित नजराना देने में असफल रहा। इस कारण 1794 में उसे उसकी जागीर से निकाल दिया गया और अंग्रेजो ने बारह सौ रुपये प्रतिमाह उसकी पेंशन निर्धारित कर दी। कुछ समय के लिए उसने परिस्थितियों से समझौता कर लिया परन्तु अंग्रेजों के इस फैसले के खिलाफ उसने बहुत जल्दी ही विद्रोह कर दिया। इस संघर्ष में उसकी अपने तीन सौ अनुयायियों के साथ मृत्यु हो गई। उसके पुत्र ने इस विद्रोह को जारी रखा परन्तु सर चार्ल्स ओकरलो ने नारायण राजे के साथ समझौता कर लिया और उसे छह लाख पेशकश पर जमींदारी वापस सौंप दी।

6. **पारचे राजे का विद्रोह (1796–1805) :** मालाबार पर अपना नियंत्रण स्थापित करने के बाद अंग्रेजों ने भूमिकर एकत्र करने का अधिकार स्थानीय प्रमुखों को सौंप दिया। उत्तरी मालाबार में कुरुमबरनाड के राजा को यह अधिकार दिया गया, परन्तु उसके भतीजे ने इसे स्वीकार नहीं किया। उसकी यह धारणा थी कि भूमिकर इकट्ठा करने का अधिकार उसे मिलना चाहिए था इस आधार पर उसने बगावत कर दी। बम्बई के गर्वनर सर जोनाथन डंकन ने पहले किए गए समझौते को रद्द कर दिया और पारचे राजे के साथ नया समझौता करते हुए उसे प्रतिवर्ष पेंशन देने का आ वासन दिया। परन्तु अंग्रेजों का यह प्रयास विफल रहा। उसके द्वारा निर्धारित भूमिकर व्यवस्था ने असन्तोश को और भी बढ़ा दिया। पारचे राजे ने 1800 म अंग्रेजों के खिलाफ विद्रोह कर दिया। इसे 1805 तक ही दबाया जा सका। पारचे राजे की इस विद्रोह में मृत्यु हो गई।

7. **फकीरों और सन्यासियों का विद्रोह (1763–1800) :** बंगाल और बिहार में 1763 के बाद फकीरों और सन्यासियों में अंग्रेजी प्रशासन और अधिपत्य को लगातार चुनौती देते हुए लूट–मार की। सरकारी दस्तावजों शामिल व्यक्तियों को डकैत कहा गया है। अनेक अंग्रेज कलक्टरों ने अपने अववरणों में उन्हें भ्रमणशील लुटेरों की संज्ञा दी और यह कहा कि धर्म की आड में ये जन साधारण को लूटक उनकी हत्याएँ कर देते थे।

अपनी पुस्तक 'सन्यासी विद्रोह' में इतिहासकार ए० एन० चंदर ने इन विद्राहों का विस्तृत अध्ययन करते हुए अनेक महत्त्वपूर्ण तथ्य प्रकाशित किए है। उन्होंने देविस्तान सियार–उल–मुताखिरीन और फारसी संन्थों का अध्ययन करके यह बताया है कि फकीर मदारी और बरहाना जातियों के थे जो मुगलकाल में ही बंगाल और बिहार के अनेक हिस्सो में बस गए थे। कृषि करने के साथ–साथ फकीर नियमित रुप से धार्मिक यात्राएँ भी थे। 1769 के अकाल के बाद इनके साथ अनेक गरीब किसान भी शामिल हो गए थे।

इतिहासकार चन्दर ने इनके विद्रोहों को इन सात चरणों में विभाजित किया है : 1763–69, 1770–72, 1773–74, 1775–80, 1781–86, 1787–92, और 1793–800 1760 में इन फकीरों और सन्यासियों ने वर्धमान के राजा को अंग्रेजों के खिलाफ सहायता दी थी। 1763 में इन्हें बड़ी संख्या में बेकरगंज के इलाके में देखा गया और इनमें से अनेको को बन्दी बना लिया गया। 20 अप्रैल 1767 को पटना स्थित अंग्रेज फैक्टरी के मलिक थॉमस रमबोल्ड ने अपने पत्र में प्रवर समिति के अध्यक्ष को यह सूचित किया कि 5000 के करीब संन्यासी सारण इलाके में प्रवेश कर चुके थे। इन्हें दबाने के लिए सेना भेजी गई। सेना से मुठभेड में अनेक फकीरों की मृत्यु हो गई 1769–70 में जब बंगाल अकाल की चपेट में आया तब असख्य व्यक्ति गरीबी और भुखमरी के शिकार हो गए। उन दिनों मदारी समुदाय का मुखिया मजनूशॉह लगातार दीनाजपुर क्षेत्रों का भ्रमण कर रहा था। 1771 में उसे और उसके साथियों को कैप्टन जैम्स रेनल ने हराया परन्तु अप्रैल के महीने में अपने रंगपुर में प्रवेश कर लिया। शीत ऋतु के आगमन तक रंगपुर का सुपरवाइजर यह सूचना प्राप्त कर चुका था कि उसके इलाके में फकीर काफी अधिक संख्या में प्रवेश कर चुके थे और वे ढाका, किशनगंज, वर्धमान जैसे अंग्रेजी इलाकों में लूट–मार कर रहे थे। 1792 में मजनूशॉह और उसके साथियों ने नटौर के इलाके में लूट–मार की और उनकी गतिविधियाँ दीनाजपुर रंगपुर और मालदा में व्यापक स्तर पर फैल गई। पुर्णिया के सुपरवाइजर ने कोषी नदी और आस–पास के घाटों पर सेना नियुक्त कर दी। 1773 में इसी मार्ग में फकीरों ने प्रवेश करने की चेष्टा की कैप्टन ब्रुक के नेतृत्व में अंग्रेजी सेना ने उन्हें जो कार्यवाही की उसके परिणामों के बारे में सरकारी दस्तावेजों में कुछ भी कहा नहीं गया है।

फकीरों और सन्यासियों की लूट–मार की ये गतिविधियाँ चलती रही और अंग्रेजी प्रशासन को लम्बे समय तक कोई सफलता प्राप्त नही हुई।

8. **कोल विद्रोह (1831 – 32) :** अंग्रेजी प्रशासनिक जटिलताओं कठोर भूमिकर व्यवस्था तथा स्थानीय शासकीय वर्गों के अपेक्षापूर्णव्यवहार ने जिस शोषण को जन्म दिया था, उसक खिलाफ जब कोल आदिवासियों ने विद्रोह किया तो उनहोंने हिंसा का व्यापक स्तर पर इस्तेमाल किया। उस समय कलकत्ता स्थित कौंमिल के अध्यक्ष मेटकॉफ ने यह स्वीकार किया कि इस विद्रोह में अंग्रेज विरोधी भावना बहुत स्पष्ट थी। इस कोल विद्रोह के दमन के लिए नियुक्त अंग्रेज अधिकारियों विलकिन्सन और डेन्ट ने अपनी रिपोर्टों में इस विद्रोह के कारणों का विश्लेषण करते हुए यह स्पष्ट किया कि उस इलाके में जमींदारों और ठेकेदारों ने भूमिकर उठ प्रतिशत बढा दिया था। वहाँ पर महाजन बहुत अधिक ब्याज वसूल करते थे। स्थानीय निवासियों ने अंग्रेजों द्वारा लागू भूमिकर व्यवस्था को कभी भी स्वीकार नहीं किया और उसके खिलाफ विद्यमान असन्तोश तब और भी बढ गया जब 1831 में सोनपुर में सिन्हारी मान्की के 12 गाँवों को बाहरी लोगों को दे दिया गया और उसकी बहनों के साथ दुर्व्यवहार किया गया। इसी समय एक और खबर फैली कि सिंहभूमि में मुंडा स्त्री का अपहरण करके उसके साथ दुर्व्यवहार किया गया था।

इस अन्याय के खिलाफ सोनपुर तमार और नौडगाँव के कोल आदिवासियों को तमार में इकट्ठा होने के लिए कहा गया। वहाँ पर यह फैसला किया गया कि कोल स्वयं पर किए गए अपमान और अत्याचार के प्रतिरोध में तुरंत जलाने, लूटने और कत्ल जैसी कार्य वाहियाँ पुरुष कर देंगे। इस प्रकार जो कोल विद्रोह शुरु हुआ वह छोटा नागपुर, सिंहभूम और पलामू के इलाको में फैल गया। 12 फरवरी 1832 को विशेष कमीश्नर ने अपने रिपोर्ट में यह स्वीकार किया कि हिंसा और लूट–मार में लिप्त मुंडा आदिवासी यह विश्वास कर रहे थे कि ऐसा करने से वह अपने कष्ट दूर कर लेंगे। अंग्रेजों द्वारा इस विद्रोह को दबाने के लिए अंग्रेज तुरन्त सेना का इंतजाम नहीं कर पाए। फरवरी 1832 में बिलकिन्सन के अधीन इस विद्रोह को दबाने के लिए सेना भेजी गई किन्तु तब तक नारायण राव के अधीन यह विद्रोह मानभूम और सिंहभूम में फैल चुका था और 1833 तक इसे दबाया नही जा सका।

9. **भूमीज विद्रोह (1832–33) :** गंगानारायण सिंह के नेतृत्त्व में यह विद्रोह वीरभूम और जंगलमहाल में 26 अप्रैल 1832 को शुरु हुआ। इसके पीछे प्रमुख कारण अंग्रेजी द्वारा स्थापित घाट वाली पुलिस व्यवस्था थी। इसके अंतर्गत स्थानीय जमींदारों को भमिकर एकत्र करने के साथ–साथ प्रशासनिक कार्य भी सौंपे गये थे। अपने अधिकारों में वृद्धि करते हुए ये जमींदार किसानों का शोषण कर रहे थे। विद्रोह की शुरुआत वीरभूम के जमींदार माद्यवराव की हत्या से हुई। पहली मई 1832 को गंगानारायण सिंह ने अपने साथियों के साथ स्थानीय मुंसिफ की कचहरी पर हमला कर दिया और स्थानीय बाजार को लूट लिया। उसे चुआर आदिवासियों का समर्थन भी प्राप्त हुआ। जंगल महाल का मजिस्ट्रेट और कलक्टर रसेल इस विद्रोह को दबाने की स्थिति में नहीं था। विद्रोहियों ने 14 मई को उसके कैंप को भी घेर लिया। इस स्थिति का वर्णन करते हुए इंडिया गजट ने 19 मई 1852 में लिखा कि गंगानारायण और उसके साथी नगाड़े बजाते हुए कैंप की ओर बढ़े। उन के पास भाले, तलवारे,, तीर,–कमान और दूसरे हथियार थे। अंग्रेज सैनिकों और विद्रोहियों के बीच हुई मुठभेड़ में अनेक विद्रोही घायल हो गए परन्तु उन्होंने भी लेफ्टिनेट मैक्डोनल्ड को घायल कर दिया।

इसी बीच गंगानारायण सिंह ने दूसरे जमींदारों के साथ सम्बन्ध स्थापित किया। रसेल ने यह घोषणा की कि विद्रोह से पीछे हटने वाले घाट वालो को माफ कर दिया जाएगा, परन्तु इस अपील का कोई लाभ नहीं हुआ। स्थिति पर काबू पाने के लिए मार्टिन के अधीन सेना भेजी गई जिसने अनेक गाँवों को नष्ट कर दिया। परन्तु गंगानारायण सिंह का गाँव बच गया। अंग्रेजों की इस असफलता ने विद्रोह का न केवल प्रसार ही किया, परन्तु चुआर आदिवासियों में यह विश्वास पैदा होने लगा कि गंगानारायण सिंह को देवी काली का संरक्षण प्राप्त है और को दबाने में सफलता प्राप्त की तब पश्चिमी जंगल महाल में रघुनाथ सिंह ने यह विद्रोह प्रारम्भ किया, परन्तु वह अपने प्रयासों में विशेष सफलता प्राप्त नहीं कर पाया।

10. **मोपला विद्रोह :** इस विद्रोह की शुरुआत 1836 के बाद मालाबार क्षेत्र में हुई और इसके अन्तर्गत अनेक विद्रोह हुए जो बीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक तक जारी रहे। इस विद्रोह की मूलभूत विशेषता यह थी कि शोषकों और शोषितों के ध्रुवीकरण में अन्तर था। हिन्दू महाजनों और जमींदारों की हत्या की गई और मुसलिम धार्मिक व्यक्तियों के प्रभाव में आकर इस कार्य को सही माना गया। अंग्रेजी प्रशासन ने मालाबार में स्थायी बंदोबस्त लागू किया था। इसके परिणामस्वरुप हिन्दू जमींदारों के भूमि–सम्बन्धी अधिकार बहुत बढ़ गए थे और उन्होंने अपने इच्छानुसार मोपला किसानों को भूमि से बेदखल करना शुरु कर दिया था। इस्लाम को मानने वाले मोपलों ने जब शोषण के खिलाफ आवाज उठाई तब उनकी मान्यताओं पर मुसलिम धार्मिक नेताओं का प्रभाव बहुत बढ़ चुका था। उदाहरण के लिए यह माना गया कि भूमि से बेदखल करने वाले जेन्मी की हत्या इस्लाम धर्म के अनुसार सही थी और ऐसा करने वाले को जन्नत नसीब होगी। मोपला किसान विशेष रूप से सैयद अली और उसके पुत्र सैयद फजल के विचारो से बहुत प्रभावित हुए थे।

मोपला विद्रोह 1836–40 के बीच बहुत व्यापक हो गया। इस काल के दौरान 16 बार जेन्मिणो पर हमले किए गए और [illegible] हत्याएँ की गई। इन हमलों में हिस्सा लेने वाले किसान अपने मालिकों की हत्या करने का प्रण लेते थे। अपनी [illegible] से तलाक लेकर वे सफेद वस्त्र पहन लेते थे। हत्या करने के बाद उन्होंने स्वयं को बचाने का कभी भी प्रयास नहीं किया। पुलिस का सामना करते हुए वे सहर्श ही मृत्यु को स्वीकार कर लेते थे।

11. **संथाल विद्रोह** : 1855–1857 के बीच शुरु होने वाला संथाल विद्रोह अंग्रेजी शासन के खिलाफ महत्त्वपूर्ण जन विद्रोह था। इसमें नेतृत्त्व और संगठन को एक सुव्यवस्थित स्तर पर देखा जा सकता है। संथाल विद्रोह वीरभूम, बाकुश, सिंहभूम हजारीबाग, भागलपुर ओ मुंगेर के इलाकों में फैला। इस विद्रोह का विवरण व्हीलर, हंटर, लीवार्नर जैसे अनेक अंग्रेज अधिकारियों ने दिया है। संथाल विद्रोह के दो महत्त्वपूर्ण स्रोत उस समय पटना स्थित वकील दिगंबर चक्रवर्ती के और छोटरे दसमन्जी कथा के वृतांत है। संथाल विद्रोह का मूल कारण अंग्रेजी उपनिवेशवाद और उसमें निहित शोषण था। ई० जी० अपनिवेशवाद और उसमें निहित शोषण था। ई० जी० मैने ने 1867 में इसके कारणो का विश्लेषण किया। उन्होने इसके के महाजनों के बढ़ते हुए शोषण, उधार की समस्या, पुलिस के भ्रष्टाचार, संथालों की गरीबी और अंग्रेजी अदालतो से सही न्याय न मिलने को दोषी माना। इतिहासकार के के० दत्त के अनुसार इन कारणो के अतिरिक्त दो अन्य कारण भी संथाल विद्रोह के पीछे थे। अग्रेंजी प्रशासक स्थानीय समस्याओं से अपरिचित था तथा दरोगा, थाना, पुलिस और अन्य कर्मचारियो तक ही सीमित था। इस स्थिति का लाभ संथालो ने उठाया और एक व्यापक विद्रोह का सूत्रपात किया।

इस विद्रोह का नेतृत्त्व दो भाइयों सिंधू और कान्हू ने किया। उन्होंने घोषणा की कि स्वयं ईश्वर ने उन्हें इस कार्य के लिए चुना है और स्वर्ग से उन्हें संदेश भी प्राप्त हुए है। उनके अनुसार संथाल देवता ने उन्हें सात दिन तक विभिन्न रुपा मे जैसे वेत मध्य चाकू एवं साल तने के रुप में दर्शन दिए। सिंधू और कान्हू ने यह भी कहा कि उन्हें स्वर्ग से लिखित सदेश और पुस्तकें भी मिली थी। इन संदेशों को गुप्त रुप से विभिन्न स्थानों पर भोजा गया। होने की आशा बँधने लगी। प्रारम्भ मे उन्हें विश्वास था कि अंग्रेजी प्रशासन उनकी समस्याओं को स्वतः अधिकारियों के समक्ष यह घोषणा की कि उनके देवताओ ने उन्हें और अधिक इन्तजार करने से मना किया है। संथालों ने स्थानीय कमी नर के सामने भी अपनी निराश होने के बाद उन्होंने स्वयं ही कार्यवाही करने का फैसला किया।

छोटरे दसमन्जी में संथाल विद्रोह शुरु होने के पहले ककी तैयारी का विवरण देते हुए यह बताया गया हे कि प्रत्येक गांव में सिंधू और कान्हू की तरफ से एक पतल धूप में सुखाए गए चावल, तेल और हल्दी भेजी गई इस के साथ यह संदेश भी दिया गया कि इसका प्रयोग करने से संथालों की आत्म शक्ति का विकास होगा ओर उन्हें संघर्ष करने की प्रेरणा मिलेगी। इस दौरान अनेक एक ओर घरों की सफाई पर बल दिया गया वही दूसरी और अनेक स्त्रियों को चुडैल घोषित करके उनकी हत्या भी की गई।

विद्रोह की शुरुआत 30 जून 1855 को हुई। यह घोषणा की गई कि सिंधू और कान्हू को सूबा ठाकुर की पूजा और संथालो का नेतृत्त्व करने का आदेश मिला था। प्रत्येक घर से एक व्यक्ति को इस विद्रोह में शामिल होने का निमंत्रण देते हुए 'डिक शासन' को समाप्त करके स्वशासन शुरु करने की घोषणा भी की गई। छोटरे दसमंजी के विवरण से यह पता चलता है कि इन आदेशों का पालन न करने वालो की हत्या करने का आदेश दिया गया था।

विद्रोह के शुरु होते ही संथालों ने इकट्ठा होकर कलकत्ता जाने का निश्चय किया। जब उनके पास का धन और भोजन समाप्त हो गया तो उन्होंने लूट–मार शुरु कर दी। इस स्थिति से भयभीत महाजनों ने जब पुलिस की सहायता से सिधू और कान्हू को गिरफ्तार करवाने का प्रयास किया, तब उन्होंने मानिक मुंडी, दारोगा और पाँच व्यक्तियों की हत्या कर दी।

इस विद्रोह की सूचना भागलपुर में कार्यरत मजिस्ट्रेट को 4 जुलाई 1855 को मिली। 9 जुलाई तक अंग्रेज अधिकारियों ने इस विद्रोह के उग्र रुप को पाकुर व वल्लभपुर में फैल चुका था। इन इलाकों में संथालों ने धनी व्यक्तियों की हत्यारो की और उन्हें लूटा भी। अनेक यूरोपीय व्यक्तियों को भी इसी स्थिति का सामना करना पड़ा।

स्थिति पर काबू पाने के लिए अंग्रेजी प्रशासन की सहायता के लिए सेना बुलाई गई। प्रशासन ने यह भी घोषणा की कि माफी माँगने वाले संथालों को धन भी दिया जाएगा। परन्तु इस अपील पर ध्यान नहीं दिया गया। भागलपुर के कमी नर ब्राउन और मेजर जनरल लॉयड ने क्रूरतापूर्वक संथाल विद्रोह का दमन किया।

12. **वहाबी विद्रोह (1831)** : टीटू मीर द्वारा शुरु किए गए इस विद्रोह में सहस्राब्दिक आन्दोलनों के अनेक लक्षण देख [illegible] टीटू मीर का वास्तविक नाम मीर निसार डाली था। वे धार्मिक विचारों के व्यक्ति थे। मक्का में वह प्रसिद्ध वहावी प्रचारक सैयद अहमद के संपर्क में थे। भारत वापस लौटने के बाद उन्होंने धर्म प्रसार का कार्य प्रारम्भ कर दिया और शीघ्र ही उनके [illegible] अनुयायी बन गए। उनके अनुयायी अधिकांश मुस्लिम किसान और जुलाहे थे। आगामी वे संघर्ष वैचित्रिक के रूप

समुदाय के धार्मिक विचारों का वर्णन करते हुए यह लिखा किये सभी सैयद अहमद के विचारों से प्रभावित थे ओर इनका उद्देश्य अंधविश्वासी मान्याताओं को त्यागते हुए इस्लाम धर्म के मूल रुप को पूजना था। यह दूसरे मुसलमानों से अलग–थलग रहते थे और केवल आपस में ही खाने–पीने का सम्बन्ध रखते थे। टीटू मीर ने अपने इलाके में रहने वाले फकीरों को भी प्रभावित किया था। उन्होंने फकीरों की सहायता से मुसलिम बुनकरों और रैयतो को अपने समुदाय में शामिल करना शुरु कर दिया। इन व्यक्तियों में असन्तोश का कारण आर्थिक था। हिन्दू जमींदारों ने उन पर भूमिकर के आलावा अनेक कर लागू किए थे। इनमें से एक कर दाढ़ी पर लगाया जाता था। सरकारी रिपोर्टों में यह बताया गया कि टीटू मीर के अनुयायी अपनी लम्बी दाढ़ियों से पहचाने जाते थे। ऐसी स्थिति में जब उन पर कर लगाया गया तो उनमें असन्तोश बहुत बाद गया।

विद्रोह की शुरुआत 1831 में हुई। 27 जून 1831 को बरासाट के संयुक्त मैजिस्ट्रेट को यह सूचना मिली कि पूखा के जमींदार किशन देव राय ने दाढ़ी रखने वाले रैयतों पर कर लगा दिया था। जब रैयतों ने इसका विरोध किया, तब उसने अपने साथियों की सहायता से एक मस्जिद को आग लगा दी। इसके बाद उसने बसीरहट थान के दरोगा के साथ साँठ–गाँठ भी की। उसने वास्तविकता को छुपाते हुए यह कहा कि किसानों ने स्वयं मस्जिद को आग लगाई थी और टीटू मीर तथा गुलाम मासूम ने डकैती की थी। बरासाट के मैजिस्ट्रेट के समक्ष रैयतों ने अपने पक्ष को रखा, परंतु उसने कुछ नहीं किया और अपने न्यायालय में दायर केस को रद्द कर दिया। जमींदारों ने किसानों को मारा–पीटा और जबर्दस्ती कर भी वसूल किया। न्याय प्राप्त करने के लिए किसान कलकत्ता भी गए, परन्तु कमीश्नर की अनुपस्थिति ने उन्हें और भी निराशा और उत्तेजित कर दिया। तब उन्होंने स्वयं कार्यवाही करने का फैसला किया।

टीटू मीर और उसके साथियों ने पूखा जमींदार पर हमला किया। उन्होंने पूखा गाँव में गाय की हत्या करके उसके रक्त से मनिदर को अपवित्र किया। इसके बाद उन्होंने लूट और तबाही मचा दी। मुठभेड़ो में उन्होंने बरासाट के मैजिस्ट्रेट को भी हराया और अनेक नील फैक्टरियों पर हमले किए। नाडिया के मैजिस्ट्रेट ने यह स्वीकार किया कि टीटू मीर और उसके अनुयायी कत्लेआम करने में निपुण थे और एक मुठभेड़ में वह स्वयं भी बहुत कठिनाई से बच पाया था। सरकारी फौजों ने इस विद्रोह का दमन हिंसात्मक ढंग से ही किया। गोलीबारी में ही टीटू मीर की मृत्यु हो गई। उसके अनुयायियों पर अलीपुर कोर्ट में मुकद्दमें चलाए गए और उन्हें सजा दी गई।

13. **फैराजी विद्रोह** : फैराजी आन्दोलन का सूत्रपात शरीयतुल्ला ने बंगाल के ढाका और फरीदपुर जिलों में किया था। भूमिकर व्यवस्था से शोषित मुसलिम किसानों को उन्होंने प्रभावित किया और नए धार्मिक विचार प्रतिपादित किए जो कुरान पर आधारित थे। शरीयतुल्ला की मृत्यु के बाद, उनके पुत्र दादू मियाँ ने फैराजी आन्दोलन का और अधिक विस्तार किया। अपने आदेशों और बयानों में उन्होंने मक्का की यात्रा पर बल दिया। उनके अनुसार जमींदार मुसलिम सरकार को इस स्थिति में हस्तक्षेप करना चाहिए था। दादू मियाँ के विचारों से असंख्य किसान प्रभावित होकर उनके अनुयायी बन गए। समय के साथ इनका संगठन और आत्मविश्वास इतना बढ गया कि इन्होंने जमींदारों को अधिक कर देने से इनकार कर दिया और अपने हाजी संप्रदाय का विकास किया।

विद्रोह की शुरुआत 7 अप्रैल 1839 को हुई। सात से आठ हजार के बीच एकत्रित हाजियो ने दादूमियाँ को अपना नेता स्वीकार किया और स्थानीय पुलिस थाने पर हमला करते हुए प्रशासन को अस्त–व्यस्त कर दिया। उनकी गतिविधियों पर काबू पाने के लिए नील की खेती करने वाले जमींदारों और नील फैक्टरी के मालिक डनलप ने पुलिस का सहारा लिया और दादू मियाँ के गाँवों को लूट लिया। इसके प्रतिशोध में उन्होंने नील फैक्टरी पर हमला करके उसके गुमाते की हत्या कर दी और जमींदार को लूट लिया। इस जुर्म के आधार पर दादू मियाँ को बंदी बनाया गया और उन्हें सजा दी गई।

इस प्रकार अंग्रेजी शासन के दौरान जो जन विद्रोह हुए उन्होंने न केवल विदेशी सत्ता को चुनौती दी, बल्कि अपनी आर्थिक समस्याओं को भी शासन के समक्ष रखा। अधिकांश विद्रोहों को सरलतापूर्वक दबा दिया गया और ये केवल थोड़े ही समय तक चले। परन्तु इन जन विद्रोहों के माध्यम से किसानों और आदिवासियों ने यह सिद्ध कर दिया कि वे अपने ऊपर किए जाने वाले शोषण को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थे और उनके अस्तित्त्व को नकारा नहीं जा सकता था। अपनी स्थिति और सत्ता को नकारा नहीं जा सकता था। अपनी स्थिति और सत्ता को मजबूत करने के लिए अंग्रेजी प्रशासन को इनकी समस्याओं की ओर ध्यान देना पड़ा। समय के साथ ये जन विद्रोह और भी प्रबल हो गए।

(b) 1857 का विद्रोह (The Revolt of 1857)

ईस्ट इण्डिया कम्पनी के भारत में दो प्रमुख कार्य थे, सम्राज्य बढ़ाना और व्यापारिक शोषण। अंग्रेज की धनलोलुपता की कोई सीमा नहीं थी। इस समस्त शोषण नीति के संचित प्रभाव से भारत में सभी वर्गों, रियासतों के राजाओं, सैनिकों जमीदारों, कृषकों व्यापारियों ब्राह्मणों तथा मौलवियों, केवल नगरों में पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त वर्ग जो अपनी जीविका के लिए कम्पनी पर निर्भर थे उनका छोड़कर शेष सभी पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा था, जैसा कि लखनऊ की घोषणा में कहा गया था कि अंग्रेजों के कारण हिन्दू और मुसलमान दोनों के प्रिय चार प्रमुख तत्त्वों–धर्म, मान, जीवन तथा सम्पत्ति–सभी को भय उत्पन्न हो गया था। भारतीयों का शेष समय–समय पर भारत के भिन्न–भिन्न भागों मे सैनिक विद्रोह अथवा परिद्रोहों (Insurrections) के रुप में प्रकट होता रहा था। इनमे से कुछ इस प्रकार थे। वैल्लौर में 1806 में, बेरकपुर में 1824 में, फिरोजपुर मे फरवरी 1842 मे 34वी रेजिमेंट का विद्रोह, 1849 म सातवी बंगाल कैवेलरी और 64 वीं रेजीमेंट और 22वीं रेजीमेंट N.I का विद्रोह, 1850 में 66 वीं N. I. का विद्रोह और 1852 में 38वीं N. I. का विद्रोह इत्यादि। इसी प्रकार 1816 में बरेली में उपद्रव हुए 1831-33 का कोल विद्रोह, 1848 में कांगड़ा, जसवार और दातारपुर के राजाओं का विद्रोह, 1855–56 में संथालों का विद्रोह, ये सब अनेक राजनैतिक आर्थिक और प्रशासनिक कारणों से हुए थे। धीर–धीरे सुलगती हुई अग्नि 1857 में धधक उठी और अंग्रेजी साम्राज्य की जड़ों तक को हिला दिया।

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में यूरेशिया महाद्वीप के विभिन्न भागों में बहुत व्यापक स्तर पर विप्लव हुए। इनमें मध्य यूरोप की 1848 की क्रान्तियाँ चीन में तायपिंग विद्रोह और उत्तरी भारत में 1857–58 का विद्रोह शामिल किए जा सकते है। इनमे कोई राजनीतिक अथवा परिस्थिति की सम्बन्ध दिखाई नहीं देता। फिर भी इनके स्वरुप, फैलाव और परिणामों में काफी समानताएँ दखने में आती है। ये सभी एक व्यापक लहर के रुप में उभरे तथा इनमं जनता के एक बड़े भाग ने हिस्सा लिया। कुछ समय केलिए इन्होंने अपने'–अपने क्षेत्रों में सरकारों को हिलाकर रख दिया। इतिहासकार इनमें से किसी के भी मान्य कारण नहीं दे पाए है। ये सभी विद्रोह तत्कालीन उद्देश्यों को प्राप्त करने में असफल रहे और सरकारें शीघ्र ही इन विद्रोहों को दबाने में सफल हो गई। फिर भी इन विद्रोहों को अपने–अपने देशों के इतिहास में निर्णायक मोड़ माना गया है। इन सभी विद्रोहों ने जन मानस पर अमिट छाप छोड़ी। सभी जगह आने वाली पीढ़ियों ने इस समय की घटनाओं से प्रेरणा ग्रहण की। इन विद्रोहों से इन देशों के शासक वर्ग की चेतना में निचले तबको द्वारा हिंसा का डर घर कर गया।

भारत में महाविद्रोह का प्रारम्भ 10 मई 1857 को हुआ जब मेरठ में सैनिकों ने चर्बी वाले कारतूसों के प्रश्न पर अपने ब्रिटिश अफसरों को मार डाला, अपने साथियों को रिहा करवाया और दिल्ली की तरफ बढ़ निकले। दिल्ली पहुँचकर उन्होंने मुगल सम्राट बहादुरशाह को, जिनके पास मुगलों सम्राट बहादुरशाह को, जिनके पास मुगलों का नाम व गद्दी तो थी परन्तु सत्ता नहीं थी, नेतृत्त्व प्रदान करने के लिए राजी कर लिया। शीघ्र ही बिजली की गीत से एक बहुत बड़े क्षेत्र में विद्रोह होने लगे। हरियाणा से पश्चिमी बिहार तक सारा क्षेत्र इसकी लपेट में आ गया और भारत के अन्य भागों में भी स्थान-स्थान पर विद्रोह हुए। यह कहा जा सकता है कि यह विद्रोह सम्पूर्ण भारत में नही फैला। परन्तु भारत जैसे विस्तृत देश का यह चौथाई से कम भाग भी पश्चिमी यूरोप के किन्हीं भी दो देशों से क्षेत्रफल व जनसंख्या में अधिक था। किसानों व जमींदारों ने भी सैनिकों के साथ-साथ इस विद्रोह में बढ-चढकर भाग लिया। इस महाविद्रोह की विशेषता थी गहन सरकार विरोधी भावना की सक्रिय अभिव्यक्ति। स्थान-स्थान पर अंग्रेजी राज के चिन्ह तक मिटा देने का प्रयास किया गया। अंग्रेजों को भी लगने लगा कि भारत उनके हाथ से निकलता जा रहा है। स्वयं गर्वनर जनरल कैनिंग पुनर्विजय की बात करने लगे। परन्तु डेढ़ साल के भीतर ही जिस गति से यह फैला था उसी गति से सरकार इसे दबाने में सफल भी हो गई। सन् 1860 तक शासक व शासित दोनों ही अपने–अपने कार्यों में जुट गए। परन्तु इस विद्रोह की याद कभी मिटी नहीं। इसके बाद अंग्रेज इस तथ्य के प्रति पूर्ण रुप से सजग रहे कि वे भारत पर शासन भारतीयों की इच्छा से नहीं बल्कि जबर्दस्ती बनाए हुए है। दूसरी और भारतीय इस समय दर्शाई गई वीरता और बलिदान की भावनाओं को नहीं भूले।

इतिहास-लेखन : 1857–58 की घटनाओं व अनुभवों ने अंग्रेजों व भारतीयों दोनों को ही हिला कर रख दिया। इस विद्रोह के सम्बन्ध में भिन्न भिन्न प्रश्न उठने लगे। समाज के किस–किस वर्ग ने विद्रोह किया ? क्या यह मात्र सैनिक विद्रोह था ? विद्रोही थे क्या थे ? इस कदर सरकार–विरोधी भावना क्यों पैदा हुई? विद्रोहियों के नेता कौन थे? क्या यह किसी षडयन्त्र का परिणाम था ? इसे इतनी जल्दी कैसे दबा दिया गया ?

विद्रोह के तुरन्त बाद सरकारी तौर पर केवल यह स्वीकार किया गया कि बंगाल नेटिव आर्मी ने ही विद्रोह किया जिससे शासन व्यवस्था बिगड गई। आम जनता ने इस स्थिति का लाभ उठाया जिससे दंगे–फसाद हुए। परन्तु इगलैंड में भी तत्कालीन सदस्यता [illegible]

ने यह तर्क दिया कि इतने विस्तृत विद्रोह को केवल सैनिक विद्रोह नहीं माना जा सकता और यह प्रश्न उठाया कि भारत में कहीं वे एक राष्ट्रीय विद्रोह का सामना तो नहीं कर रहे थे ?

इतिहासकारों में भी 1857–58 की घटनाएँ तीखे विवाद का विषय रही है। वास्तव में जितना साहित्य इन घटनाओं पर लिखा गया है उतना शायद भारत के इतिहास की किसी अन्य घटना पर नहीं लिखा गया होगा। उन्नीसवीं शताब्दी में मुख्यत: अंग्रेज लेखकों न इस विषय पर लिखा। इनमें से जॉन के, मैलीसन, लॉरेंस तथा राइरा होम्स के नाम प्रसिद्ध हुए। इतिहास लेखन के इस कार्य के पीछे इन लेखकों का उद्देश्य निष्पक्ष राय देना नहीं, बल्कि यह सिद्ध करना था कि इस विशाल क्षेत्र पर फैले विद्रोह का मूल कारण भारत सरकार की नीतियों में किसी प्रकार की मूलभूत कमियाँ या अंग्रेज यह विद्रोह शासन में कुछ त्रुटियों के परिणामस्वरुप हुआ जिन्हें दूर करने से साम्राज्य की जड़े काफी मजबूत हो सकती थीं। उन्होंने मुख्यत: सैनिक कारणों पर ही प्रकाश डाला। इसी कारण इसे 'सैनिक विद्रोह' अर्थात् म्यूटिनी कहा जाने लगा। इन लेखकों ने असैनिक जनता के योगदान की या तो अपेक्षा की या इसे कुछ स्वार्थी लोगों की स्वार्थपरायणता का परिणाम मानकर महत्त्वहीन समझा।

ब्रिटिश सरकार के दमन के डर से भारतीय लेखकों ने इस विषय में कुछ जानकारी मुकद्दमों के दौरान दी गई गवाही से मिलती है। सैयद अहमद खाँ, जिन्होंने विद्रोह के तुरन्त बाद लिखा, तथा विनायक दामोदर सवरकर, जिन्होंने बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में लिखा पहले दो भारतीय थे जिन्होंने इस विषय पर अपने विचार प्रकट किए। सावरकर ने इस संघर्ष को भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम के रुप में देखा। परन्तु उनका उद्देश्य विद्रोह का इतिहास लिखना नहीं बल्कि उस समय के कारनामों पर प्रकाश डालकर अपने देशवासियों में राष्ट्रीयता तथा देश के लिए बलिदान की भावना जागृत करना था। इस पुस्तिका का प्रभाव इतना जबर्दस्त था कि ब्रिटिश काल के अन्त तक यह निषिद्ध रही।

1957 में इस विद्रोह की शताब्दी के अवसर पर कई पुस्तके प्रकाशित हुई। इनमें सुरेन्द्रनाथ सेन रमेशचन्द्र मजूमदार शशि भूषण चौधरी तथा पूरनचन्द जोशी की पुस्तकें अधिक महत्त्वपूर्ण है। इन सभी में विद्रोह के स्वरुप पर अधिक ध्यान दिया गया है और सभी इतिहासकार मुख्यत: इस प्रश्न पर विचार करते रहे है कि इसे सैनिक विद्रोह माना जाना चाहिए या स्वतन्त्रता के लिए युद्ध या सामन्तों का विद्रोह। सेन की पुस्तक में, जो भारत सरकार के कहने पर लिखी गई इन घटनाओं का काफी संतुलित विवरण मिलता है। इस पुस्तक में सेन यह तर्क देते है यद्यपि इसे "राष्ट्रीय संग्राम" नहीं कहा जा सकता, पर इसे सैनिक विद्रोह की संज्ञा देना भी गलत होगा, क्योंकि यह कहीं भी केवल सैनिकों तक सीमित नहीं रहा। अवध में यह एक जनांदोलन बन गया था जहाँ के देशभक्तों ने अपने राजा तथा राज्य के लिए संघर्ष किया। इसके बावजूद सेन अवध के विद्रोहियों को स्वतन्त्रता संघर्ष का अग्रणी नहीं मानते, क्योंकि वे राष्ट्रीय तथा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की भावना से पूर्णत: रमेश चन्द्र मजूमदार को 1857–58 के विद्रोह का इतिहास लिखने के लिए नियुक्त किया था। परन्तु सरकारी समिति से अनबन होने के कारण उन्होंने यह कार्य करने से इनकार कर दिया तथा स्वतन्त्र रुप से अपनी क्रमबद्ध इतिहास नहीं लिखा, बल्कि इसके विषय में कुछ भ्रांतियाँ दूर करने के उद्देश्य से कुछ तथ्य सामने रखे है। उनके विचार से इसे राष्ट्रीय आन्दोलन नहीं कहा जा सकता। इसने देश के विभिन्न भागों में अलग–अलग रुप धारण किए।

1957 में प्रकाशित होने वाली पुस्तकों में केवल शशिभूषण चौधरी की पुस्तक में जनांदोलन पर विशेष ध्यान दिया गया है। उन्होंने इस महाविद्रोह में और इसमें पहले के किसान विद्रोह में सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास किया है। किसानों में असन्तोष का मूल कारण यह था कि ईस्ट इंडिया कम्पनी की भू–लगाना व्यवस्था के अन्तर्गत लगान बहुत अधिक नियत किया गया था जिसकी अदायगी न होने पर विस्तृत स्तर पर बेदखली हुई थी। इसके साथ–ही–साथ लागों को अपनी संस्कृति व तौर–तरीकों के लिए खतरा दिखाई देने लगा था। चौधरी ने इन विद्रोहों को जैसा कि उनकी पुस्तक के नाम से ही स्पष्ट है गैर–सैनिक उपद्रवों (Civil–rebellions) की संज्ञान दी है। पूरनचंद जोशी द्वारा सम्पादित पुस्तक में विभिन्न लेखकों ने 1857 की घटनाओं का मार्क्सवादी दृष्टिकोण से विश्लेषण करने का प्रयास किया। परन्तु ये लेख मूल स्रोत्रों के अध्ययन पर आधारित नहीं है।

1957 के बाद के वर्षों में कुछ और विशेष प्रवृत्तियाँ देखने में आई। भारतीय इतिहासकार में एक स्पष्ट प्रवृत्ति इसे एक बार फिर स्वतंत्रता संग्रम मानने की ओर हुई। विभिन्न प्रान्तों में इस विद्रोह के चिन्ह ढूँढ़ने के प्रयास किए गए। दूसरी ओर पाकिस्तान इतिहासकार भी विद्रोह दबाने के 'गौरव' को अपने देशवासियों की उपलब्धियों में शामिल करते रहे है। उन्नीसवीं शताब्दी में तो यह स्वाभाविक था कि शासक वर्ग अपने देशवासियों के कारनामों का विश्लेषण आत्मसम्मान की भावना को बढ़ावा देने के उद्देश्य से करता। परन्तु भारत पर अधिकार समाप्त हो जाने के बाद भी अंग्रेजों के वीरतापूर्ण कारनामों व भारतीयों के घृणित कार्यों का विवरण ब्रिटेन में बहुत चाव से लिखा और पढा जाता है। इस सारे वाद–विवाद का एक परिणाम यह हुआ है कि इस विषय पर कोई मतभेद नहीं रह गया है कि यह मात्र सैनिकों का विद्रोह नहीं था। जिस प्रकार प्रारम्भ में अंग्रेज इतिहासकारों ने इस महाविद्रोह को 'म्युटिनी' अर्थात 'सैनिक विद्रोह' कहा उससे भारत के इतिहास में 'म्युटिनी' शब्द 1857–58 की घटनाओं का पर्याय बन गया है। परन्तु सैनिकों के अलावा जनता के शेष भाग ने जिसमे जमींदार व किसान अधिक थ, इसमे बढ चढ कर भाग लिया था।

1970 और 1980 के दशकों में इतिहासकारों ने औपनिवेशिक सरकार की नीतियों के क्षेत्रीय स्तर पर पड़े प्रभावों व विद्रोह के कारण के अन्तर सम्बन्धों का अध्ययन किया है। इस संदर्भ में सबसे उल्लेखनीय योगदान इतिहासकार एरिक स्टोक्स का रहा है। उन्होंने मेरठ, मुजफ्फरनगर, सहारनपुर, बुलंदशहर व दिल्ली के आसपास के इलाकों पर शोधकार्य किया है ताकि संकट की घड़ी में ग्रामीण क्षेत्रों में राजनीतिक संबद्धता का अध्ययनकिया जा सके। इस संदर्भ में उन्होंने परिस्थितिकीय घटकों को भी ध्यान में रखा है। उन्होंने पाया कि सभी जगह जनसाधारण ने इसमें बढ़–चढ़ कर भाग लिया। अधिक उपजाऊ तथा सूखाग्रस्त दोनों ही क्षेत्रों में विद्रोह हुए। विद्रोह में भाग लेने या इससे विलग रहने का किसी के हिन्दू अथवा मुसलमान होने से कोई सम्बन्ध नहीं था। असन्तोष के कारणों में नई लगान व्यवस्था का साहूकारों द्वारा लाभ उठाए जाने उपजने वाले असन्तोष को महत्त्व दिया जाता रहा है। परन्तु स्टोक्स का कहना है कि यह तत्कालीन व्यवस्था का केवल एक पहलू था। असन्तोष की भावना के कई और कारण थे। एक कारण ईर्ष्या की भावना थी, क्योंकि कुछ लोगों ने नकदी फसलें उगाकर तथा सिंचाई के नए साधनों से लाभान्वित होकर समृद्धि प्राप्त कर ली थी जबकि अन्य लोगों को ऐसा करने का मौका नहीं मिला था। स्टोक्स ने सरकार द्वारा विद्रोह को दबाने में सेना व संसाधनों के उपयोग पर भी प्रकाश डाला है। वे यह तर्क भी देते हैं कि 1857 का विद्रोह पश्चक्षेत्र (Hinterland) में (अर्थात् उन क्षेत्रों में जो ग्रैंड ट्रंक रोड से हटकर पड़ते थे) अधिक उग्र रहा।

परन्तु एरिक स्टोक्स द्वारा प्रस्तुत तथ्य आकृति विहीन से दिखाई देते है। उन्होंने आर्थिक व सामाजिक ढाँचे पर प्रभाव डालने वाले दीर्घकालीन निर्धारक तत्त्वों की विवेचना नहीं की है। इतने बड़े क्षेत्र में विद्रोह होने के कुछ व्यापक आधार भी रहे होंगे। वे इन पर प्रकाश नहीं डाल पाए है। कदाचित उनकी असामयिक मृत्यु से यह कार्य अपूर्ण रह गया है। स्टोक्स अवध पर भी काम नहीं कर पाए थे। रूद्रांशु मुखर्जी की पुस्तक कुछ हद तक इस कमी को पूरा करती है। किसानों व जमींदारों के मध्य सम्बन्धों में परस्पर निर्भरता व पूरकता पर प्रकाश डालना इसकी विशेषता है।

सब अल्टर्न स्टडीज से सम्बन्ध इतिहासकारों सबल्टर्न अथवा उपाश्रित समूहों का इतिहास तथा राजनीति में योगदान का अध्ययन कर रहे है। यह अध्ययन इन्हीं वर्गों के दृष्टिकोण व उद्देश्यों से किया जा रहा है इन्होंने इस ओर ध्यान आकर्षित किया है कि उपाश्रित वर्ग संभ्रात वर्गों के नेतृत्व में किए गए कार्यों के केवल निश्चेष्ट प्राप्तकर्त्ता नहीं थे। इतिहास के हर चरण में उन्होंने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इस संदर्भ में 1857–58 के महाविद्रोह में उपश्रितों की भूमिका पर प्रकाश डाला जाना स्वाभाविक ही था। परन्तु अभी इस महाविद्रोह को केन्द्र-बिन्दु बनाकर इन इतिहासकारों ने अधिक कार्य नहीं किया है। रणजीत गुहा ने किसान विद्रोहों के प्राथमिक पहलुओं के अपने अध्ययन में इस विद्रोह के कुछ पहलुओं पर प्रकाश डाला है। इसके अलावा गौतम भद्र ने एक लेख में चार साधारण नेताओं की भूमिका का अध्ययन किया है—बरौत तहसील का एक जमींदार शामल, मथुरा जिले का एक खुदकाश्त किसान देवीसिंह छोटानागपुर का एक आदिवासी नेता गोनू और मौलवी अहमदुल्लाह शाह। इन सभी ने अपने-अपने क्षेत्रों में विद्रोहियों का नेतृत्व प्रदान किया। ये एक–दूसरे को नहीं जानते थे। परन्तु इन्होंने क्षत्रीय स्तर पर महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई इनकी विशिष्टत इनके साधारण होने में ही थी। इनकी राजनीतिक चेतना इनके दिन–प्रतिदिन के अनुभवों पर अधारित थी। इन सभी ने गहन सरकार विरोधी भावना को अभिव्यक्ति दी। इस प्रकार के अध्ययन से 1857 की घटनाओं पर नई रोशनी पड़ेगी। इतने शोधकार्य के बावजूद आज भी यह कहना कठिन है कि इस महाविद्रोह में घटनाक्रम क्या था ? इसमें किस–किस ने क्यों, कब और कैसे भाग लिया ? शोधकार्य जारी है।

यहाँ इस विद्रोह की घटनाओं व स्वरुप का विवरण पहले दिया गया है ताकि इसी संदर्भ में कारणों का विश्लेषण किया जा सके।

विद्रोह का यथार्थ स्वरुप और चरित्र **(Nature and Character of the Revolt) :** के० मालेसन, ट्रेविलियन, लारेन्स तथा होम्स (Kaye, Malleron, Trevelyan, Lawrence, and Holmes) जैसे अंग्रेजी इतिहासकारों ने जो साम्राज्य के प्राकृति पक्षपाती थे, इसे केवल सैनिकों के विद्रोह की संज्ञा दी है, जो केवल सेना तक सीमित था और जिसे जन–साधारण का समर्थन प्राप्त नहीं हुआ। समकालीन कुछ कुछ भारतीयों के विचार में भी यह एक सैनिक विद्रोह था। मुंशी जीवन लाल और मुईनुद्दीन (जो उस समय दिल्ली में थे) दुर्गादास वद्योपाध्याय (जो उस समय बरेली में थे) और सर सैयद अहमद खां (जो 1857 में बिजनौर में सदर अमीन की पदवी पर थे) ने ऐसे ही विचार प्रकट किए। अन्य लोगों ने इसे "ईसाइयों के विरुद्ध धार्मिक युद्ध" की संज्ञा दी है अथवा श्वेत तथा काले लोगों के बीच सर्वश्रेष्ठता के लिए संघर्ष" बतलाया। कुछ अन्य लोग इसे पाश्चात्य तथा पूर्वी सभ्यता तथा संस्कृति के बीच संघर्ष कहते है। अन्य लोग इसे अंग्रेजी राज्य को उखाड़ फेंकने के लिए "हिन्दू–मतुस्लिम षडयन्त्र" का नाम देते है। कुछ राष्ट्रवादी भारतीय इसे "सुनियोजित राष्ट्रीय आन्दोलन कहते हैं।

सर जॉन लारेन्स और सीले (Sir John Lowrence and Seeley) के अनुसार यह केवल "सैनिक विद्रोह" था तथा अन्य कुछ नहीं। सर जान सीले के अनुसार 1857 का विद्रोह "एक पूर्णतया देशभक्ति रहित और स्वार्थी सैनिक विद्रोह था जिसमें न कोई स्थानीय नेतृत्व हो था और न ही इसे सर्वसाधारण का समर्थन प्राप्त था। उसके अनुसार यह एक संगठित [illegible]

सेना का विद्रोह था"। यह ठीक है कि कुछ रियासतों ने भी इसमें सहयोग दिा परन्तु ये वही रियासतें थी जो डलहौजी की विलय नीति के कारण सरकार से रुष्ट थी। ब्रिटिश सरकार ने संस्थापित सरकार होने के कारण इस विद्रोह का दमन किया और कानून और व्यवस्था को पुनः स्थापित किया। परन्तु यह व्याख्या ठीक नहीं। निःसन्देह यह विद्रोह एक सैनिक विद्रोह के रुप में आरम्भ हुआ परन्तु सभी स्थानों पर यह सेना तक सीमित नहीं रहा। सभी सेनाओं ने भी विद्रोह नहीं किया। सेना का कुछ भाग सरकार की ओर से लड़ा। विद्रोही, जनता के प्रत्येक वर्ग से आए। अवध में इसे जनता का समर्थन प्राप्त था और इसी प्रकार बिहार के कुछ जिलों में ऐसा हुआ। 1858–59 के अभियोगों (trials) में सहस्रो असैनिक, सैनिों के साथ–साथ विद्रोह के दोषी पाए गए तथा उन्हें दण्ड दिया गया।

एल० ई० आर० रीज के कथन से सहमत होना कि "यह धर्मान्धो का ईसाइयों के विरुद्ध युद्ध था" बहुत कठिन है। (It is difficult to agree with L.E. R. Rees that the revolt was a war of fanatic religionists against christians)। विद्रोह की गरमी में भिन्न–भिन्न धर्मों के नैतिक नियमों का लड़ने वालों पर कोई नियन्त्रण नहीं रहा। दोनों दलो ने अपनी–अपनी ज्यादतियों को छिपाने के लिए अपने–अपने धर्म ग्रंथो का आश्रय लिया। अन्ततः ईसाई जीत गए परन्तु ईसाई धर्म नहीं। हिन्दू और मुसलमान पराजित हुए परन्तु हिन्दू और मुसलिम धर्म पराजित नहीं हुए। यह ठीक है कि पाश्चात्य विज्ञान की नाई ईसाई धर्म का भी भारतीय मन पर प्रभाव हुआ है परन्तु ईसाई धर्म–प्रचारको को धर्म प्रचार में कोई विशेष सफलता नहीं मिली। न ही यह 'जातियों का युद्ध' था। यह सत्य है कि भारत के श्वेत लोग एक ओर थे परन्तु सभी काले लोग दूसरी ओर नहीं थे। जैसे कि कैप्टिन जे० ज० मेडले (J. G. Medley) ने नर्देति किया है कि अंग्रेजी केम्पों में एक श्वेत व्यक्ति के अनुपात में 20 काले व्यक्ति थे। भारतीयों ने गोरे सैनिकों की हर प्रकार से सहायता की। उन्होनें गोरे सैनिकों के लिए खाना बनाया और काले पालकी वाले ही थे जिन्होंने गोरे हताहतों को खतरे के क्षेत्र (Danger Zone) से दूर पहुँचाया। अयुद्धकारियों को तो छोड़ दी दीजिए, कम्पनी की उस सेना में जिसने विद्रोह को दबाया, काले सैनिकों की संख्या बहुत बड़ी थी। वास्तव में यह कहना अधिक ठीक होगा कि यह तो काले विद्रोहियों और काले लोगों द्वारा समर्थित गोरे शासकों के बीच युद्ध था।

टी आर० होम्ज (T. R. Holmes) जैसे अंग्रेज इतिहासकारों ने इस विचार को लोकप्रिय बनाने का प्रयत्न किया है कि यह तो बर्बरता तथा सभ्यता के बीच युद्ध था" (a confilict between civilisation and barbarism) परन्तु इस व्याख्या से भी संकीर्ण जाति भेद की गन्ध आती है। विद्रोह में दोनो पक्ष ही ज्यादातियों के दोषी थे। यदि दिल्ली कानपुर और लखनऊ में कुछ भारतीय यूरोपीय स्त्रियों और बालकों की हत्या के दोषी थे तो अंग्रेजो ने भी कई स्थानों पर वे अपराध किए जो भारतीयों से अधिक बर्बर और जघन्य थे। हड़सन (Hodson) ने दिल्ली में अंधाधुंध गोली चलाई। नील (Neill) को इस कबात का घमण्ड था कि उसने सैकड़ों भारतीयों को बिना किसी मुकदमें के फांसी पर लटका दिया। इलाहाबाद के आसपास सम्भवतः ही कोई वृक्ष था जिसकी शाखाओं का भाग्यहीन कृषकों को फांसी देने के लिए प्रयोग न किया गया हो बनारस में गली के असहाय तथा उच्छृंखल बच्चों को भी फांसी पर लटका दिया गया। रस्सल (Russell) ने, जो लण्डन टाइम्स का संवाददाता था लिखा है कि मुसलमान अभिजात वर्ग के लोगों को जिवित ही सूअर की कच्ची खाल में सी दिया गया और सूअर का मांस उनके गले में उतारा गया। वास्तव में दोनों ओर से प्रतिशोध की भावना ने मनुष्यों का अभिभूत कर दिया था। कोई राष्ट्र अथवा जाति भी जो इस प्रकार के अत्याचार करती है, सभ्य कहलाने का दावा नहीं कर सकती।

सर जेम्स आउट्रम (Sir James Outram) और डब्ल्यू टेलर (W. Taylor) ने इस विद्रोह को हिन्दू मुस्लिम षड्यन्त्र का परिणाम बताया है। आउट्रम का विचार था कि "यह मुस्लिम षडयन्त्र था जिसमें हिन्दू शिकायतों का लाभ उठाया गया यह व्याख्या भी पर्याप्त नहीं है।

बेन्जामिन डिजरेली (Benjamin Disraeli), जो इंग्लैड में समकालीन रुढ़िवादी (Conservatre) दल के एक प्रमुख नेता थो, ने इसे एक "राष्ट्रीय विद्रोह" कहा है। उसका विचार था कि यह विद्रोह एक "आकस्मिक प्रेरणा नहीं था अपितु एक सचेत संयोग का परिणाम था और वह एक सुनियोजित और सुसंगठित प्रयत्नों का परिणाम था जो अवसर की प्रतीक्षा में थे साम्राज्य का उत्थान और पतन चर्बी वाले कारतूसों के मामले से नहीं होते ऐसे विद्रोह उचित और पर्याप्त कारणों के एकत्रित होने से होते है।" अशोक मेहता ने अपनी पुस्तक The Great Rebellion स्वरुप राष्ट्रीय था (The rebellion of 1857 was national in character)। वीर सावरकर ने भी इस विद्रोह को "सुनियोजित स्वतन्त्रता संग्राम" (Planned War of National Independence) की संज्ञा दी है और यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि 1826–27, 1831–32, 1848 और 1854 के विद्रोह तो 1857 में होने वाले महान नाटक का एक पूर्व अभ्यास (rehearsal) मात्र ही थे। 1957 में भी भारतीयों ने विद्रोह की शताब्दी जिस धूमधाम से मनाई उससे भी ऐसा ही प्रतीत होता था कि यह एक स्वतन्त्रता संग्राम था।

दो आधुनिक विशिष्ट भारतीय इतिहासकारों डा० आर० सी० मजूमदार (Dr. R.C. Majumdar) [illegible] (Dr. S. N. Sen) ने समस्त उपलब्ध राजकीय तथा अराजकीय आलेखों का विस्तृत अध्ययन किया है। 1857-58 की घटनाओं विषय में दोनो विद्वानों मे मतभेद है। परन्तु दोनों विद्वान इस बात पर सहमत 1857 का विद्रोह चेत येजना का परिणाम नही था न ही इसके पीछे कोई कुशल और सिद्ध हस्त व्यक्ति था। केवल गए थे और यह विद्रोह मई में आरम्भ हो गया, इस बात का प्रमाण नहीं करता कि उन्होंने इस विद्रोह की योजना बनाई थी। यह कहना कि मुन्शी अजीमुल्लाह खा और रांगो बापू ने इस विद्रोह की योजना बनाई भी ठीक प्रतीत नही होता। अजीमुल्लाह खां कोर्ट आफ डाइरेक्टर्स के सामने बाजीरपाव द्वितीय को मिलन वाली पन्शन के लिए नाना साहिब की ओर से पेश हुए थे और वापिस आते हुए तुरकी गए और फिर क्रीमिया के रणक्षेत्र में उमर पाशा को मिले। इसी प्रकार रांगो बापू जी को सतारा को पुनः प्राप्त करने के लिए लन्दन भेजा गया था। दोनों व्यक्तियों के लिए लन्दन जाना इस बात को प्रमाणित नहीं करता कि उन्होंने षडयन्त्र में भाग लिया। इसी प्रकार चपातियों और कमल के फूलों का भिन्न-भिन्न स्थान पर भेजना किसी निश्चित बात को प्रमाणित नहीं करता। बहादुरशाह पर चलाये गए मुकदमें में यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया था कि इस पूर्व आयोजित षडयन्त्र में उसका हाथ था। जो प्रमाण एकत्रित किए गए, उनसे अंग्रेज अधिकारियों को भी विश्वास नहीं हुआ। वास्तव में उस मुकदमें में यह स्पष्ट हो गया कि इस विद्रोह से बहादुरशाह को उतना ही आश्चर्य हुआ जितना अंग्रेजों को।

इस तथ्य को भी दोनो विद्वान स्वीकार करते है कि मध्य उन्नीसवीं शताब्दी में भारतीय राष्ट्रीयता भ्रूणावस्था (Embryo) में थी। डा० सेन का मत है कि "उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में 'भारत' केवल एक भौगोलिक कथन ही था। 1857 मे बंगालियो पंजाबियो हिन्दुस्तानियों, महाराष्ट्रियों और मद्रासियों ने कभी भी यह अनुभव नहीं किया था कि वे एक ही राष्ट्र के सदस्य है। विद्रोह के नेता राष्ट्रीय नेता नही थे। बहादुरशाह कोई राष्ट्रीय सम्राट नही था। उसे तो सैनिकों ने उनका नेता बनने पर विवश कर दिया। नानासाहिब न केवल उस समय विद्रोह का झंडा उठाया जब उसका दूत लन्दन से उसके लिए बाजीराव द्वितीय की पेन्शन प्राप्त करने में असफल रहा। जब विद्रोह आरम्भ हो गया तो भी उसने कहा था कि वह अंग्रेजों से बातचीत तब करेगा जब उसकी पेन्शन उसे मिल जाएगी। झांसी में झगड़ा उत्तराधिकार और विलय के प्रश्न पर हुआ और रानी का नारा 'मेरा झांसी दऊंगी नहीं।" इसमें सन्देह नही कि रानी वीर-गीत को प्राप्त हुई परन्तु उसने यह स्पष्ट नहीं किया कि वह राष्ट्रहित के लिए लड़ रही थी। अवध का नवाब जो एक बेकार-सार व्याभिचारी व्यक्ति था, राष्ट्रीय नेता बनने का स्वप्न कभी नहीं ले सकता था। अवध के तालुकदारों ने सामान्तशाही अधिकारों के लिए अथवा अपने राजा के लिए युद्ध किया, राष्ट्रीय हित के लिए नहीं। इन नेताओं में अधिकतर आपस में भी ईर्ष्या और द्वेष करते थे और लगातार एक दूसरे के विरुद्ध षड्यन्त्र रच रहे थे। जन साधारण भी इनसे अधिक अच्छी स्थिति में नहीं थे। उनकी बहुसख्या तटस्थ और उदासीन रही। इस आन्दोलन ने अवध और बिहार के शाहबाद जिले के अतिरिक्त कहीं भी सामान्य समर्थन प्राप्त नहीं किया। राष्ट्रवाद को जिस अर्थ में आज हम लेते हैं, उस समय तक देश में नहीं आया था।

आर० सी मजूमदार ने 1858 के विद्रोह का विश्लेषण अपनी पुस्तक SEPOY Mutiny and the Revolt of 1857 मे दिया है। तदनन्तर उसने अपने तर्कों को उन अध्यायों जो उसने भारतीय विद्याभवन की पुस्तक British Paramountcy and the Indian Renaissance Vol. IX के लिए लिख में और अधिक विस्तार पूर्वक स्पष्ट किया है। उसके तर्क का मुख्य आशय यह है कि सन सत्तावन का विद्रोह स्वतन्त्रता संग्राम नहीं था। उसका अनुरोध है कि विद्रोह वे भिन्न-भिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न रुपधारण किया। कुछ प्रदेशों में जैसे पंजाब और मध्यप्रदेश में यह केवल सैनिक विद्रोह ही था जिसमें कालान्तर में कुछ असन्तुष्ट व्यक्ति भी गड़बड़ी का लाभ उठाकर सम्मिलित हो गए। दूसरी ओर उत्तर प्रदेश में, मध्यप्रदेश के कुछ भागों में और बिहार के पश्चिमी भागों में सैनिकों के विप्लव के पश्चात एक सर्वसाधारण विद्रोह हो गया जिसमें सैनिकों के अतिरिक्त असैनिक, विशेषकर रियासतों के विस्थापित शासक, भूमिपति, मुजारे तथा अन्य तत्त्वों ने भाग लिया। इसके अतिरिक्त कुछ भाग (जसे कि राजस्थान और महाराष्ट्र) ऐसे थे जहां जनता की सहानुभूति विद्रोहियों के साथ थी परन्तु उन्होंने कानून की सीमाओं को पार कर किसी पर अत्याचार नहीं किया।

आर सी मजूमदार इस बात पर अधिक बल देते है कि वे तत्त्व जो अंग्रेजों के विरुद्ध लड़े, केवल सैनिक ही थे। सैनिको की शिकायत उसी प्रकार की थी जैसे कि पहले हुए सैनिक विप्लवों में थी। उनका कथन है कि विद्रोही अत्यधिक राजनैतिक और धार्मिक कारण से अभवा केवल आर्थिक लाभ से ही प्रेरित हुए थे इन सैनिकों ने दिल्ली, बरेली और इलाहाबाद में लूटपाट की और इसमें भारतीय तथा यूरोपीय दोनों ही इनके शिकार हुए। इन सैनिकों के प्रति जनता में भय की भावना उत्पन्न हुई न कि सहानुभूति और सहायता की। दिल्ली में सैनिकों ने उस समय तक लड़ने से इनकार कर दिया जब तक कि उनको वेतन नहीं दिया गया। डा० मजूमदार उस निर्णय पर पहुँचे हैं कि "सैनिकों के व्यवहार और आचरण में कुछ भी ऐसा नहीं था जिससे हम यह विश्वास करें अथवा स्वीकार कर ले कि वे अपने देश प्रेम से प्रेरित हुए थे अथवा यह कि वे अग्रेजों के विरुद्ध इसलिए लड़ रहे थे कि देश का स्वतन्त्रता करा सकें।

इसके अतिरिक्त डा० मजूमदार एक और तथ्य की ओर भी ध्यान दिलाते हैं कि इस विद्रोह का राष्ट्रीय महत्त्व अप्रत्यक्ष [illegible] (Unintended and Positive) [illegible]

हुआ अधिक शक्तिशाली था।" यही बात 1857 के विद्रोह के विषय में भी कहीं जा सकती है। इसका वास्तविक स्वरुप कुछ भी क्यों न हो, शीघ्र ही यह भारत में अंग्रेजी सत्ता के लिए एक चुनौती का प्रतीक बन गया। अंग्रेजी दासता से स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए लड़ते हुए जन्म ले रहे भारतीय राष्ट्रवाद केलिए यह एक चमकता हुआ उदाहरण था और इसे अंग्रेजों के विरुद्ध राष्ट्रीय स्वतन्त्रता युद्ध का पूर्ण यश प्राप्त हुआ।

डाक्टर सेन का विश्वास है कि यह स्वतन्त्रता संग्राम ही था। उनका तर्क है कि क्रान्तियां प्राय एक छोटे से वर्ग का कार्य होती है, जिसमें जनता का समर्थन होता भी है और नहीं भी होता। अमेरिका की क्रान्ति (1775–83) और फ्रांसीसी क्रान्ति में यही हुआ। अमेरिका में बसे अधिकतर अंग्रेज इंग्लैण्ड के प्रति स्वामिभक्त रहे और युद्ध के अन्त में लगभग 60,000 वासी तो केनेडा में जा कर बस गए। इसी प्रकार के क्रान्तिकारी फ्रांस में भी राजशाही समर्थक बहुत से थे। डॉ० सेन के अनुसार यदि "एक विद्रोह जिसमें बहुत से लोग सम्मिलित हो जाए तो उसका स्वरुप राष्ट्रीय हो जाता है।" दुर्भाग्य से भारत में अधिकतर लोग निष्पक्ष और तटस्थ रहे। इसलिए 1857 को राष्ट्रीय कहना ठीक नहीं।

डाक्टर सेन के अनुसार सैनिक विप्लव विद्रोह के रुप में आरम्भ हुआ और इसने उस समय राजनैतिक स्वरुप धारण कर लिया, जब विद्रोहियों ने अपने आपको दिल्ली के राजा के अधीन होने की घोषणा कर दी और भूमिपतियों और बहुत सी असैनिक जनता ने भी अपने आपको उसी के अधीन मान लिया। जो युद्ध धर्म रक्षा के लिए एक युद्ध के रुप में आरम्भ हुआ उसने शीघ्र ही स्वतन्त्रता संग्रामका रुपधारण कर लिया और इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि विद्रोही एक विदेशी सरकार को समाप्त करना चाहते थे और उस प्राचीन व्यवस्था को पुनः स्थापित करना चाहते थे जिसमें दिल्ली का राजा ही वास्तविक प्रतिनिधि था।

एक अन्य भारतीय विद्वान डा० एस, बी० चौधरी ने अपनी पुस्तक Civil Rebellion in the Indian Mutinies 1857–59 में 1857 में हुए सैनिक विद्रोह के साथ–साथ असैनिक विद्रोहों का विस्तार पूर्वक विश्लेषण करने तक ही अपने आपको सीमित रखा है। उसके अनुसार हम इस विद्रोह को दो भागों में बांट सकते है, सैनिक विप्लव और विद्रोह। उसका विश्वास है कि 1857 का विस्फोट दो प्रकार की अशान्तियों का एकत्रित होना था, सैनिक तथा असैनिक दोनों स्वतन्त्र कारणों द्वारा आरम्भ हुई। डॉ० मजूमदार का विचार है कि "1857 से पहले के विस्फोट सैनिक अथवा असैनिक, वास्तव में एक ही श्रृंखला की कड़िया थी और पृथक्–पृथक् उफान मिल कर 1857 का विस्फोट और दावानल बन गया।"

मार्क्सवादी व्याख्या कि 1857 का विद्रोह सैनिक तथा कृषक का प्रजातांत्रिक गठजोड़ था जो विदेशी तथा सामन्तशाही दासता से मुक्ति प्राप्त करना चाहता था तथा जिसकी असफलता का मुख्य कारण सामन्तवादी विश्वासघात था। निश्चय ही सत्य से बहुत दूर है। इन विद्रोहों के पीछे आदर्शवाद अथवा कार्यक्रम नहीं था।

महाविद्रोह का प्रारम्भ तथा विस्तार

इस विषय पर दो मत नहीं है कि विद्रोह में पहल सैनिकों ने की। इस समय सैनिकों के प्रयोग के लिए नई एनफील्ड राइफलें आई थी। इनमें इस्तेमाल होने वाले कारतूसों के प्रश्न पर काफी सनसनी व घबराहट फैली हुई थी। इन कारतूसों पर एक चिकना कागज लगा हुआ था जिसे राइफल में डालने से पहले मुँह से काटना पड़ता था। यह कहा गया कि इस पर गाय और सूअर की चर्बी लगी है। भारत में सैनिकों को इनका प्रयोग करने से यह आपत्ति थी कि हिन्दू गो–हत्या के विरुद्ध थे इसलिए गाय की चर्बी छूना नहीं चाहते थे। सरकार ने इस स्थिति में इस अफवाह की जाँच करवाई और यह बात सच पाई कि कारतूसों पर इस तरह की चर्बी लगाई गई थी। इस पर यह तक दिया गया कि ये कारतूस केवल भारत की जलवायु का इन पर असर देखने के लिए गए है। परन्तु इस प्रश्न पर असन्तोष को देखते हुए सरकार ने इन कारतूसों के प्रयोग पर पाबंदी लगा दी। परन्तु उस समय के संचार के साधनों को देखते हुए इतने बड़े क्षेत्र में शीघ्र ही किसी अफवाह का खंडनकर पाना सम्भव नहीं था। वैसे भी अहम् प्रश्न यह नहीं था कि सच्चाई क्या है। अहम् प्रश्न था लोग क्या मानने को तैयार है।

26 फरवरी 1857 को बुरहानपुर में 19 नेटिव इन्फैन्ट्री ने इस प्रश्न पर बगावत करने की कोशिश की। मार्च में 34 नेटिव इन्फैन्ट्री के एक सैनिक मंगल पांडे ने इस प्रश्न पर अपने अंग्रेज अफसर पर अकेले ही हमला कर दिया। उसके साथियों नेइस बगावत में हिस्सा नहीं लिया परन्तु उन्होंने अंग्रेज अफसर की सहायता करने की भी कोशिश नहीं की। इसके पश्चात् सेना की इन टुकड़ियों को भंग कर दिया गया। अन्य सैनिकों को चेतावनी देने के उद्देश्य से इन्हें बर्खास्त करने का आदेश सब टुकड़ियों में पढ़कर सुनाया गया। परन्तु सैनिक इससे घबराए नहीं वास्तव में इस कदम का प्रभाव उल्टा ही हुआ। लोगों ने सरकार की अवज्ञा करने वाले इन सैनिकों को कृतघ्न नहीं बल्कि साहसी माना। सरकार का रवैया क्रूर व अन्यायपूर्ण प्रतीत हुआ। बगावत करने वाले सैनिक भी शायद सरकार को चुनौती देने की नहीं सोच रहे थे बल्कि धर्मभ्रष्ट होने से बचना चाहते थे। परन्तु उस समय सरकार की राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक व धार्मिक नीतियों से भारतीयों को ऐसा लगने लगा था कि उनके परम्परागत मूल्यों धारणाओं व सामाजिक व्यवस्था पर

इकाई - I

अध्याय - 1

इतिहास-लेखन - स्त्रोत

इतिहास अतीत का हूबहू प्रतिबिम्ब नहीं बल्कि सीमित स्रोतों के आधार पर तथा आज की सोच के माध्यम से अतीत को समझने का प्रयास मात्र है। इसी कारण इतिहास की व्याख्या में पूर्ण सहमति कम ही देखने को मिलती है और अक्सर इतिहास के विद्यार्थी एक ही विषय पर अलग–अलग इतिहासकारों से काफी मतभेद देखते है। यही नहीं, समय के साथ–साथ इतिहास की रुपरेखा भी बदलती रहती है। इतिहास जड़वत् होने के बजाय बहते पानी की तरह सदैव परिवर्तनशील रहता है। यह परिवर्तनशीलता दोहरी है। एक ओर समय के साथ–साथ नई घटनाएँ घटती है और वे इतिहास का हिस्सा बन जाती है तो दूसरी ओर पुरानी घटनाओं की भी नई–नई व्याख्याएँ नए इतिहासकारों द्वारा नए स्त्रोतों के आधार पर अथवा नई रूचियों एवं बदलते हुए अनुभव के आधार पर की जा सकती है।

अलग–अलग इतिहसकारों के लेखन के तुलनात्मक अध्ययन का सम्बन्ध इतिहास–लेखन (Historiography) से है। यदि हम इतिहास तथा इतिहास–लेखन की पृथकता को और अधिक स्पष्ट करना हो तो सरल शब्दों में यह कह सकते है कि जहां इतिहास अतीत के अध्ययन से सम्बन्धित है वहाँ इतिहास–लेखन अतीत की व्याख्या के अध्ययन से सम्बन्धित है। उदाहरण के लिए जब हम मध्यकालीन भारत की राजनीतिक एवं सामाजिक परिस्थितियों को क्रमवार समझने की कोशिश करते है तो वह इतिहास का अध्ययन माना जाएगा। परन्तु जब हम अलग–अलग इतिहासकारों द्वारा–उन मध्यकालीन परिस्थितियों के अलग–अलग चित्रण का विश्लेषण करते है तो वह उस समय के इतिहास का अध्ययन नहीं बल्कि उसके इतिहास–लेखन का अध्ययन होगा। यह स्पष्ट ही है कि चाहे वह मध्यकालीन भारत हो या अन्य कोई भी उसके इतिहासकार और उसके इतिहास–लेखन–सभी का समुचित ज्ञान साथ–साथ जरुरी है। यह सब इतिहास के सर्वांगीण अध्ययन को विषम तो बनता है, परन्तु अत्यन्त रोचक भी बना देता है और मात्र घटनाओं के आकलन से कहीं ऊपर उठा देता है।

इतिहास–लेखन के अर्थ और महत्व की इस संक्षिप्त चर्चा के बाद अब हम आधुनिक भारत के इतिहास–लखन को समझने की कोशिश कर सकते है। यहाँ यह ध्यान रखना आवश्यक होगा कि इतिहास–लेखन के समुचित अध्ययन के लिए वास्तव में कई सूत्रो का एक साथ अनुसरण जरूरी है। उदाहरण के लिए आधुनिक भारत के इतिहास के मुख्या 'अध्याय' या विषय क्या है? क्या इन पर अलग–अलग समय में अलग–अलग जोर दिया गया है? क्या कुछ ऐसे विषय भी है जो स्रोतों के अभाव के कारण या इतिहासकारों के पूर्वग्रहों के कारण नजर अंदाज हो गए है? आधुनिक भारत के इतिहास लेखन के अध्ययन में दूसरा चरण होगा इसके अलग–अलग प्रसंगो पर लिखी गई सभी आधिकृत पुस्तकों की सूची बनाना एवं इतिहासकारों के मतों का तुलनात्मक अध्ययन करना। क्या इस अध्ययन से कुछ 'स्कूल' या दृष्टिकोण का अभास मिलता है। क्या ये दृष्टिकोण प्रसंगो में बार–बार उभरकर सामने आते है? इसका कारण क्या हो सकता है। क्या इन अलग–अलग विचारधाराओं के इतिहासकारों द्वारा अलग–अलग तरह के स्रोतों का अध्ययन किया गया है? अथवा अलग–अलग कार्यविधियाँ अपनाई गई है? या इनके मतों की पृथकता मात्र सैद्धांतिक राजनीतिक मतभेदों के कारण ही है? या इन सभी के मिले–जुले प्रभाव के कारण ? इतिहास–लेखन के अध्ययन के तीसरे चरण में हमें यह देखना होगा कि आधुनिक भारत कि इतिहास–लेखन का इतिहास क्या रहा है ? क्या अलग–अलग समय पर इस रचनात्मक कार्य में अलग–अलग मोड़ आए है, नए–नए 'फेशन' या प्रवृतियाँ आई है ? इन प्रवृतियों ने आधुनिक भारत के इतिहास के अलग–अलग अध्यायों को किस प्रकार–प्रभावित किया है। स्वाभावित है कि इन सभी प्रश्नों के विस्तृत उत्तर के लिए एक पुस्तक ही नहीं बल्कि एक पुस्तक–श्रृंखला की आवश्यकता पड़ेगी। इस संक्षिप्त लेख में तो केवल इन प्रश्नों को उठाने एवं आधुनिक भारत के इतिहास–लेखन में अलग–अलग समय पर आने वाली कुछ अत्यत महत्वपूर्ण धाराओं का संक्षिप्त वर्णन करना ही सम्भव हो सका।

आधुनिक भारत का संदर्भ

आधुनिक भारत के इतिहास–लेखन में उभरने वाली महत्वपूर्ण प्रवृत्तियों को क्रमवार ढंग से देखन से पहले यह आवश्यक लगता कि हम इस दौर के राजनीतिक और सामाजिक संदर्भ पर भी एक नजर डाले क्योंकि इन परिस्थितियों का इसके इतिहास लेखन की सभी धाराओं पर मूलभूत प्रभाव पड़ा। भारत के आधुनिक काल की शुरुआत हिन्दुस्तान में यूरोपीय शक्तियों के आगमन तथा औपनिवेशिक विस्तार के साथ मानी जा सकती है और वास्तव में इस औपनिवेशिक स्थिति का इस समय के इतिहास लेखन पर भी गहरा असर पड़ा। ब्रिटिश प्रशासन की प्रेरणा से अंग्रेज प्रशासकों और विजेताओं को केन्द्र–बिन्दु बनाकर इस काल का इतिहास लिखा गया जिसकी छाया आज तक इतिहास की कई किताबों पर देखी जा सकती है। दूसरे शब्दों में

भारतीय राष्ट्रवादीयों ने अंग्रेजी शासन के कुप्रभावो और इसके विरुद्ध लडने वाले स्वतन्त्रता सैनिको को अपने इतिहास–लेखन का मुख्य पात्र बनाया।

इस समय की एक अन्य राजनीतिक विशेषता थी· विभिन्न राजनीतिक दलों के बीच चलने वाली बहस जो भावी राष्ट्र के स्वरूप को लेकर उठी थी। इसका हमारे इतिहास–लेखन पर गहरा असर पड़ा। गॉधीवादी, मार्क्सवादी, मुसलिम एव हिन्दू पृथकतावादी विचारधाराओं ने अलग–अलग इतिहासकारों के लेखन को अलग–अलग रुप से प्रभावित किया। इस प्रकार से हम पाते है कि आधुनिक काल के साभीप्य के कारण जहाँ इस समय के इतिहासकारों के लिए लिखित स्रोतों का अभाव उतनी बड़ी कठिनाई नही है (प्राचीन काल के इतिहासकारों की तुलना में) वही दूसरी ओर घटनाओं के बहुत करीब होने के कारण शायद आधुनिक भारत के इतिहासकारों के बीच तथ्यों का चयन और मूल्यांकन अधिक विवादस्पद विषय बन गए है।

इसके अलावा किसी भी व्यापक दृश्य को बहुत अधिक निकटता से समुचित परिप्रेक्ष्य में देख पाना शायद मुश्किल हो जाता है संभावतः इसलिए आधुनिक भारत के इतिहासकारों में काफी समय तक समुचित व्याख्या के स्थान पर केंद्रीकृत व्याख्या करने की प्रवृत्ति तथा राजनीतिक घटनाओं एवं व्यक्तियों को इतिहास–लेखन में अत्यधिक महत्व देने की आदत विद्यमान रही है, जबकि यही काल बड़े ही तीव्र सामाजिक–सांस्कृतिक परिवर्तन का काल भी रहा है। इस काल का पूर्ण चित्रण करने का प्रयास आधुनिक काल के इतिहासकारों के पिछले कुछ वर्षो से ही आरम्भ किया गया है। इस सामान्य समस्याओं को ध्यान में रखकर आधुनिक भारत के इतिहास–लेखन की शुरुआत, विकास एवं विशेषताओं पर नजर डालना उचित होगा।

आजादी के बाद आधुनिक भारत का इतिहास-लेखन

हिन्दुस्तान के आजाद होने के साथ ही इस देश के इतिहास–लेखन, विशेषकर, इसके आधुनिक काल के इतिहास–लेखन में महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों का आना स्वाभाविक था। ये परिवर्तन कई स्तरों पर आए है ऐतिहासिक पुस्तकों, पत्रिकाओं और शोध–ग्रंथो की बढ़ती हुई संख्या में नए प्रकार के ऐतिहासिक स्रोतों और शोध–पद्धतियों के रचनात्मक उपयोग में, नित नए विषयों और संदर्भो के अध्ययन में तथा इतिहासकारों के बदलते हुए दृष्टिकोणों एवं विचारधाराओं में। संक्षेप में कहे तो आधुनिक भारत का इतिहास–लेखन पिछले चार दशकों में प्रकाशन–सामग्री, स्रोतों के उपयोग, शोध पद्धति, विषय वस्तु तथा विचारधारा–इन सभी दृष्टियों से काफी विकसित हुआ है। दो प्रकार के स्पष्टीकरण आवश्यक है, पहला यह कि विश्लेषण को सुगम बनाने के लिए हमने इतिहास–लेखन के इन पाँच आयामों का अलग–अलग सर्वेक्षण यहाँ प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। परन्तु वास्तविकता में ये सभी आयाम अविभाज्य रूप में आपस में जुड़े हुए है और इनकी पारस्परिक निर्भरता तथा अंतसम्बन्धो को कतई भुलाया नहीं जाना चाहिए। उदाहरण के लिए मार्क्सवादी इतिहास–लेखन केवल कुछ सिद्धान्तों (जैसे– ऐतिहासिक भौतिकवाद एवं वर्ग संघर्ष की प्राथमिकता इत्यादि) से ही जुड़ा हुआ नही है बल्कि इसका गहरा सम्बन्ध इतिहास की विषयवस्तु को अधिक व्यापक बनाने एवं पुराने विवरणात्मक इतिहास पर प्रहार कर इतिहासकारों की कार्यपद्धति को एक नया मोड़ देने से भी रहा है। इसी प्रकार 'सोशल हिस्ट्री' या सामाजिक इतिहास के नाम से जो प्रयोग कुछ इतिहासकारों ने पिछले सालों में इतिहास–लेखन को नई दिशा देने के लिए किया है, सामाजिक इतिहास केवल एक नई विषयवस्तु ही नहीं बल्कि कुछ हद तक नई शोध–पद्धति तथा नए सैद्धांतिक संकेतों को भी साथ लेकर आया है। यही संबद्धता आधुनिक इतिहास–लेखन की अन्य प्रवृत्तियों में भी देखी जा सकती है।

प्रकाशन-सामग्री

सामान्य प्रवृत्तियों में जो पहली प्रवृत्ति स्वाधीनोत्तर भारत के इतिहास–लेखन में दृष्टिगोचर होती है वह ऐतिहासिक प्रकाशनो की बढ़ी हुई संख्या की है। यद्यपि यह वृद्धि व्यापक इतिहास–बोध की आवश्यकताओं की दृष्टि से कदाचित पर्याप्त नहीं मानी जा सकती, परन्तु ब्रिटिश काल की तुलना में आज भारत की सभी भाषाओं में पुस्तको पत्रिकाओं एवं शोध साहित्य की स्थिति पहले से काफी बेहतर है। इस वृद्धि में सरकारी एवं गैर–सरकारी संस्थाओं तथा विश्व–विद्यालयों की प्रत्यक्ष भूमिका के साथ–साथ परोक्ष रुप से शिक्षा के सामान्य विस्तार तथा जनतांत्रिक आन्दोलनो ने भी योगदान दिया है। हिन्दुस्तान के बाहर भी आधुनिक भारत के इतिहास को लेकर रुचि बनी रही है और विश्व के सबसे विशाल प्रजातंत्र के निकट अतीत पर शोध जारी है। आधुनिक भारत पर लिखने वाले विख्यात इतिहासकार आज केवल ब्रिटन ही नहीं बल्कि अमेरीका, रूस, फ्रांस, नीदरलैंड, जापान इत्यादि देशों में भी कार्यरत है। स्वभावतः इस परिमाणात्मक वृद्धि का असर भारत के आधुनिक इतिहास की गुणवता पर भी पड़ा है, मूल्यांकन के नजरिए बढे है और बहस में भी नई ताजगी आई है।

ऐतिहासिक स्रोत

परन्तु विषय का यह विस्तार स्रोतो के बेहतर संग्रह एवं उपयोग के बिना कदाचित सभव नही था। पिछले चार दशको में सरकारी एवं गैर–सरकारी स्तरों में आधुनिक भारत के इतिहास–लेखन को प्राथमिक एवं सहायक–दोनों ही प्रकार के स्रोतों

प्रहार किए जा रहे है। लोग सोचने लगे थे कि अपनी संस्कृति की रक्षा के लिए कुछ करना आवश्यक है। इस पृष्ठभूमि में सरकार के सरकारी विरोधी कारनामों से विद्रोह भड़क उठा।

10 मई को मेरठ में विद्रोह हुआ जब 85 सैनिकों ने चर्बी लगे कारतूसों का प्रयोग करने से इनकार कर दिया। इन्हें दस साल के लिए कारावास की सजा हुई। उनके साथियों ने विद्रोह कर दिया, यूरोपीय अफसरों को मार डाल, कैदियों को स्वतन्त्र करवाया और दिल्ली की ओर चल पड़े। यद्यपि मेरठ में 2,200 सैनिक और थे, किन्तु इन विद्रोहियों का पीछा नहीं किया गया। इसका एक कारण यह था कि गैर–सैनिक भी विद्रोह में शामिल हो गए थे। भीड़ ने बाजार में लूट–मार की तथा अंग्रेज अफसरों के बंगलों को जलाया। पुलिस ने भी अंग्रेज अफसरों का साथ नहीं दिया। अगली सुबह तक आसपास के गाँवों के लोग भी विप्लव में शामिल हो गए।

उधर विद्रोही 50 किलोमीटर की दूरी तथा करके अगली सुबह तक लाल किले की प्राचीर तक पहुँच गए। दिल्ली व मेरठ के मध्य की टैलीग्रफलाइन को नष्ट कर दिया गया था जिससे मेरठ से विद्रोहियों के खाना होने की खबर दिल्ली तक नहीं पहुँची थी। दिल्ली मुगलों के भव्य शासन का प्रतीक थी जिसके पतन के साथ ही अंग्रेजी राज की स्थापना का इतिहास जुड़ा हुआ था। लाल किले में मुगलों के वंशज बहादुरशाह रहते थे। उनके साम्राज्य का विघटन हो चुका था और उनका जीवन–यापन कंपनी की पेंशन से होता था। परन्तु जनता की श्रद्धा के कारण उनके पद की शान बनी रही थी और उन्हें 'मुगल सम्राट' ही कहा जाता था। मेरठ से विद्रोहियों के आगमन की सूचना से बहादुरशाह चकित हो गए। वे स्वयं अंग्रेजों से रुष्ट थे। क्योंकि कम्पनी ने यह घोषणा की थी कि उनकी मृत्यु के पश्चात् उनको दी जाने वाली पेंशन बद कर दी जाएगी और उनके वंश जो को सम्राट के खिताब से वंचित कर दिया जाएगा। परन्तु फिर भी वे काफी संको व अनिच्छा से विद्रोह का नेतृत्व संभालने को तैयार हुए। इसका कारण शायद यह था कि वे फैसला नहीं कर पा रहे थे कि सैनिकों का यह प्रयास कितना प्रभावशाली रहे थे कि सैनिकों का यह प्रयास कितना प्रभावशाली रहेगा या फिर यह कि उन्हें स्वयं पर यह विश्वास नहीं था कि वे नेतृत्त्व कर पाएँगे अथवा नहीं।

जब बहादुरशाह ने नेतृत्त्व सँभाला तो उनके नाम ने जादू का–सा असर किया। लाल किले के पहरेदार विद्रोहियों के साथ हो लिए और शहर में जितने अंग्रेज थे उन्हें या तो मार डाला गया या खदेड़ दिया गया। सरकारी कामकाज चलाने के लिए एक परिषद का गठन किया गया जिसमें दस सदस्य थे। इसमें सेना व नागरिक विभाग दोनों के प्रतिनिधि थे। सभी आदेश आदेश सम्राट के नाम पर जारी किए गए तथा सिक्के भी उन्हीं के नाम पर ढाल गए। पड़ोसी राज्यों को पत्र भेजकर उन्हें फिरंगी सरकार का विरोध करने को कहा गया। जिन क्षेत्रों में विद्रोह हो गए थे वहाँ से सहायता प्राप्त करने की कोशिश की गई। भारत के राजाओं–महाराजाओं को बहरदुशाह ने संगठित होने के लिए कहा और यह प्रस्ताव रखा कि अंग्रेजों के नियंत्रण से मुक्ति के पश्चात वे पद त्याग देंगे। बहादुरशाह के इस प्रकार के नेतृत्त्व प्रदान करने का असर भी हुआ। स्थान–स्थान पर विद्रोह मुगलों के नाम पर हुए। मराठा सरदार नाना साहेब ने स्वयं को मुगल सम्राट का पेशवा घोषित किया। लखनऊ में भी बेगम हजरत महल ने मुगल सम्राट के नाम पर विद्रोह करने से अधिक समर्थन मिलने की आशा थी। वैसे भी किसी भी मुगल सम्राट को अंग्रेजों ने हराया नहीं था। बिना युद्ध किए ही सत्ता हथिया ली थी। इस कारण इस वंश के प्रति लोगो की सहानुभूति बनी हुई थी। अवध का नवाब भी अंग्रेजी सरकार की नीतियों का शिकार हो चुका था।

शीघ्र ही मेरठ व दिल्ली के आसपास के ग्रामीण क्षेत्रों में विद्रोह होने लगे क्योंकि रिहा किए गए कैदियों, सिपाहियों व यात्रियों के माध्यम से मेरठ की घटनाओं खबर की द्रुतगीत से फैल गई थी। जब यह समाचार फैला कि दिल्ली पर विद्रोहियों का अधिकार हो गया है तो सारी जनता में बहुत उत्तेजना फैल गई। 12 मई को ही दिल्ली के निकट हिन्डन व सिकंदराबाद में विद्रोह होने लगे। दिल्ली के दक्षिण पश्चिम में स्थित गुडगाँवा पलवल, सोहना, नूह, रेवाड़ी जैसे उपनगरों में भी हिंसा की घटनाओं का अधिकतर लूट–मार की संज्ञा दी गई है। परन्तु जैसा कि इतिहासकार एरिक स्टोक्स कहते है, ये विद्रोही न तो आर्थिक शिकायतों से अनभिज्ञ थे। जून के प्रारम्भ तक मेरठ व दिल्ली के आसपास ही नही, बल्कि सारे उत्तर पश्चिम प्रान्त में ब्रिटिश नियंत्रण समाप्त प्राय हो गया। इन विद्रोहों में गैर–सैनिकों की संख्या सैनिकों से कही अधिक थी।

उत्तर पश्चिम प्रान्त में बुलंदशहर, मेरठ मुजफ्फरनगर तथा सहारनपुर जिलों पर शोधकार्य हुआ है। बुलदशहर मध्य दो आब तथा रुहेलखंड के मध्य स्थित था। इसलिए इसे विद्रोह के पहले झटको का सामना करना पड़ा। यहाँ मालगढ़ का जमींदार मोहम्मद वालीदाद खाँ नेता के रुप में उभरा। 1824 में उसके पिता की मृत्यु के समय काफी संपत्ति सरकार ने हथिया ली थी। इस प्रकार उसे ब्रिटिश सकार की राजस्व नीति व कानूनों का शिकार होना पड़ा था। 13 मई को उसे बहादुरशाह के दरबार में बुलाया गया था और जमुनापार के क्षेत्र में अपनी सत्ता बुलंदशहर के थाने पर हमला किया गया। कुछ ही दिनों में सारे दोआब क्षेत्र में विद्रोह होने लगे तथा बिजनौर, मुरादाबाद, मुजफ्फरनगर तथा सहारनपुर के आसपास के इलाके इसकी लपेट में आ गए। यह उल्लेखनीय है कि यह सारा क्षेत्र बहुत धनी आबादी वाला और अत्यधिक उपजाऊ था। जनचेतना व प्रतिक्रिया का जायजा लेने के लिए यहाँ मेरठ की छावनी में हुई घटनाओं का अधिक विस्तार से वर्णन किया गया है।

मेरठ के उत्तर में बड़ौत तहसील में शाहमल विद्रोहियों के नेता के रुप में उभर कर आया। वह इस तहसील के बिजनौर गाँव का जमींदार था और यहाँ की आधी जमीन का मालिक था। 12 या 13 मई को शाहमल ने विद्रोह किया। पहले एक व्यापारी काफिले को लूटा और फिर बड़ौत के तहसील दफ्तर पर हमला करके इसे नष्ट कर दिया। धीरे–धीर उसे बहुत विस्तृत क्षेत्र में समर्थन मिलने लगा। उसका समर्थन करने वालों में बहुत से उस क्षेत्र के लम्बरदार थे। उसे अन्य हिस्सेदारों जोतदारों व काश्तकारों का भी समर्थन मिला। उसने दिल्ली सरकार से संपर्क बनाया और उसे सूबेदार नियुक्त कर दिया गया। इस क्षेत्र में अधिकतर लोग जाट और गुजर थे। इनमें परस्पर वैमनस्य था। फिर भी दोनों ही समूहों ने शाहमल को पूर्ण समर्थन दिया। इनकी एकता देखकर स्वयं अंग्रेज दंग रह गए। एक अंग्रेज कमांडर ने लिखा .

सारी जनता ने जी–जान से सरकार का विरोध किया। यह माना जा सकता है कि इसी कारण दिल्ली पर अधिकार करने में इतना समय लगा और मेरठ इसके आसपास के जिलों में इतना असन्तोष फैला। लोग बार–बार सरकारी सैनिकों से लड़ाई करने के लिए आते रहे– हर गाँव से बड़ी मात्रा में दिल्ली को रसद भेजी गई जहाँ सेना इस रसद के बिना भूखी मर जाती।

शाहमल ने सिंचाई विभाग के एक अफसर के बंगले को 'न्यायालय' में परिवर्तित कर दिया। इस प्रकार उसने सरकारी सत्ता हथिया ली। विद्रोहियों को सूचना इतनी शीघ्र प्राप्त हो जाती थी कि अंग्रेज हैरान रह जाते थे। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जिन लोगों ने सक्रिय रुप से विद्रोह में भाग नहीं लिया था वे भी विद्रोहियों का साथ दे रहे थे। शाहमल के समर्थक रात को गाँव–गाँव जाकर लोगों को अंग्रेजी का मुकाबला करने के लिए उकसाते थे। जिन गाँवों के लोगों ने अंग्रेजीसरकार को लगान की किस्त दे दी थी और उनकी सहायता कर रहे थे उन्हें सबक सिखाने के प्रयास किए गए।

इस क्षेत्र में विद्रोह की एक विशेषता थी इसेएक क्षेत्रीय आधार प्रदान करने का प्रयत्न। शाहमल के पैगामों में 'चौरासी देस' को विदेशी नियंत्रण से मुक्त कराने का जिक्र बार–बार मिलता है। अंग्रेजी दस्तावेजों में भी इसका जिक्र है। इसका सम्बन्ध शायद 84 गाँवों से रहा होगा जहाँ कभी एक ही कबीले के लोग रहते होंगे। अठारहवीं शताब्दी के रसालों में भी इसका जिक्र मिलता है। इस प्रकार एक सामूहिक स्मृति का लाभ उठाकर जन–चेतना जाग्रत करने का प्रयास किया गया।

मुजफ्फरनगर व सहारनपुर जिलो में भी इसी प्रकार की घटनाएँ हुई मुजफ्फरनगर में 21 जून को अनियमित सेना के घुड़सवारों ने विद्रोह कर दिया और अंग्रेज अफसरों को मौत के घाट उतार दिया। इसके बाद तहसील के दफ्तर पर धावा बोला और इस पर अधिकार कर लिया। विद्रोहियों ने अंग्रेज 'काफिर' का डट कर मुकाबला करने के लिए सारी जनता का आह्वान किया। इसी प्रकार की घटनाएँ रोहतक हिसार, सिरसा व मथुरा में भी हुई। लोगों ने आपसी वैर–भाव भुलाकर सरकार के विरुद्ध रोष को अभिव्यक्ति दी। स्थीय स्तर पर बहुत से नेता उभरे जैसे मथुरा में देवी सिंह खेर, नोह में राव भुपाल सिंह और रेवाड़ी में राव तुलाराम।

अंग्रेजों के लिए इस क्षेत्र पर शीघ्र ही अधिकार करना जरुरी था। यह पंजाब के निकट या जहाँ 1849 में ही अंग्रेजों ने बहुत भीषण युद्ध के बाद अपना राज्य स्थापित किया था। दूसरे, यहाँ से दिल्ली को रसद भेजी जा रही थी जिस पर शीघ्र ही अधिकार करने की अंग्रेजों ने ठान ली थी। जुलाई के मध्य में बड़ौत मे कम्पनी की सेना को सफलता मिली और शाहमल युद्ध में मारा गया। विद्रोह को दबाने के लिए तैयार की गई अंग्रेजी फौज के नेता आर० एच० डनलप ने लिखा कि उनकी विजय के बाद भी लोग यह इन्तजार करते रहे कि 'उनका राज' विजयी रहेगा अथवा 'हमारा'। इससे यह स्पष्ट होता है कि विदोहियों का उद्देश्य केवल लूट–मार करना नहीं था बल्कि उनकी चेतना में सत्ता क संकल्पना भी शामिल थी। अंग्रेजों ने भी शाहमल को उन लोगों में शुमायू नहीं किया जिन्होंने सरकार की सत्ता समाप्त होने से उत्पन्न स्थिति का लाभ उठाने का प्रयास किया था, बल्कि उनके साथ किया जो बगल में आधिपत्य के लिए चल रहे संघर्ष में शामिल होकर स्वतन्त्रता प्राप्त करने का प्रयास कर रहे थे। लोगों ने शाहमल को विद्रोही नहीं बल्कि एक शहीद माना मेरठ के कमिश्नर ने लिखा कि शाहमल की मृत्यु के बाद भी अंग्रेजो के प्रतिघोर कटुता की भावना बनी रही। इस कटुती का प्रदर्शन लोगों ने सरकार द्वारा बनाई गई सड़क को एक फिरंगी चीज के रुप में तोड़कर किया। उसके साथियों ने सरकार के सम्मुख हथियार नहीं डाले, बल्कि वे अवध और रुहेलखंड के अन्य विद्रोहियों के साथ मिल गए।

दिल्ली से पूर्व की ओर 20 अलीगढ़ में, 27 मई को इटावा व मैनपुरी में और 29 मई को एटा में विद्रोह हुए। बरेली में इस सरकार विरोधी विद्रोह का नेतृत्त्व खानबहादुर ने किया। वे रुहेलखण्ड के भूतपूर्व शासक के उत्तराधिकारी थे और उन्हें पेंशन मिलती थी। शुरु में उन्होंने विशेष रुचि नहीं ली बल्कि प्रशासन का ही साथ दिया। परन्तु जब विद्रोह की लहर फैलने लगी तो उन्होंने लगभग 40 हजार सैनिकों को संगठित किया और अंग्रेजों का कड़ा मुकाबला किया। इन्हें हिन्दू व मुसलमान दोनों का पूरा विश्वास मिला। बरेली की हिन्दू जनता को खानबहादुर के विरुद्ध भड़काने के लिए सरकार ने 50,000 रुपये का प्रावधान किया था। परन्तु अंग्रेज इसमें सफल न हो सके और उन्हें यह रकम गजकोष को लौटानी पड़ी।

लखनऊ में विद्रोह 30 मई को हुआ। यहाँ लोगों की अपदस्थ नवाब के प्रति गहरी निष्ठा थी। वे उस समय कलकत्ता में कैद थे। लोग उन्हें अंग्रेजों की विस्तारवादी नीति का शिकार मानते थे। अन्य स्थानों की भाँति यहाँ भी पहले अंग्रेजो के बंगलो पर प्रहार किया

गया। काफी तैयारी के बावजूद हेनरी लॉरेन्स व उनके साथी लखनऊ पर नियत्रण बनाए रखने मे सफल न हो सके। जिस प्रकार दिल्ली की घटनाओं के बाद आसपास विद्रोह हुए थे उसी प्रकार लखनऊ में विद्रोह होने के बाद शीघ्र ही सीतापुर फैजाबाद, गोंडा सुल्तानपुर इत्यादि में विद्रोह होने लगे। फैजाबाद में विद्रोहियों को दिल्ली से यह संदेश भी मिला कि सारा देश उनके कब्जे में है और वे भी उनके झंडे के नीचे आ जाएँ। जून के अन्त तक विभिन्न जिलों से विद्रोही लखनऊ की तरफ बढ़ने लगे। 30 जून को चिनहट के युद्ध में अंग्रेज हार गए। सभी अंग्रेजों ने लखनऊ की रेजीडेंसी में शरण ले ली। जन–विद्रोह के कारण सरकार के लिए इन अंग्रेजों को निकालने के लिए लखनऊ सेना भेजना कठिन हो गया। सरकार ने यह घोषणा के कि जो लोग विद्रोह मे भाग नहीं लेंगे उनके साथ अच्छा व्यवहार किया जाएगा। परन्तु इस घोषणा का कोई असर नहीं पड़ा। सरकार विरोधी भावना हुत गहन थी और यह माना जा रहा था कि अंग्रेजों की हार निश्चित है और इसलिए उन्हें सहायता देने का कोई लाभ नहीं है। अगस्त के पहले सप्ताह मे अपदस्थ नवाब वाजिद अलीशाह के नाबालिग पुत्र विरजिस कैदर को लखनऊ का वली घोशित कर दिया गया। यह कार्य सभी बेगमों की सहमति से किया गया। प्रारम्भ से ही यह स्पष्ट था कि राजकार्य में नए वली की माता हजरत महल प्रमुख भूमिका निभाएँगी। बड़े–बड़े ओहदों पर हिन्दू व मुसलमान नेता नियुक्त किए गए। मुगल सम्राट की प्रभुसत्ता को भी स्वीकार किया गया।

इस बीच विद्रोह की लहर फैलती जा रही थी 5 जून को कानपुर में विद्रोह प्रारम्भ हुआ। यहाँ इसका नेतृत्त्व नाना साहब ने किया। वे अन्तिम पेशवा बाजीराव द्वितीय के दत्तक पुत्र थे। 1851 में बाजीराव की मृत्यु के पश्चात् उन्हें पेंशन से वंचित कर दिया गया था। उन्होंने कलकत्ता व लंदन में पने हक में अपील की थी परन्तु कुछ सफलता नहीं मिली थी। तत्या टोपे उनके दक्ष सहायक के रूप में उभरे। इसी प्रकार झाँसी की रानी लक्ष्मी बाई को भी कम्पनी की विस्तारवादी नीति का शिकार होना पड़ा था। लॉर्ड डलहौजी ने उनके दत्तक पुत्र को उनके पति का उत्तराधिकार मानने से इनकार कर दिया था और उनके राज्य का विलय कर लिया था। विद्रोह के प्रारम्भ हो जाने के बाद भी उन्होंने अंग्रेजों से अपनी माँग मनवाने की कोशिश की थी। लेकिन अंग्रेजों ने उनकी अपील अनसुनी कर दी। इसके बाद वे विद्रोह की आँधी में कूद पड़ी और इतनी वीरता और निर्भयता मे सेना का नेतृत्त्व किया कि अंग्रेज दंग रह गए।

बिहार में जगदीशपुर के जमींदार कुँवर सिंह ने विद्रोह का नेतृत्त्व किया। उनकी जमींदारी भी कम्पनी की नीतियों के कारण छिन गई थी। उन्होंने भी अपने शेष की अभिव्यक्ति विद्रोह में कूद कर की। छोटानागपुर क्षेत्र में भी विद्रोह हुए। जून के मध्य तक ग्वालियर नौ गाँव तथा बाँदा तक और फिर जुलाई में इंदौर तक विद्रोह की आँधी फैल गई। कई स्थानों पर विद्रोह प्रमुखतः सैनिकों तक सीमित रहा। 30 जुलाई को रानीगंज में आठवीं नेटिव रेजिमेंट ने विद्रोह कर दिया, अंग्रेजो को मार डाला, खजाना लूट लिया तथा जेल से कैदी रिहा कर दिए। राजस्थान में नसीराबाद व नीमच में सैनिक विद्रोह हुए। पंजाब में सियालकोट जांधर, फिलौर व अम्बाला में सैनिक विद्रोह हुए। जालंधर में आम नागरिक भी विद्रोह में बड़ी संख्या में शामिल हुए। बॉम्बे प्रेजीडेंसी में कोल्हापुर में बॉम्बे नेटिव इन्फैन्ट्री ने विद्रोह कर दिया।

ऐसे समय में जब चारो तरफ से विद्रोह फैलने के समाचार आ रहे थे, सरकार भी स्थिति पर काबू पाने का यथासम्भव प्रयास कर रही थी। यह स्पष्ट था कि ब्रिटेन से सहायता माँगने में बहुत समय लगेगा। सलिए स्थानीय संसाधनों पर ही निर्भर करना पड़ेगा। एक और समस्या यह थी कि पंजाब पर 1849 में ही अधिकार किया गया था और बंगाल सेना की उन्नीस में से चौदह रेजीमेंटे पजाब में तैनात थी। पंजाब के गर्वनर जॉन लॉरेस पंजाब में नियन्त्रण पर ढील नहीं देना चाहते थे। एक और चिन्ता का विषय यह था कि इनमें से 36,000 सैनिक अवध व रुहेलखण्ड से थे जिनकी निष्ठा पर निर्भर नहीं रहा जा सकता था। इन्हें निरस्त्र करके पजाब से ही सैनिक भर्ती करना उचित माना गया। इस सबका प्रभाव यह हुआ कि दिल्ली पर शीघ्र ही आक्रमण नहीं किया जा सकता था। यह भी स्पष्ट था कि दिल्ली का प्रतीकात्मक महत्त्व बहुत अधिक था और जैसे–जैसे विभिन्न भागों में विद्रोह फैल रहा था, लोग दिल्ली की तरफ बढ रहे थे। 8 जून तक ही कम्पनी की सेना दिल्ली की सीमा पर पहुँच पाई। 20 सितम्बर 1857 को ही पश्चात ही बहादुरशाह को बन्दी बनाया जा सका। उन पर मुकद्दमा चलाया गया और उन्हें बर्मा भेज दिया गया।

दिल्ली पर अधिकार होने का अंग्रेज विरोधी लड़ाई पर निर्णायक प्रभाव पड़ा, क्योंकि विद्रोहियों के हौसले कमजोर पड़ने लगे। इसका दूसरा प्रभाव यह हुआ कि लखनऊ उनका केन्द्र बन गया और विद्रोही सैनिक तोप इत्यादि लेकर लखनऊ पहुँचने लगे। परन्तु नवम्बर से स्थिति अंग्रेजों के काबू में आने लगी। इसी महीने में वे रेजीडेंसी में बन्द अंग्रेज परिवारों को मुक्त करवाने में सफल हो गए। इसके बाद भी विद्रोहियों ने लखनऊ पर अधिकार बनाए रखने का यथा सम्भव प्रयास किया। मार्च 1858 में ही अग्रेज लखनऊ पर अधिकार कर पाए। अंग्रेजी सेना ने लखनऊ को खूब लूटा जिसका हाल अंग्रेज संवाददाता रसल ने दिया है। लखनऊ पर अधिकार होने के बाद भी ग्रामीण क्षेत्रों में विद्रोह चलता रहा जिसका एक कारण यह रहा होगा कि हथियार डालने पर भी अंग्रेजो के हाथों मौत को ही गले लगाना पड़ता। शेष अवध पर अधिकार करने में छह महीने और लग गए। इस प्रकार जिस अवध का 1856 मे अंग्रेजों ने घोषणा मात्र से ही विलय कर लिया था, 1858 में उसी अवध पर एक लम्बे युद्ध में लोगों ने बलिदान देकर अधिकार वापस

धीरे–धीरे शेष भागों पर भी अधिकार कर लिया गया। झाँसी की रानी ने युद्ध भूमि में लडते हुए प्राण दे दिए। नाना साहेब ने संघर्ष जारी रखा और 1859 में नेपाल चले गए। उन्हें यह आशा बंधी रही कि फिर संघर्ष जारी रखा और 1859 में नेपाल चले गए। उन्हें यह आशा बंधी रही कि फिर संघर्ष होगा। कुँवरसिंह की मृत्यु मई 1858 में ही हो गई। तात्या टोपे 1859 तक गुरिल्ला युद्ध करते रहे जब एक जमींदार ने उन्हें धोखा दिया और उनका पता अंग्रेजों को दे दिया।

विद्रोह का स्वरुप

उपर्युक्त घटनाओं को मात्र हिंसा व लूट–मार की प्रवृत्ति का परिणाम नहीं माना जा सकता। स्थानीय स्तर के विद्रोही नेता एक–दूसरे को जानते तक नहीं थे फिर भी विभिन्न घटनाओं में एक रुपता–सी स्पष्ट दिखाई देती है। विदेशी सत्ता के प्रतीकों पर सामूहिक प्रहार किए गए। शहरों में छावनियों के उस भाग पर हमले किए गए जहाँ अंग्रेज रहते थे, बाजार व सरकारी खजाने लूटे गए, कैदियों को रिहा किया गया, थानों पर छापे मारे गए। ग्रामीण क्षेत्रों में थानो व तहसीलों के दफ्तरों पर हमले हुए। अंग्रेजों का साथ देने वालों तथा सरकार की नीतियों का लाभ उठाकर समृद्ध होने वालों पर सामूहिक प्रहार किए गए। यह कार्य अंधा–धुंध तरीके से नहीं हुआ। ये सब चीजें अपने–अपने क्षेत्र में सरकार की सत्ता की प्रतीक थी। संसार में सभी स्थानों पर सरकार के प्रति जनता के रोष की अभिव्यक्ति सरकार की शक्ति के चिह्न मिटा कर ही की जाती रही है। इलाहाबाद के मैजस्ट्रेट ने लिखा कि शहर और आस पास के ग्रामीण इलाकों में हर उस चीज को चुन–चुन कर तोड़ा और लूटा गया जो हमसे सम्बन्ध रखती थी।

इस विद्रोह के विषय में विशेषकर ताल्लुकदारों की भूमिका के विषय में यह कहा जाता रहा है कि विद्रोह स्थान–स्थान पर हुआ और विखंडित रहा। इसमें कोई सहसम्बन्धता अथवा सहवर्तिता नही थी। यह ठीक के कि विद्रोह से पहले कोई योजना नहीं थी और विद्रोह के दौरान भी कोई शक्तिशाली केन्द्रीकृत नेतृत्त्व नहीं उभरा जो विद्रोहियों को दिशा प्रदान करता । यह भी ठीक है कि स्थानीय स्तर पर जो नेता उभरे वे एक–दूसरे को जानते भी नही थे। परन्तु जिस प्रकार तीव्र गति से यह विद्रोह फैला उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जनता में बहुत रोष था जिसकों अभिव्यक्ति देना आवश्यक लगने लगा था। जिस प्रकार सभी स्थानों पर लोगों ने सरकार विरोधी कार्य किए उससे भी यह निष्कर्ष निकलना स्वाभाविक है कि सरकार–विरोधी भावना सर्वोपरि थी। इसी से सहसम्बन्धता उपजी। यह भी उल्लेखनीय है कि मेरठ में विद्रोह करके सैनिक दिल्ली की ओर गए। स्थान–स्थान पर मुगलों के नाम पर ही विद्रोह हुए। नाना साहेब तथा बेगम हजरत महल ने मुगलों की सर्वोच्चता को स्वीकार किया। दोआब व दिल्ली में हारने के बाद विद्रोही लखनऊ की ओर बढ़े क्योंकि मुगलों के बद उत्तरी भारत में परम्परिक सत्ता का केन्द्र लखनऊ ही दिखाई दिया। लखनऊ की सुरक्षा को अवध में बहुत महत्त्व दिया गया। इसलिए इस महाविद्रोह को अलग–अलग उपद्रवों, दंगो व विद्रोही की श्रृंखला मात्र नहीं माना जा सकता।

क्या इस व्यापक कार्रवाई के पीछे कोई षडयन्त्र था ? विद्रोह के फैलने की गति देखकर सरकारी अफसर गए। उन्हें यह लगा कि इतने बड़े विद्रोह के पीछे जरुर कोई षड्यन्त्र रहा होग। कुछ ने कहा कि बहादुरशाह नाना साहेब व लक्ष्मीबाई के बीच् पत्र–व्यवहार चल रहा था। कुछ ने इसे सिपाहियों द्वारा षडयन्त्र का परिणामा माना। कुछ ने यहाँ तक कहा कि ब्रिटेन के शत्रु देश रुस तथा ईरान इसके पीछे थे।

इस विद्रोह के पीछे षडयन्त्र के संदर्भ में रोटियों के प्रश्न को इसका प्रमाण माना गया। 1857 के प्रारम्भ तक दिल्ली के आसपास के क्षेत्र और उत्तर–पश्चिमी प्रान्त के विभिन्न जिलों से रिपोर्ट आने लगी थी गाँवों में एक चौकीदार रोटियाँ बनाकर आसपास के गाँवों में भेजने की हिदायत देता है। इनके साथ कुछ संदेश भी दिया जाता है और इस प्रकार के संदेश प्राप्त करने वाले गाँवों की संख्या तेजी से बढ़ रही थी। यह उल्लेखनीय है कि विद्रोह से पहले जिला अधिकारियों की रिपोर्टों में षडयन्त्र का जिक्र नहीं मिलता। विद्रोह के बाद ही रोटियों से सम्बन्धित प्रश्न गंभीरता से उठाए गए। इस प्रकार रोटियाँ बाँटे जाने का उदेश्य क्या था ? इनके साथ क्या संदेश दिया जाता था ? इत्यादि इस समय अंग्रेज अफसर इसे विद्रोह के संचारण का माध्यम अथवा षडयन्त्र का प्रमाण मानने लगे। इसके दो कारण माने जा सकते है। पहला तो अंग्रेजों का अपना अनुभव था। ब्रिटेन में विशेषकर स्कॉटलैंड में, इस तरह से विद्रोह की सूचना देने की परम्परा रही थी। दूसरा यह कि विद्रोह के द्रुतगति से फैलने से यही माना जाने लगा कि जरुर किसी प्रकार का षडयन्त्र किया गया हो और इस सन्दर्भ में रोटियों को घुमाने की प्रक्रिया को इसका सबूत मान लिया गया। परन्तु अधिकतर इतिहासकार जिनमें सुरेनद्रनाथ सेन, रमेश चन्द्र मजूमदार तथा रणजीत गुहा के नाम लिए जा सकते है, इसे षडयन्त्र का प्रमाण नहीं मानते। यह मानना अधिक उचित प्रतीत होता है कि इन्हें महामारी को दूर रखने के लिए 'छलावा' के रुप में बाँटा गया। 1856 में उत्तरी भारत के एक बडे भाग में हैजे का प्रकोप रहा था।

जहाँ तक रोटियों के साथ दिए जाने वाले संदेश का सवाल है, ऐसा लगता है कि लोगों ने इसका अलग–अलग मतलब लगाया। इस संदर्भ में रणजीत गुहा इस तथ्य की ओर ध्यान आकर्षित करते है कि यह संदेश मौखिक था इसलिए संचारण के दौरान लोग

की अपनी पूर्व–धारणाओं, घबराहट व भयबोध के अनुरुप यह बदलता रहता होगा। वे यह भी कहते हैं कि रोटियों के इस प्रकार बँटने से धुँआ अधिक हुआ और रोशनी कम हुई। ऐसा तो लगा कि कुछ होने वाला है परन्तु क्या होगा या लोगों को क्या करने के लिए आमंत्रित किया जा रहा है, इस पर प्रकाश नहीं पड़ सका।

ऐसे समय में जब अन्य कारणों से ग्रामीण क्षेत्रों व सेना के बैठकों में प्रबल सरकार–विरोधी भावना व्याप्त हो रही थी, महामारी का यह प्रतीकात्मक एजेंट (रोटी) एक अपरिभाषित डर का संचारक बन गया। इसने आने वाले संकट की घंटी बजाई, जो सुनी तो सबने, परन्तु किसी को भी यह समझमें नहीं आया कि क्या होने वाला है। इस प्रकार रोटियों का बाँटा जाना सामूहिक चिंता व घबराहट का सूचक बन गया।

यह मानने का कोई कारण प्रतीत नहीं होता कि इस महाविद्रोह के पीछे कोई षडयन्त्र था। इस समय तक किसान समस्याओं आदि का आयोजन भी नहीं होता था। इस प्रकार यह विद्रोह न तो नेताओं के षडयन्त्र का परिणाम माना जा सकता है और न ही जनसाधारण में क्रान्तिकारी चेतना के उदय का। परन्तु एक ही स्रोत से दमन व शोषण के कारण राजनीतिक दृष्टि से संगठित यह महसूस नहीं कर पाए कि विद्रोह के लिए षडयन्त्र की आवश्यकता ही नही थी। इसके लिए यह एहसास ही काफी था कि विदेशी शक्ति से सामाजिक अस्तित्व के लिए खतरा पैदा हो गया है।

बहुत से इतिहासकारों ने जिनमें मार्क्सवादी व गैर–मार्क्सवादी दोनों ही शामिल है, इसे 'किसान विद्रोह की संज्ञा दी है। इसमें संशय नहीं कि जनसाधारण ने इसमें बढ़–चढकर हिस्सा लिया। जिन इतिहासकारों ने मुजफ्फरनगर, सहारनपुर, मेरठ, बुलदशहर व अवध के जिला–गजेटियरों पर शोधकार्य किया है उन्होंने इस तथ्य की पुष्टि की है। पाक–पूँजीवादी सामाजिक सरचना वाले हर क्षेत्र की भाँति भारत की जनता ने भी अधिक किसान थे। इस संदर्भ में यह प्रश्न उठता है कि क्या यह एक 'किसान विद्रोह था ? किसानों ने इस विद्रोह में अहम् भूमिका तो निभाई ही थी। परन्तु मार्क्सवादी नामांकन में "किसान विद्रोह" से अभिप्राय वर्ग–संघर्ष से रहता है–एक ऐसा संघर्ष हो। इस संदर्भ में इस महाविद्रोह को वर्ग–संघर्ष नहीं माना जा सकता। किसानों के शोष का शिकार जमींदार नहीं बल्कि सरकार थी। यह संघर्ष संपत्तिशाली वर्ग के विरुद्ध किल्कुल नही था। इतिहासकार यह स्वीकार करते है कि इसमें जमींदार विरोधी भावना अथवा नए उभरते हुए समृद्ध किसानों के विरुद्ध संघर्ष के प्रमाण नहीं मिलते। अधिकतर उन्हीं जमींदारों पर प्रहार किया गया जिन्होंने ब्रिटिश लगान व्यवस्थ व कानूनों का लाभ उठाकर अपनी स्थिति मजबूत कर ली थी। किसानों की सहानुभूति उन लोगों के साथ बनी रही जिन्हें ईस्ट इंडिया कम्पनी के लगान बंदोबस्त का शिकार होना पड़ा था। कई स्थानो पर किसानों ने स्वतः ही वह भूमि जमींदारों को लौटा दी जिन्हें बेदखल करके सरकार ने उन्हें वह भूमि दे दी थी। यह देखकर स्वयं अंग्रेज अफसर दंग रह गए। यह भी उल्लेखनीय है कि किसानों ने केवल उपाश्रित वर्ग की ही भूमिका नहीं निभाई। अक्सर उन्होंने स्वतन्त्र रुप से निर्णय लिए। अवध में बहुत बार ऐसा हुआ जबकि ताल्लुकेदारों ने अंग्रेजी सरकार का साथ दिया और किसानों ने वद्रोह में भाग लिया। इस विद्रोह में किसानों की भूमिका देखकर यह नहीं कहा जा सकता कि वे 'आलू की बोरी' होते है अथवा यह कि वे स्वयं निर्णय नहीं ले सकते, उन्हें नेतृत्व प्रदान करना पड़ता है।

कुछ इतिहासकार अब तक यह तर्क देते रहे है कि प्रत्येक व्यक्ति में इस विद्रोह में भाग नही लिया। यह सही है कि 'प्रत्यक व्यक्ति इस विद्रोह में शामिल नहीं हुआ। यह भी सही है कि विद्रोहियों में आपसी वैमनस्य भी कई बार देखने में आया। दिल्ली के आसपास और रुहेलखंड में शहरी व ग्रामीण इलाकों में परस्पर संघर्ष हुए। किसानों व जमींदारों के मध्य आपसी संघर्ष भी हुए। परन्तु इतने बड़े स्तर पर विद्रोह में कही भी न तो 'प्रत्येक व्यक्ति' शामिल होता है और न आपसी वैमनस्य के चलते इक्के दुक्के संघर्ष का नितांत अभाव रहता है। ऐसे समय में जब आधुनिक अर्थ में राष्ट्रीयता की भावना का उदय नहीं हुआ थाा, इस बात की अपेक्षा करना अर्थहीन प्रतीत होता है कि सभी विद्रोह में शामिल हो। यह साधारणतः स्वीकार किया जाता है कि जनता के अधिकतर भाग ने इसमें महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। अवध के विषय में स्वयं गर्वनर जनरल केनिंग ने 19 अप्रैल को कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स को एक पत्र में लिखा कि अवध में हमारी सत्ता के विरुद्ध विद्रोह बहुत व्यापक था, लगभग सारी जनता का विद्रोह ब्रिटिश सरकारी सुत्रों ने अनुमान लगाया कि अवध में शायद तीन चौथाई व्यस्कों ने विद्रोह में भाग लिया। लोगों ने जिस तरह के हथियारों का इस्तेमान किया उससे भी यह स्पष्ट हो जाता है कि यह एक आम विद्रोह था। पिस्तौलों, बरछियों, भालों बंदूकों, चाकुओं व लाठियों का प्रयोग किया गया। हारने के बाद जो हथियार बरामद हुए उनसे इस विषय का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है अवध मे फरवरी 1859 तक लोगों के घरों से 29941 भाले, 42,729,932 तलवारे, 129,414 बंदूके और 6,418 धनुष–बाण बरामद किए गए।

इस विद्रोह में भाग लेने वाले लोगों के व्यवसाय इत्यादि के विषय में विश्वस्त आँकड़े उपलब्ध नहीं है, परन्तु कुछ जानकारी अवश्य मिलती है। मार्च 1858 में लखनऊ पर अधिकार करने के बाद जिन लोगों को बन्दी बनाया गया उनमें से 48 लोगों के व्यवसायों का जिक्र किया गया है। इनमें एक जमींदार था जो बाहर से अपने भाई को मिलने लखनऊ आया था। शेष 47 में से चार किसान थे सिपाही, दो भिखारी चार भारतीय ईसाई और शेष व्यापारी दुकानदार मुंशी और घरेलू नौकर थे। यदि यह ठीक माना जाए

कि इस बात का कोई सबूत नहीं है कि जिन्हें कैद किया गया उन्होंने ही विद्रोह में भाग लिया था. फिर भी यह स्पष्ट है कि शहरी इलाके में इस प्रकार के लोगों को सरकार संशय की दृष्टि से देखती थी। यहाँ एक बार फिर यह कह देना आवश्यक है कि यह 'जन–विद्रोह' अर्थात् 'पोपलुर रिवोल्ट' था जिसमें जनसाधारण ने बढ़–चढ कर भाग लिया, परन्तु यह समाज के निचले तबकों का संभ्रात वर्गों अर्थात् ऊपरी तबकों के विरुद्ध वर्ग–संघर्ष नहीं था। यह एक सरकार विरोधी जन–विद्रोह था जिसमें संभ्रात वर्गों व जनसाधारण ने मिल–जुलकर सरकार का विरोध किया।

जिन लोगों ने विद्रोह में भाग नहीं भी लिया उनकी सहानुभूति भी विद्रोहियों के साथ ही रही। लोग अक्सर सरकारी कर्मचारियों व सरकारी सेना को गलत सूचना देकर गुमराह कर देते थे। बड़ौत में विद्रोह को दबाने के लिए तैयार की गई अंग्रेजी सेना के नेता आर० एच० डनलप ने अपने ब्यौरे एडवेंचर्स विद खाकी रसाला में लिखा कि विद्रोहियों की खुफिया सेवा बहुत कुशल थी जिससे यह स्पष्ट होता है कि लोगों की सहानुभूति विद्रोहयों के साथ थी। डनलप ने यह भी लिखा है कि 15 जुलाई 1857 को जब शाहमल भागने पर मजबूर हो गया तब लोगों ने उसके पीछे छूट गए सामान को हाथ लगाने से मना कर दिया। लंदन से प्रकाशित होने वाले समाचार पत्र टाइम्स के संवाददाता, डब्ल्यू० एच० रसल ने, जो समय भारत में थे, यह लिखा कि उत्तरी भारत में गोरे आदमी की गाड़ी को कोई भी मित्रतापूर्ण दृष्टि से नहीं देखता था।

यह भी उल्लेखनीय है कि इस विद्रोह में ऐसे उदाहरण बहुत कम मिलते है जब लोगों ने जान बचाने के लिए या धन के लालच में अपने साथियों को धोखा दिया हो। कुँवर सिंह का पीछा करने वाले ब्रिटिश अफसर लुगार्ड ने यह स्वीकार किया कि उसे ग्रामवासियों की ओर से काफी परेशानी उठानी पड़ी। लखनऊ में जेम्स आउटरम ने प्रत्येक यूरोपीय कैदी को छोड़ने के लिए 10,000 रुपये देने की घोषणा की, परन्तु कोई भी रुपए लेकर अंग्रेजो का साथ देने को तैयार नहीं हुआ। यह स्वाभाविक ही था कि इतने बड़े विप्लव में ऐसे भी लोग हो जिन्होंने स्थिति का लाभ उठाने के उद्देश्य से इसमें भाग लिया हो। परन्तु जिस तरह की बलिदान की भावना इस विद्वारे के दौरान देखने में आई वह केवल स्वार्थ सिद्ध करने की भावना का परिणाम नही हो सकती। मेरठ, लखनऊ, कानपुर व झाँसी में जिन लोगों ने अपनी जान की बाजी लगा दी उनके मन में यह प्रबल प्रेरणा अवश्य रही होगी कि वे अपनी संस्कृति की रक्षा के लिए एक न्यायपूर्ण संघर्ष कर रहे है।

विद्रोह के बाद अंग्रेज अफसरें ने यह तर्क देने की कोशिश की कि जनसाधारण तो कम्पनी की नीतियों से सन्तुष्ट था, परन्तु मुसलमान षडयन्त्रकारियों ने उन्हें भड़का दिया। लेकिन इस विद्रोह में हिन्दुओं व मुसलमानों में जो सहयोग व भाई चारे की भावना देखी गई उससे स्वयं अंग्रेज दंग रह गए। हर घोषणा में हिन्दुओं व मुसलमानों का एक साथ आह्वान किया गया। इनमें अंग्रेजों के राज से पहले से चली आ रही सह–अस्तित्त्व की अपील की गई। जिस सहजता से सब ने अंग्रेजी सरकार को ही शत्रु माना उसी से आपसी सहयोग की भावना का अनुमान लगाया जा सकता है। लखनऊ के निकट एक हवलदार ने विद्रोह से पहले अपनी रिपोर्ट में कहा कि पुलिस स्टेशन पर एक नए रंगरुट को उसने यह कहते हुए सुना कि उन्हें सैनिकों का विरोध करने के लिए कहा गया है परन्तु वे ऐसा नहीं करंगे। कारण देते हुए उसने आगे कहा, 'काला काला आदमी सब एक है। दीन की बात है। हम लोग काहे को बेधर्म हो ? इस प्रकार भ्रातृत्व की भावनाक केवल सैनिकों तक ही सीमितनही थी। वे सब जो एक रंग के थे, चाहे वे किसी भी धर्म के हो, कोई भी धंधा करते हो, इसमें शामिल थे। अंग्रेजों को ही शत्रु के रुप में देखा गया। इस समय के इश्तहारों में बार–बार 'हिन्दुस्तान के हिन्दुओं और मुसलमानों' का विदेशी सरकार के विरुद्ध आह्वान किया गया है।

एक और प्रश्न उभरता है। वह यह कि क्या यह पुनः स्थापना के लिए संघर्ष था। इसमें संदेह नहीं कि मुगल साम्राज्य की पुनः स्थापना की ही बात सोची गई। अवध के नवाब के साथ सहानुभूति ने वहाँ की जनता को विद्रोह के लिए प्रेरित किया। पाश्चात्य विकास की दिशा तथा महत्त्व से वे अनभिज्ञ थे। ब्रिटिश व्यवस्था की संरचनात्मक श्रेष्ठता को वे नहीं समझते थे। किन्तु उसके विनाशकारी परिणाम की उन्हें गहरी अनुभूति थी। ब्रिटिश व्यवस्था की तुलना में पुरानी व्यवस्था में उकी ऐसी दुर्दशा नहीं हुई थी। अतः पुनः स्थापना की इच्छा भी विद्रोह का उतना ही मान्य उद्देश्य है जितना परिवर्तन की इच्छा। अंग्रेजी सरकार क नीतियों के विरुद्ध शेष ने उन्हें वद्रोह करने को प्रेरित किया और उनके आने से पहले की स्थिति को पुनः स्थापित करना ही उनका उद्देश्य था। उसकी प्रासंगिकता इस बात में निहित थी कि उन्होंने शासकों की उन नीतियों के विरुद्ध आवाज उठाई जिन्हें वे अपनी संस्कृति, मूल्यों, परम्पराओं एवं आर्थिक जीवन पर आघात मनाते थे। उनका उद्देश्य नई सामाजिक व्यवस्था स्थापित करना या आर्थिक व्यवस्था का नव–निर्माण करना नही था, बल्कि अपने संसार का छिन्न–भिन्न होने से बचाना था।

प्रश्न फिर यही उठता है कि इतने विस्तृत क्षेत्र में एक ही समय में अंग्रेजों की सरकार शत्रु– समान क्यों लगने लगी ? इन क्षेत्रों विलयन ईस्ट इंडिया कम्पनी ने अलग–अलग समय पर किया था। जहाँ उत्तर–पश्चिमी प्रान्त के विलयन को पचास वर्ष से भी अधिक हो गए थे वहाँ अवध के विलयन को सवा साल ही हुआ था। लगान व्यवस्था में भी एकरुपता नहीं थी। इस क्षेत्र में पारिस्थितिक अंतर भी था। जहाँ सहरानपुर–मेरठ क्षेत्र बहुत उपजाऊ था वही मथुरा–आगरा क्षेत्र सूखा ग्रस्त रहता था। इन सब भिन्नताओं के बावजूद हरियाणा से पश्चिमी बिहार तक के क्षेत्र में जो विद्रोह हुए उनकी शैली एक–सी थी और वे समान मनः स्थिति को प्रतिबिंबित करते है। इसके क्या कारण है ?

महाविद्रोह के कारण

उत्तरी भारत के एक बड़े भाग में यह महाविद्रोह जन–विद्रोह बन गया ग्रामीण क्षेत्रों में व्यापक असन्तोष के कई कारण थे। प्रमुख कारण तो यह था कि नई लगान–व्यवस्था में सरकार की उत्पीडन सत्ता की छाप दिखाई देती थी। यह दो रुपों में दिखाई पड़ी– पहली तो भूमि की क्षमता से अधिक लगान की दर और दूसरी भूमि को निजी संपत्ति बनाने से इस पर अधिकार के हस्तांतरण की सुविधा। जमींदारों व किसानों के लिए नई व्यवस्था के अन्तर्गत नियत लगान की अदायगी कर पाना कठिन हो रहा था। ऊपरी दोआब जैसे उपजाऊ क्षेत्र में लगान की दर इतनी अधिक थी कि इसका भुगतान नहीं हो सका। मथुरा–'आगरा क्षेत्र मे लगान की रकम कम नियत की गई थी, परन्तु यहाँ सिंचाई के साधनों के अभाव में उपज इतनी कम होती थी कि इसका भी भुगतान कठिन था। यह महाविद्रोह एक प्रकार से लगान की अधिकता के विरुद्ध विद्रोह था। ऐसे खुदकाश्त किसानों पर, जिनके पास छोटे–छोटे खेत थे, अधिक दबाव पड़ा। सन् 1846 में बोर्ड ऑफ रेवेन्यु ने यह कहा कि चार जिलो–अलीगढ़, मैनपुरी, मथुरा और बाँदा में जहाँ लगान न जमा करवाने के कारण भूमि की नीलामी की गई थी, यह पाया गया कि इसका कारण लगान की अधिकता था। 1857 तक मैनपुरी के कुछ भाग को छोड़कर किसी और जिले में स्थिति को सुधारने का कोई प्रयास नहीं किया गया। यह देखते हुए यह कोई हैरानी की बात नहीं है कि इन जिलों में ग्रामीण इलाकों में विद्रोह ने उग्र रुप धारण किया।

भूमि को निजी संपत्ति बना देना भी असंतोष का कारण बना। इससे भूमि खरीदना, बेचना व रेहन रखना आसान हो गया। लगान की ऐसी रकम, जिसकी अदायगी करना कठिन था और भूमि के हस्तांतरण की व्यवस्था का मिला–जुला परिणाम यह हुआ कि छोटे बड़े जमींदारों को बेदखल करना आसान हो गया। सन् 1853 में केवल उत्तर–पश्चिमी प्रांत में लगान की रकम की अदायगी न होने के कारण 11 लाख एकड़ भूमि की नीलामी की गई। इसी प्रकार 1856–57 में अवध में 'संक्षिप्त बंदोबस्त' किया गया जिसके अन्तर्गत भी बहुत से जमींदारों को बेदखल किया गया। साहूकारों ने सरकार की नीतियों का भरपूर लाभ उठाया और जमीनों के मालिक बन गए। इस प्रकार सरकार, साहूकार व जमींदार का ऐसा त्रिकोण उभरा जो उत्पीडन का माध्यम बन गया। इसके प्रभावों का आंकलन केवल आँकड़ों के माध्यम से नहीं कया जा सकता। इन साहूकारों को आर्थिक लाभ तो हुए परन्तु वे गाँव में प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं कर पाए। लोगों की सहानुभूति भूमि के वंशानुगत मालिकों के साथ ही बनी रही और उनकी दुर्दशा के लिए वे सरकार को ही उत्तरदायी ठहराते रहे। कहने का अभिप्राय यह नहीं है कि जमींदार किसानों का उत्पीड़न नहीं करते थे या यह कि उनके आर्थिक हितों में एकरुपता थी। एक ऐसे समाज में जहाँ वंशानुगत कुलीन लोग अर्थव्यवस्था व आपसी सम्बन्धों का संचालन करते थे, तनावों का न होना सम्भव नही था। परन्तु इस समय सरकार की नीतियों के सीधे प्रभावों के कारण उनके सम्बन्धों में पारस्परिकता आ गई थी और विदेशी सरकार ही शत्रु पक्ष दिखाई देने लगी थी।

बड़े–बड़े जमींदारों व ताल्लुकेदारों ने सरकार विरोधी रवैया क्यों अपनाया ? इसका कारण था कि उनके लिए भी ब्रिटिश लगान बंदोबस्त घातक सिद्ध हो रहा था। बंगाल में जमींदारों के साथ स्थायी बंदोबस्त 1790 के दशक में किया गया था। शेष उत्तरी भारत के अधिकतर भागों में बंदोबस्त 1820 के बाद किया गया। इस समय तक यूरोप में नेपोलियन का खतरा समाप्त हो गया था, मराठा को हराया जा चुका था तथा ब्रिटेन में औद्योगिक क्रान्ति से उत्पादन बढ़ रहा था। इन सबसे अंग्रेजों में आत्मविश्वास बढ़ गया था और भारत में पारंपरिक उच्च वर्गों समर्थन की आवश्यकता कम हो गई थी। वैसे भी उपयोगितावाद व रिकार्डो के लगान–सिद्धान्त के प्रभाव के कारण अंग्रेज अफसर जमींदारों को परजीवी मानने लगे थे अर्थात समाज का वह भाग जो उत्पादन बढ़ाने में कोई योगदान नहीं करता था तथा अन्य लोगों द्वारा उत्पादित वस्तुओं का उपभोग करता था। उत्तर–पश्चिमी प्रांत में महलवाड़ी लगान बंदोबस्त लागू कया गया जिसके अर्न्तगत गाँव समतियों से सीधे बंदोबस्त किए गए और बड़े जमींदारों को लगान इकट्ठा करने के कार्य से वंचित कर दिया गया। जनवरी 1844 में जेम्स थॉमसन इस प्रान्त के गर्वनर बने और उन्होंने विधिवत रुप से ताल्लुकेदारों की प्रतिष्ठा शक्ति तथा जमींदारी को समाप्त करने की नीति अपनाई।। अवध में भी विलयन के बाद 1856–57 में 'संक्षिप्त बंदोबस्त' किया गया तो इसी प्रकार की नीति अपनाई गई। परन्तु ताल्लुके दारों की प्रतिष्ठा को समाप्त करना इतना आसान नहीं था। कई स्थानों पर वे कुछ भूमि को बचा लेने में या सरकारी नीलामी के दौरान अपनी भूमि को पुनः खरीदने में सफल हो जाते थे। लोगों की सहानुभूति उनके प्रति बनी रहती थी और ग्रामीण यह मानते थे कि वे सरकारी नीतियों के कारण कष्ट सह रहे थे, क्योंकि किसानों को स्वयं सरकारी नीतियों के कारण कष्ट सहने पड़ रहे थे। इसलिए उनकी सहानुभूति बेदखल होने वाले हर व्यक्ति के साथ बनी रहती थी। सामाजिक दृष्टि से लोग इन्हें इतने सम्मान की दृष्टि से देखते थे जिन लोगों को उनकी भूमि से लगान इकटठा करने का काम प्राप्त हुआ था वे अक्सर उन्हें न्यायालय में चुनौती देने से कतराते थे। अक्टूबर 1857 में मैनपुरी में राजा तेजसिंह अपनी जमींदारी का भार अपने चचेरे भाई राव भवानी सिंह पर छोड़कर भाग गए। भवानी सिंह अंग्रेजों का समर्थक था। भवानी सिंह को जनता का समर्थन नहीं मिल पाया। राज्य छोड देने के बाद भी तेजसिंह का प्रभाव बना रहा।

आर्थिक दृष्टि से भी यह उल्लेखनीय दे कि सदियों से लगान इकट्ठा करने वाले जमींदार व जागीरदार केवल परजीवी नहीं थे। यह ठीक है कि ये पूँजीपति जमींदारों की भांति लांभाश का भूमि में आय बढ़ाने के लिए निवेश नहीं करते थे। परन्तु वे यह जानते थे फसल अच्छी होने के इन्हें भी लाभ होगा। इससे उनकी आय बढ़ती थी। उनके रहन–सहन व जीवन–यापन के तरीके इस प्रकार के थे कि गाँव के बहुत से लोग जीविका के लिए पूर्ण आंशिक रुप से उन पर निर्भर थे। उनकी कुल आय का एक भाग इस प्रकार ग्रामीणों तक पहुँच जाता था। कम्पनी द्वारा जमींदारों की शक्ति पर प्रहार का एक परिणाम यह हुआ कि भूमि का अतिरिक्त उत्पादन और इससे होने वाली आय का वह भाग जो इस प्रकार गाँवों में रह जाता था अब शहरों में या सरकारी खजाने में पहुँचने लगा। पारंपरिक लगान–व्यवस्था के स्थान पर औपनिवेशिक लगान सम्बन्ध स्थापित होने से गाँवों में बेरोजगारी तथा असुरक्षा की भावना बढ़ी। ग्रामीणों को ऐसा लगने लगा कि उनका संसार छिन्न–भिन्न हो रहा है इस सबके लिए कम्पनी को उत्तरदायी ठहराया गया। परिणाम यह हुआ कि जिन जमींदारों की भूमि नहीं भी छीनी गई थी उन्होंने भी इस विद्रोह में भाग लिया। इनमें भंगा, छर्दा और गोंडा के जमींदारों के नाम उल्लेखनीय है।

1857 में कृषक व जमींदारों के सम्बन्ध भी परस्पर पूरकता पर आधारित रहे, पारस्परिक संघर्ष पर नहीं। बहुत से स्थानों पर अंग्रेज अफसर भी यह देख कर हैरान हो गए कि जिन किसानों में भूमि बाँटी गई थी उन्होंने स्वयं इसे बेदखल हुए जमींदारों को लौटा दिया। जमींदार की भमिका के विश्लेषण में इस बात पर जो दिया जाता है कि उन्हें अंग्रेजो के राज्य में भौतिक हानि उठानी पड़ी थी। परन्तु इसके साथ समाज में उनके पारम्परिक स्थान पर जो आघात हुआ था वह उससे भी अधिक चुभता था।

ईस्ट इंडिया कम्पनी की देशी राज्यों को समाप्त करके उनका विलयन करने की नीति का भी विपरीत प्रभाव हुआ। वेसे तो कम्पनी ने प्लासी के युद्ध के बाद से ही अपनी राजनीतिक सत्ता बढ़ाने का यथासम्भव प्रयास किया था। परन्तु लार्ड डलहौजी ने, जो 1848 से 1856 तक गर्वनर जनरल रहे, बहुत जोश से और व्यावहारिक पहलुओं की पूर्ण अवहेलना करते हुए विस्तार की नीति अपनाई। इनमें से युद्ध में विजय के पश्चात् प्राप्त किए गए राज्यों, जैसे पंजाब तथा पेगू, का विलयन तो स्वाभाविक रुप से स्वीकार कर लिया गया, परन्तु गोद लेने की प्रथा का अन्त करके जिस प्रकार उसने सात राज्यों का विलयन किया वह निराधार दिखाई पड़ा। ये राज्य थे सतारा, संभलपुर, जैतपुर, बघात, उदयपुर, नागपुर तथा झाँसी। इस कार्य के लिए केवल डलहौजी को ही दोषी ठहराना न्याय संगत नहीं होगा, क्योंकि उस समय अधिकतर ब्रिटिश प्रशासक तथा धर्म–प्रचारक अधिक–से–अधिक क्षेत्र पर सीधा अपना नियंत्रण स्थापित करने के पक्ष में थे। इसके अतिरिक्त उसने कर्नाटक, सूरत और तंजौर के राजाओं को उपाधियों से वंचित कर दिया, पेशवा बाजीराव के दत्तक पुत्र नाना साहेब की पेंशन बन्द कर दी और यह घोषणा की कि मुगल सम्राट बहादुरशाह की मृत्यु के बाद उसके वंश जो को लाल किला खाली करना पड़ेगा। इन राजाओं की मनोवृत्ति पर तो इसका प्रभाव पड़ा ही, अन्य राजाओं पर भी इसका प्रभाव पड़ा और उन्हें लगने लगा कि उनका भविष्य असुरक्षित हो गया है। साधारण जनता भी इससे प्रभावित हुई, क्योंकि नई शासन–व्यवस्था तथा तीव्र आर्थिक और सामाजिक परिवर्तन के समय में वह इन देशी राज्यों के शासकों को अपनी सभ्यता, धर्म तथा संस्कृति के संरक्षक तथा प्रतीक के रुप में देखती थी। इनके विलयन से उसे लगने लगा कि उनकी संस्कृति तथा मान्यताओं में उथल–पुथल मच गई है। वह इस विलयन के आधार को अन्यायपूर्ण तथा अनुचित मानती थी। बम्बई के बॉम्बे समाचार में भारतीयों के मन की ही बात कही जब उसने डलहौजी को "कुख्यात पिंडारी तथा राज्यों को लूटने वाला" बतलाया।

डलहौजी का अन्तिम तथा सबसे अन्यायपूर्ण कदम फरवरी 1856 में अवध का विलयन था। यहाँ का राजा दत्तक पुत्र नहीं था। उसके एक लड़का भी था जो उत्तराधिकारी बन सकता था। वहाँ के राजा की स्वामिभक्ति पर भी संशय नहीं किया जा सकता था। इस सबको देखते हुए डलहौजी को इस राज्य के विलयन के लिए कोई न्यायसंगत आधार नहीं मिल पा रहा था। 1856 में डलहौजी ने इसका विलयन इस आधार पर किया कि यहाँ की शासन–व्यवस्था ठीक नहीं थी। परन्तु शासन की खामियों कारण शासक की आयोग्यता नहीं बल्कि उसकी कम्पनी पर निर्भरता थी। इससे और अधिक मनोमालिन्य इस कारण पैदा हुआ कि विलयन का आधार पूर्णतः अन्यायपूर्ण था। जिस शांतिपूर्ण ढंग से राजा ने अपना राज्य छोड़ दिया उससे जनता की राजा के प्रति सहानुभूति और बढ़ गई। वह भी परिस्थितियों का शिकार प्रतीत होने लगा।

देशी राज्यों के इस प्रकार विलयन का लोगों के जीवन पर सीधा असर पड़ा। जीविका, व्यापार तथा उद्योगों में लगे लोग, जो दरबारियों की जरुरतों को पूरा करते थे, बेरोजगार हो गए। प्रतिभावान लेखकों, कवियों व कलाकारों को भी इन दरबारों में आश्रम मिलता था। ये लोग रातों रात असहय हो गए। ये राज्य सैनिकों की भी जीविका का साधन थे। केवल अवध में ही 45,000 सपाहियों को थोड़ी–बहुत पेंशन देकर बर्खास्त कर दिया गया। जिन 15,000 सैनिकों को रखा गया वे भी कम्पनी की नौकरी में अधिक प्रसन्न नहीं थे। वास्तव में अंग्रेज प्रशासकों का अंतःकरण भी इस विलयन के लिए गवाही नहीं दे रहा था। लखनऊ में रेजिडेंसी में घिर जाने के समय वहाँ सभी अंग्रेजों ने अपने दुर्भाग्य का दोष अपनी सरकार के अन्यायपूर्ण। व्यवहार को दिया। यह सब देखते हए यह आश्चर्य की बात नहीं लगती कि विद्रोह ने सबसे विकट रुप अवध में धारण किया। यहाँ लोग अपने क्षेत्र की स्वतंत्रता तथा अपने राजा को पुनः गद्दी पर बैठाने के लिए लड़ रहे थे। यहाँ विद्रोह ने इतना गंभीर रुप इसलिए धारण किया क्योंकि लोगों को लग रहा था कि उनका संघर्ष न्यायपूर्ण है।

औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध प्रतिक्रिया

ब्रिटिश सरकार की केवल भू-लगान व्यवस्था से ही नहीं, अन्य आर्थिक नीतियों से भी जनता को शिकायत थी। इनके [illegible] समय जारी किए गए इश्तहारों व घोषणापत्रों में मिलता है। बहुत से किसान व खतिहर मजदूर खेती बाड़ी के साथ-साथ [illegible] कताई व बुनाई का काम भी करते थे। ब्रिटेन में औद्योगिक क्रान्ति होने के बाद मशीन के कपड़े के आयात के कारण इनके द्वारा तैयार किए गए माल की खपत घटने लगी। ऐसे समय में जब भूमि से आय में कमी हो रही थी, ग्रामीणों को अतिरिक्त आय का यह साधन भी छिन गया। इसके अतिरिक्त इस समय निर्यात के लिए अफीम, चाय व नील जैसी नकदी फसलों के उत्पादन को बढ़ावा दिया गया। इससे खाद्य पदार्थों के उत्पादन में कमी आई और इनकी कीमतें बढ़ने लगी इस समय के समाचार-पत्रों में बढ़ती हुई कीमतों की चर्चा मिलती है। विद्रोह के दौरान इश्तहारों व समाचार-पत्रों में छपे लेखों से यह स्पष्ट होता है कि समकालीन लोग आर्थिक कठिनाइयों के लिए पूर्ण रुपसे विदेशी सरकार को उत्तरदायी ठहराने लगे थे। बहादुरशाह के एक इश्तहार में इनको गिनाया गया है। जमींदारों का आह्वान करते हुए कहा गया है कि उन पर मालगुजारी का भार डाला गया तथा बकाया रकम की वसूली के लिए उनकी जमींदारियों को नीलामी पर चढ़ाया गया। अदालत की फीस और मुकदमों की खर्चीली विधि के द्वारा भी उन्हें नष्ट किया गया। व्यापारियों को कहा गया कि विधर्मी तथा विश्वासघाती सरकार' ने सभी अच्छी तथा कीमती चीजों जैसे नील कपड़ा आदि के ऊपर एकाधिकार स्थापित कर लिया है और केवल मामूली चीजों को उनके लिए छोड़ा है। यही नहीं, इन पर भी शुल्क स्टैप-ड्यूटी, टैक्स एवं चुंगी वसूल की जाती है। सरकारी नौकरियों के सम्बन्ध में यह कहा गया कि सभी ऊँची मर्यादा तथा ऊँचे वेतन वाली नौकरियाँ अंग्रेजों के लिए सुरक्षित थी। कारीगरों के सम्बन्ध में इस इश्तहार में यह कहा गया है कि अंग्रेजों ने विलायत में बना हुआ माल भारत में लाकर यहाँ के जुलाहों धुनियों बढइयों लुहारों, मोचियों आदि को रोजगार छीनकर भिखमगा बना दिया है।

इस पृष्ठभूमि में यह भावनाघर करने लगी कि भारतीयों की सभ्यता व संस्कृति खतरे में है। ईसाईधर्म के प्रचार से इस भावना को बल मिला। जब तक कम्पनी की सरकार के पाँव मजबूत नहीं हुए थे तब तक ईसाई धर्म प्रचारकों के प्रति कम्पनी ने सतर्कतापूर्ण रवैया अपना या था तथा उन्हें धर्म प्रचार से इस भावना को बल मिला। जब तक कम्पनी की सरकार के पाँव मजबूत नहीं हुए थे तब तक ईसाई धर्म प्रचारकों के प्रति कम्पनी ने सतर्कतापूर्ण रवैया अपनाया था तथा उन्हें धर्म प्रचार की अनुमति नहीं दी थी। परन्तु धीरे-'धीरे राजनीतिक सत्ता के मजबूत होने के साथ-साथ आत्मविश्वास बढ़ने लगा और ब्रिटिश अफसर यह सोचने लगे कि भारत पर शासन करने के साथ-साथ भारतीयों को 'सभ्य' बनाना भी उनका उत्तरदायित्त्व है। अधिकतर अंग्रेजों के लिए ईसाई धर्म का प्रचार ही सांस्कृतिक सुधार का तरीका था। इस संदर्भ में सरकार ईसाई धर्म प्रचारकों को भारत में रहने की अनुमति मिल गई थी। ये धर्म प्रचारक खुले रुप से उस दिन की कल्पना करने लगे जब भारत के सब लोग ईसाई हो जाएँगे। स्कूलों अस्पतालों, जेलखानों मेलों, बाजारों इत्यादि में ये सभी जगह दिखाई देने लगे। स्कूलों में बच्चों को अंग्रेजी शिक्षा प्रदान करने के साथ-साथ बाइबिल की प्रतियाँ भी घर ले जाने के लिए दी जाने लगी। जेलों में धर्म प्रचारकों को भाषण इत्यादि देने की सुविधाएँ दी जाने लगी। सेना के अफसर भी जवानों के बीच ईसाई धर्म की खूबियों पर बात करने लगे।

ऐसे में सरकार द्वारा पास किए जाने वाले हर कानून व नियम को संशय की दृष्टि से देखा जाने लगा और यह अर्थ लगाया गया कि भारतीयों के धर्मों, रीति रिवाजों ओर परम्पराओं पर जान-बूझ कर आघात किया जा रहा है। डलहौजी तथा कैनिंग के समय पास किए गए कुछ कानूनों की वजह से यह भावना और दृढ़ हो गई। 1850 में एक कानून पास किया गया जिसमें यह कहा गया कि ईसाई धर्म अपनाने वालों को अपनी वंशानुगत संपत्ति पर उत्तराधिकार से वंचित नहीं किया जाएगा। जब कैनिंग भारत पहुँचा तब यह अफवाह गर्म थी कि से भारतीयों को ईसाई बनाने के लिए भेजा गया है। उसके आते ही दो कानून पास हुए जिनमें से एक के अन्तर्गत विधवा विवाह को मान्यता दी गई तथा दूसरे में यह कहा गया कि सेना में भर्ती होने वालों को कहीं भी भेजा जा सकेगा। यद्यपि इनके लिए कैनिंग उत्तरदायी नहीं था, फिर भी इससे भारतीयों की आशंकाएँ विश्वास करने के लिए तैयार हो गए। इस संदर्भ में जब कभी सड़क चौडी करने के लिए किसी मन्दिर या मस्जिद के किसी भाग को गिराना पड़ता था तो इसका अभिप्राय यही लिया जाता था कि सरकार भारतीयों के धर्मों को नष्ट करके उन्हें ईसाई बनाने पर तुली हुई है। भारतीयों में धर्म-सम्बन्धी द्वेष व कटुता का अनुमान इस इश्तहार से लगाया जा सकता है जो अवध के राजा की अपत्नी हजरत महल ने, जिसने अपने दो वर्षीय लड़के बिरजिस कैदर के नाम पर विद्रोह किया था, रानी विक्टोरिया की 1 अक्टूबर 1858 की घोषणा के बाद जारी किया। इस इश्तहार में कहा गया कि :-

"ईसाई धर्म सत्य है परन्तु अन्य किसी धर्म का निरादर नही किया जाएगा तथा कानून के सम्मूख सब बराबर होंगे। धर्म में क्या सत्य है और क्या असत्य इसका न्याय से क्या सम्बन्ध है ? सूअर खाना और शराब पीना, चर्बी वाले कारतूसो को मुँह से काटना सूअर की चर्बी को आटे और मिठाइयों में मिलाना, हिन्दू तथा मुसलमान धार्मिक स्थानो को सड़क बनाने के नाम पर तोड़ना खर्च बनाम पदरियों को ईसाई धर्म का प्रचार करने के लिए जगह-जगह भेजना अंग्रेजी स्कूलों की स्थापना करना अंग्रेजी विज्ञान सीखने के लिए बच्चों को मासिक चंदा देना-जबकि हिन्दुओं तथा मुसलमानों के धर्म-स्थानों की उपेक्षा की जा रही हो-इस सबके साथ लोग यह कैसे विश्वास कर सकते है कि धर्म के मामलों में दखल नहीं दिया जायगा। विद्रोह का प्रारम्भ धर्म से हुआ और इसी की रक्षा के लिए लाखों ने कुर्बानी दी है।"

ऐसे समय जब राष्ट्रीयता की भावना का उदय नहीं हुआ था संस्कृति व परम्पराओं पर आने वाले खतरे के अहसास ने लोगों को मर मिटने के लिए प्रेरित किया, क्योंकि संस्कृति और परम्परा ही राष्ट्रीय भावना का पर्याय बन गई।

साम्राज्यवादी शासकों में जातीय उच्चता की अहम भावना ने शासको व शासितो के मध्य विद्यमान कटुता को और भी बढा दिया। सामाजिक स्तर पर अंग्रेजों व भारतीयों के मध्य विशेष संपर्क नही था। अठारहवीं शताब्दी के अंग्रेज भारतीय संस्कृति व सभ्यता के प्रति आदर की भावना रखते थे। परन्तु भारत पर अधिकार कर लेने के बाद अपने आपको भारतीयों से श्रेष्ठ समझना स्वाभाविक ही था। सैनिक व गैर–सैनिक अंग्रेज अधिकारी भारतीयों से विलंग रहने लगे और भारतीयों को असभ्य, अंधविश्वासी, रूढ़िवादी और पाखंडी समझने लगे। एक युवा जल–सेना अफसर एडमंड बर्नी ने अपने पिता को लिखा कि 'ब्रिटेन के लोग यहाँ के लोगों के प्रति 'तिरस्कारपूर्ण' अहंकार तथा घृणा की भावना रखते है। वे साधारणतः भारतीयों के प्रति प्रतिकूल भाव रखते है जिसे वे अपने व्यवहार में स्पष्ट कर देते है। यहाँ लोगों पर यदि वे कृपा भी करते है तब भी तिरस्कार के भाव से ही करते है जो उनके चेहरे पर स्पष्ट देखा जा सका है। 'ऐसी स्थिति में परस्पर अविश्वास की भावना दृढ़ होती गई।

प्रश्न यह भी उठता है कि सैनिकों में व्याप्त रोष के क्या कारण थे ? उन्होंने सरकार के विरुद्ध आवाज उठाने में पहल क्योंकि ? यहाँ यह ध्यान रखना आवश्यक है कि इस विद्रोह में सिपाहियों व किसानों की भूमिका को अलग–अलग नहीं आँका जा सकता। भारत में सेना में भर्ती होने के बाद भी लोग अपने कुटुंब गाँव से निकट सम्बन्ध बनाए रखते थे और आम जनता से जुड़े रहते थे। इससे सैनिकों की चिंताएँ सारे समाज से सम्बन्ध रखती थी और आम लोगों की परेशानियाँ सैनिकों से। जैसा कि कहा जा चुका है, विद्रोहियों को वर्दीधारी किसान' व 'शस्त्रधारी किसान' कहा गया है। सैनिकों की कुछ विशिष्ट शिकायतें भी थी जिनसे उनमें सरकार विरोधी भावना और अधिक प्रबल हो रही थीं सरकार और सिपाही के ध्य प्रमुख सम्बन्ध वेतन का था। इस दृष्टि से स्थिति सन्तोषजनक नहीं थी। सेना में लगभग 315,000 भारतीय सैनिक तथा 51,000 यूरोपीय सैनिक थे। परन्तु सेना के कुल व्यय का आध े से अधिक भाग इन यूरोपीय सैनिकों पर खर्च किया जाता था। एक भारतीय सैनिक का अधिक–से–अधिक वेतन 174 रुपये था जो किसी नए यूरोपीय सैनिक के प्रारम्भिक वेतन से कुछ ही अधिक था। दूसरी ओर भारतीय सैनिकों को साम्राज्य–विस्तार से भी हानि हो रही थी क्योंकि अब उन्हें बिना अतिरिक्त भत्ते के दूर प्रदेशों में भेजा जाने लगा था। पंजाब में युद्ध के दौरान वे सतलुज नदी के परे सेवा जो उन्हें नही दिया गया। इसी प्रकार पहले उन्हें अवध में कार्य करने पर, जो बहुतों का अपना ही देश था, अतिरिक्त भत्ता मिलता था जो अब बन्द हो गया था। बंगाल आर्मी (जिसने विद्रोह किया था) का तीसरा भाग अवध से था। जैसे–जैसे साम्राज्य–विस्तार से अग्रेजों में आत्मविश्वास बढने लगा ने भारतीयों को तुच्छ समझने लगे। एक भारतीय ने लिखा कि अंग्रेजों में आत्मविश्वास बढ़ने लगा वे भारतीयों को तुच्छ समझने लगे। एक भारतीय ने लिखा कि अंग्रेज अफसर हमारे क्रिया–कलाप को इस तरह देखते है जैसे एक थका हुआ आदमी मक्खियों को देखता है। सेना में अंग्रेज व भारतीयों की जातीय उच्चता की भावना के प्रदर्शन से सैनिकों में तुच्छता का अहसास बढ़ जाता था। परेड ग्राऊंड के बाहर हिन्दुस्तानी सिपाहियों तथा अंग्रेज अफसरों के मध्य कोई संपर्क नहीं था। इस कारण वे सिपाहियों की परेशानियों तथा असन्तोष के कारणो को नहीं समझ सकते थे। ऐसी स्थिति में सैनिक इन अफवाहों पर विश्वास करने लगे थे कि अंग्रेजी साम्राज्य का अन्त निकट है, 1857 में 100 वर्ष पूरे होने के बाद यह टिका नहीं रहेगा तथा अंग्रेज सारे भारतीयों को ईसाई बनाने पर तुले हुए है आदि। जहाँ एक ओर वे इन आशंकाओं से घिरे हुए थे वहाँ दूसरी ओर वे यह भी जानते थे कि क्रीमिया युद्ध में व्यस्त होने के कारण यूरोपीय सैनिकों की संख्या कम है तथा आगरा और बैरकपुर (कलकत्ता के निकट) के मध्य यह नहीं के बराबर है। यह भी सोचते थे कि अंग्रेज अपना साम्राज्य स्थापित करने में उनकी वीरता के कारण सफल हो पाए थे। इन सबने उनमें आत्मविश्वास बढ़ा दिया तथा उन्हें विद्रोह करने का साहस प्रदान किया। यहाँ यह कह देना उचित होगा कि 1857 से पूर्व भी सैनिकों ने अपने धर्म तथा मान्यताओं पर प्रहार होने की दशा में विद्रोह किए थे। 1806 में मद्रास के निकट वेलोर में जब एक रुपता के लिए सिपाहियों को टीका लगाने तथा पगड़ी पहनने की मनाही की गई तब वहाँ विद्रोह हुआ था। इसी प्रकार प्रथम तथा द्वितीय बर्मा युद्ध के समय सिपाहियों ने समुद्रपार जाने के आदेश का विरोध किया था। इस पृष्ठ भूमि में चर्बी वाले कारतूसों के प्रश्न से जिसका विवरण शुरु में दिया गया है, सैनिक भड़क उठे।

इस विद्रोह के विभिन्न पहलुओं पर इतिहास कारों ने काफी शोध–कार्य किया है। किन्तु इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए विशेष प्रयत्न नहीं किए गए है कि भारत के शेष भागों में यह विद्रोह क्यों नहीं हुआ। सारे भारत पर ब्रिटिश आर्थिक व प्रशासनिक नीतियों का प्रभाव लगभग एक–सा ही पड़ा था। इसी प्रकार सैनिकों की शिकायतें सेना के प्रत्येक भाग में समान थी। फिर यह विद्रोह सारे भारत में क्यों नहीं फैला ? केवल बंगाल सेना के सैनिकों ने ही विद्रोह क्यों किया ? बम्बई तथा मद्रास की सेना के सैनिकों ने विद्रोह क्यों नहीं किया ? इसी प्रकार पंजाब के सैनिकों ने लगभग एक दशक पूर्व ही अंग्रेजी फौजों के दाँत खट्टे किए थे। उनकी लगन तथा वीरता देखकर स्वयं अंग्रेज अफसर दंग रह गए थे फिर पंजाब में अधिक विस्तृत स्तर पर विद्रोह क्यों नहीं हुआ ? बंगाल में बैरकपूर, नई जलपाईगुड़ी, ढाका तथा चटगाँव में सैनिक विद्रोह हुए थे। परन्तु इन क्षेत्रों में असैनिक जनता ने उनका साथ क्यों नहीं दिया ? इन प्रश्नों पर विशेष शोधकार्य नहीं हुआ है। परन्तु ये सभी प्रश्न महत्वपूर्ण है जिनसे इस विद्रोह के स्वरूप व मूल्यांकन पर ही नहीं ब्रिटिश साम्राज्य के स्वरुप पर भी नई रोशनी पड़ेगी।

असफलता के कारण

जैसा कि कहा जा चुका है, इस विद्रोह के दौरान भारत में ब्रिटिश साम्राज्य के आस्तित्व के लिए गंभीर संकट खड़ा हो गया। [illegible] सिपाहियों की संख्या यूरोपीय सिपाहियों से सात गुनी थी। यह विद्रोह आकस्मिक हुआ कि सरकार हैरान रह गई। अवध तथा रुहेलखण्ड कुछ समय के लिए अंग्रेजों के हाथ से निकल गए। उत्तरी भारत में एक के बाद एक विद्रोह के परिणामस्वरुप विद्राहियों क स्थिति मजबूत होती जा रही थी। अंग्रेजों के जहाँ भारतीयों का समर्थन मिल भी रहा था, वे उउनकी निष्ठा की ओर से पूणत निश्चित नहीं हो सकते थे। नए--नए स्थानो पर विद्रोह होने से उनके साधनो पर दबाव भी बहुत अधिक बढ़ गया था। उनक लिए विभिन्न भागों से संपर्क बनाए रखना भी कठिन हो गया था क्योंकि जगह--जगह लोग शत्रुता पूर्ण रवैया अपना रहे थे। सारे सदभ को मद्दे नजर रखते हुए विद्रोहियों की असफलता तथा अंग्रेजों क सफलता के कारणों का विश्लेषण अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता है।

विद्रोहियों की असफलता के कारण काफी स्पष्ट है। उन्होंने अपने पक्ष में अनुकूल परिस्थितियों का प्रभावशाली ढग से उपयोग नहीं किया, विशेषकर विद्रोहके प्रारंभिक चरण में विभिन्न स्थानों पर विद्रोह असमन्वित तथा असंग्रठित रहे। विद्राहियों ने वीरता तो दिखाई और सरकार का विनाश करने पर वे तुले हुए भी प्रतीत होते थे, किन्तु ऐसा करने के लिए किसी सुनियोजित कार्यक्रम का पूर्ण अभाव रहा। दिल्ली से यूरोपीय सेना को खदेड़ देने के बाद विद्रोहियों की स्थिति निरन्तर मजबूत हो रही थी। तब भी उन्होंने दिल्ली क आसपास के भाग पर अपना पूर्ण अिधिकार जमाकर मुक्त क्षेत्र स्थापित नहीं किया। किसी स्थान पर विजय प्राप्त कर लेने पर भी उनके पास आगे का कार्यक्रम नहीं होता था। प्रारम्भ में उनकी संख्या तथा जोश इतना था कि वे दिल्ली के बाद कलकत्ता की ओर भी प्रस्थान करसकते थे, परन्तु इस प्रकार कोई प्रयास नहीं किया गया। उन्होंने कमजोर ब्रिटिश चौकियों को नष्ट नहीं किया न ही पुल तोड़ने इत्यादि जैसी मूल सावधानियाँ बरती।

विद्रोहियों के नेताओं में भी कोई संगठन की भावना देखने में नहीं आई। 82 वर्षीय बहादुरशाह कमजोर था। उसके द्वारा विभिन्न सरादारों का आह्वान करना काफी नहीं था। रानी झाँसी ने वीरता का का परिचय अवश्य दिया परन्तु उन्होंने विद्रोह को समन्वित करके नेतृत्त्व प्रदान करने का कोई प्रयास नहीं किया। वास्तव में विद्रोह के दौरान कोई भी ऐसा नेता सामने नहीं आया जो इसका संचालन कर सके। दिल्ली पर अधिकार करने के बाद यहाँ एक परिषद का गठन अवश्य किया गया। परन्तु इसे उचित दिशा व साधन नहीं मिल पाए। इसके पास धन, अनुभव तथा भविष्य की सरकार की रुपरेखा की कमी थी। धन प्राप्त करने के लिए जबर्दस्ती की जाती रही जिसमें ये नेता अलोकप्रिय हो गए। इस स्थिति में विश्वासघात के भी कई उदाहरण सामने आए। जनता के सम्मुख भी प्रेरणा का स्रोत --ब्रिटिश साम्राज्य का विरोध नकारात्मक विचारधार थी और न ही भविष्य के लिए कोई योजना। न उच्चतर समाज व्यवस्था का कोई स्वप्न था और न ही बेहतर राज्य पद्धति का सिपाहियो व किसानों ने वीरता का परिचय अवश्य दिया परन्तु बिना संगठन और नेतृत्त्व प्रदान करने वाले नेता के, बिना योजना के और बिना आत्मविश्वास के वे कुछ नहीं कर सकते थे।

दूसरी ओर अंग्रेज अपना साम्राज्य बनाए रखने के लिए कटिबद्ध थे। गर्वनर जनरल कैनिंग को भारत आए एक ही साल हुआ था। परन्तु उन्होंने शीघ्र ही यह महसूस कर लिया कि विद्रोह केवल सैनिक विद्रोह नहीं है। इंग्लैंड से शीघ्र ही सहायता मिलने की सभावना नहीं थी। उस समय जहाजो को उत्तमाशा--अंतरीय से घूमकर आना पड़ता था जिसमें छह महीने लग जाते है। इसलिए भारत में ही प्राप्य सेना पर निर्भर रहने के सिवाय कोई चारा नहीं था। परन्त अपने हाथ से दिल्ली, लखनऊ तथा अन्य प्रदेश निकला जान पर भी उन्होंने भारत को छोड़ने के विषय में नहीं सोचा। उनमें प्रबल इच्छाशक्ति, आत्मविश्वास तथा साम्राज्य को बनाए रखन का दृढ़ संकल्प था। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य के वर्षों में उनके पास इतने साधन थे तथा अपने साम्राज्य को बनाए रखने के कार्य में इतना विश्वास था कि विद्रोह के परिणाम के विषय में उनमें कभी संशय नहीं उठा। यूराप से सेना के भारत पहुँचने पूर्व ही उन्होंन दिल्ली पर अधिकार कर लिया था। उन्होंने शेष भारत के राजाओं को आश्वासन देकर बुद्धिमानी का कार्य किया। अंग्रेजों की साम्राज्य विस्तार तथा नैतिकतारहित विलय की नीति के बावजूद बहुत से भारतीय राजाओं ने उनका साथ दिया। अंग्रेजों को बहुत डर था कि सारे मराठा सरदार नाना साहेब के आह्वान पर विद्रोह न कर दे। कैनिंग ने तो यहाँ तक कहा कि यदि सिंधिया इस विद्रोह में शामिल हो जाएगा तो वे अगले दिन भारत छोड़ देंगे। देशी राजाओं से मित्रता बनाए रखने और उनसे सहायता प्राप्त करने के यथा सम्भव प्रयास किए गए। अंग्रेजों ने केवल आश्वासन ही नहीं दिए बल्कि विभिन्न राज्यों के राजाओं को बहुत उदारता से पुरस्कार भी दिए।

अंग्रेजों की भारत पर अधिकार बनाए रखने की कटिबद्धता इतनी तीव्र थी कि उन्होंने सारे साम्राज्य के साधनों का उपयोग किया। किस्मत से इस समय तक क्रीमिया युद्ध समाप्त हो गया था तथा तार--व्यवस्था शुरु कर दी गई थी। वर्ष के अन्त तक यूरोप से सैनिक पहुँचने लगे। कुल मिलाकर 112,000 अंग्रेज सैनिक भारत भेजे गए तथा 310,000 भारत में भर्ती किए गए। आर्थिक, राजनैतिक तथा सामाजिक दृष्टि से विकसित तथा आत्मविश्वास से परिपूर्ण अंग्रेजों के विरुद्ध नेतृत्त्व तथा योजना--विहीन विद्रोही जिनकी वीरता तथा ब्रिटिश विरोधी भावना का हथियार थी, सफल नहीं हो सकते थे।

विद्रोह के परिणाम

विद्रोहो विदेशी शासन को समाप्त करने में सफल नहीं हो पाया। एक वर्ष के भीतर ही यह स्पष्ट हो गया कि अंग्रेजी सरकार इसे दबाने में सफल हो जाएगी। परन्तु कुछ समय के लिए इससे साम्राज्य के अस्तित्व के लिए गंभीर खतरा अवश्य पैदा हुआ था। बहुत व्यापक स्तर पर ब्रिटिश साम्राज्यवादी सरकार का विरोध इसका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पहलू था। इससे भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवाद का स्वरुप यथावत बना रहा। परन्तु 1857–58 के अनुभवों का प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है।

साधारणतः 1858 में ईस्ट इंडिया कम्पनी को समाप्त करके भारत के शासन की बागडोर सीधे ब्रिटिश सरकार के हाथ में आना इस क्रान्ति का प्रमुख प्रभाव माना जाता रहा है। परन्तु इससे केवल सरकार के ढाँचे में परिवर्तन आया। भारत के साथ ब्रिटेन के सम्बन्धों में अथवा साम्राज्यवाद के स्वरुप में कोई अन्तर नहीं आया। यह भी उल्लेखनीय है कि ब्रिटेन के उद्योगपति काफी समय से यह मानने लगे थे कि भारत का शासन ईस्ट इंडिया कम्पनी के हाथ्स में होने के कारण वे भारत की व्यापक मंडी का लाभ नहीं उठा पा रहे है। इसलिए वे ईस्ट इंडिया कम्पनी का अन्त करने की माँग पहले से ही कर रहे थे। 1833 के चार्टर ऐक्ट में ही उनके दबाव के कारण कम्पनी का चीन के साथ व्यापार पर एकाधिकार समाप्त कर दिया गया था। इस प्रकार ईस्ट इंडिया कम्पनी की समाप्ति स्वयं में इस विद्रोह का परिणाम नहीं था, इस विद्रोह से ब्रिटेन में कम्पनी के आलोचकों को अपनी काफी समय से चली आ रही माँग को पूरा करवाने का अवसर अवश्य मिल गया।

इस विद्रोह के पश्चात भारत में अपने पाँव मजबूत करने के लिए अंग्रेजों ने कुछ प्रशासनिक परिवर्तन भी किए। सर सैयद अहमद खाँव बहुत से अंग्रेज अधिकारियों ने यह तर्क दिया कि विद्रोह का एक कारण इस बात का अभाव था कि कम्पनी के पास भारतीयों की इच्छाओं को जानने का कोई तरीका नहीं था। इस कमी को दूर करने के उद्देश्य से 1861 में पास किए गए इंडियन कांउसिल्स ऐक्ट के तहत यह प्रावधान किया गया कि तीन भारतीयों को विधान परिषद का सदस्य नियुक्त किया जाए। ये भारतीय जनता का प्रतिनिधित्व तो नहीं करते थे परन्तु इस बात को स्वीकार किया जाना कि "भारतीयों को प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए" महत्त्वपूर्ण परिवर्तन था।

इस विद्रोह के अनुभव के बाद सेना में भी सुधार किए गए। यूरोपीय तथा भारतीयों में 1:2 का अनुपात निश्चित किया गया। इसके पश्चात् उच्च जाति के हिन्दुओं में से सैनिकों की भर्ती करना बन्द कर दिया गया। उनके स्थान पर बीच की जातियों के हिन्दू, सिख, पठान तथा गोरखों की भर्ती की जाने लगी। सेना की व्यवस्था क्षेत्रीय तथा अन्य विभिन्नताओं को कायम रखते हुए की गई ताकि विभिन्न टुकड़ियों में एकता की भावना न पनप पाए।

जहाँ तक इस विद्रोह में भारतीयों पर प्रभाव का प्रश्न है, यही कहा जाता रहा है कि वे असफल रहे। परन्तु इस प्रकार के कथन का सम्बन्ध उद्देश्यों का निर्धारण करने से रहता है। स्वयं किसी विद्रोह के परिशाषित उद्देश्य नहीं होते। भाग लेने वाले लोगों व वर्गों के उद्देश्य होते है। ये उद्देश्य क्या थे और ये कहाँ तक पूरे हुए इसी पर किसी विद्रोह की सफलता व असफलता का आकलन निर्भर है। 1857 के विद्रोह में भाग लेने वाले तीन प्रमुख वर्ग थे—देशी राजा व उनके साथी, जमींदार तथा जनसाधारण। यह पहले भी कहा जा चुका है कि सैनिक मूलरुप से जनसाधारण का ही भाग थे।

देशी राजाओं के विद्रोह में भाग लेने का प्रमुख कारण अंग्रेजों की साम्राज्य विस्तार की नीति था जिससे उनके अस्तित्व के लिए खतरा पैदा हो गया था। 1858 में सरकार ने विलयन की नीति का परित्याग करने का फैसला किया और इस प्रकार देशी राजाओं को राज्य छिन जाने का खतरा नहीं रहा। विद्रोह के अनुभवों से सरकार ने यह महसूस किया कि उसका हित इन राजाओं के अस्तित्व को बनाए में ही है, क्योंकि जिन राजाओं ने इसमें भाग लिया थी अनेकों जनता ने खुलकर समर्थन दिया था और जिन्होंने भाग नही लिया था वे विद्रोह के बहाव को थामने का कार्य किया। दोनों ही प्रकार के अनुभवों से यह स्पष्ट था कि देशी राजाओं को बनाए रखने में ही सरकार को लाभ है अक्टूबर 1858 में महारानी विक्टोरिया द्वारा जारी किए गए घोषणा पत्र में यह कहा गया कि ब्रिटिश सरकार भारतीय रियासतों को साम्राज्य में नहीं मिलाएगी और पहले से चले आ रहे समझौतों का सम्मान करेगी। गोद लेने की प्रथा को भी स्वीकृति दी गई। परन्तु यहाँ इस ओर ध्यान दिलाना आवश्यक है कि जहाँ इनका अस्तित्व बनाए रखा गया वहीं इनकी शक्ति को धीरे–धीरे बहुत सीमित कर दिया गया। इनके अधिकार, पद, प्रतिष्ठा सभी ब्रिटिश सरकार कीइच्छा पर निर्भर हो गए। प्रसिद्ध इतिहासकार विलियम ली वॉर्नर ने 1858 के पश्चात देशी रियासतों के प्रति अपनाई गई नीति को 'अधीनस्थ एकीकरण की नीति' की संज्ञा दी है।

जमींदारों को सरकार से यह शिकायत थी कि उन्हें उनकी भूमि से बेदखल किया जा रहा था और आर्थिक हानि के साथ–साथ समाज में उनकी प्रतिष्ठा भी कम हो रही थी। 1858 के बाद अंग्रेज अफसरों ने यह महसूस किया कि समाज में स्थिरता बनाए रखने के लिए परम्परागत सहयोगी ढांचा को बनाए रखना आवश्यक है। इसलिए जमींदारों को बनाए रखने की नीति अपनाई गई और बहुत

से जमींदारों को पुन: स्थापित किया गया। सरकार की उदारता देखकर स्वयं जमींदार भी हैरान रह गए। अवध के ताल्लुकदार काफी समय तक यह सोचते रहे कि शायद उस समय इन्हें खुश करने के लिए ऐसा किया जा रहा था और जब भावनाओं के पैर फिर जम जाएंगे तो भूमि उनसे वापस छीन ली जाएगी। उन्हें आश्वस्त करने के लिए अक्टूबर 1859 में लॉर्ड कैनिंग ने स्वयं अवध जाकर सनद प्रदान किए और उन ताल्लुकेदारों को इनाम दिए, जिन्होंने विद्रोह में भाग न लिया था। इस प्रकार जमींदार अपने उद्देश्य में सफल रहे। सरकार भी एक ऐसा अभिजात वर्ग तैयार करने में सफल हो गई जिसका भविष्य 'राज' के साथ जुड़ा हुआ था। परन्तु जमींदारों की शक्ति पर अंकुश लगाए गए। प्रशासनिक परिवर्तन करके उनके न्याय व व्यवस्था बनाए रखने से सम्बन्धित अधिकार छीन लिए गए। तब भी राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान जब सरकार–विरोधी भावना फैल रही थी और भारत में समर्थन का आधार व्यापक बनाना आत्यावश्यक हो गया था, इस वर्ग ने प्रभावी समर्थक वर्ग की भूमिका निभाई।

जनसाधारण की मुख्य शिकायत यह थी कि उनकी आर्थिक स्थिति उत्तरोत्तर खराब हो रही थी, जो दूर नहीं हो सकती थी। इसका सीधा सम्बनध भारत में ब्रिटिश सरकार के औपनिवेशिक स्वरुप से था जिसके अन्तर्गत प्रशासन का मूल उद्देश्य शासक वर्ग के हितों की रक्षा करना था, भारत की जनता की खुशहाली नहीं। इसलिए जब तक औपनिवेशिक सरकार बनी हुई थी, इस स्थिति में सुधार की आशा नहीं थी। जनता में असन्तोष का एक और कारण उनके धर्मों व संस्कृति के लिए खतरा दिखाई देना था। इस दृष्टि से यह विद्रोह सफल रहा क्योंकि सरकार ने 1858 के बाद बहुत सतर्कतापूर्ण रवैया अपनाया। उसने ईसाई धर्म प्रचारकों का समर्थन देना बन्द कर दिया। सामाजिक रीति–रिवाजों में दखल देने की नीति का भी त्याग कर दिया गया। वास्तव में उपयोगितावादियों व धर्म प्रचारकों के प्रभाव के कारण 'भारतीयों का उद्धार' करने के जो प्रयास किए जा रहे थे, उन्हें छोड़ दिया गया।

1857–58 की घटनाओं का शासक व शासितों के सम्बन्धों पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था। इस दौरान काफी जातीय बैरभाव पैदा हुए जिनसे अंग्रेजों व भारतीयों के मध्य अविश्वास को बढ़ावा मिला। परन्तु इस संदर्भ में इस ओर ध्यान देना आवश्यक है कि हिंसा और नृशंसता के कार्य दोनों ओर से हुए। जिस तरह नाना साहेब ने पहले अंग्रेजों को संरक्षण का वचन दिया तथा बाद में उनका कत्ल हो गया उसे अंग्रेज भूल नहीं पाए। अंग्रेजों ने भी जिस प्रकार नवाबों के महलों को लूटा, उसे देखकर टाइम्स का संवाददाता रसल भी हैरान रह गया था। दिल्ली में दंड तथा फाँसी देने का कार्य महीनों तक चलता रहा। कई गाँव जला दिए गए। बहुत से अंग्रेज प्राधिकारियों ने सख्ती की नीति अपनाने का परामर्श दिया। परन्तु कैनिंग इस बात पर जोर देता रहा कि दंड केवल उन्हीं लोगों को दिया जाना चाहिए जिनके विरुद्ध निश्चित इलजाम हो। उसकी इस नीति का काफी मजाक उड़ाया गया तथा उसे दयाशील कैनिंग; (Clemency Canning) कहकर पुकारा गया। परन्तु बाद में यह मजाक का खिताब एक सम्मान का खिताब बन गया।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अंग्रेजों में जातीय उच्चता की भावना भी प्रबल हो गई। यह भावना पहले भी विद्यमान थी परन्तु इस विद्रोह के बाद यह अधिक स्पष्ट रुप में सामने आई। अंग्रेजों ने यह तर्क देना शुरु किया कि भारतीय यूरोपीयों के संपर्क से प्राप्त होने वाले लाभों की कद्र नहीं करते तथा भारत के लिए यही अच्छा है कि यहाँ उनका राज बना रहे। परन्तु इस प्रकार का दृष्टिकोण न तो 1857–58 के अनुभवों के फलस्वरुप अपनाया गया न इस कारण कि भारतीय आगे बढ़ना नहीं चाहते थे। इसका आधार था–साम्राज्यवाद की मूलभूत आवश्यकताएँ। अपने साम्राज्य को बनाए रखने तथा भारतीयों को प्रशासकीय व्यवस्था से विलग रखने के लिए वैचारिक औचित्य की आवश्यकता थी ताकि अंग्रेजी सरकार को स्वीकार्य बनाया जा सके और इस बात के लिए तार्किक आधार दिया जा सके कि भारतीय स्वशासन के योग्य नहीं है। जातीय उच्चता के सिद्धान्त का प्रतिपादन करके यह आवश्यकता पूरी की जा सकती थी। यह भी उल्लेखनीय है कि 1880 के बाद जब अन्य यूरोपीय देशों ने भी अपने उपनिवेश स्थापित किए तब चिंतकों व वैज्ञानिकों ने भी गोरी जातियों की उच्चता के सिद्धान्त को तार्किक आधार देने के कार्य में महत्त्वपूर्ण योगदान किया।

अब एक अन्तिम प्रश्न उठता है– इस महाविद्रोह ने भारत के स्वतन्त्रता आन्दोलन में क्या योगदान किया ? इस महाविद्रोह का एक प्रभाव यह हुआ कि इससे पुराना सामन्तादी ढाँचा चरमरा गया। इसके पश्चात अंग्रेजी राज को समाप्त करने के आन्दोलन में सभी कमजोरियों के बावजूद पुरानी सामन्तवादी व्यवस्था को पुनः स्थापित करने का प्रयास कभी नहीं किया गया, बल्कि भारतीयों ने हमेशा भविष्य की ओर देखा। दूसरे इस महाविद्रोह के दौरान हिंसा का मार्ग अपनाकर 'फिरंगी' राज समाप्त करने का प्रयास किया गया था। इसकी असफलता के बाद हिंसा का यह मार्ग नहीं अपनाया गया। तीसरे, विदेशी शक्ति को समाप्त करने के लिए लोगों ने जिस वीरता व बलिदान की भावना का परिचय दिया उसे भारतीय भूले नहीं बल्कि सदा इनसे प्रेरणा प्राप्त करते रहे।

अध्याय–10

भारत की औपनिवेशिक संरचना

(Colonial Construction of India)

(a) केन्द्रीय प्रान्तीय व जिला प्रशासनिक ढाँचा
Administrative Structure

भारत में अंग्रेजों का प्रशासनिक ढाँचा दो स्तरों पर तैयार हुआ। ऊपरी स्तर का ढाँचा संसद तथा क्राउन के आदेशों तथा कानूनों द्वारा निर्धारित हुआ। प्रान्तीय एवं स्थानीय प्रशासन का विकास कम्पनी के निजी हितों ओर समस्याओं के अनुरुप हुआ जिसमें उसके अधिकारियों का विशेष योगदान था। दोनों ही स्तरों पर प्रशासन का उद्देश्य लाभों का अधिकतम भोग करना था।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना तो 1600 में हुई थी किन्तु उसका वास्तविक गठन 1709 में हुआ जब दो विपक्षी कम्पनियों का एकीकरण कर 'युनाइटेड कम्पनी ऑफ मर्चेंट्स' की स्थापना हुई। दो विपक्षी कम्पनियों ने लगभग एक दशक तक अंग्रेजों के व्यापार को नष्ट कर दिया था परन्तु इनके एकीकरण ने नियमों की अस्पष्टता न केवल दूर की बल्कि 1709 के आज्ञापत्र (charter) ने कम्पनी का भावी ढाँचा भी निर्धारित किया।

भारत में इंग्लिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी की प्रारम्भिक गतिविधियाँ सीमित थी क्योंकि कम्पनी का मूल उद्देश्य व्यापार था और उस पर क्षेत्रीय प्रशासन का उत्तरदायित्व नहीं था। कम्पनी उस समय युद्ध का खतरा मोल लेना नहीं चाहती थी और न ही सुरक्षा पर अधिक खर्च करना चाहती थी।

इसीलिए वह मुगल शासन के अधीन रह कर व्यापार करती रही। किन्तु समय के साथ इंग्लिश कम्पनी की अन्य पाश्चात्य राष्ट्रों की कम्पनियों से होड़ होने लगी। फलस्वरुप अपनी वित्तीय स्थित को अधिक मजबूत करने के उद्देश्य से उसने फैक्टरी के आसपास की भूमि पर नियन्त्रण करके समान वसूल करना आरम्भ कर दिया। इससे क्षेत्रीय युद्धों का खर्च तथा व्यापार के लिए माल एकत्र करने में निश्चित फायदा हुआ। साथ ही भारतीय प्रान्तों पर आर्थिक नियन्त्रण स्थापित करने के लिए राजनीतिक अधिकार प्राप्त करना आवश्यक प्रतीत होने लगा। इस प्रकार आर्थिक नियन्त्रण प्राप्त करने से कम्पनी के संगठन एवं स्वरुप में भी परिवर्तन करना आवश्यक हो गया जिससे व्यापारिक संस्था को राजनीतिक भूमिका निभाने के लिए तैयार किया जा सके। एक ओर कम्पनी के अधीन आबादी के लिए न्याय एवं प्रशासन के विभिन्न विभागो का विकास हुआ तो दूसरी और नई लगान नीति के अनुकूल कार्यपालिका विकसित हुई। अठारहवीं शताब्दी के मध्य तक कम्पनी की तीन प्रेसीडेंसियाँ बंगाल, मद्रास तथा बम्बई प्रशासनिक दृष्टि से काफी विकसित हो चुकी थी।

ईस्ट इंडिया कम्पनी के प्रशासनिक विकास में ब्रिटिश सरकार का काफी योगदान था। प्रारम्भ से वह सरकार पर कई प्रकार से आधारित थी। कम्पनी की कार्य अवधि तथा अस्तित्त्व चार्टर पर निर्भर करता था जो ब्रिटेन की सरकार प्रदान करती थी। इसलिए कम्पनी सरकार को आवश्यकता पड़ने पर सहयोग प्रदान करती थी। भारतीय शक्तियों का मुकाबला करने के लिए भी कम्पनी ब्रिटिश सरकार की प्रतिष्ठा का उपयोग किया करती थी। उधर ब्रिटिश सरकार युद्धों में राष्ट्रीय हितों एवं व्यापारिक समृद्धि के लिए या लन्दन के मुद्रा बाजार की स्थिरता के लिए कम्पनी के मामलों में हस्तक्षेप करती थी। कम्पनी भी कई शासकों को ऋण या आर्थिक सहायता प्रदान करती थी। इस प्रकार कई बार राष्ट्रीय विषयों से उत्पन्न तनावों ने कम्पनी की गतिविधियों को अनेकों प्रकार से प्रभावित किया। वास्तव में कम्पनी और सरकार के बीच सम्बन्ध काफी जटिल व अस्पष्ट थे। ब्रिटिश सरकार की कम्पनी के प्रतिनीति में स्पष्टता 1766 के बाद ही देखी जा सकती है जब कम्पनी के राजनीतिक और विशेषाधिकारों पर प्रहार आरम्भ हुआ इसके बाद सरकार ने कम्पनी के विरोधी तत्त्वों का ही साथ दिया। ब्रिटिश सरकार द्वारा कम्पनी की राजनीतिक आयोग्य और उसकी कुरीतियों के विरुद्ध कदम उठाने के पीछे यह आशय नहीं था कि वह भारत में अच्छी ओर भली सरकार स्थापित करना चाहती थी बल्कि इसका असली उद्देश्य यह था कि वह भारतीय राजस्व पर नियन्त्रण रखना चाहती थी। इस हस्तक्षेप से ही भारत में कम्पनी–प्रशासन की बाहरी रुपरेखा तैयार हुई।

ईस्ट इंडिया कम्पनी को आनतरिक प्रशासन की दृष्टि से देखा जाए तो उसका संचालन दो संस्थाओं द्वारा होता था–बोर्ड ऑफ प्रोप्राइटर्स (Board of Proprietors) तथा कोर्ट ऑफ डाइरेक्टर्स (Court of Directors)। बोर्ड ऑफ प्रोप्राइटर्स कंपनी के साझेदारों की आम सभा थी। प्रिट्टस इंडिया ऐक्ट तक यह सचेत और जाग्रत संस्था थी। इसी के द्वारा कोर्ट ऑफ डाइरेक्टर्स का चयन किया

जाता था। इस कोर्ट में 25 डाइरेक्टरों को चुनाव के द्वारा नियुक्त किया जाता था। प्रतिवर्ष नियमित रुप से इसके 6 सदस्य चुने जाते थे। ये शहरी, जहाजरानी तथा भारत में स्थित असंगठित व्यापारी वर्ग के हितों का प्रतिनिधित्व करते थे। भारत में कुशासन के लिए कम्पनी की सभी प्रमुख नियुक्तियाँ इन्हीं डाइरेक्टरों द्वारा की जाती थी। यह अत्यन्त प्रभावशाली संस्था थी। प्रिट्स इण्डिया एक्ट के द्वारा डाइरेक्टरों के अधिकारों को कुछ सीमित किया गया था। किन्तु इसके बाद भी इनके अधिकार बहुत हद तक सुरक्षित रहे थे।

वॉरेन हेस्टिंग्ज को 1772 में बंगाल का गर्वनर बनाकर भेजा गया। उस समय कम्पनी के सम्मुख अनेक प्रशासनिक समस्याएँ उपस्थिति थी। क्लाइव द्वारा द्वैध प्रबन्ध के दोष स्पष्ट रुप से दिखाई देने लगे थे। बक्सर युद्ध के पश्चात मुगल बादशाह शाह आलम ने युद्ध में पराजित होने के फलस्वरुप कम्पनी को बंगाल की दीवानी के अधिकार सौंप दिए थे। दीवानी का अर्थ था कि कम्पनी बंगाल बिहार व उड़ीसा में लगान वसूल और खर्च करने की हकदार बना दी गई। दीवानी मुकद्दमों का फैसला कम्पनी के हाथ में दे दिया। निजामत, सैनिक और फौजदारी के मुकद्दमे को नवाब ने पहले ही कम्पनी को दे दिया था। क्लाइव इन दोनों अधिकारों का प्रयोग नहीं करना चाहता था। क्योंकि इससे न केवल अन्य राष्ट्रों व भारतीय राजाओं की अंग्रेजों के प्रति ईर्ष्या और बढ़ जाती बल्कि कम्पनी की जिम्मेदारियाँ बहुत बढ़ जाती और बढ़ जाती और उनके व्यापार को हानि होती। इसलिए क्लाइव ने बंगाल के प्रशासन को दो भागों में बाँट दिया–विदेशी सम्बन्ध, सैनिक शक्ति तथा राजस्व–अधिकारों को उसने अपने हाथ में रखा तथा न्याय प्रबन्ध बंगाल के नजीम के ही हाथ में रहने दिया। इस व्यवस्था का सबसे बड़ा दोष था कि कम्पनी का राजस्व पर पूर्ण अधिकार था परन्तु प्रजा के प्रति उनका कोई कर्त्तव्य नहीं था और नवाब के पास धन एवं सेना नहीं थी परन्तु प्रजा का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व था भ्रष्टाचार और कुशासन के कारण बंगाल की जनता को अत्यधिक कष्ट उठाना पड़ा। उधर कम्पनी का कोष खाली होता गया और दूसरी ओर उसके कर्मचारी निजी धन–दौलत जोड़ते रहे। बंगाल की जनता के लिए इस प्रकार भ्रष्ट और अत्याचारी शासन का भार उठाना ही मुश्किल हो रहा था कि बंगाल में भयंकर अकाल और महामारी के प्रकोप ने जगह–जगह तबाही मचा दी। परन्तु इस स्थिति से भी कम्पनी का प्रशासन जनता पर मनमाने देश से आर्थिक भार लादता रहा। उद्योग–धंधे नष्ट होने लगे जिसका प्रभाव व्यापार पर स्पष्ट तौर पर दिखाई पड़ा।

इस कुशासन और बढ़ते हुए भ्रष्टाचर को रोकने, कम्पनी के राजनीतिक अधिकारों पर नियन्त्रण रखने तथा भारत को लाभकारी उपनिवेश के रुप में प्रयोग करने के लिए ब्रिटिश सरकार ने हस्तक्षेप करना आवश्यक समझा। स्वतन्त्र व्यापारी वर्ग कम्पनी के कर्मचारियों द्वारा बेशुमार दौलत इकट्ठा करने के विरुद्ध संसद में जनमत बनाने में सफल रहा। सन् 1766 से संसद कम्पनी की गतिविधियों में विशेष रुचि ले रही थी। बोर्ड ऑफ प्रोप्राइटर्स ने बंगाल में दीवानी से बहुत अधिक लाभ का अनुमान लगते हुए 1766 में लाभांश छह से बढ़ाकर दस प्रतिशत कर दिया और अगले वर्ष साढ़े बारह प्रतिशत। यद्यपि ईस्ट इण्डिया कम्पनी के कर्मचारी बंगाल की इस अस्पष्ट स्थिति का फायदा उठाकर भरपूर दौलत इकट्ठी कर रहे थे परन्तु कम्पनी की वित्तीय स्थिति बिगड़ती जा रही थी। दक्षिण भारत में मैसूर युद्धों तथा मराठा युद्धों में व्यर्थ ही धन बर्बाद किया गया। इस संकटमय स्थिति में कम्पनी ने ब्रिटिश सरकार से दो ऋणों की माँग की। ब्रिटिश संसद को कम्पनी के कार्यों पर नियन्त्रण स्थापित करने का यह सुनहरा अवसर था। ब्रिटिश सरकार पर तुरन्त हस्तक्षेप करने के लिए पहले ही बहुत दबाव था। एडमंड बर्क के शाषणों में सरकार की कड़ी आलोचना की गई थी क्योंकि सरकार इतने समय से भारत की स्थिति जानते हुए हस्तक्षेप नहीं कर पाई थी। इसी पृष्ठ भूमि में संसद ने अप्रैल 1772 में 31 सांसदो की प्रवर समिति (select Committee) बनाई जिसे भारत में कम्पनी की गति विधियों की जाँच करने का कहा गया तथा भावी प्रशासन विधियों की जाँच करने को कहा गया तथा भावी प्रशासन के विषय पर सुझाव देने को कहा गया। इस समिति की सिफारिश पर ही संसद ने 1773 में भारत में ब्रिटिश प्रशासनिक नियन्त्रण स्थापित करते हुए रेग्युलेटिंग एक्ट पारित किया।

सांविधानिक व्यवस्था : इस ऐक्ट के जरिए कम्पनी की भारतीय शासन–व्यवस्था में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन लाया गया जिसके फलस्वरुप भारतीय कार्यकारिणी परिषद (Executive council) का जन्म हुआ। बंगाल का गर्वनर ब्रिटिश भारत का गर्वनर जनरल कहलाने लगा तथा अधिकांश मामलों में मद्रास एवं बम्बई के गर्वनर उसके अधीन कर दिए गए। अपरिहार्य परिस्थितियों को छोड़कर गर्वनर जनरल की अनुमति के बिना भारतीय राज्यों से युद्ध और सन्धि करने का अधिकार प्रान्तिय गर्वनर से छीन लिया गया। गर्वनर जनरल के परामर्श के लिए चार सदस्यों की एक समिति का गठन किया गया जिसकी अवधि 5 वर्ष थी। यह समिति नियम, अध्यादेश तथा निर्देश देने का अधिकार रखती थी जिससे उचित व्यवस्था और सिविल प्रशासन स्थापित हो सके। इसके लिए वह सभी प्रकार के कानून बना सकती थी। इसमें बहुमत के आधार पर निर्णय लिए जाते थे। इसी ऐक्ट में इसके सदस्यों के नाम घोषित कर दिए गए थे। गर्वनर जनरल वॉरेन हेस्टिंग्ज के अलावा इसके चार सदस्य और थे–फिलिप फ्रांसिस, क्लेवरिंग, मॉनसन तथा बारवैल। इसके साथ ही कलकत्ता में सर्वोच्च न्यायालय की स्थापना की गई जिसमें एक प्रधान न्यायाधीश और तीन अन्य न्यायाधीशों की नियुक्ति ब्रिटिश सरकार द्वारा की गई। इसका कार्य क्षेत्र कलकत्ता नगर तक ही सीमित था। इसे कम्पनी के कर्मचारियों को न्याय प्रदान करने के उद्देश्य से स्थापित किया गया था।

रेग्यूलेटिंग ऐक्ट का उद्देश्य कम्पनी के शासन को सुव्यवस्थिति करना था, किन्तु इस ऐक्ट के बाद भी कई दोष बने रहे। कम्पनी का शासन अभी भी सुचारु रुप से नहीं चलाया जा रहा था। गर्वनर जनरल को अपनी कौंसिल के निर्णय को रद्द करने का अधिकार नही था। वह कौंसिल के बहुमत को स्वीकार करने के लिए बाध्य था। इसलिए गर्वनर जनरल और उसकी कौंसिल में निरन्तर संघर्ष चलता रहता था, क्योंकि तीन सदस्य सदैव हेस्टिंग्ज का विरोध करते थे। मद्रास एवं बम्बई की सरकारों पर गर्वनर जनरल और उसकी कौंसिल का पूरा नियन्त्रण स्थापित नहीं किया गया था, जिससे सरकार को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था। सर्वोच्च न्यायलय तथा कार्यपालिका के कार्य क्षेत्र स्पष्ट नहीं किए गए थे जिससे उनमे टकराव होना स्वाभाविक था। गर्वनर जनरल तथा उसकी परिषद द्वारा बनाए गए कानूनों को न्यायालय में अंग्रेजी कानून लागू होता था तथा बंगाल की दीवानी अदालतों में स्थानीय कानून। इनके आपसी सम्बन्धों में अनियमितता थी। इन समस्याओं का समाधान कुछ हद तक 1781 के घोषणात्मक अधिनयम (Declaratory Act) के द्वारा किया गया। इस ऐक्ट में सर्वोच्च न्यायालय के कार्य क्षेत्र और अधिकार क्षेत्र स्पष्ट कर दिए गए थे। कम्पनी के कर्मचारियों के औपचारिक कार्य को सर्वोच्च न्यायालय के अधिकार क्षेत्र से बाहर कर दिया गया। 1786 के सुधार कानून द्वारा यह निश्चित किया गया कि गर्वनर जनरल स्वयं अपने कार्यों का उत्तरदायित्व उठाकर कौंसिल के बहुमत के निर्णय को रद्द कर सकता था।

इस प्रकार रेग्युलेटिंग ऐक्ट ने व्यापारिक कम्पनी को वैधानिक रुप से राजनीतिक अधिकार प्रदान किया तथा प्रेसीडेंसी प्रशासन पर केन्द्रीय सरकार का नियन्त्रण स्थापित किया। इस अधिनियम का अस्थायी स्वरुप पहले से ही स्पष्ट था, क्योंकि इसका मुख्य लक्ष्य 1773 और 1750 के अन्तर को भरना था जब नया चार्टर कानून पास किया जाना था। इस ऐक्ट ने स्थायी प्रशासनिक व्यवस्था स्थापित करने का कोई दावा नहीं किया वरन सिर्फ एक ऐसी स्थिति तैयार की जिसमें सुधार और परिवर्तन आसानी से लाया जा सके।

रेग्युलेटिंग ऐक्ट के समय से ब्रिटेन के औद्योगिक बुर्जुआ वर्ग का कम्पनी पर प्रभाव बताए जा रहा था। एकाधिकारी संस्थाओं के स्थान पर स्वतन्त्र व्यापार का सिद्धान्त प्रस्तुत किया जा रहा था। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के विरुद्ध ऐडम स्मिथ तथा अन्य विचार को ने सैद्धान्तिक अभियान चला रखा था। ऐन इनक्वायरी इनटु दि नेचर ऐंड कॉजेज ऑफ दि वैल्थ ऑफ नेशंस (विभिन्न राष्ट्रों की सम्पदा; स्वरुप और विश्लेषण) नामक प्रख्यात ग्रन्थ (1776) में स्मिथ ने एकाधिकार–प्राप्त या अनन्याधिकारी कम्पनी (exclusive company) को हानिकारक संसथा माना था। स्मिथ का विचार था कि यह जिस राष्ट्र में बनाई जाती है, वहाँ असुविधाजनक होती है और जहाँ कार्य करती है, वहाँ के लोगों के लिए दुर्भाग्यपूर्ण साबित होती है। इन एकाधिकारी संस्थाओं से वस्तुओं के दाम भी बढ़ जाते हैं तथा अधिकांश व्यक्तियों के लिए व्यापार–क्षेत्र बन्द हो जाता है। इस प्रचार से ईस्ट इण्डिया कम्पनी की गतिविधियों पर और अधिक सरकारी नियन्त्रण रखने की माँग बढ़ने लगी। सरकार भी कम्पनी को पूरी तरह अपने अधीन करना चाहती थी। इस कार्य के लिए 1781 में प्रवर समिति (select committee) ओर गुप्त समिति (secret committee) नियुक्त की गई। इनकी रिपोर्ट से सरकारी हस्तक्षेप में मदद मिली। रेग्युलेटिंग ऐक्ट के दोषों को दूर करने के उद्देश्य से 1783 में फॉक्स ने संसद के सम्मुख इण्डिया बिल प्रस्तुत किया, किन्तु यह बिल पिट और जार्ज तृतीय के विरोध के परिणामस्वरुप पारित नहीं हो सका। 1784 में कुछ संशोधन कर पिट ने उसे पारित करवा लिया।

पिट्स ऐक्ट के द्वारा भारतीय प्रशासनिक व्यवस्था में कुछ परिवर्तन किए गए। गर्वनर जनरल की कौंसिल के सदस्यों की संख्या चार से घटाकर तीन कर दी गई जिसमें एक सदस्य सेनापति होता था। बम्बई तथा मद्रास के गर्वनरों को सन्धि, युद्ध तथा लगान के मामलों में पूर्णतया गर्वनर जनरल के अधीन कर दिया गया। दूसरी ओर कम्पनी के आन्तरिक प्रशासन में भी कुछ परिवर्तन लाए गए। इग्लैंड के सम्राट द्वारा मनोनीत छह कमिश्नरों की एक समिति बनाई गई जिसे बोर्ड ऑफ कंट्रोल कहा गया। भारत के शासन, सेना तथा लगान–सम्बन्धी मामलों पर इसका नियन्त्रण कायम किया गया। कम्पनी के सभी पत्राचार तथा रिकार्ड की जानकारी प्राप्त करने का अधिकार कमिश्नरों को दिया गया था। इस कानून से यह भी निश्चित हुआ कि कोर्ट ऑफ डाइरेक्टर्स की स्वीकृति के बिना गर्वनर जनरल किसी राज्य के साथ सन्धि नहीं कर सकता। साथ ही भारत में गोपनीय आज्ञाएँ भेजने के लिए तीन सदस्यों की गुप्त समिति को सांविधानिक रुप से स्थापित किया गया।

इस प्रकार इग्लैंड में कोर्ट ऑफ डाइरेक्टर्स की नीतियों पर नियन्त्रण रखने के लिए बोर्ड ऑफ कन्ट्रोल की स्थापना की गई और इसी के माध्यम से कम्पनी की सिविल और सैनिक व्यवस्था ब्रिटिश सरकार के अधीन होती गई। डाइरेक्टरों तथा बोर्ड ऑफ कन्ट्रोल का जो द्वैध शासन स्थापित हुआ, वह कुछ संशोधनों के साथ चलता रहा।

कम्पनी के वाणिज्यिक अधिकारों को 1793 के चार्टर ऐक्ट द्वारा अगले बीस वर्षों के लिए सुरक्षित कर दिया गया। कुछ मामूली परिवर्तन किए गए, किन्तु भारतीय प्रशासन की दृष्टि से कोई विशेष परिवर्तन नहीं लाया गया। बोर्ड ऑफ कन्ट्रोल के अध्यक्ष को प्रेसीडेन्ट कहा जाने लगा। उसके अन्य दो सहयोगी भी प्रिवीकौंसिल के सदस्यों से चुने जाते थे।

1870 में जब स्वेज नहर खुल गई, और भारत तथा इग्लैण्ड के बीच सीधी तार लाइन बिछा दी गई तथा भाप के पोत चलने लगे तो भारत सचिव का भारतीय मामलों पर नियन्त्रण और भी बढ़ गया तथा गर्वनर जनरल की शक्तियाँ और भी कम हो गई।

प्रान्तीय प्रशासन : सी. पी. इल्बर्ट के अनुसार भारत में कम्पनी के अधिकार (Authority) के दो स्रोत थे 1. अंग्रेजी सम्राट और संसद द्वारा दी गई अनुमति, 2. भारतीय मुगल सम्राटों तथा अन्य भारतीय प्रशासकों द्वारा दिए गए प्रमाण पत्र। इग्लैंड में यह शक्तियां तथा विशेषाधिकार की पुष्टि भिन्न–भिन्न चार्टर अधिनियमों तथा अन्य विधेयकों तथा नियमों द्वारा की जाती रही जैसा कि रेग्यूलटिंग एक्ट (1773, संशोधन एक्ट (1781) पिट का भारत एक्ट (1784) तथा भारत सरकार अधिनियम (Act for Better Goverment of India 1858)।

भारत में स्थानीय राजाओं तथा महाराजाओं ने उन्हें समय–समय पर भिन्न–भिन्न रियासते दी। कई बार यह रियायते उन से नैतिक और राजनैतिक दबाव से बल पूर्वक छीन ली जाती थी, जिससे कम्पनी और अंग्रेजी क्राउन भारत के कुछ भागों के स्वामी बन गए।

1639 में वन्दीवाश के अधिकारी ने मद्रास का शासन अंग्रेजों को दे दिया और वहाँ एक दुर्ग बनाने तथा मुद्राचलाने की अनुमति भी दे दी। उसके उपरान्त मुगल अधिकारियों ने मद्रास पर समस्त अधिकार कम्पनी को दे दिए। 1669 में इग्लैण्ड के सम्राट चार्ल्स द्वितीय ने एक चार्टर द्वारा बम्बई द्वीप और बन्दरगाह जो उसे 1661 में पुर्तगाल की राजकुमारी ब्रंगेजा की कैथरीन से विवाह करत समय दहेज में मिली थी, वह उसने कम्पनी को दस पाउण्ड वार्षिक किराए पर दे दिए। इसी प्रकार कम्पनी ने बंगाल में मुगल सूबेदार अजीमुश्शान से कालीकट, सूतानाती तथा गोविन्दपुर (आधुनिक कलकत्ता का क्षेत्र) के गाँवों की जमींदारी उस क्षेत्र के पुराने स्वामियो को 1200 रुपए का मुआवजा दे कर प्राप्त कर ली। 1717 में मुगल सम्राट फर्रुखसीयर ने एक फरमान जारी कर दिया जिस से अग्रेजो को आसपास के क्षेत्र को किराये पर लेने की अनुमति दे दी। 2 जून 1756 को हुई ब्लैक होल (Black Hole) घटना के उपरान्त एक अंग्रेजी सेना ने कलकत्ता को घेर लिया। नवाब सिराजुद्दोला ने विवश हो कर कलकत्ता जिसे अब फोर्ट विलियम की संज्ञा द दी गई थी, कम्पनी को लौटा दिया। उसका दुर्गीकरण भी करने की और सिक्के चलाने की अनुमति मिल गई।

मद्रास (फोर्ट सेंट जॉर्ज) मुम्बई और कलकत्ता (फोर्ट विलियम), अर्थात पूर्वी और पश्चिमी तटों पर अंग्रेजी बस्तियों का प्रशासन वह नियुक्त प्रधान जिसे प्रेजीडेन्ट अथवा गर्वनर कहते थे, तथा उसकी सहायता के लिए नियुक्त कम्पनी के प्रवर अधिकारियों की एक समिति करती थी। यह प्रधान तथा समिति मिल कर बहुमत से निर्णय करते थे और फिर यह आदेश जारी किए जाते थे। तीनो प्रधान एक–दूसरे से पूर्णतया स्वतन्त्र थे और केवल लन्दन स्थित निदेशकों के प्रति ही उत्तरदायी थे।

प्लासी तथा बक्सर के युद्ध के उपरान्त कम्पनी के अधिकारियों, निदेशकों, स्वामियों तथा लन्दन की अंग्रेज सरकार ने समझा कि एक सोने की खान उनके हाथ लग गई है। सब ने इस लूट में भाग लिया और 1771 में कम्पनी आर्थिक रुप में दिवालिया हो गई और कम्पनी ने लन्दन की सरकार से 10 लाख पाउण्ड का ऋण मांगा। अब अंग्रेजी संसद को अवसर मिला कि वह कम्पनी के आन्तरिक कार्य कलाप की जांच करे और उस का नियम करे। परिणामतः रेग्यूलेटिंग एक्ट (1773) पारित किया गया। स्वामियों के अधिकरण का का प्रभाव कम हो गया। निदेशकों का अधिकारण (Board of Directors) का 4 वर्ष के लिए चुनाव किया गया (जो पहले प्रति वर्ष होता था) और आदेश हुआ कि निदेशकों को लन्दन स्थित शाही कोष को अपना समस्त भारतीय कर तथा सेना सम्बन्धी पत्र व्यवहार देना पड़ेगा।

रग्यूलेटिंग एक्ट में एक गर्वनर जनरल तथा 4 पार्षदों की बनी एक परिषद का प्रावधान भी था जिन्हें बहुमत से निर्णय लना होता था। यह गर्वनर जनरल मुख्यरुप से बंगाल के लिए था परन्तु उसे कुछ मामलों में मद्रास तथा बम्बई प्रान्तों के प्रशासन पर भी अधिकार था।

1784 में पारित पिट के भारत अधिनियम (Pitt's India Act) ने ब्रिटिश संसद का कम्पनी के प्रबन्ध पर नियन्त्रण और भी सुदृढ बना दिया। मद्रास तथा बम्बई में गवर्नरों के तथा उनकी परिषदों को पूर्णरुप से बंगाल के गर्वनर जनरल की अधीन कर दिया। इग्लैंड में एक नियन्त्रण बोर्ड (Board of Control), जिसके सदस्यों को 'भारतीय मामलों के आयुक्त' (Commissioners for the Affairs of India) कहते थे नियुक्त किया गया जिस का प्रधान वित्त मन्त्री (Chancellor of Exchequer) होता था। इस बोर्ड का इग्लण्ड में स्थित भारतीय मामलो की प्रशासकीय व्यवस्था की देख भाल करना भी था। इस बोर्ड को भारत के प्रशासन से सम्बन्धित सभी पत्र व्यवहार तथा आदेश इत्यादि देखने का अधिकार था। भारत में गवर्नर जनरल की परिषद के सदस्यो की सख्या 4 से घटा कर 3 कर इदी जिस में से एक कम्पनी की सेना का मुख्य सेनापति (Commander in Chief) होता था। इसके उपरान्त लार्ड कार्नवालिस के काल में परिषद के निर्णयों में बहुमत का प्रावधान समाप्त कर दिया गया और पार्षद पूर्ण रुप से गर्वनर जनरल के अधीन हो गए। 1833 में परिषद में एक चौथा सदस्य जिसे विधि का पार्षद (Law Member) कहते थे, जोड दिया गया।

1813 में पारित चार्टर एक्ट द्वारा अंग्रेजी संसद ने कम्पनी के चीन के व्यापार को छोड़कर भारत में व्यापार करने के एकाधिकार को समाप्त कर दिया। 1833 में चार्टर एक्ट द्वारा कम्पनी को आदेश दिया गया कि वह भारत में अपनी व्यापारिक गतिविधियाँ शीघ्रातिशीघ्र बन्द कर दे और केवल प्रशासन की ओर ध्यान दे जिसे वह महामहिम अंग्रेजी सम्राट तथा उसके उत्तराधिकारियों की ओर से न्यास के रुप में सम्भाले हुए है।

1833 के चार्टर द्वारा मद्रास तथा बम्बई में गर्वनरों के तथा उनकी परिषदों के विधेयक पारित करने की शक्ति समाप्त कर दी और गर्वनर जनरल तथा उसकी परिषद को ही समस्त भारत के लिए विधेयक पारित करने, कानून बनाने की शक्ति दे दी गई। यह व्यवस्था 1857 तक जब तक कम्पनी का प्रशासन था, बनी रही।

प्रशासनिक विकेन्द्रीयकरण : 1818 से पूर्व–बंगाल मद्रास तथा बम्बई में कम्पनी के क्षेत्र एक–दूसरे से जुड़े हुए नहीं थे, बीच में स्वतन्त्र राजाओं के क्षेत्र थे। इन प्रान्तों का प्रशासन तथा वित्त अलग–अलग थे। 1818 में चतुर्थ मराठा युद्ध के उपरान्त यह स्थिति बदल गई थी और 1833 के चार्टर एक्ट के अनुसार कम्पनी के प्रदेशों, विधान परिषदों तथा वित्त का केन्द्रीकरण हो गया। बम्बई तथा मद्रास की सरकारों के कानून बनाने के अधिकार समाप्त हो गए तथा वे जो कानून बनवाना चाहते थे केवल उसका सुझाव ही गर्वनर जनरल को दे सकते थे।

1861 के भारत परिषद् अधिनियम ने कानून बनाने की इस प्राक्रिया को उलट दिया था वैधानिक विकेन्द्रीकरण की ओर अग्रसर हुए। केवल एक संरक्षण था कि इन सरकारों को नया कानून बनाने से पूर्व गर्वनर–जनरल की अनुमति प्राप्त करनी होती थी। प्रान्तों में विधान–परिषदें स्थापित की गई। बंगाल व बम्बई में 1862 में, उत्तरप्रदेश में 1886, पंजाब में 1894 तथा पश्चिमी बंगाल तथा आसाम में 1905 में ज्यों–ज्यों नए प्रान्तों का गठन होता गया नई विधान परिषदें बनती गई। भारत परिषद् अधिनियम, जो 1892 तथा 1909 में बने उनके द्वारा इन प्रान्तीय विधान परिषदों का विस्तार होता चला गया। भारत सरकार अधिनियम 1919 द्वारा इन प्रान्तीय विधान परिषदों का विस्तार किया गया तथा यहां दोहरी शासन (dyarchy) प्रणाली लागू की गई तथा 1935 के भारत सरकार अधिनियम द्वारा यहां प्रान्तीय स्वायत्तता लागू की गई।

वित्तीय विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया लार्ड मयों ने आरम्भ की, तथा लिटन व रिपन ने इसे आगे बढ़ाया, 1877 में प्रान्तीय सरकारों का आबकारी (excise), भूमिकर, राजकीय मुद्रा (stamp) तथा विधि व न्याय इत्यादि पर नियन्त्रण का अधिकार दे दिया गया तथा इसके लिए प्रान्तों से प्राप्त होने वाले करों, विशेषकर आबकारी, भूमि कर तथा लाइसेंस फीस इत्यादि भी उन्हें दे दिए गए। 1882 में प्रान्तों को निश्चित सहायता देने की पद्धति समाप्त कर दी गई तथा विभाजित मदों (Divided Heads) की पद्धति लागू की गई अर्थात् आबकारी, भूमि कर, राजकी मुद्रा, वन तथा पंजीकरण इत्यादि से प्राप्त धन को केन्द्र तथा प्रान्तीय सरकारों में बराबर–बराबर बांट दिया गया। इस विभाजित पदों की पद्धति को 1919 के अधिनियम से ही बदल गया।

जिला प्रशासन : आधुनिक जिला प्रशासन की पद्धतिका प्रारम्भ 16वीं शताब्दी के अन्त में मुगल शासकों द्वारा ही किया गया। मुगल शासकों ने अपने राज्य प्रबन्ध को सुयोग्य ढंग से चलाने के लिए अपने राज्य को विभिन्न जिलों में बांटा। एक जिले को उस समय सरकार कहा जाता था प्रत्येक जिले में लगान वसूल करने का कार्य एक अधिकारी को सौपा गया था जिसे आमलगुजार (Analguzar) अथवा आमिल (Amil) कहा जाता था। वह जिले का मुख्य राजस्व अधिकारी कहा जाता था। वह जिले का मुख्य राजस्व अधिकारी (Revenue Officer) होता था। लगान वसूल करने के अतिरिक्त यह अधिकारी कृषि के उत्पादन को बढ़ाने के लिए प्रबन्ध करता, प्राकृतिक प्रकोपों के समय किसानों की सहायता करता और जागीरदारों द्वारा किसानों के शोषण को रोकने का यत्न करता। उसे कुछ न्यायिक शक्तियाँ भी दी गई थी जिनका प्रयोग वह अपने जिले में शान्ति तथा व्यवस्था बनाए रखने वह अपने जिले में शान्ति तथा व्यवस्था बनाए रखने के लिए करता था। परन्तु फिर भी न तो वह न्यायिक अधिकारी ओर न ही जिले का मुख्य कार्यपालिका अधिकारी कहलाता था। जिले के सिविल न्यायिक कार्य करने का उत्तरादायित्व काजी और मीर अदल को सौंपा गया था। जिले के कार्यकारी फौजदार और पुलिस मैजिस्ट्रेट के पास थे, जिनके अधीन अशस्त्र सैनिकों की टुकड़ी होती थी, जिसकी सहायता से जिले में शान्ति और व्यवस्था कायम रखी जाती थी।

जब इस्ट इण्डिया कम्पनी ने अपना शासन भारत में जमना शुरु किया तो उसने अपने कब्जे अधीन क्षेत्र को जिलों में बांटा। उस समय जिले का प्रमुख अधिकारी कम्पनी का ही प्रतिनिधि होता था जिसे फैक्टर (Factor) कहा जाता था। जब ईस्ट इण्डिया कम्पनी को बंगाल की दीवानी का अधिकार प्राप्त हो गया तो उसने 1769–70 में इस प्रान्त के विभिन्न जिलों में अपने कर्मचारी नियुक्त का घेरा विस्तृत कर लिया और उसे भारत में ब्रिटिश साम्राज्य स्थापित कर लिया तो जिले में उनके प्रमुख अधिकारी को राजस्व कलैक्टर (Revenue Collector) कहा जाने लगा। आधुनिक रूप से कलैक्टर की नियुक्ति सबसे पहले वारेन हेस्टिंग्स (Warren Hastings

की सरकार ने 14 मई, 1772 को की। उस समय कम्पनी ने व्यापारिक संस्था के स्थान पर टैक्स लगाने और भूमि कर वसूल करने का रुपधारण कर लिया था। ईस्ट इण्डिया कम्पनी की सेना हर समय प्रत्येक स्थान पर विद्यमान नही हो सकती थी और उस समय परिस्थिति ऐसी थी कि हर कीमत पर शान्ति और व्यवस्था बनाए रखना अत्यावश्यक था। इसलिए जिले के कलैक्टर को भूमि कर वसूल करने के साथ–साथ जिले में शान्ति तथा व्यवस्था बनाए रखने का उत्तरदायित्व भी सौंप दिया गया। इसके बाद कलक्टर पूर्ण रुप से ब्रिटिश सरकार का सिविल कर्मचारी बन गया।

जिला प्रशासन के विकास में अगला महत्त्वपूर्ण कदम कलैक्टर को न्यायिक शक्तियां सौपना था। वह जिला मैजिस्ट्रेट के रुप में कचहरी लगाता और ब्रिटिश न्यायिक प्रणाली की परम्पराओं के अनुसार न्याय करता। जिले में शान्ति और व्यवस्था बनाए रखने के लिए, कलैक्टर की सहायता के लिए एक पुलिस सुपरिण्टेडैंट होता था जिसे कप्तान साहिब कहा जाता था इस अधिकारी के अधीन पुलिस कर्मचारी होते थे। इसके बाद सरकार ने महसूस किया कि लोगों के स्वास्थ्य का ध्यान रखने के लिए भी जिला स्तर पर कोई अधिकारी होना चाहिए। इसलिए जिलास्तर पर एक सरकरी डाक्टर नियुक्त किया गया और इसे सिविल सर्जन (Civil Surgeon) कहा जाने लगा। इसे जिले की जेल के सुपरिण्टेडैट का भी उत्तरदायित्व सौंपा गया। परन्तु बाद में ये दोनों पद अलग–अलग कर दिए गए। इसके बाद लोक–निर्माण कार्यों के लिए जिला स्तर पर एक कार्यकारी इंजीनियर (Executive Engineer) नियुक्त किया गया। फिर स्कूलों का निरीक्षक (Inspector of Schools), कृषि अधिकारी (Agriculture Officer) जगलात अधिकारी (Forest Officer) इत्यादि एक–एक करके जिले की प्रशासनिक मशीनरी में जुडते चले गए।

विकेन्द्रीकरण के राजकीय आयोग (Royal Commission on Decentralization) की रिपोर्ट के समय एक जिले का क्षेत्र 4430 वर्ग मील था तथा ओस्तन जन संख्या 9,31,000 थी। प्रत्येक जिले का मुखीया जिला मैजिस्ट्रेट होता था। इस जिला अधिकार को पुराने स्थापित प्रान्तों में कलैक्टर तथा अन्य क्षेत्रों में जिलाधीश कहा जाता था।

भारत सरकार के अधिनियम, 1919 के अनुसार भारत के प्रान्तों में दोहरी शासन प्रणाली (Dyarchy) लागू की गई तो जिला प्रशासन के कार्यों मे कुछ परिवर्तन किया गया। इस प्रणाली के अन्तर्गत स्थानीय स्व–शासन का विषय हस्तान्तरित बना दिया गया और उसका संचालन तथा नियन्त्रण एक मन्त्री के हाथों में दे दिया गया। इससे स्थानीय स्व–शासन की संस्थाओं को कई और अधिकार प्राप्त हुए और उनमें सरकारी हस्तक्षेप कम होता गया। ये संस्थाएं शिक्षा, सड़कों का निर्माण, पानी की सप्लाई, लोगों के स्वास्थ्य का ध्यान रखने आदि विषयों में कार्य करने लग पड़ी थी। इसलिए जिला प्रशासन का उत्तरदायित्व कुछ कम हो गया। परन्तु जिला प्रशासन स्थानीय संस्थाओं ओर प्रान्तीय सरकार के बीच एक महत्त्वपूर्ण कड़ी बन गया। जिला मैजिस्ट्रेट को स्थानीय संस्थाओं की देखभाल करने इनका माग दर्शन तथा निरीक्षण करने और इनको निलम्बित (Suspend) करने का अधिकार प्राप्त था। इस प्रकार स्थानीय स्व–शासन की संस्थाएं स्वायत होते हुए भी जिला प्रशासन पर निर्भर रहती थी।

भारत सरकार के अधिनियम, 1935 के अनुसार भारत के प्रान्तो में प्रान्तीय स्वायत्तता की प्रणाली लागू कर दी गई थी। इसके अन्तर्गत भी स्थानीय संस्थाओं की शक्तियों और कार्यों में वृद्धि की गई थी। परन्तु इससे जिला प्रशासन का महत्त्व कम न हुआ। जिला प्रशासन का विषय धीरे–धीरे जटिल बनता गया और जिला अधिकारियों का उत्तरदायित्व बढ़ता ही गया। एक ओर तो जिला प्रशासन को सरकारी खजाना भरने के लिए प्रयोग किया जाता और दूसरी और राष्ट्रीय आन्दोलन को दबाने के लिए उत्तरदायित्व भी जिलाधीश और उसके सहयोगी कर्मचारियों पर डाला गया। 1939 के पश्चात् कानून और व्यवस्था (Law and order) राजस्व की प्राप्ति (Collection of Revenue) भूमि का रिकार्ड (Land Records) इत्यादि कार्यों से अतिरिक्त कलैक्टर को ग्रामीण विकास (Rural Development) सहकारिता आन्दोलन (Co-operative movement) तथा ग्रामीण पंचायतों (Rural Panchayats) की देख–रेख का कार्य भी सौंपा गया। इसके अतिरिक्त जिलाधीश को जिला प्रशासन को कुशलतापूर्वक चलाने के लिए जिला स्तर पर प्रशासन के विभिन्न विभागों में पूरा तालमेल स्थापित रखने का महत्त्वपूर्ण कार्य भी करना पड़ता था। क्योंकि ब्रिटिश शासन को भारत में चिरस्थायी बनाए रखने में जिला प्रशासन का बहुत ही महत्त्वपूर्ण हाथ था, इसलिए ब्रिटिश शासनकाल में जिला प्रशासन का बहुत ही महत्त्वपूर्ण हाथ था, इसलिए ब्रिटिश शासनकाल में जिला प्रशासन की शक्ति का महत्त्व बना रहा।

(b) राज्य के अंग-पुलिस सेना, न्याय प्रणाली व असैनिक सेवाएँ : Arms of State–Police, Army, Law and Civil Services :

भारत में विशाल साम्राज्य स्थापित करने के बाद अंग्रेजों ने सरकार के ढाँचे और प्रशासनिक संगठन की ओर ध्यान दिया ताकि भारत में ब्रिटिश साम्राज्य को बनाये रखा जा सके तथा इग्लैण्ड के आर्थिक एवं वपारिक हितों को ज्यादा–से–ज्यादा संरक्षण दिया जा सके। समय–समय पर अधिनियम पारित कर इस पर ब्रिटिश पकड़ को सुदृढ़ किया गया। इसका ढाँचा तीन महत्त्वपूर्ण स्तम्भों'नागरिक सेवा, सेना तथा पुलिस–पर अवलम्बित था।

भारत में ब्रिटिश सरकार का ढाँचा किस प्रशासनिक संगठन पर अवलम्बित (टिका हुआ) था–इसे समझने से पूर्ण हमें उन उद्देश्यों को समझ लेना चाहिए जो अंग्रेजों के समक्ष थे। अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए ही उन्होंने भारत में प्रशासन की एक नवीन प्रणाली स्थापित की थी। क्योंकि किसी देश की प्रशासन–प्रणाली का प्रमुख कार्य यह होता है कि वह उसके शासकों के उद्देश्यों और लक्ष्यों की पूर्ति कर सके।

ब्रिटेन के प्रमुख उद्देश्य : भारत में अंग्रेजों का प्रमुख उद्देश्य यह था कि कम्पनी से लेकर लकाशायर के उद्योगपतियों तक ब्रिटेन के विभिन्न वर्गों के अधिकतम लाभ के लिए वे भारत का अर्थिक शोषण कर सके।

1793 में गर्वनर–जनरल लॉर्ड कॉर्नवालिस ने बंगाल सरकार के लिए दो प्रमुख उद्देश्य निर्धारित किये। ये उद्देश्य थे–

1. राजनीतिक सुरक्षा सुनिश्चित करना तथा
2. भारत पर अधिकार को ईस्ट इण्डिया कम्पनी तथा ब्रिटिश राज्य के लिए यथासम्भव लाभकारी बनाना।
3. भारतविजय तथा प्रशासनिक व्यय स्वयं निकालना : उपर्युक्त दो प्रमुख उद्देश्यों के साथ साथ कम्पनी को ही भारत पर विजय तथा उस पर विदेशी शासन का पूरा खर्च भी स्वयं ही भारत के संसाधनों और राज्य की आय के साधनों से ही निकालना था। इसीलिए ब्रिटिश प्रशासन ने ऐसी नीतियाँ अपनाई तथा कार्यवाहियाँ की ताकि प्रशासनिक ढाँचा बना रहे तथा निरन्तर अंग्रेज अपने उद्देश्यों को प्राप्त करते रहे।

कम्पनी ने प्रशासन के कुछ पहलुओं को अपने हाथों में ले लिया। वारेन हेस्टिंग्ज और कॉर्नवालिस के शासन काल में ऊपरी प्रशासन में आमूल परिवर्तन किया गया। नई व्यवस्था की नीवं अंग्रेजी प्रशासनिक ढाँचे की तर्ज पर रखी गई। नए क्षेत्रों में ब्रिटिश सत्ता के विस्तार, नई समस्याओं, नई आवश्यताओं, नए अनुभवों और नए विचारों के फलस्वरुप उन्नीसवीं सदी में प्रशासन की व्यवस्था में अधिक गंभीर परिवर्तन हुए। मगर उन परिवर्तनों के दौरान साम्राज्य बाद के व्यापक उद्देश्यों को कभी नहीं भुलाया गया।

पुलिस

ब्रिटिश प्रशासन का तीसरा स्तम्भ या आधार पुलिस थी, पहला सेना और दूसरा असैनिक सेवाएं लॉर्ड कार्नवालिस के शासन काल में (1786–93 ई०) सर्वप्रथम इसको सुसंगठित एवं व्यवस्थित रुप प्रदान किया गया। कॉर्नवालिस से पूर्व जमींदार ही अपने क्षेत्रों में शान्ति एवं कानून–व्यवस्था बनाए रखने के लिए उत्तरदायी होते थे। कार्नवालिस ने शान्ति एवं कानून–व्यवस्था स्थापित करने का कार्य जमींदारों से कानून–व्यवस्था स्थापित करने का कार्य जमींदारों से छीन लिया तथा इसके लिए नियमित एवं सुव्यवस्थित पुलिस की स्थापना की। उसने थानों को नय रुप दिया प्रत्येक थाने में एक दरोगा नियुक्त किया गया। दरोगा जिला पुलिस अधीक्षक (सुपरिटेन्डेन्ट) के आधीन होते थे।

गाँव में पुलिस–अभाव : गाँव में पुलिस का कार्य चौकीदार को सौंपा गया।

भेदभाव : पुलिस अध्यक्ष या एस० पी० (सुपरिटेंडेन्ट) के पद पर केवल अंग्रेजों की ही नियुक्ति की जाती थी। कालान्तर में यह पद भारतीयों को भी दिया जाने लगा। परन्तु अधिकतर सभी ऊँचे पद एवं अच्छे वेतन की नौकरियों पर केवल अंग्रेजों को ही नियुक्त किया जाता था।

पुलिस-आतंक का प्रतीक : ब्रिटिश शासन में पुलिस को एक आतंक समझा जाता था। इसलिए चाहे वह जनता में लोकप्रियता प्राप्त नहीं कर सकी लेकिन भारत में कानून और व्यवस्था बनाये रखने में अंग्रेजी पुलिस सफल रही। ब्रिटिश सरकार पुलिस को अपने प्रशासन का महत्त्वपूर्ण अंग एवं आधार मानती थी।

प्रमुख कार्य : पुलिस ने डकैती जैसे अपराधों पर काफी नियत्रण पाया। पुलिस सी० आई० डी० का भी काम करती थी। अंग्रेजों एवं ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध होने वाले षड्यन्त्रों की सूचना प्राप्त करके तुरन्त उन्हें रोकती थी और षडयन्त्रकारियों को दण्ड देती थी। 1857 ई० के विद्रोह के बाद राष्ट्रीय जागृति एवं आन्दोलनों को कुचलने में पुलिस का एक महत्त्वपूर्ण कार्य हो गया।

अलोकप्रियता : पुलिस ने प्रायः राष्ट्रीय नेताओं और राष्ट्र-भक्तों को अमानवीय एवं मध्यकालीन दण्ड दिये। लोगों को तंग करना उनके साथ सख्ती और जबर्दस्ती करना तथा कठोरता का व्यवहार करना लोगों को अच्छा नहीं लगता था; इसीलिए ब्रिटिश पुलिस कभी भी लोकप्रिय नहीं बन सकी।

पुलिस से जुड़ी रिपोर्ट : संसद की समिति ने 1813 ई० की अपनी एक रिपोर्ट में बताया कि "पुलिस ने शान्तिप्रिय निवासियों को उसी भाँति लूटा, मारा जैसे डकैत करते थे जबकि डकैतों को दबाने के लिए उसका आयोजन किया गया था"

उदार गर्वनर बैंटिक के विचार : गर्वनर–जनरल लॉर्ड विलियम बैंटिक ने 1832 ई० में लिखा "जहाँ तक पुलिस का सवाल है वह जनता की रक्षक होने की स्थिति से कोसों दूर है। इस सम्बन्ध में जनता की भावना को बिना निम्नलिखित तथ्य का सहारा लिए मैं अच्छी तरह नहीं रख सकता: हाल के एक रेगूलेशन से बढ़कर कुछ भी अधिक लोकप्रिय नहीं हो सकता। इस रेगूलेशन के अनुसार अगर कोई डकैती हुई होती पुलिस को तब तक जाँच करने की मनाही है जब तक लूटे गए व्यक्ति उसे नहीं बुलाए। कहने का मतलब यह है कि गड़रिया भेड़िए से बड़ा भुक्खड़ हिंसक पशु है।"

विधि आयोग का गठन : भारतीय कानून–व्यवस्था और न्याय–प्रणाली को सुनिश्चित बनाने के लिए 1833 ई० मे भारतीय विधि आयोग का गठन लॉर्ड मैकाले की अध्यक्षता में किया गया। प्रत्येक जिले में अदालतें स्थापित की गई। हर जिले में राजस्व वसूली के लिए एक कलेक्टर, कानून व व्यवस्था बनाए रखने के लिए एक मजिस्ट्रेट और न्याय–व्यवस्था के लिए एक जज होता था। सामान्यतः कलेक्टर जिले का प्रमुख होा था। इन सब पदों पर सिविल सर्विस (नागरिक सेवा) के सदस्यों को नियुक्त किया जाता था।

पुलिस सुधार : 1902 में सर एण्ड्रयू (Sir Andrew Frazer) की अध्यक्षता में एक पुलिस आयोग नियुक्त किया गया ताकि प्रत्येक प्रान्त की पुलिस के प्रशासन की जाँच–पड़ताल करे। 1903 में उसके आयोग ने अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की जिसके विषय में कर्जन ने कहा था, "इससे अधिक स्पष्ट और लाभदायक रिपोर्ट भारत सरकार के सन्मुख कभी भी प्रस्तुत नही की गई।" रिपोर्ट में पुलिस दल को "सर्वथा अक्षम, प्रशिक्षण और संगठन की दृष्टि से दोष पूर्ण, अपर्याप्त रुप से निरीक्षित, भ्रष्ट और दमनकारी" और जनता का सहयोग और विश्वास प्राप्त करने में पूर्णतया असफल बताया गया था। इसके सुझावों में सभी स्तरों के वेतन की वृद्धि, संख्या वृद्धि सिपाहियों तथा पदाधिकारियों के लिए पुलिस विद्यालयों का स्थापन करना, ऊँचे पदों के लिए सीधी भरती, प्रान्तीय पुलिस सेवा की स्थापना, एक निदेशक के अधीन केन्द्रीय गुप्तचर विभाग की स्थापना इत्यादि सम्मिलित थे। इन सुझावों में से अधिकतर स्वीकार कर लिए गए और कार्यान्वित किए गये। इसके फलस्वरुप पुलिस का व्यय 1898 में $ 21,17,000 से बढ कर 1908–9 में $ 32,12,189 हो गया।

सेना

भारत में ब्रिटिश प्रशासन का दूसरा बड़ा स्तम्भ या आधार सेना था।

योगदान : सेना ने ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी के व्यापार को निरन्तर बढ़ाने एवं अंग्रेजों द्वारा भारतपर विजय पाने के कार्य मे बहुत महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। इसके द्वारा ही अंग्रेजों ने देश के आन्तरिक विद्रोहों का दमन किया और विदेशी आक्रमणों से साम्राज्य की रक्षा के लिए न केवल भारत में अपितु कभी–कभी यूरोप एवं विश्व के अन्य भागों में भी इसका प्रयोग किया।

भारतीयों की भर्ती : ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी की सेना में भारतीयों को बड़ी संख्या में भर्ती किया जाता था। परन्तु उनका केवल सेना के निम्न पदों पर नियुक्त किया जाता था। वे अधिक–से–अधिक सूबेदार के पद पर पहुँच सकते थे। भारतीय सैनिकों को दिये जान वाले वेतन अंग्रेज एवं अन्य यूरोपीय सैनिकों की अपेक्षा बहुत कम होते थे। 1856 ई० तक भारतीय सैनिकों को दिया जानेवाला अधिकतम वेतन 300 रुपये मासिक था। 1857 ई० तक इस पदो पाने वाले भारतीयों की संख्या केवल तीन था। सेना के सारे अधिकारी अंग्रेज या अन्य यूरोपीय होते थे। सेना के कुछ विशेष पदों पर केवल अंग्रेजों को ही लिया जाता था।

अधिक संख्या में भारतवासियों की भर्ती के कारण : सेना में कुल भारतीयों की संख्या बहुत होती थी। उदाहरणार्थ सन् 1857 ई० में कम्पनी की कुल सैनिक संख्या 3,11,400 थी जिसमें से भारतीय सैनिकों की संख्या 2,95,900 थी। प्रश्न यह उठता है कि सना में भारतीयों की संख्या ज्यादा क्यों थी ?

इनके निम्न कारण थे :

***(i)* इग्लैण्ड से सैनिक लाना असम्भव** : अंग्रेजों की मजबूरी थी कि वे सभी सैनिकों को इग्लैण्ड स नहीं ला सकत थ; ब्रिटेन की जनसंख्या कम थी। इग्लैण्ड का साम्राज्य विश्व के अनेक देशों में फैला हुआ था। नियन्त्रण अर्थात प्रशासन की सुदृढ़ता की दृष्टि से सभी स्थानों पर अंग्रेजों की जरुरत थी।

(ii) **कम वेतन** : भारतीयों को अपने वतन से दूर आने–जाने का जोखिम या खर्च उठाना पड़ता था इसलिए वे कम वेतन पर ही काम करने को तैयार थे। इससे कम्पनी या ब्रिटिश सरकार का व्यय कम होता था।

(iii) **वफादारी** : भारतीयों में उस समय राष्ट्रीयता की भावना नहीं थी। वे अपने मालिक के प्रति वफादारी से काम करते थे। वे मराठों, पंजाबियों तथा मैसूर सैनिकों के विरुद्ध कम्पनी की सहायता के लिए लड़े।

(iv) **दरिद्रता** : भारत के कुछ प्रदेशों में बहुत गरीबी थी। कम्पनी से मिलने वाली वेतन–राशि तथा नियमितता की दृष्टि से भारतीयों को सेना की नौकरी ठीक लगती थी।

व्यवहार : अंग्रेज भारतीय सैनिकों के साथ छावनियों में अच्छा व्यवहार नहीं करते थे। वे उनसे जातिगत भेद–भाव करते थे। प्रायः उनकी धार्मिक भावनाओं का भी ख्याल नहीं करते थे। उदाहरण के लिए समुद्री यात्रा के लिए सैनिकों को विवश करना या चर्बी वाले कारतूस उन्हें प्रयोग के लिए देना। ये सब बातें कम्पनी के लिए हानिकारक सिद्ध हुई। 1857 ई० के विद्रोह मे भारतीय सैनिकों ने अंग्रेजी सत्ता का कड़ा विरोध किया और उसकी जड़े हिलाकर रख दी थी।

सेना का पुनर्गठन (Reoranization of the Army) : 10 मई, 1857 को मेरठ में सैनिकों ने विद्रोह कर दिया था जिससे अंग्रेजी राज्य की नींव हिल गई थी। इस के उपरान्त सेना के पुनर्गठन पर अत्यधिक ध्यान दिया गया। सर जॉन लॉरेस ने जो पंजाब के मुख्य आयुक्त थे, तथा जिनहोंने सितम्बर 1857 में दिल्ली को जीतने में मुख्य भूमिका निभाई थी इस प्रकार अपने विचार व्यक्त किए : "सैनिक विद्रोह से पूर्व सेना में सबसे प्रमुख दोष तथा जो अशंक्य (unquestionably) रुप से निकटतम था, और जिसने हमारे विरुद्ध अत्यधिक भूमिका निभाई, वह था बंगाल में भ्रातृभाव तंथा उसका समांगीन (homogeneity) होना। इस दोष को दूर करने के लिए हमें यूरोपीय सेना का प्रतितुलन (Counterpoise) तथा भारतीय सेना का जातीय आधार पर विभाजन करना चाहिए।"

एक अन्य तथ्य जो सेना के विषय में उभरा, वह यह था कि 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में इग्लैंड संसार की सब से बड़ी साम्राज्यवादी शक्ति के रुप में उभर रहा था और लगभग समस्त अफ्रीका तथा एशिया में उसने अपने साम्राज्य का जाल बिछा दिया था। अब यह कहा जाने लगा था कि संसार में अंग्रेजी साम्राज्य पर सूर्य कभी अस्त नहीं होता। फ्रांस, जर्मनी, रुस, इटली तथा अन्य विदेशी साम्राज्यवादी शक्तियों के विरुद्ध ब्रिटेन युद्ध करने पर बाधित हो गया। इसलिए भारतीय सेना को और भी सुदृढ़ किया गया ताकि वह भारतीय सीमाओं की रक्षा कर सक तथा संसार में अंग्रेजी साम्राज्य के प्रसार तथा रक्षा करने में अपना योगदान दे सके। इसी हेतु भारतीय सेना क्रीमिया, चीन, न्यूजीलैंड, मिडल–ईस्ट (गल्फ प्रदेश) इत्यादि स्थानों पर भेजी गई।

इस निर्णय के हेतु सेना में निम्नलिखित परिवर्तन किए गए :–

(i) ईस्ट इण्डिया कम्पनी की यूरोपीय सेना अंग्रेजी सेना में सम्मिलित कर ली गई। यूरोपीय पदाति तथा घुड़सवार ब्रिटेन के पदातियों तथा घुड़सवारों में मिला लिए गए। बंगाल, मद्रास तथा बम्बई का तोपखाना, शाही तोपखाने और शाही इन्जिनियरों (Royal Artillary and Royal Engineers) में मिला लिए गए। अंग्रेजी सेना के पदाधिकारी तथा सैनिक, भारत में सेवा करने तथा अनुभव प्राप्त करने के लिए नियमित रुप से भेजे जाने लगे।

(ii) यूरोपीय सैनिकों की संख्या जो 1857 से पूर्ण 45,000 थी अब 65,000 कर दी गई तथा भारतीय सैनिकों की संख्या 2,38,000 से घटाकर 1,40,000 कर दी गई।

(iii) बंगाल में यूरोपीय सैनिकों का भारतीय सैनिकों 1 : 2 का अनुपात रखा गया जब कि मद्रास तथा बम्बई में यह अनुपात 1 : 3 का रखा गया।

(iv) भारतीय सेना में एक नवीन जातिवाद, लडाकू तथा गैर–लड़ाकू जातियों का आरम्भ किया गया। पंजाब नेपाल तथा उत्तर–पश्चिमी प्रान्तों में मुख्य जातियों को लड़ाकू मानकर उनके जवानों को बंगाल, बिहार, पूर्वी उत्तरप्रदेश के जवानों से अधिक अच्छा मानकर बहुसंख्या में भर्ती किया गया।

(v) सैनिकों में प्रादेशिक निष्ठा (loyalty) की भावना को बढ़ावा दिया गया ताकि ये लोग राष्ट्र भावना से प्रेरित होकर एक न हो सके। पंजाब, गढ़वाल कुमाऊं, गोरखा, सिक्ख, राजपूत, मराठा तथा बलोच रेजिमेंटो का गठन किया गय। जिन–जिन प्रदेश के लोगों ने विद्रोह में अधिक भाग लिया, वहां सैनिक भर्ती लगभग बन्द कर दी गई तथा उन प्रदेशों में विकास योजनाएं भी लागू नहीं की गई।

(vi) कुछ विभागों जैसे तोपखाना, सिगनल्स (Signals) में भारतीयों की संख्या बहुत थोड़ी रखी गई।

कर्जन के सैनिक सुधार : अंग्रेजी राज्य के आरम्भ से ही उनकी सेना ने भारत में दो कार्य किए थे, बाहरी आक्रमणोंसे रक्षा और आन्तरिक शक्ति बनाए रखने में सहायता देना। रुस की मध्य एशिया में गतिविधियों और ताशकन्द रेलवे लाइन के बनने से भारत सरकार को अपनी सीमा सुरक्षा के विषय में शंका होने लगी थी।

सेना के पुनर्गठन का कार्य अधिकतर लार्ड किचनर जो भारत में 1902–08 तक मुख्य सेनापति (commander–in–Chief) के पद पर बने रहे, का था। भारतीय सेना को दो कमानों में बांट दिया गया – एक उत्तरीय कमान, जिसक कार्यालय शिमला में थ और प्रहार केन्द्र (striking point) पेशावर था और दूसरा दक्षिणी कमान जिसका मुख्य कार्यालय पूना में था और प्रहार केन्द्र क्वेटा था। दोनों भागों में तीन–तीन ब्रिगेड थे, दो स्थानीय और एक अंग्रेजी बटालियनों का था। प्रत्येक ब्रिगडियर अपनी–अपनी ब्रिगेड की दक्षता के लिए उत्तरदायी था। अफसरों के प्रशिक्षण के लिए इग्लैंड के कैमबरले कॉलिज (Camberely College) के नमूने पर एक कॉलिज क्वेटा (Quetta) में खोला गया। अंग्रेजी सेनों को आधुनिकतम शस्त्र दिए गए। इसके अतिरिक्त प्रत्येक बटालियन को एक कडे परीक्षण जिसे किचनर टैस्ट (Kitchner Test) कहते थे, से गुजरना पड़ता था। इस समस्त पुनर्गठन के फलस्वरुप सेना पर व्यय बहुत बढ़ गया।

फलस्वरुप रक्षा व्यय बहुत बढ गया आर समस्त केन्द्रीय तथा प्रान्तय सरकारों की कुल आय का 25–30 प्रतिशत धन रक्षा पर व्यय होने लगा। इस सम्बन्ध में 3 फरवरी, 1908 के एक स्मरण पत्र में भारत सचिवालय ने इस और संकेत भी किया कि ग्रेट ब्रिटेन अपनी आय का 22 प्रतिशत था डोमिनियन्स (Dominions) 3 प्रतिशत, उपनिवेश 4 प्रतिशत रक्षा पर व्यय करते हैं जबकि भारत को अपनी कुल आय का 33 प्रतिशत रक्षा पर व्यय करना पड़ता है। इस अत्यधिक रक्षा व्यय के कारण भारत सरकार को ऋण लेना पडता था, तथा सार्वजनिक ऋण (Public Debt) बढ़ता चला गया , भारत की जनता के हित में नहीं अपितु अंग्रेजी लोलुपता के लिए।

न्याय–प्रणाली

न्याय–प्रणाली के विकास में भू–धारण (land tenures) का प्रभाव बहुत महत्त्वपूर्ण था। कई बार सरकार की लगान–नीति ने प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रुप से न्यायिक प्रशासन को प्रभावित किया था। यद्यपि मुगल कालीन न्याय–व्यवस्था मुख्यतः कुरान की विचार धारा पर आधारित थी किन्तु सिविल कानून के क्षेत्र में यह मुसलिम धर्म के समुदाय के लिए ही सीमित थी। हिन्दुओं के लिए उनकी अपनी परंपरा तथा रीति–रिवाज सम्बन्धी विधि थी। दूसरी और हिन्दुओ और मुसलिम धर्म के अनुयायियों के लिए समान दंड विधि (Criminal law) लागू की जाती थी। अकबर के काल में काजी इस्लाम–धर्म की विधि में शामिल नहीं थे।

मुगल प्रशासन के उत्तरार्ध में भूमि सुर्पुदगी प्रथा (land assignment) से समृद्ध भू–स्वामियों की शक्ति बढ़ती गई। इससे न्याय–प्रबन्ध भी कई प्रकार से प्रभावित हुआ। नई स्थिति में न्याय प्रशासन केवल बड़े शहरों तक ही सीमित रह गया जहाँ गवर्नरों की शक्ति अधिकथी। अन्य क्षेत्रों में न्याय से सम्बन्धित अधिकारियों का स्थान जमींदारों, धनी किसानों और लगान अधिकारियों ने प्राप्त कर लिया। जहाँ जमींदारों का अधिकार सिविल और फौजदारी अदालतों पर स्थापित होता गया। क्या धर्मनिरपेक्षता से स्थिति और बिगड गई ? (अगला वाक्य यही कहता है) इस प्रकार 1757 की प्लासी की लड़ाई के पहले ही जो न्याय–प्रबन्ध बिगड़ता जा रहा था कम्पनी के शासन के आरम्भिक वर्षों में और अधिक बिगड़ता गया। बक्सर युद्ध के बाद मुगल बादशाह से कम्पनी को बंगाल के दीवानी अधिकार प्राप्त हो गए। दीवानी का तात्पर्य था की कम्पनी बंगाल, बिहार और उड़ीसा में लगान वसूल करें और दीवानी के मुकदमों का फैसला करे। निजामत (सैनिक शक्ति और फौजदारी के मुकद्दमों पर अधिकार) नवाब ने पहले ही कम्पनी को दे दिया था। क्लाइव इतनी सब जिम्मेदारी कम्पनी पर नहीं डालना चाहता था, क्योंकि वह जानता था कि उसके लिए कम्पनी तैयार नहीं थी। इसलिए क्लाइव ने वैद्वेशिक सम्बन्ध, सैनिक शक्ति तथा राजस्व प्राप्त करने की शक्ति कम्पनी के पास रखी किन्तु न्याय–व्यवस्था भारतीयों के जिम्में छोड दी। इस कार्य के लिए बंगाल और बिहार में दो नायब दीवान नियुक्त किए गए। इस प्रकार कम्पनी इन क्षेत्रों में शासक तो थी, किन्तु अपने शासन के लिए उत्तरदायी नहीं थी। यहाँ शक्ति और उत्तरदायित्व का पृथक्करण किया गया था। यह व्यवस्था वॉरेन हेस्टिंग्ज की गर्वनर के पद नियुक्ति तक चलती रही।

वॉरेन हेस्टिंग्ज के पहले न्याय–प्रबन्ध में जो भी परिवर्तन किए गए थे, वे केवल लगान बढ़ाने के उद्देश्य से प्रेरित थे। 1769 मे कम्पनी की प्रवर समिति ने यूरोपीय पर्यवेक्षकों की नियुक्ति की। इसका लक्ष्य सुधार कार्यक्रमों को लागू करना नहीं, बल्कि प्रशासन में व्यवस्था स्थापित करना था। इन पर्यवेक्षकों का कार्य न्याय–प्रणाली पर नियंत्रण रखना था, क्येंकि लगान अधिकारियों और जमींदारों द्वारा न्यायिक अधिकारों का मनमाने ढंग से प्रयोग किया जा रहा था। इसके अलावा न्याय अधिकारियों के पद वंशागत होते जा रहे थे जिससे लोगों को उचित न्याय मिलने की सम्भावना कम हो रही थी। दूसरी और राजस्व के मामलों में न्याय प्रदान करने के उद्देश्य से कम्पनी ने दो राजस्व नियंत्रक कौंसिले (Controlling Councils of Revenue) मुर्शिदाबाद और पटना मे स्थापित की। ये अपील के मुकद्दमों में उच्च न्यायालय के समान थी। किन्तु उनका कार्य करने का तीरका भी वैसा ही मनमाना और अनयिमित था जैसा कि लगान अधिकारियों और जमींदारों का।

एक और मुगल न्याय–व्यवस्था बिगड़ रही थी और दूसरी ओर कम्पनी की न्याय–व्यवस्था विकसित नहीं हो पाई थी। 1772 के पहले न्याय–व्यवस्था के कुछ दोष स्पष्ट दिखाई दे रहे थे। क्लाइव और द्वैध शासन–प्रबन्धों वाणिज्य–सिद्धान्तों पर आधारित था जिसमें प्रशासनिक सुधार सम्भव और आवश्यक नहीं माना गया था। अंग्रेज पर्यवेक्षकों की मदद के लिए अंग्रेजी भाषा में विधिग्रन्थ

उपलब्ध नहीं था। उन्हें हिन्दुस्तानी कानून का ज्ञान नहीं था। इस प्रकार की न्याय–प्रणाली में कानूनी कार्यवाही व्यक्ति एवं स्थिति के अनुसार बदलती रहती थी। उच्च और निम्न अदालतो के कार्य क्षेत्र स्पष्ट नहीं किए गए थे। कम्पनी की आन्तरिक प्रशासनिक संस्थाओं में (प्रवर समिति और प्रेसीडेन्ट एवं कौंसिल के बीच) लगातार हो वाले झगडे के कारण, मराठा और मैसूर युद्ध के कारण और बंगाल के भयंकर अकाल के कारण कम्पनी सरकार न्याय प्रबन्ध की ओर ध्यान नहीं देती और न मैसूर युद्ध के कारण और बंगाल के भयंकर अकाल के कारण कम्पनी सरकार न्याय प्रबन्ध की ओर ध्यान नहीं दे सकी और न ही उसने उसे सुधारने की कोशिश की न्याय व्यवस्था में सुधार लाने की दृष्टि से वॉरेन हेस्टिंग्ज का काल अत्यंत महत्त्वपूर्ण था। भारत में ब्रिटिश न्याय–प्रणाली की स्थापना इसी काल में हुई। कानून का शासन (Rule of Law) तथा न्याय पालिका की स्वतंन्त्रता इस प्रणाली की विशेषताएँ थी। कानून के शासन से अभिप्राय था निरंकुश शक्ति के स्थान पर नियन्त्रित और निश्चित विधि की सर्वोच्चता एवं प्रधानता, तथा कानून के सम्मुख सभी व्यक्तियों और वर्गों की बराबरी। स्वतन्त्र–व्यवस्था का आर्थ था न्याय–व्यवस्था में कार्यपालिका का हस्तक्षेप न होना तथा न्यायाधीशों की सुरक्षा। ये विचार इग्लैंड में 18 वीं शताब्दी में संविधान का अंग बन चुके थे। भारत में यह सिद्धान्त लागू होते ही न्यायपालिका और कार्य पालिका के बीच अनेक विवाद उठ खड़े हुए। सर्वोच्च न्यायालय (Supreme Court) की स्थापना से ये झगड़े और अधिक बढ़ गए और इन्हें रोकने के लिए विशेष कानून बनाए गए। इग्लैन्ड में ये विवाद समाज के भीतर से उत्पन्न हुए थे किन्तु भारत में ये विदेशी शासन के परिणाम थे। ये विवाद मुख्यतः अंग्रेज वकीलों एवं न्यायाधीशों, प्रशासकों और व्यापारियों के बीच थे जिनमें भारतीयों की भूमिका दर्शक जैसी ही थी। ये विवाद वॉरेन हेस्टिंग्ज में काल में देखे गए थे।

इन समस्याओं को ध्यान में रखते हुए हेस्टिंग्ज ने प्रशासनिक व्यवस्था को सुधारने का भरपूर प्रयत्न किया। द्वैध शासन–प्रणाली को समाप्त कर कम्पनी ने दीवानी का उत्तदायित्व अपने ऊपर ले लिया। इसमें सिविल नयाय–व्यवस्था भी शामिल थी। हेस्टिंग्ज जानता था कि न्याय–व्यस्था प्रशासनिक एवं राजनीतिक हितों के कारण छोड़ी नहीं जा सकती थी और इसमें नए प्रयोगी (Innovations) की गुंजायश नहीं थी। उसने मुगल व्यवस्था पर आधारित न्याय–प्रणाली को अपनाने का प्रयत्न किया। सम्पूर्ण न्याय–व्यवस्था को पुनः गठित किया गया तथा प्रत्येक अदालत का कार्य क्षेत्र निर्धारित कर दिया गया। सिविल और फौजदारी मामलों के लिए अलग अदालते थी। दस रुपए तक के मामलों में प्रधान या मुखिया निर्णय ले सकता था। प्रत्येक जिले में दीवानी अदालत स्थापित की गई जिसकी अध्यक्षता यूरोपीय कलक्टर करता था। यहा 500 रुपये तक के मामलों पर निर्णय किया जाता था। इस दीवानी अदालत के तहत विविध प्रकार के मामले आते थे, जैसे कि सम्पति, वंशानुगत अधिकार, विवाह, जाति, कर्ज, हसाब, किराए, साझेदारी, संविदा इत्यादि से सम्बन्ध झगड़े। दीवानी अदालत के ऊपर कलकत्ता के सदर दीवानी अदालत स्थापित की गई। इन सुधारों के साथ ही हेस्टिंग्ज ने पटना और मुर्शिदाबाद की राजस्व कौंसिल समाप्त कर दी। किन्तु इसके बाद भी लगान विभाग का प्रभाव न्याय–प्रणाली पर बना रहा। 1774 के बाद यह प्रभाव और अधिक बढ़ गया जब कलक्टरों को वापस बुलाने के बाद छह प्रान्तीय कौंसिले बनाई गई थी। इससे न्याय–व्यवस्था में दोष और भ्रष्टाचार बढ गया।

फौजदारी मामलों में कम्पनी हस्तक्षेप नहीं करना चाहती थी। यह ऐसा क्षेत्र था जहाँ उत्तरदायित्व अधिक था और आय नहीं थी। इसलिए यह क्षेत्र भारतीय अधिकारियों (मुहम्मद रजा खाँ सिताब राय) पर छोड दिया गया। इस क्षेत्र में हस्तक्षेप केवल अराजकता रोकने और कानून–व्यवस्था को स्थापित करने के उद्देश्य से किया गया। फौजदारी क्षेत्र में केवल इस्लामी कानून लागू किए जाते थे तथा दंड भी उन्हीं के आधार पर दिया जाता था। इस व्यवस्था के विरुद्ध अंग्रेज पर्यवेक्षकों की अनेक प्रकार शिकायतें थी।

हेस्टिंग्ज ने फौजदारी विभाग को सुधारने के उद्देश्य से 1772 में फौजदारी व्यवस्था की नई योजना बनाई। इसके द्वारा प्रत्येक जिले में फौजदारी अदालत स्थापित की गई। इसमें काजी, मुफ्ती तथा मौलवी नियुक्त किए गए। सबसे ऊपर सदर निजामत अदालत बनाई गई जिसका दारोगा–ए–अदालत, प्रधान काजी, प्रधान मुफती तथा तीन मौलवी संचालन करते थे। जिला स्तर पर न्याय–प्रणाली यूरोपीय कलक्टर द्वारा नियन्त्रित थी, किन्तु वह स्वयं न्यायलय का सदस्य नहीं थी। सदर निजामत कुछ समय के लिए मुर्शिदाबार से कलकत्ता लाई गई थी जिससे उस पर कम्पनी का नियन्त्रण अधिक रखा जा सके। किन्तु हेस्टिंग्ज ने मुहम्मद रजा खाँ को पुनः नायक नियुक्त किया। रजा खाँ ने गर्वनर जनरल की अनुमति से फौजदारी अदालतों का पुनः गठन किया। कुल मिलाकर 23 जिला फौजदरी अदालतें बनाई गई। बड़े जिलों के प्रमुख नगरों में फौजदारी थाने स्थापित किए गए। फौजदारी अदालतो को पुनः नाक नियुक्त किया। रजा खाँ ने गर्वनर जनरल की अनुमति से फौजदारी अदालतों का पुनः गठन किया। कुल मिलाकर 23 जिला फौजदारी अदालतें बनाई गई। बड़े जिलों प्रमुख नगरो में फौजदारी थाने स्थापित किए गए। फौजदारी अदालतों और थानों के साथ जेले भी बनाई गई। परन्तु यह प्रयोग भी सफल नहीं माना जा सकता, क्योंकि अदालतों को अपना निर्णय लागू करने के लिए पर्याप्त अधिकार और साधन नहीं थे। कम्पनी का एक लक्ष्य था इस्लाम के धार्मिक कानूनों को बदलवाना किन्तु यह भी नहीं किया जा सका।

हेस्टिंग्ज के ही काल में रेग्यूलेटिंग ऐक्ट के द्वारा कलकत्ता में सर्वोच्च न्यायालय (Supreme Court) स्थापित किया गया। इसका कार्य क्षेत्र कलकत्ता नगर के नागरिकों तक ही सीमित था। इसके बाहर के मामलों की इस न्यायालय में तभी सुनवाई हो सकती

थी अब दोनों पक्ष इसके लिए तैयार हो। यहाँ अंग्रेजी कानून लागू होता था जब कि सदर दीवानी और सदर निजामत अदालत में मुसलिम या हिन्दू कानून लागू होता था। इन न्यायालयों का कार्य क्षेत्र सुप्रीम कोर्ट से टकराता था जिसे सुलझाने के लिए हेस्टिंग्स ने इंपे को सदर दीवानी अदालत का मुख्य न्यायधीश नियुक्त किया जो सुप्रीम कोर्ट का भी प्रधान न्यायाधीश था डाइरक्टरों के आपत्ति करने से इंपे ने 1782 में त्याग पत्र दे दिया। इस प्रकार न्याय–व्यवस्था में भी द्वैधता चलती रही।

हेस्टिंग्ज ने अपने गर्वनर जनरल काल के अन्तिम वर्षों में न्याय–व्यवस्था में सुधार का एक और प्रयत्न किया जो 1780 की न्यायिक योजना के द्वारा प्रस्तुत किया गया। इसके द्वारा न्याय तथा भू–राजस्व कार्यों को पृथक करने की चेष्टा की गई। किन्तु यह प्रयोग बहुत कम समय चला। इस काल में हिन्दूविधि संहिता तथा मुसलिम विधि का अंग्रेजी भाषा में अनुवाद किया गया। 1781 की संहिता द्वारा न्याय–व्यवस्था मे केन्द्रीकरण लाया गया। पुरानी न्याय प्रणाली की सरलता समाप्त होती गई और पाश्चात्य सिद्धान्तों के प्रभाव से इसमें जटिलता बढ़ती गई। कानून व्यवस्था एक विशेष व्यवसाय बन गया जिसका सचालन केवल वकील ही कर सकते थे।

1782 के बाद जॉन शोर और स्टुअर्ट के विचारों के प्रभाव से लगान और न्याय–विभाग का पुनः एकीकरण होने लगा। बचत लाने के उद्देश्य से डाइरेक्टर भी इस नीति के पक्ष में हो गए थे। कॉर्नवालिस के आगमन के समय इसी नीति को अपनाया गया। 1787 की योजना के अर्न्तगत मजिस्ट्रेट, न्यायाधीश और कलक्टर के अधिकार संयुक्त रुप से न्यायधीश के पद में मिला दिए गए। यह अल्पकालीन प्रयोग था। इससे कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य था कॉर्नवालिस संहिता (Cornwalls Code) जिसे 1793 में अन्तिम रुप देकर पास किया गया। यह 'शक्तियों के पृथक्करण के सुप्रसिद्ध सिद्धान्त पर आधारित था। इसमें तथा न्याय–प्रशासन का अलग किया गया। इससे पहले जिला कलक्टर के पास भूमि–कर विभाग तथा विस्तृत न्यायिक तथा दंडात्मक शक्तियाँ (Magisterial Powers) केन्द्रित थी। इस स्थिति में वह लगान–सम्बन्धी निर्णय लेने के बाद उसी मुकदमें में स्वयं न्यायाधीश बनकर उचित न्याय नहीं दे सकता था। इस प्रकार की न्याय–व्यवस्था पर जमींदारों और किसानों का विश्वास उठता जा रहा था। इसीलिए 1793 की संहिता द्वारा कलक्टर से न्यायिक तथा फौजदारी शक्तियाँ ले ली गई तथा जिला अदालतों के लिए जिला न्यायधीशों (District Judges) को नियुक्त किया गया।

कॉर्नवालिस की 1793 की योजना के द्वारा सभी राजस्व न्यायालय समाप्त कर दिए गए। कलक्टरों से न्यायिक अधिकार छीन लिए गए तथा सम्पूर्ण सिविल न्यायालयों का श्रेणीकरण कर दिया गया। नए न्याय प्रबन्ध में 50 रुपये तक के मामलों को मुंसिफ अदालतो में निबटाया जाने लगा। उसके ऊपर रजिस्ट्रार अदालते (Registrar's Courts) थी जिन्हें 200 रुपए तक के मामलों को सुनने का अधिकार था यहाँ यूरोपीय न्यायधीश नियुक्त किए जाते थे। यहाँ से अपील नगर या जिला अदालतो (City or District Courts) में होती थी। यहाँ यूरोपीय न्यायाधीश भारतीय अधिकारियों की बदद से मुकदमों की सुनवाई करते थे। इनके ऊपर चार प्रातीय अदालते थी जो कलकत्ता मुर्शिदाबाद, ढाका और पटना में स्थित थी। कुछ मामलों में ये न्यायालय प्रथम अधिकार क्षेत्र (orlginal Jurisdiction) का कार्य भी करते थे। यहाँ यूरोपीय न्यायाधीश की अध्यक्षता में 10000 रुपए तक के मामले सुने जाते थे। इनके पर कलकत्ते में स्थिति सदर दीवानी अदालत थी जिसमें गर्वनर जनरल और उसके पार्षद निर्णय लेते थे। पाँच हजार रुपये से अधिक के मामले की पेशी किंग–इन–काउंसिल (King–in–Council) के समक्ष की जा सकती थी।

फौजदारी न्यायालयो में भी कॉर्नवालिस द्वारा विभिन्न प्रकार के परिवर्तन लाए गए। हेस्टिंग्ज मुगल न्याय–प्रणाली को हटाने के पक्ष में नहीं था– वह केवल दोषों को ही दूर करना चाहता था। दूसरी ओर कार्नवालिस व्यापक सुधार लाने के पक्ष में था। फौजदारी अदालतों में सुधार लाने के उद्देश्य से 3 दिसम्बंर 1790 में एक विस्तृत मसौदा तैयार किया गया। इसे एक सदस्य को छोड़कर कौंसिल के सभी सदस्यों ने स्वीकार किया। इसमें मुसलमान न्यायाधिकारियों के मार्ग दर्शन के लिए एक नियम बनाया गया जिसके अनुसार हत्या के मामलों में हत्यारे की भावना पर अधिक बल दिया गया, हत्या के अस्त्र या ढंग पर इतना नही। इसी प्रकार मृतक के अभिभावकों की इच्छा से क्षमा करना अथवा 'खत का मूल्य' निर्धारित करना बन्द कर दिया गया। इसी प्रकार यह निश्चय किया गया कि साक्षी के 'धर्म विशेष का मामले पर कोई प्रभाव नहीं होगा। इस्लामीकानून के अनुसार मुसलमानों की हत्या के मामला मे अन्य धर्म वाले साक्षी नहीं माने जाते थे। इसके साथ ही न्यय–संगठन में भी सुधार किए गए। मुहम्मद रजा खाँ के पद को समाप्त कर सदर निजामत अदालत पुनः कलकत्ता में स्थापित की गई। यहाँ गर्वनर जनरल और कौंसिल के अधीन जिला फौजदारी अदालत समाप्त कर दी गई और उनके स्थान पर चार चलती–फिरती अदालते (Circuit Courts) स्थापित की गई। इनके लिए साल में दो बार आन्तरिक प्रदेशों का दौरा करना आवश्यक था और इनमें केवल यूरोपीय ही अध्यक्षता कर सकते थे। इन्हें मृत्यु दण्ड देने की अनुमति थी, परन्तु सदर निजामत अदालत द्वारा उसकी पुष्टि आवश्यक थी। गर्वनर जनरल को क्षमादान का अधिकार था

इस प्रकार कॉर्नवालिस की न्यायप्रणाली प्रश्चिमी न्यायिक धारणाओं और विचारों पर आधारित थी। राजा अथवा उसके कार्यकर्ताओं के निजी कानून, अथवा धार्मिक कानून का स्थान धर्म निरपेक्ष कानून ने ले लिया। विधि की सर्वोच्चता स्थापित की गई। किन्तु कार्नवालिस संहिता के सार्वभौम सिद्धान्त [illegible] ये कानून इतने थे कि साधारण लोग उन्हें [illegible]

थे। इसमें न्याय प्राप्त करने के लिए अत्यधिक समय लगता था और जो महंगा पड़ता था भारत जैसे गरीब देश के लिए उपयुक्त नहीं था। इससे मुकदमे बाजी बहुत बढ़ गई। झूठे साक्षी बनाए जाने लगे न्यायालय का काम बढ़ गया और फैसला सुनाने में बहुत समय लगने लगा। स्वयं कॉर्नवालिस ने स्वीकारकिया था कि उसके काल में 60000 से अधिक मुकदमें न्यायालयों में फँसे पड़े थे। इस प्रणाली की विशेष बात यह थी कि परम्परागत न्याय–प्रणाली की दिशेष बात यह थी कि परम्परागत न्यय–प्रणाली, पचायत, जमींदार, काजी फौजदार तथा नाजिम इत्यादि का स्थान यूरोपीय न्याय धीशों को दे दिया गया, जिन्हें भारतीय रीति–रिवाजों तथा परम्पराओं की जानकारी नहीं थी। यह कॉर्नवालिस योजना का बहुत बड़ा दोष था।

कॉर्नवालिस–संहिता के दोषों को दूर करने के लिए कम्पनी सरकार ने 1793 से 1813 के बीच अनेक कदम उठाए। छोटे मुकदमों को निबटाने के लिए आदेश दिए गए। न्याय विभाग के अधिकारियों को प्रोत्साहित करने के लिए उनके वेतन बढ़ाए गए। इन अधिकारियों को हेलीबरी कॉलेज (Haileybury College) में प्रशिक्षण प्रदान करने की व्यवस्था की गई। यहाँ उन्हें भारतीय भाषाओं, न्याय और सरकारी कानूनों की विशेष जानकारी दी जाने लगी। साथ ही न्याय–प्रणाली में केन्द्रीकरण लांने के लिए विभिन्न योजनाएँ बनाई गई।

मद्रास प्रेसीडेंसी में जब कॉर्न वालिस–प्रणाली लागू करने का प्रश्न उठा तो टॉमस मनरों ने इसका विरोध किया। उसके विचार में कॉन वालिस–प्रणाली कृत्रिम और विदेशी थी। जिसने परम्परागत संस्थाओं को हटा दिया था। उसने भारतीयों के पास अपने मामलों का निबटारा करने के लिए कुछ भी अधिकार नहीं छोड़ा था। मनरों इसके विपरीत ग्राम पंचायत सरपंच इत्यादि को सिविल और फौजदारी के छोटे मामलों में अधिकार देकर प्रोत्साहित करता रहा। जिला प्रशासन में भी परम्परागत ढंग से कार्य–पालिको को शक्तिशाली बनाया गया। कलक्टर के पास मजिस्ट्रेट और पुलिस अधिकारां के साथ किराए और सीमा–सम्बन्धी झगडो को निपटाने का अधिकार दिया गया। इसी प्रकार की विचारधारा को दिल्ली में रेजिडेन्ट मेटकॉफ द्वारा अपनाया गया। इसमें परम्परागत मुगल संस्थाओं को बनाए रखा गया तथा राज्य शक्तियों में केन्द्रीकरण लाया गया।

बैथंम की न्यायपालिका–सम्बन्धी उपयोगिता वादी विचार धारा उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में इग्लैंड में बहुत लोकप्रिय हो रही थी। इस विचारधारा ने भारतीय न्याय–व्यवस्था को भी कुछ सीमा तक प्रभावित किया। इसमें न्याय–प्रणाली के संगठन और दंड–विधि के बारे में कुछ सुझाव रखे गए थे। उदारवादी सुधारकों में जेम्स मिला उल्लेखनीय थे जिनके अनुसार भारतीय न्यायप्रणाली को लि ज्यादा महत्त्व का नहीं मानता था क्योंकि इससे ब्रिटिश न्याय–प्रणाली के सभी दोष भारतीय न्याय–प्रणाली में आ गए थे। मिल के अनुसार इन दोषों क समाधान यथार्थ संहिता (Accurate Code) व्यापक न्याय व्यवस्था (Elaborate Legal Establishment) तथा तर्कसंगत प्रक्रिया–संहिता (Rational Code of Procedure) के माध्यम से किया जा सकता था। यद्यपि उपयोगितावादी विचारकों में और मनरों, मैटकॉफ इत्यादि की परम्परागत पैतृक विचारधारा में काफी अन्तर था, फिर भी कॉर्नवालिस प्रणाली के दोषों के बारे में दोनों के मत एक जैसे थे।

इस प्रकार बेंटिक के भारत आने तक सुधार कार्यक्रम रुका रहा। प्रशासन के विभिन्न क्षेत्रों से सुधार बेंटिक की निजी विचारधारा के कारण नहीं लाए गए, बल्कि उसमें सुधार लाने के लिए डाइरेक्टों द्वारा कहा गया था। 1833 में संसद चार्टर कानून पर विचार करने जा रही थी जिस पर कम्पनी का भविष्य निर्भर करता था। इसलिए कम्पनी के प्रशासनिक दोषों को समाप्त करन आवश्यक था जिससे संसद को शिकायत करने का अवसर न मिले। न्याय–प्रणाली में व्यापक सुधार, कार्यक्रम का केवल एक भाग था।

बेंटिक के न्यायिक सुधारों के द्वारा अपील और भ्रमण की चार अदालतें समाप्त कर दी गई। इन अदालतों पर कम्पनी को अधिक रकम खर्च करनी पड़ती थी और इनका कोई विशेष लाभ भी नहीं था। इन पर मुकदमों का बोझ बहुत अधिक था। जिससे शीघ्र न्याय प्रदान करना सम्भव नहीं था। साथ ही दण्ड विधान की कठारता को कम करने का भी प्रयत्न किया गया। अपराधियों को कोड़े लगवाने की प्रथा को समाप्त कर दिया गया। यह सुधार बेथम की इस विचारधारा पर आधारित था कि अपराधी को सजा सुधारने के लिए दी जानी चाहिए, बदला लेने के लिए नहीं। 1831 के सातवे विनियम (Regulation VII) द्वारा कमीश्नरों के फौजदारी अधिकार जिला न्यायाधीश को सौंप दिए गए और जिला न्यायाधीश ने अपने मजिस्ट्रेट के अधिकार कलक्टर के लिए छोड़ दिए।

कम्पनी के राज्य का पश्चिम में धीरे–धीरे विकास होता जा रहा था। इसलिए आगरा प्रान्त बनाया गया जो कलकत्ते से काफी दूर था। न्याय पाने के लिए कलकत्ता जाने में समय और धन दोनों का नुकसान था। इसीलिए आगरा में ही अपील अदालत की स्थापना कर दी गई। इसी उद्देश्य ये इलाहाबाद में सदर दीवानी और सदर निजामत अदालत स्थापित की गई जिससे दिल्ली और उत्तर–पश्चिमी प्रान्त में आसानी से न्याय प्रशासन चल सके। साथ ही अदालतों में फारसी भाषा के स्थान पर प्रान्तीय भाषाओं का प्रयोग किया जाने लगा। न्याय–क्षेत्र में सुधार–कार्यक्रम को उत्साह से लागू करने में मैकॉले (Macaulay) का योगदान था। 1833 के चार्टर ऐक्ट में यह निश्चित कर दिया गया था कि विधि प्रणाली के दोष समाप्त किए जाने चाहिए। सुधार लाना इसलिए भी आवश्यक हो गया क्योंकि इस कानून के द्वारा ब्रिटिश नागरिकों को भारत में सम्पति खरीदने और बेचने के पूर्ण अधिकार दे दिए

गए थे जिसकी भारत में कोई कानूनी व्यवस्था नहीं थी। इन समस्याओं का मैकॉले के पास एक ही समाधान था – संहिताकरण (Condifiation of Law)।

संहिताकरण के कार्य में मैकाले को प्रिंसेप सहित अनेक प्रशासकों के विरोध का सामना करना पड़ा था। बहुमत मिलट (Miller) के विधि–संग्रह के पक्ष में था। किन्तु मैकॉले ने चतुरता से इस विवाद को विधि आयोग (Law Commission) के लिए छोड़ दिया। इसका अध्यक्ष स्वयं उसे ही बनाया गया। संहिताकरण कार्य में उसने उपयोगितावादी विचारों को विग (whig) दृष्टिकोण से मिलाकर व्यवहारिकता और आवश्यकता को प्राथमिकता दी। मैकॉले की सबसे अधिक सफलता उसकी नई दण्ड संहिता (Penal Code) थी जिसमें सुधार लाकर उसे सरल और उपयोगी बनाया गया।

विधि संहिता का प्रश्न पुनः 1853 के चार्टर ऐक्ट के नवीकरण के समय उठाया गया और दूसरा विधि आयोग बनाया गया। इसके परिणामस्वरुप 1859 से आयोग बनाया गया। इसके परिणामस्वरुप 1859 से 1861 के बीच दण्डविधि, सिविल कार्यावेधि तथा दण्ड प्रक्रिया पारित की गई। ये कार्य बैंथम के विचारों से प्रभावित थे। इन सुधारों ने संपूर्ण भारत के लिए एक विधि प्रणाली प्रदान की हालाँकि क्षेत्रीयता के अनुसार थोड़ी भिन्नता भी थी। दूसरी ओर, यूरोपीय अधिकारियों की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए न्याय संगठन को बदलने की बात उठाई गई जिससे भारतीय न्यायप्रणाली ब्रिटिश प्रणाली के अनुकूल होती गई। 1861 में भारतीय उच्च न्यायालय अधिनियम (Indian High Court Act) के द्वारा पुराने सुप्रीम कोर्ट और सदर अदालतों को समाप्त कर कलकत्ता, मद्रास और बम्बई में उच्च न्यायालों (High Courts) की स्थापना की गई। 1866 में एक और उच्च न्यायालय आगरा में स्थापित किया गया जिसे 1875 में इलाहाबाद में स्थानांतरित कर दिया गया। बाद में लाहौर और पटना में ऐसे ही उच्च न्यायालय स्थापित किए गए। इस न्याय–प्रणाली में अन्तिम महत्त्वपूर्ण सुधार 1935 में किया गया। जब संघीय न्यायालय (Federal Court) की स्थापना की गई। इसने सुप्रीम कोर्ट या उच्चतम न्यायालय का स्थान ग्रहण किया। इसके साथ ही भारतीय न्याय–प्रणाली पूर्णरुप से पाश्चात्य न्याय–प्रणाली के स्तर पर पहुँचा दी गई।

भारतीय असैनिक सेवाएँ

"भारतीय असैनिक सेवाएं विश्व की सर्वविदित असैनिक सेवाओं में से एक है।" इनका प्रारम्भ 17वीं शताब्दी से माना जाता है जिस समय ईस्ट इण्डिया कम्पनी एक व्यापारिक संस्था थी। उस समय कम्पनी के कर्मचारियों की नियुक्ति कम्पनी के निर्देशक मण्डल (Court of Directors) द्वारा की जाती थी तथा उन्हें चार वर्गों –लेखक (Writer), शिक्षु (Apprentice), फैक्टर (Factor) तथा मर्चेंट (Merchant) मेंविभाजित किया गया था। इग्लैण्ड से भर्ती किए जाने वाले प्रत्येक कर्मचारी को आरम्भ में लेखक के पद पर नियुक्त किया जाता था जो बाद में पदोन्नति द्वारा उच्च पद प्राप्त करता था। कम्पनी केकर्मचारियों का वेतन बहुत कम था, परन्तु उन्हे कुछ भत्ते दिए जाते थे और निजी व्यापार करने की स्वीकृति प्रदान की गई थी। यह प्रबन्ध कुछ समय तक चलता रहा, परन्तु 1757 में जब प्लासी के युद्ध के पश्चात् कम्पनी ने व्यापारिक संस्था के स्थान पर राजनीतिक सत्ता का रुप धारण किया तो कम्पनी के कर्मचारियों की स्थिति शोचनीय हो गई। कर्त्तव्यपरायणता के स्थान पर वे निजी व्यापार द्वारा अधिक से अधिक सम्पत्ति प्राप्त करने का प्रयत्न करने लगे। भ्रष्टाचार एवं अकुशलता में वृद्धि होने लगी। 1785 में जब लार्ड कार्नवालिस भारत में गर्वनर–जनरल बनकर आए तो उन्होंने कम्पनी की सेवाओं में सुधार करने का पहला कदम उठाया जिसके अनुसार उसने विधि अनुसार कर्मचारियों को निजी व्यापार करने अथवा लोगों से उपहार स्वीकार करना मना कर दिया। उसने कर्मचारियों को कम्पनी के साथ नई सन्धि (Covenant) करने के लिए विवश कर दिया तथा इस प्रकार कम्पनी की सेवाओं को नियमित असैनिक सेवाए (Convenanted Civil Services) कहा जाने लगा।

लार्ड कार्नवालिस के सुधार (Reforms of Lord Cornwallis) : 1793 में लार्ड कार्नवालिस ने कम्पनी की असैनिक सेवाओं में सुधार करने का प्रयत्न किया। भ्रष्टाचार में कमी करने के लिए कर्मचारियों के वेतन में वृद्धि की गई और उन्हें निजी व्यापार करने की मनाही कर दी गई। परन्तु इसके साथ–साथ उसने भारतीयों को कम्पनी की सेवाओं से वंचित करने के लिए उच्चतर पदों को केवल योरुपीयन लोगों के लिए सुरक्षित कर दिया जिससे असैनिक सेवाओं में जातीय भेदभावों की उत्पत्ति हुई।

लार्ड वैलजी के सुधार (Reforms of Lord Wellesly) : उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में उस समय के गर्वनर जनरल लार्ड वैलजली ने कम्पनी के कर्मचारियों के पर्याप्त प्रशिक्षण देने की आवश्यकता को अनुभव किया। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए लार्ड वैलजली ने कलकत्ता में एक कॉलिज स्थापित करने का निर्णय किया जहां कम्पनी के कर्मचारियों को न्यायशास्त्र अन्तर्राष्ट्रीय कानून एवं इतिहास, भारतीय भाषाओं तथा कानून आदि की शिक्षा दी जा सके तथा वे एशिया में इग्लैंड में व्यापारिक तथा राजनीतिक हितों की जानकारी प्राप्त कर सके। कॉलिज की स्थापना तो की गई, किन्तु कम्पनी के संचालकों ने इस योजना को अस्वीकार कर दिया जिसके फलस्वरुप लार्ड वैलजली का प्रयास असफल हुआ। परन्तु इसके स्थान पर असैनिक सेवाओं के प्रशिक्षण के लिए

में 1809 में हेलीबरी (Haileybury) के स्थान पर एक कॉलिज की स्थापना की गई जिसका उद्देश्य ऐसे योग्य एवं प्रशिक्षित व्यक्ति भारतीय असैनिक सेवाओं के लिए तैयार करना था जो भारत में कम्पनी के प्रशासन के विभिन्न महत्त्वपूर्ण पदों पर कुशलता से कार्य कर सके। इस कॉलिज में प्रवेश करने की आयु कम से कम 15 से 17 वर्ष तक तथा अधिक से अधिक 18 से 23 वर्ष रखी गई। इसके पाठ्यक्रम में पूर्वी भाषाओं के अतिरिक्त गणित, प्राकृतिक विज्ञान, सामान्य साहित्य, कानून, इतिहास राजनीति एवं अर्थशास्त्र सम्मिलित किए गए। 1813 के अधिनियम अनुसार कम्पनी की सेवाओं में भर्ती होने वाले प्रत्येक कर्मचारी को तीन या चार कार्यकालों (Terms) के लिए इस कॉलिज में प्रशिक्षण प्राप्त करना था तथा भारत में नियुक्त होने से पहले इस कॉलिज के प्रिंसीपल से आचरण–पत्र प्राप्त करना आवश्यक था।

चार्टर एक्ट, 1833 (Charter Act of 1833) : क्योंकि कार्नवालिस की नीति के अनुसार भारतीयों को कम्पनी के उच्च पदों से हटा दिया गया। इसलिए भारत में इस नीति के विरुद्ध विशेष शेष पाया जाता था। सर थामस मुनरो (Sir Thomas Munro) के शब्दों में, "इस प्रकार का उदाहरण किसी विजय मे नहीं मिलता जहां देशवासियों को अपने देश की सरकार में भाग लेने में पूर्णतः वंचित किया गया हो जैसे कि ब्रिटिश भारत में" इस भेदभाव की नीति का अन्तर करने के लिए 1833 के चार्टर एक्ट द्वारा असैनिक सेवाओं की भर्ती करने की विधि में विशेष परिवर्तन किया गया तथा यह घोषणा की गई कि भारत के किसी भी नागरिक को धर्म, जाति, जन्म–स्थान, नसल या रंग के आधार पर कम्पनी की सेवा में भर्ती होने से वंचित नहीं किया जा सकता, परन्तु व्यवहार इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

1853 के चार्टर ऐक्ट के अन्तर्गत संरक्षण प्रणाली (Patronage System) को समाप्त कर दिया गया तथा उसके स्थान पर खुली प्रतियोगिता (Open Competition) की व्यवस्था की गई। इस प्रतियोगिता में सभी ब्रिटिश नागरिक बिना किसी भेदभाव के भाग ले सकते थे। 1854 में प्रशासकीय सेवाओं के संगठन में सुधार करने के लिए लार्ड मैकाले (Lord Maccaulay) की अध्यक्षता में एक समिति की स्थापना की गई। इस समिति के सुझाव के अनुसार 1855 में असैनिक सेवा आयोग की स्थापना की गई और 1856 में इसे प्रतियोगिता परीक्षा लेने का उत्तरदायित्व सौपा गया।

महारानी विक्टोरिया की घोषणा : **(Proclamation of Queen Victoria) :** नवम्बर, 1858 में इग्लैंड की महारानी ने अपनी घोषणा में फिर से इस नीति को ठहराया कि असैनिक सेवाओं की भर्ती बिना किसी पक्षपात के योग्यता के आधार पर की जाएगी। इस घोषणा के पश्चात् भारत सचिव (Secretary of State for India) ने अपनी कौंसिल (Council) के सदस्यों की एक समिति नियुक्त की। इस समिति ने असैनिक सेवाओं के सम्बन्ध में निम्नलिखित सुझाव दिए :–

1. असैनिक सेवाओं की भर्ती प्रतियोगिता परीक्षा के आधार पर होनी चाहिए तथा यह परीक्षा एक ही साथ इग्लैंड और भारत दोनों स्थानों पर होनी चाहिए।

2. पोरुपीयन भाषाओं को पाठ्यक्रम में सम्मिलित करना चाहिए।

भारतीय असैनिक सेवा अधिनियम, 1861 (Indian Civil Service Act, 1861) : 1861 में भारतीय असैनिक सेवा अधिनियम पास किया गया। इस अधिनियम का मुख्य उद्देश्य भूतकाल में चार्टर एकट, 1793 की धाराओं के प्रतिकूल की गई बहुत सी नियुक्तियों को वैद्य घोषित करना तथा उच्च पदों को नियमित असैनिक सेवाओं (Convenanted Civil Services) के कर्मचारियों के लिए सुरक्षित करना था। इन नियमित असैनिक सेवाओं की भर्ती लन्दन (London) में प्रतिवर्ष प्रतियोगिता परीक्षा द्वारा की जाती थी। कुछ विशेष परिस्थितियों में भारत सरकार को नियमित असैनिक सेवाओं के कर्मचारियों के अतिरिक्त अन्य कर्मचारियों को नियुक्त करने का अधिकार किया गया, परन्तु ऐसी नियुक्तियां करने के पश्चात् भारत सचिव की स्वीकृति 12 महीने के अन्दर–अन्दर लेनी पड़ती थी।

उच्च पदों पर भारतीयो की नियुक्तिः (Appointments of Indians for Higher Posts): भारतीय असैनिक सेवाओं के इतिहास में अगला पग भारतीयों को उच्च पदों पर नियुक्त करने की ओर था। यद्यपि ब्रिटिश सरकार ने 1833 में कम्पनीकी सेवाओं में समानता के सिद्धान्त की व्यवस्था कर दी परन्तु 1869 की परीक्षा में तीन भारतीय नागरिक सुरेन्द्रनाथ बेनर्जी, बिहारीलाल गुप्ता तथा रमेशचन्द्र दत्त ही सफल हुए। 1870 में केवल एक ही भारतीय इस सेवा में लिया गया। भारतीयों को न लिए जाने के कारण निम्नलिखित थे।

1. प्रतियोगिता परीक्षा इग्लैंड में होती थी।

2. परीक्षा में बैठने की आयु बहुत कम थी और आरम्भ में आयु सीमा 23 वर्ष थी। 1860 मे इसको कम करके 21 वर्ष कर दिया गया। 1878 में इसे 19 वर्ष कर दिया गया।

3. परीक्षा का स्तर बहुत ऊंचा था। कॉवनेन्टेड तथा यौगिक से सम्बन्धित की परीक्षा में भाग लेने वाले भारतीय के लिए इतनी कम आयु में यह शिक्षा प्राप्त करना असम्भव था।

इन कारणो के अतिरिक्त सामाजिक धार्मिक तथा वित्तीय कठिनाइयों के कारण भी भारतीय लोग प्रतियोगिता परीक्षा में भाग नहीं ले सकते थे।

ब्रिटिश सरकार की इस नीति के प्रति भारतीयों में विशेष शेष पाया जाता था। भारतीय लोगों को सन्तुष्ट करने के लिए 1870 में असैनिक सेवा अधिनियम (Civil Service Act, 1870) पास किया गया। भारतीय लोगों को उच्चपदो पर नियुक्त करने की वयवस्था की और इस कार्य के लिए भारत के सचिव की स्वीकृति से नियम बनाने की शक्ति भारत को दे दी गई, परन्तु भारत सरकार ने आवश्यक नियम बनाने में 9 वर्ष लगा दिए। इन नियमों की घोषणा 1879 में की गई जिसके फलस्वरुप अधिनियमित असैनिक सभा (Statutory Civil Service) का जन्म हुआ परन्तु इस अवस्था से भी असैनिक सेवाओं के भारतीयकरण कर कोई विशेष प्रभाव न पड़ा और न ही ब्रिटिश नीति में कोई परिवर्तन हुआ। इसका मुख्य कारण यह था कि इन नियमों के अनुसार गर्वनर–जनरल–कौंसिल केवल अच्छे परिवार तथा सामाजिक सत्ता के भारतीय लोगों को ही नियमित (Covenanted) पदों पर नियुक्त कर सकता था और इन पदों की संख्या भारत सचिव (Secretary of State for India) द्वारा भारत के लिए नियुक्त किए जाने वाले व्यक्तियो की संख्या का छठा भाग थी।

इससे भी भारतीय जनता सन्तुष्ट नहीं हुई। श्री सुरेन्द्रनाथ बेनर्जी ने 1879–80 में भारत तथा इग्लैंड में एक साथ प्रतियोगिता परीक्षा के प्रति लोगों में जागृति उत्पन्न करने के लिए सारे भारत का दौरा किया। 1880 के पश्चात् 10 वर्षों के प्रशासन में भारतीयों का अधिक भाग देने की मांग बल पकड़ गई। 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस (Indian National Congress) की स्थापना की गई और उसने इन मांगो पर अधिक बल दिया और सरकार से इनकी पूर्ति की माँग की गई।

एचिसन आयोग (Aitchison Commission) : 1886 में लार्ड डफरिन (Lord Duffrrin) ने चार्ल्स एचिन की अध्यक्षता में एक आयोग की नियुक्ति की। इस आयोग का मुख्य उद्देश्य भारतीयों को असैनिक सेवाओं में उच्च पदों पर नियुक्त करने के सम्बन्ध से सुझाव देना था। इस आयोग ने निम्नलिखित सुझाव दिए :–

(क) "भारत तथा इंग्लैंड में नियमित असैनिक सेवा (Covenaned Civil Service) के लिए एक साथ परीक्षा करना उचित है।"

(ख) "भारतीय परीक्षार्थियों के लिए कम से कम आयु 19 वर्ष और अधिक से अधिक 23 वर्ष हो।"

(ग) "परिनियत असैनिक सेवाओं (Statutory Civil Services) को समाप्त कर दिया जाए।"

(घ) "नियमित (Convenanted) तथा अनियमित (Uncovenanted) सेवाओं के भेदभावों को समाप्त कर दिया जाए तथा सभी प्रकार की सेवाओं को तीन वर्गों–साम्राज्यिक (Imperial), प्रान्तीय (Provincial) तथा अधीनस्थ (Subordinate) में विभाजित किया जाए।"

माण्टेग्यु-चैम्सफोर्ड रिपोर्ट, 1918 (Morntague-Chelmsford Report, 1918) : इस आयोग के पश्चात् 1893 को कॉमन सदन (House of commons) में एक प्रस्ताव प्रस्तुत किया गया जिसमें सभी प्रकार की प्रतियोगिता परीक्षाएं भारत तथा इग्लैंड में एक साथ करने का सुझाव रखा गया। इस काल में भारतीय जनता ने असैनिकसेवाओं में उचित स्थान प्राप्त करने की मांग पर अधिक बल दिया। 1909 में मिण्टों मार्ले सुधार इस्लिगटन (Islington) की अध्यक्षत में इस्लिगटन आयोग (Islington Commission) की स्थापना की गई। इस आयोग ने अपनी रिपोर्ट 1915 में प्रस्तुत की जिसमें साम्राज्यिक एवं प्रान्तीय सेवाओं को मिलाकर इन्हें दो श्रेणियों–उच्चस्तर एवं निम्न में विभाजन करने का सुझाव दिया गया परन्तु इन सुझावों को प्रथम महायुद्ध आरम्भ हो जाने के कारण कार्यान्वित नहीं किया जा सकता। असैनिक सेवाओं की स्थिति पर बाण्टेग्यु–चैम्सफोर्ड (Montague–Chelmsford) रिपोर्ट पर 1918 में विचार किया गया। इस रिपोर्ट की मुख्य सिफारिशें निम्न प्रकार थी।

1. असैनिक सेवाओं में भर्ती जातीय भेदभाव के आधार पर नहीं होनी चाहिए।
2. भारत तथा इग्लैंड में प्रतियोगिता परीक्षाए एक साथ होनी चाहिए।
3. आरम्भ में 33% उच्चतर पदों के लिए भर्ती भारत मे करना तथा इनमे प्रतिवर्ष 1 1/2% की वृद्धि करना।
4. आई० सी० एस० (I.C.S.) के पदाधिकारियों को अधिक वेतनत था विदेशी भत्ते देना।

इन सिफारिशों को 1919 के अधिनियम में सम्मिलित किया गया और इनके अर्न्तगत एक असैनिक सेवा अयोग (Civil Service Commission) की स्थापना करने की व्यवस्था की गई, परन्तु यह कमीशन केवल केन्द्रीय सेवाओं के लिए ही भर्ती कर सकता था।

इस अधिनियम द्वारा अंग्रेजों को साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व (Communal Representation) [illegible]
नियमके अनुसार अंग्रेजों को साम्प्रदायिक असैनिक सेवाओं में उनके जनसंख्या [illegible]

लिए तथा मुसलमानों को पृथक् साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व के आधार पर भर्ती करने के लिए विशेष अधिकार दिए गए। राष्ट्रीय भावनाओं का सम्मान करने के लिए साम्राज्यिक असैनिक सेवाओं (Imperial Civil Services) का भारतीय असैनिक सेवाओं (I.C.S.) का नाम दिया गया। 1922 से प्रतियोगिता परीक्षाएं (Competitive Examinations) भारत में ली जाने लगी।

ली आयोग (Lee Commission) : 1923 में लार्ड ली (Lord Lee) के अधीन एक शाही आयोग (Royal Commission) की नियुक्ति की गई। इस आयोग ने असैनिक सेवाओं का शीघ्र ही भारतीयकरण करने पर बल दिया। आयोग ने असैनिक सेवाओं में योरुपीयन तथा भारतीय अधिकारियों का अनुपात निश्चित किया। कुछ अखिल भारतीय सेवाओं जैसे शिक्षा, मैडिकल, वन, कृषि आदि को भारत सचिव के नियन्त्रण में परिवर्तित करके लोक प्रिय प्रान्तीय सरकारों के अधीन कर देने का सुझाव दिया। इसके अतिरिक्त इस आयोग ने असैनिक सेवा आयोग (Civil Service Commission) जिसकी व्यवस्था 1919 के अधिनियम द्वारा की गई थी को शीघ्र स्थापित करने की ओर जोर दिया जिसके फलस्वरुप 1923 में प्रथम बार अखिल भारतीय तथा उच्च सेवाओं की भर्ती के लिए असैनिक सेवा आयो स्थापित किया गया। इसके पश्चात् इसी प्रकार के आयोग विभिन्न प्रान्तों में निम्न प्रशासकीय तथा दूसरी सेवाओं की नियुक्ति के लिए स्थापित किए गए।

भारत सरकार अधिनियम, 1935 (The Government of India Act, 1935) : इस अधिनियम के अनुसार इण्डियन सिविल सर्विसिज (I.C.S), पुलिस तथा मैडीकल सेवाओं के अतिरिक्त शेष सभी सेवाओं को भारत सचिव (Secretary of State for India) से हटाकर गर्वनर–जनरल तथा गर्वनरों के अधीन कर दिया गया। असैनिक सेवा आयोग (Civil Service Commission) ने अपना कार्य करना आरम्भ कर दिया तथा प्रान्तों को केन्द्र की भान्ति लोक सेवा आयोग स्थापित करने का अधिकर दिया गया। अखिल भारतीय सेवाओं को छोड़कर सभी पदों को विद्यान मण्डल के अधिकार क्षेत्र में रख दिया गया। असैनिक सेवाओं को योरुपीयन कर्मचारियों के हितों की रक्षा करने का उत्तरदायित्व गर्वनर–जनरल तथा गर्वनरों को सौंपा गया तथा उनके हितों के संरक्षण के लिए विशेष व्यवस्था की गई।

बीस वर्ष बाद जब 1813 में कम्पनी के चार्टर के नवीकरण का प्रश्न संसद में उठाया गया तब स्वतन्त्र व्यापार तथा क्लासिकी राजनीतिक अर्थ शास्त्र (Classical Political Economy) की विचार धारा लोकप्रिय हो रही थी। इसका प्रभाव कम्पनी के प्रशासन पर पड़ने लगा था। भारत में कम्पनी के क्षेत्र तथा कार्य इतनी तेजी से बढ़ रहे थे कि उसके लिए वाणिज्य और राजनीतिक कार्यों को संयुक्त रुप से सँभालना असम्भव हो रहा था। इसलिए 1813 का आज्ञापत्र प्रदान करने के साथ सरकार ने भारत में कम्पनी का व्यापारिक एकाधिकार समाप्त कर दिया। कम्पनी के भारतीय साम्राज्य को निश्चित सांविधानिक परिभाषा प्रदान की गई जिसमें वाणिज्यिक आय को क्षेत्रीय राजस्व से पृथक कर दिया गया।

सन् 1833 में ब्रिटिश संसद ने फिर बीस वर्ष के लिए कम्पनी को नया आज्ञापत्र प्रदान किया। इसके द्वारा कम्पनी का शासन क्षेत्र सीमित कर दिया गया। यह तय किया गया कि अगले बीस वर्षों तक भारतीय इलाकों पर कम्पनी का शासन होगा, किन्तु कम्पनी उन अधिकारों को "ब्रिटिश सम्राट, उसके उत्तराधिकारी और भारत सरकार की सेवा में धरोहर के रुप में रखेगी।" गर्वनर जनरल को समस्त ब्रिटिश भारत के लिए कानून बनाने का अधिकार दिया गया। कौसिल में एक कानून सदस्य (चौथा सदस्य) बढ़ा दिया गया। बम्बई और मद्रास के गर्वनरों और वहाँ की कौंसिलों से कानून बनाने के अधिकार छीन लिए गए।

धारा 87 के द्वारा भारत में विधान पालिक में केन्द्रीकरण लाया गया किन्तु इसे कार्य पालिक से पृथक और स्वतन्त्र नहीं बनाया गया। इससे पहले भारत में पाँच भिन्न प्रकार के कानून थे – ब्रिटिश संसद द्वारा पारित कानून, आज्ञापत्र (Charter) द्वारा बनाए नियम, गर्वनर जनरल के आदेश सर्वोच्च न्यायालय (Supreme Court) के आदेश, तथा विभिन्न प्रेसीडेंसियों में बनाए गए कानून। ये सब अधिकार अब केवल ब्रिटिश संसद तथा गर्वनर जनरल एवं कौंसिल के पास सीमित कर दिए गए। गर्वनर जनरल और कौंसिल में चौथे सदस्य (जो कानून विशेषज्ञ था) को वैधानिक कार्यों के लिए शामिल किया गया था। वह केवल कानून–सम्बन्धी प्रश्नों पर बुलाई गई बैठक में ही भाग ले सकता था और मत दे सकता था। किन्तु मैकाले जो प्रथम कानून सदस्य था सभी बैठकों में भाग लेता रहा। बाद में चौथे सदस्य के आने से स्वतन्त्र विधान पालिक की माँग बढ़ती गई और इसे रोका नहीं जा सका। इस आज्ञापत्र के आने से स्वतन्त्र विधान पालिका की माँग बढ़ती गई और इसे रोका नहीं जा सका। इस आज्ञापत्र में यह भी तय हुआ कि जाति, वर्ण या वंश के कारण कोई भी भारतीय सरकारी नौकरी में नियुक्त होने से वंचित नहीं किया जाएगा, हालाँकि यह नियम केवल कागज पर ही रहा।

कम्पनी शासन का अन्तिम आज्ञापत्र 1853 में पारित किया गया। पिछले कुछ वर्षों में यह भावना बढ़ती जा रही थी कि कोर्ट ऑफ डाइरेक्टर्स की उपयोगिता समाप्त हो गई है और उसे खत्म कर देना चाहिए। यह प्रचार किया जा रहा था कि 1833 के आज्ञापत्र में जिस प्रकार की विधानपालिका स्थापित की गई थी, वह पर्याप्त नहीं थी और डलहौजी के काल में जो राज्य कम्पनी शासन के अधीन लाए गए थे, उनके लिए कम्पनी के प्रचलित प्रशासन में संशोधन लाना अत्यन्त आवश्यक हो गया था। इस आज्ञापत्र के द्वारा कम्पनी के राजनीतिक अधिकारों को बनाए रखा गया। कोर्ट ऑफ डाइरेक्टर्स के सदस्यों की संख्या 24 से घटाकर 18 कर दी गई जिसमें 8 सदस्य ब्रिटिश राजा (क्राउन) द्वारा नियुक्त किए जाने लगे। प्रशासनिक नियुतियों पर कोर्ट का संरक्षण समाप्त हो गया, क्योंकि अब सिविल परीक्षा प्रणाली खुली प्रतियोगिता पर आधारित कर दी गई। कार्यपालिका तथा विधानपालिका को अलग करने में इस कानून को ठोस कदम माना जाता है। इस कानून के द्वारा विधान पालिका में सदस्यों की संख्या बढ़ा दी गई और कानून सदस्य को कार्यपालिका का स्थायी सदस्य बना दिया गया। इनके अतिरिक्त विधान परिषद में छह अन्य सदस्य बढ़ा दिए गए जिसमें प्रधान न्यायाधीश, कलकत्ता के सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश के अतिरिक्त बगाल, मद्रास, बम्बई और उत्तर–पश्चिम प्रान्त के कुल चार प्रतिनिधि शामिल थे। अभी भी विधानपालिका कार्यपालिका से पूर्ण रुप से स्वतन्त्र नहीं थी, किन्तु यह उसके विकास का प्रारम्भिक चरण था।

1853 का ऐक्ट या अधिनियम दो विपरीत विचारधाराओं का समन्वय था। इसमें जहाँ एक ओर कम्पनी पर संसद के पूर्ण नियन्त्रण की माँग की जा रही थी, वही दूसरी ओर कम्पनी के अधिकारों को सुरक्षित रखने की माँग जोर पकड़ रही थी। इस कानून के द्वारा जिस प्रकार की विधान परिषद बनाई गई थी, उससे सांविधानिक सुधार की माँग और बलवती हो उठी अभी तक की राजनीतिक प्रगति की विशेष बात थी कि प्रशासन में भारतीयों को शामिल नही किया जा रहा था।

1857 के उपरान्त पश्चिम के अनेक साम्राज्यीय और पूंजीपति प्रदेशों ने –जिनमें जापान और सयुक्त राज्य अमरीका भी सम्मिलित थे, अंग्रेजों के उपनिवेशों और अर्ध उपनिवेशों की अन्तर्राष्ट्रीय मण्डियों में राजनीतिक व्यापारिक स्थिति को चुनौती देने का प्रयत्न किया। इस के अतिरिक्त 19 वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ब्रिटेन की ससद में एक पूजीपति गुट (lobby) उभर चुका था जो विदेश नीति तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में अत्यन्त प्रभाव शाली था।

इस परिवर्तित दृश्य ने ब्रिटेन को इस बात पर बाध्य किया कि वह भारत पर अपने नियन्त्रण को और भी सुदृढ़ कर दे। अतएव प्रशासनिक ढाचे और नीतियों में परिवर्तन और भी आवश्यक हो गए परनतु यह परिवर्तन तुरन्त नही किए गए अपितु शनैः शनैः ताकि भारत पर अंग्रेजी राज चट्टान की तरह दृढ़ हो जाए।

नवीन प्रशासनिक ढांचा (New Administrative) : इग्लैण्ड में सभी राजनीतिक विचारो वाले गुट इस परिणाम पर पहुँचे कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी की आर्थिक और प्रशासनिक नीतिया ही भारतीय समाज के भिन्न–भिन्न वर्गों मे अशान्ति फैलाने के लिए उत्तरदायी थी जिससे 1857 का विद्रोह हुआ। अंग्रेजी सरकार भयभीत हो गई और उन्होंने कम्पनी के राज को समाप्त करने का निर्णय ले लिया और भारतीय प्रशासन को क्राउन के अधीन ले लेने का निर्णय किया।

अंग्रेजी संसद ने 1858 का भारत सरकार अधिनियम पारित किया जिस से समस्त प्रदेश, प्रशासन तथा कर कम्पनी के हाथों से हटा कर क्राउन के आधीन आ गए'। इस अधिनियम में यह भी कहा गया कि भारत का प्रशासन अंग्रेजी सम्राज्ञी के नाम से ही चलाया जाएगा। इस उद्देश्य के लिए एक अतिरिक्त भारत सचिव तथा एक भारत परिषद की नियुक्ति की जाए। इस के तुरन्त उपरान्त सम्राज्ञी विक्टोरिया ने भारतीय राजाओं, सरदारो तथा जनता कि नाम एक घोषणा की, कि अब उसने भारतीय प्रशासन, जो पहले कम्पनी न्यास (trust) के रुप में चला रही, थी अपने हाथ में ले लिया है। सम्राज्ञी ने समकालीन गर्वनर जनरल कैनिंग को ही भारत का प्रथम वाइसराय नियुक्त कर दिया।

क्राउन की भारत में परिस्थिति को और भी सुदृढ़ करने के लि एक अन्य प्रगति 1876 में हुई, जब अंग्रेजी संसद ने एक अधिनियम द्वारा महारानी विक्टोरिया को "कैसर ए–हिन्द" अथवा "भारत की सम्राज्ञी (Empress of India) की उपाधि धारण करने की अनुमति दी, और इस सम्बन्ध में जनवरी 1877 को दिल्ली में एक दरबार में इस हेतु एक घोषणा की। इस के उपरान्त यह प्रथा ही बन गई कि अंग्रेज सम्राट और सम्राज्ञियों के नाम के साथ "भारत का सम्राट" अथवा "भारत की सम्राज्ञी" की उपाधि का प्रयोग होने लगा।

भारत सचिव तथा भारत सचिवालय : (Secretary of State and India Office) : 1858 के अधिनियम के अनुसार भारत सचिव, क्राउन का भारत से सम्बन्धित सभी विषयों में संवैधानिक परामर्शदाता बन गया। भारत सचिव की सहायता के लिए 15 सदस्यों की एक भारत परिषद् नियुक्त की गई जिस के सदस्यों की नियुक्ति आरम्भ में आजीवन और पीछे 10 – 15 बार्वो की अवर्ति के लिए की जाती थी। इस के कार्यालय को "भारत सविालय" अथवा "इण्डिया ऑफिस" कहते थे। परिषद को भिन्न–भिन्न समितियों में बांटा जाता था, जिसमें एक सचिव और एक सहायक अवर सचिव (Assistant under–secratary) तथा अन्य लिपिक (Clerks) होते थे। भारत सचिवालय के अन्य विभाग थे, महालेखाकार का विभाग, रजिस्ट्रार का विभाग, अभिलेखों का आधीक्षक (super intendent of Records) तथा निधि का निदेशक (Director of Find) चिकित्सा बोर्ड (Medical Board), कानूनी सलाहकार तथा सालिस्टर (solicitor) स्मरण रहे कि इन सभी कार्यालयों के व्यय, पेन्शन तथा अन्य भत्ते भारत सरकार के खाते से ही लिए जाते थे।

भारत सरकार (Government of India) : 1858 के अधिनियम द्वारा भारत के प्रशासन में अधिक परिवर्तन नही किए गए। परन्तु अब गर्वनर–जनरल क्योंकि अब क्राउन का प्रतिनिधि था अतएव उसे 'वाइसराय' कहा जाने लगा। यद्यपि इस उपाधि का कोई संवैधानिक (Statutory) प्रावधान नहीं था और न ही अंग्रेजी संसद ने कभी इस उपाधि का प्रयोग किया परन्तु जनसाधारण इसका प्रायः प्रयोगकरते थे तथा बहुत समय के उपरान्त उस के निवास स्थान बने तो उनका नाम भी 'वाइसरीगल लॉज' ही पड़ा। पूर्वता अधिपत्र (warrant of Precedence) में भी इसी उपाधि का प्रयोग किया जाता था। क्योंकि यह क्राउन का भारत में एकमात्र प्रतिनिधि था। वाइसराय का वेतन 2.5 लाख रुपये प्रतिवर्ष निशिचित किया गया।

गर्वनर जनरल के कार्यकारी परिषद् के सदस्यों की संख्या चार निश्चित की गई। पांचवां सदस्य 1861 में नियुक्त हुआ तथा छठा 1874 में। वैद्याानिक कार्यों के लिए 1861 में भारत परिषद् अधिनियम पारित हुआ जिस से कार्यकारी परिषद् में कम से कम 6 और अधिक से अधिक 12 अतिरिक्त सदस्य बुलाकर कानून बनाए जा सकते थे। जो समस्त भारत पर (रियायतों को छोड़कर) लागू हो सकते थे 1892 में पारित भारतीय परिषद् अधिनियम द्वारा इन अतिरिक्त सदस्यों की संख्या 10 से 16 तक हो सकती थी। कालान्तर में भारतीय परिषद् अधिनियम 1909 से और भारत सरकार अधिनियम 1919, और फिर भारत सरकार अधिनियम 1935 से इन विधान परिषदो के सदस्यों की संख्या तो बढ़ा दी गई परन्तु वास्तविक शक्ति केवल गर्वनर जनरल के पास ही रही।

जहाँ तक कि भारत सचिव तथा गर्वनर जनरल मुगल शहंशाह की भान्ति ही व्यवहार करते थे अर्थात् मनमाने ढंग से व्यवहार करते थे। जैसा कि एक बार लार्ड मर्यो ने स्पष्ट शब्दों में कहा था।

"नियम यह है कि भारत के मामलों में अन्तिम निर्णय तथा निदेशन, केवल होम गर्वनमेंट (Home Government) के पास है न कि संसद तथा क्राउन द्वारा स्थापित और नियुक्त किए गए भारतीय प्रशासन के पास"।

इकाई – III

अध्याय–11

औपनिवेशिक भारत के विदेशों में सम्बन्ध (Foreign Relations of Colonial India)

(a) देशों राजाओं से सम्बन्ध Relations with Princely States :

अठारहवीं शताब्दी में मुगल साम्राज्य के पतन के साथ–साथ बहुत–से राज्यों की स्थापना हुई। 1757 में प्लासी के युद्ध के पश्चात ब्रिटिश साम्राज्य का विस्तार आरम्भ हुआ तथा भारत के राजनीतिक नक्शे में बहुत से परिवर्तन हुए। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक अंग्रेजों की प्रभुसत्ता लगभग सभी भारतीय राज्यों पर स्थापित हो चुकी थी।

भारतीय रियासतों के विषय में दो बातें विशेष रुप से महत्त्वपूर्ण है। पहली बात तो यह कि सभी भारतीय रियासतें एक श्रेणी में नहीं रखी जा सकती। पन्निकर के अनुसार उन्हें तीन विशिष्ट वर्गों में रखा जा सकता है।

(1) ऐसे राज्य जिन्हें सिंधियों के द्वारा अपने राज्य में पूर्ण तथा अखंड प्रभुसत्ता का अधिकार है।

(2) ऐसे राज्य जो संधिगत रियासत होने पर भी केवल ब्रिटिश सरकार की देख–रेख में ही फौजदारी और नागरिक अधिकार तथा कानून बनाने के अधिकार का उपभोग करते है। और

(3) ऐसे राज्य जिनके अधिकार दान–पत्र और सनद पर आधारित है। दूसरे, भारतीय रियासतों में परिवर्तन कुछ तो परिस्थितिश हुए और कुछ इतिहास की कभी न रुकने वाली धाराओं के कारण उन रियासतों के प्रति नीति का विकास कुछ तो ईस्ट इंडिया कम्पनी सरकारी स्वरुप के कारण हुआ और कुछ गर्वनर जनरलों के विचारों और महत्त्वाकांक्षाओं के कारण। परन्तु इस नीति के विकास के पीछे मुख्यतः वह विश्वास की भावना थी जिसमें वेलेजली के काल में बढ़ोत्तरी हुई और जो स्वतंत्रता–प्राप्ति तक जारी रही।

सर विलियम ली वार्नर ने भारतीय राज्यों के साथ अंग्रेजों के सम्बन्ध के विषय में विशेष अध्ययन किया है। इन्होंने अपनी पुस्तक दि नेटिव स्टेट्स ऑफ इंडिया में अंग्रेजों के भारतीय राज्योंके साथ सम्बन्ध को तीन भागों में विभक्त किया है।

(1) 'अपने सुरक्षित घेरे में सीमित रहने की नीति'
(The Policy of Ring-Fence) 1757–1813.

(2) 'अधीनस्थ पृथक्करण की नीति'
(The Policy of Subordinate Isolation) 1813–1858

(3) 'अधीनस्थ एकीकरण की नीति
(The Policy of Subordinate Union) 1858–1919.

यद्यपि प्रत्येक भाग की कुछ विशेषताएँ थी किन्तु यह कहना कि इसमें अपवाद नहीं थे, कदाचित अनुचित होगा। ली वार्नर के विभाजन के एक सुविधा–जनक ढाँचा (Frame Work) प्राप्त होता है जिसके द्वारा ब्रिटिश सरकार के भारतीय राज्यों के साथ सम्बन्ध ब्रिटिश सरकार के भारतीय राज्यों के साथ सम्बन्ध को समझने में आसानी होगी।

सुरक्षित घेरे में सीमित कम्पनी की नीति 1757–1813 : ईस्ट इंडिया कम्पनी ने इस काल में अहस्तक्षप तथा सीमित उत्तरदायित्व की नीति अपनाई। पडोसी राज्यों की सीमाओं की सुरक्षा का उत्तरदायित्व ईस्ट इंडिया कम्पनी ने लिया किन्त इन के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं किया। दूसरी ओर कम्पनी ने यह चेष्टा भी की कि इन भारतीय राज्यो को एक दूसरे के साथ सम्बन्ध स्थापित

उस समय की परिस्थितियों को देखते हुए इस प्रकार की नीति को अपनाना अंग्रेजों के लिए लाभकारी सिद्ध हुआ। उनका प्रयत्न था कि वे अपने सुरक्षित घेरे में ही सीमित रहे। इस काल में अंग्रेज बहुत शक्तिशाली न थे, इसलिए भारतीय राज्यों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं कर सकते थे। वे अन्य महत्त्वपूर्ण शक्तियों के समान ही एक महत्त्वपूर्ण शक्ति थे। अन्य शक्तियों में मराठा, फ्रांसीसी, निजाम और मैसूर का सुल्तान प्रमुख थे। इस समय कम्पनी ने जब कभी भारतीय राज्यों के साथ कोई संधि या समझौता किया तो वह समानता (Equality) तथा पारस्परिकता (Reciprocity) के आधार पर किया। अहस्तक्षेप की नीति नैतिकता पर आधारित नहीं थी। यह लचीली व्यवस्था थी जो कि विभिन्न गवर्नर जनरलों के अधीन बदली जा सकती थी। इस कारण कुछ अवसरों पर कम्पनी ने भारतीय राज्यों के भीतरी मामलों में हस्तक्षेप किया। वॉरेन हेस्टिंग्ज के समय प्रथम मराठा युद्ध तथा द्वितीय मैसूर युद्ध लड़ा गया तथा लगभग आधे राज्य को ब्रिटिश राज्य में मिला लिया गया। लॉर्ड वेलेजली के समय मैसूर की चौथी लड़ाई तथा द्वितीया मराठा युद्ध लड़ा गया। उसने हैदराबाद तथा अवध को भी सहायक सन्धि (Subsidiary Alliance) मानने के लिए बाध्य किया। लार्ड मिन्टो ने 1809 में महाराजा रणजीत सिंह के साथ 'अमृतसर की सन्धि' की। इस सन्धि का उद्देश्य उन राज्यों को सुरक्षा प्रदान करना था जिन्हें रणजीत सिंह के आक्रमण का भय था।

पन्नीकर ने अपनी पुस्तक ब्रिटिश पॉलिसी टुवर्डस इंडियन स्टेट्स (भारतीय राज्यों के प्रति बिटिश नीति) में स्पष्ट किया है कि इस काल की दो मुख्य विशेषताएँ थी। पहली यह कि समस्त सन्धियाँ। मैसूर की सन्धि को छोड़कर) समानता के आधार पर की गई थी। कम्पनी ने अपनी प्रमुखता स्थापित करने की चेष्टा नहीं की। दूसरे, इन सन्धियों द्वारा इस बात पर विशेष ध्यान दिया गया था कि शासक का अपनी प्रजा पर पूर्ण अधिकार बना रहे तथा उसके भीतरी मामलों में हस्तक्षेप न किया जाए।

1798 में लॉर्ड वेलेजली भारत का गर्वनर जनरल बनकर आया। उस समय भारत में कम्पनी की स्थिति अत्यन्त शोचनीय और डॉवाडोलथी। दो भूतपूर्व गर्वनर जनरलों की तटस्थता की नीति के कारण देशी राज्यों का पारस्परिक संघर्ष बढ़ता जा रहा था। साथ ही वे अपनी रक्षा का तथा अपनी शक्ति को बढ़ाने का उपाय सोच रहे थे और उसके लिए तैयारियाँ कर रहे थे।

वेलेजली भारत की इस परिस्थिति से परिचित था। यह बिल्कुल स्पष्ट था कि उस समय की भारतीय परिस्थितियाँ हस्तक्षेप तथा अग्रगामी नीति के अनुकूल थी। वेलेजली ने हस्तक्षेप की नीति का अनुसरण करने का निश्चय किया तथा भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का विस्तार और कम्पनी की सर्वोच्च सत्ता स्थापित करने का दृढ़ संकल्प किया। अपनी नीति के अनुकूल उसने अपने दो प्रधान लक्ष्य बनाए। पहला उद्देश्य भारत में कम्पनी की सत्ता को सर्वोपरि बनाना था। और अन्य देशी राज्यों को कम्पनी का संरक्षण स्वीकार कर लेने के लिए बाध्य करना था। उसका दूसरा उद्देश्य भारत को फ्रांसीसी प्रभाव से मुक्त करना था। उस समय फ्रांस की क्रान्ति आरम्भ हो चुकी थी तथा क्रान्ति का महान नेता नेपोलियन बानोपार्ट ख्याति प्राप्त कर रहा था। वह अंग्रेजों के व्यापार को नष्ट करने के लिए भारत–विजय का स्वप्न देख रहा था। ऐसी स्थिति में भारत से फ्रांसीसियों का प्रभुत्त्व समाप्त करना उसका महत्त्वपूर्ण लक्ष्य था। इन लक्ष्यों को पूरा करने में बलेजली को कोई विशेष कठिनाई नहीं हुई। देशी नरेश अत्यन्त क्षीण हो गए थे। वे एक–दूसरे पर विश्वास नहीं करते थे और कम्पनी के विरुद्ध संयुक्त मोर्चा नहीं बना सकते थे। 1798 में नेल्सन ने मिस्र के युद्ध में नेपोलियन को परास्त कर दिया था। इसलिए दूसरे लक्ष्य का पूरा करना भी अत्यन्त सरल हो गया था।

इन लक्ष्यों की सिद्धि के लिए लॉर्ड बेलेजली ने एक नई नीति का अनुसरण किया जिसको 'सहायक सन्धि' कहते है। उसने देशी राज्यों के साथ एक विशेष प्रकार की सन्धि आरभ करके कम्पनी के साम्राज्य का विस्तार किया। भारतीय नरेशों के दरबार और उनकी राजनीति में अंग्रेजों का प्रभाव बढ़ाया और भारत में फ्रांसीसी प्रभाव को समाप्त किया।

सहायक सन्धि, कम्पनी और देशी राज्यों के बीच होती थी। इस सन्धि के अनुसार कम्पनी देशी राज्यों को सैनिक सहायता देने का वचन देती थी और उसके बदले में उनसे निश्चित आर्थिक सहायता लेती थी इस सन्धि को स्वीकार करने वाला देशी नरेश कम्पनी का आधिपत्य स्वीकार करता था तथा उसकी अनुमति के बिना दूसरी शक्ति से युद्ध या सन्धि नहीं कर सकता था। इसका यह तात्पर्य था कि उस राज्य की विदेश नीति पूर्ण रुप से कम्पनी के हाथ में चली गई थी। कम्पनी की अनुमति के बिना देशी राज्य अंग्रेजी को छोड़कर किसी यूरोपीय को अपने यहाँ नौकरी नहीं दे सकते थे। इस शर्त का उद्देश्य देशी राज्यों में फ्रांसीसियों के प्रभाव को कम करना था। उन्हें अपनी रियासत में अंग्रेजी फौज रखनी पड़ती थी और उसक खर्च भी देना पड़ता था। अथवा उसके लिए अपने राज्य का कुछ भाग कम्पनी सरकार को सुपुर्द करना पड़ता था। इस शर्त से कम्पनी के राज्य में वृद्धि हुई। अपनी रियासत में एक अंग्रेजी रेजिडेंट रखना पड़ता था जिससे वह शासन–सम्बन्धी बातों में परामर्श ले। रेजिडेंट के परामर्श से ही वह शासन कर सकता था। इस प्रकार देशी राज्य में कम्पनी का एक आदमी सदैव मौजूद रहता था जो उसके शासन की गतिविधि पर अपनी निगाह रखता था यदि उसका किसी अन्य राज्य के साथ झगड़ा हो तो उसे ब्रिटिश सरकार को अपना पंच मानना पड़ता था। इन सबसे बदले कम्पनी संरक्षित राज्य के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप न करने का वचन देती थी था आन्तरिक विद्रोह एवं ब्राह्य हमले से उस राज्य की रक्षा का उत्तरदायित्त्व लेती थी।

सबसे पहले मित्र राज्यों को सहायक सन्धि करने पर बाध्य किया गया। जिन शक्तियों से युद्ध करना पड़ा उन पर विजय प्राप्त करके बलपूर्वक सन्धि लागू की गई। हैदाराबाद के निजाम था अवध के नवाब के साथ युद्ध किए बिना केवल दबाव डालकर तथा मराठों तथा मैसूर के शासक के साथ युद्ध करने के उपरान्त उनसे सहायक सन्धि की गई। फलत: जब वेलजली भारत से लौटा वह लगभग प्रमुख शक्तिशाली राज्यों पर सहायक सन्धि को लागू करा चुका था।

लार्ड वेलेजली के शासन के अन्त तक कम्पनी की प्रतिष्ठा पूरी तरह स्थापित की जा चुकी थी तथा भारतीय राज्यों की हैसियत में बहुत परिवर्तन आ चुका था। उसने साम्राज्यवादी प्रणाली की स्थापना कर उन सभी राज्यों को अपने अधीनस्थ कर लिया जिन्होंने ब्रिटिश सरकार का संरक्षण प्राप्त किया था। जिन राज्यों ने सहायक सन्धि को मान्यता नहीं दी थी वे भी ब्रिटिश सरकार के प्रभाव से अछूते न रहे। परन्तु वेलेजली की नीति से कम्पनी के डाइरेक्टर लोग प्रसन्न न थे क्योंकि युद्ध में अधिक रुपया लग रहा था और कम्पनी के व्यापार को धक्का पहुँच रहा था। कम्पनी आर्थिक सकट में पड़ गइ थी।

अधीनस्थ पृथक्करण की नीति, 1813–1858 : इस काल में कम्पनी ने सभी भारतीय राज्यों अधीन बनाया तथा उन्हें सहायक सन्धि मानने के लिए बाध्य किय। भारतीय राज्यों को कहा गयाकि वे कम्पनी को देश में प्रमुख सत्ता माने। लॉर्ड हेस्टिंग्ज ने पहले हस्तक्षेप न करने की नीति का पालन किया किन्तु बाद में उसने अनुभव किया कि देश की स्थिति ऐसी है कि उस नीति पर चलना सम्भव नहीं है। उसके पूर्ववर्ती गर्वनर जनरलों के समय कम्पनी ने अहस्तक्षेप की नीति का अनुसरण किया था। इसके फलस्वरुप सर्वत्र अशान्ति का प्रकोप हो गया और देशी राज्यों को फिर षडयन्त्र रचने का कुचक्र चलाने का अवसर मिल गया। इन्ही परिस्थितियों के अनुरुप लॉर्ड हेस्टिंग्ज को अपना कार्यक्रम बनाना था। उसने तटस्थता और अहस्तक्षेप की नीति का परित्याग करक अग्रगामी तथा साम्राज्यवादी नीति का अनुसरण किया।

उसने सहायक सन्धि द्वारा मध्य भारत में 145 राज्यों को काठियावाड में भी 145 राज्यों का तथा राजपुतानां में 20 राज्यों का ब्रिटेश साम्राज्य में विलय किया। हेस्टिंग्ज ने कुटनीति का सहारा लेते हुए मराठा संघ की विभिन्न शक्तियों से अलग–अलग निपट लेने की योजना बनाई। उसने पेशवा, भोंसला और होल्कर आदि मराठा सरदारों की शक्ति छिन्न–भिन्न करके कम्पनी के अधीन बनाने का दृढ़ निश्चय किया। इस प्रकार पंजाब और सिन्ध को छोड़कर समस्त भारत पर ईस्ट इंडिया कम्पनी का प्रत्यक्ष या परोक्ष आधिपत्य स्थापित हो चुका। हेस्टिंग्ज ने अवश्य ही इन राज्यों स उनके प्रमुख अधिकार छीन लिए थे क्योंकि अब वे केवल कम्पनी के माध्यम से एक–दूसरे के साथ समबन्ध स्थापित कर सकते थे। इसके अतिरिक्त , जैसा कि उदयपुर की सन्धि से पता चलता है, इन राज्यों के साथ अधीनस्थ सहयोग (Subordinate Co-orperation) के सम्बन्ध स्थापित किए गए और पहले की तरह आपसी सम्बन्धों की नीति को त्याग दिया गया। यद्यपि इन सन्धियों में उन राज्यों की आन्तरिक स्वतन्त्रता स्वीकार की गई थी परन्तु वास्तविकता भिन्न थी। वास्तव में प्रशासन के प्रत्येक विभाग पर रेजिडेंट का प्रभुत्त्व हुआ करता था। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक अवध पूर्ण रुप से अधीन राज्य बन चुका था जिसके आन्तरिक मामलों में कम्पनी का नियन्त्रण स्थापित हो चुका था। उस पर प्रशासन की खराबी का दोष लगाकर उसे ब्रिटिश साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया गया। इसी प्रकार मैसूर तथा कुछ अन्य रियासतों पर भी कुशासन का दोष लगाकर ब्रिटिश साम्राज्य में मिलाया गया। इसके अतिरिक्त उत्तराधिकार के सम्बन्ध में झगड़े का बहाना लगाकर राज्यों के मामले में हस्तक्षेप किया जाता था, जैसे भरतपुर में यही किया गया। राजपुताना में कई बार शासक तथा सामन्तों या ठाकुरों के बीच झगड़े का निर्णय देने के लिए सर्वोच्च सत्ता को हस्तक्षेप करना पड़ता था। शासकों के घरेलू झगड़ों के अवसर पर या प्रजा से सम्बन्ध बिगड़ने पर या आर्थिक संकट के अवसर पर भी कम्पनी की सरकार को हस्तक्षेप करना पड़ता था।

लॉर्ड हेस्टिंग्ज पूर्ण अधीनता के पक्ष में था तथा इन राज्यों को एक–दूसरे से पृथक् रखना चाहता था। किन्तु वह उन्हें ब्रिटिश साम्राज्य में सम्मिलित करे के पक्ष में नहीं था। उसके पश्चात् उसके उत्तराधिकारियों ने सिन्ध, पंजाब तथा अबध और बहुत से छोटे–छोटे राज्यों को ब्रिटिश साम्राज्य में मिला लिया गया।

लॉर्ड डलहौजी (Dalhousie) जब गर्वनर जनरल बनकर आया उस समय तक सर्वोच्च सत्ता अपनी चरम सीमा तक पहुँच चुकी थी। देशी रियासतों के बाहरी मामलों तथा उनकी सेना के सम्बन्ध में हस्तक्षेप करने पर रोकने या पूछने वाला कोई न था। रियासतों को सैनिक सहायता देने का आश्वासन दिया गया था। यद्यपि उनकी सेना की संख्या के विषय में कोई नियम न था परन्तु उनकी वृद्धि को ईर्ष्या एवं आशंका की दृष्टि से देखा जाता था। इसलिए इस प्रकार की नीति बनाई गई जिससे सेना की वृद्धि पर रोक लगाई जा सके। उत्तराधिकार का निर्णय कुशासन के समय हस्तक्षेप करना या सब मान्यता प्राप्त कर चुका था। कई राज्यों के शासकों को गोद लेने की प्रथा का निषेध किया गया तथा उनके राज्यों को ब्रिटिश साम्राज्य में मिला लिया गया। इस नीति के द्वारा बहुत से स्वतन्त्र राज्यों को ब्रिटिश साम्राज्य में मिलाया गया। ब्रिटिश सरकार की स्थिति सर्वोच्च सत्ता के रूप में स्वीकार की जा चुकी थी और उसका सामने [illegible]

किया तथा सौभाग्यवश उसके राज्यकाल में अंग्रेजों को उसका प्रयोग करने के बहुत सुअवसर प्राप्त हुए। इसी कारण उसका राज्यकाल ब्रिटिश सर्वोच्च सत्ता के विस्तार के कारण महत्त्वपूर्ण समझा जाता है।

डलहौजी को भारत की राजनीतिक व्यवस्था से घृणा थी। वह भारत में एक सुसंगठित और शक्तिशाली आधुनिक राज्य कायम करना चाहता था। इसी लक्ष्य की पूर्ति में उसने अपनी सारी शक्ति लगा दी। उसका विचार था कि चूँकि अंग्रेजों ने भारत में राजनीतिक प्रधानता प्राप्त कर ली है, इसलिए उन्हें अब बफर (Buffer) राज्यों की आवश्यकता नहीं है। वह कोई–न–कोई आधार लेकर भारतीय राज्यों को ब्रिटिश साम्राज्य में मिला लेता था और इस कार्य में उसे तनिक भी संकोच नहीं होता था।

अपनी साम्राज्यवादी नीति को कार्यान्वित करने के लिए डलहौजी ने तीन उपायों का आश्रय लिया। प्रथम उपाय युद्ध था। उसने पंजाब और बर्मा पर आक्रमण कर और युद्ध में उन्हें पराजित करके ब्रिटिश राज्य में सम्मिलित कर लिया, दूसरे, उसने कुशासन और भ्रष्टाचार का आरोप लगाकर कई राज्यों को कम्पनी के राज्य में मिला दिया। बरार और अवध के राज्य को उसने इसी आधार पर कम्पनी के राज्य में मिलाया था। राज्य विस्तार का तीसरा उपाय यह था कि उसने गोद लेने की प्रथा का निषेध कर दिया और विलय सिद्धान्त (Doctrine of Lapse) का सहारा लेकर सतारा, जैतपुर, बघात, संभलपुर, उदयपुर, झाँसी, नागपुर आदि देशी राज्यों को कम्पनी के राज्य में मिला लिया। डलहौजी का विचार था कि नियम पूर्वक उत्तराधिकारी के न होने पर उस रियसत की सत्ता अपने आप ही ब्रिटिश सर्वोच्च सत्ता में विलीन हो जाएगी। उसने बड़े गर्व के साथ कहा कि इस नीति का पालन करते हुए ब्रिटिश सरकार कोई भी अवसर नहीं छोड़ेगी जिसके द्वार प्रदेशों की प्रप्ति या राजस्व की प्राप्ति हो सकती हो।

अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए डलहौजी ने भारतीय राज्यों को तीन श्रेणियों में बाँट दिया :

(1) वे राज्य को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रुप से अंग्रेजों द्वारा स्थापित किए गए थे;

(2) वे राज्य जे अंग्रेजों के अधीनस्थ राज्य थे; और

(3) वे राज्य जो स्वतन्त्र थे।

भारतीय राज्यों को इस प्रकार तीन श्रेणियों में विभाजित करके डलहौजी ने यह आदेश निकाला कि प्रथम श्रेणी के नरेशों को बच्चा गोद लेने का अधिकार नहीं रहेगा द्वितीय श्रेणी के नरेशों के लिए यह आवश्यक था कि वे बच्चा गोद लेने से पहले अंग्रेजों की स्वीकृति प्राप्त करें और तृतीय श्रेणीके नरेश किसी भी बच्चे को गोद लेने में स्वतन्त्र थे।

प्रथम श्रेणी के राज्यों के संतानहीन राजाओं की भावनाओं का विचार किए बिना उनके राज्यों को लूटना शुरु कर दिया। संतानहीन नरेश अंग्रेजों की अपार सैनिक शक्ति का विरोध करने में असमर्थ थे तथा उनकी इच्छा के विरुद्ध डलहौजी ने उनके राज्य छीन लिए। यद्यपि यह नीति अंग्रेजों के हित में थी तथा इसके द्वारा ब्रिटिश साम्राज्य का खूब विस्तार हुआ, किन्तु नैतिक और कानूनी दृष्टि से यह एकदम अनुचित थी।

उस समय भारत में कोई भी रियासत पूर्णतः स्वतन्त्र नहीं कहीं जा सकती थी तथा विलय की नीति का प्रयोग किसी के लिए भी किया जा सकता था। कई अवसरों पर गृह सरकार के विचार गर्वनर जनरल के विचारों से मेल नहीं खाते थे। करौली को ब्रिटिश साम्राज्य में मिलाने के बारे मे डलहौजी के विचार से कोर्ट ऑफ डाइरेक्टर्स सहमत न थे। फिर भी उसने इस नीति का प्रयोग कई अन्य रियासतों के प्रति किया।

सतारा का राज्य डलहौजी की नीति का पहला शिकार बना। सतारा के राजा ने अंग्रेज रेजिडेंट से स्वीकृति लिए बिना एक बालक को गोद ले लिया था। डलहौजी ने उसको स्वीकार नहीं किया और जब 1848 में उस राजा की मृत्यु हो गई तो सतारा राज्य को अंग्रेजी राज्य में मिला लिया गया इसके बाद नागपुर के राजा की 1853 में मृत्यु हुई तो उसके राज्य को कम्पनी के राज्य में मिला गया। इसके बाद नागपुर के राजा की 1853 में मिलाया गया वह झाँसी का राज्य था। 1854 में झाँसी के राजा की मृत्यु हो गई। उसके कोई पुत्र न था, अतएव उसने एक बालक को गोद ले लिया था। डलहौजी ने उसको अधिकारी स्वीकार नहीं किया। संभलपुर, जैतपुर, बघात तथा उदयपुर वे अन्य राज्य थे जिनके राजाओं के कोई पुत्र नहीं था। अतएव उनके मर जाने पर उनके राज्य भी अंग्रेजी राज्य में मिला लिए गए। केवल उन मामलों में ही गोद लेने की अनुमति दी गई थी जहाँ राजनीतिक कारणों से इस नीति का प्रयोग नहीं किया जा सकता हो।

कुछ राज्यों का कुशासन के आधार पर विलय किया गया। इस आरोप के आधार पर उसने बरार और अवध को अंग्रेजी राज्य में मिला लिया। बरार का प्रान्त हैदराबाद के निजाम के अधीन था।

हैदराबाद के निजाम का शासन बहुत खराब हो गया और वह सहायक सेना का खर्च नहीं दे पा रहा था। अतः कम्पनी के [illegible] को पूरा करने के लिए बरार का प्रान्त निजाम से छीन लिया गया।

अवध के नवाब हमेशा अंग्रेजों के स्वामिभक्त रहे थे तथा बहुत समय से उन्हें अंग्रेजों का मित्र समझा जाता था। जब कभी भी उन्हें रुपयों की तुरन्त आवश्यकता होती थी तो अवध के नवाब से किसी–न–किसी तरह पूरी कर ली जाती थी। इस सबके बावजूद अंग्रेज पुरानी मित्रता को भूल गए और पहले की सभी सन्धियों को भुलाकर नवाब को पदच्युत कर दिया गया। डलहौजी के समर्थक ने अवध को अंग्रेजी राज्य में मिलाए जाने का औचित्य सिद्ध करने के लिए पुराने गर्वनर जनरलों की चेतावनियों का हवाला दिया है उनके अनुसार लॉर्ड ऑकलैंड ने अपने समय में जो सन्धि नवाब के साथ की थी उसमें स्पष्ट रुप से कहा गया था कि यदि शासन में सुधार नहीं हुआ तो अवध का शासन अंग्रेज अपने हाथ में ले लेंगे। लेकिन अवध के लिए स्वयं अंग्रेज उत्तरदायी थे। उनका राज्य के आन्तरिक शासन में अंग्रेज रेजिडेंट मनचाहा हस्तक्षेप कर सकता था। जिन नवाबों ने सुधार की ओर प्रयत्न भी करना चाहा वे कोई सुधार इस कारण नहीं कर सके क्योंकि उन्हें अंग्रेजो का सहयोग प्राप्त नहीं हुआ। अवध की इन परिस्थियों में वास्तविक शासक अंग्रेज ही बन गए थे। वे वास्तव में अवध के शासन–सुधार के इच्छुक न थे क्योंकि शासन की खराबी को अंग्रेजी राज्य मे मिलान का आधार बनाना चाहते थे।

अनेक अंग्रेज लेखकों ने अपने व्रत्तांतों में अवध की प्रजा के दुःख एवं घोर गरीबी का चित्रण किया है। सामान्य रुप से ये वर्णन बहुत हद तक ठीक है। यह सब मानते हुए भी यह मानने का कोई आधार नहीं है कि अवध में अंग्रेजों की कार्रवाई नवाब की विलासिता को नष्ट करने या प्रजा की तकलीफों को मिटाने के उद्देश्य से प्रेरित थी। इसका वास्तविक उद्देश्य साम्राज्यवाद था। अब भारत के अंग्रेज शासकों को धैर्य नहीं था कि अवध की उपजाऊ भूमि को ब्रिटिश राज्य के बाहर रहने दे। अवध के अपहरण से यह बात भी स्पष्ट हो गई कि जनता अथवा सम्पूर्ण भारत के हित का बहाना बनाकर कम्पनी देशी नरेशों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप कर सकती थी और उनके अस्तित्व को समाप्त कर सकती थी। अतएव अन्य देशी राज्य भी आतंकित हो गए।

भारत में कुछ ऐसे भी देशी राज्य थे जिन्हें कम्पनी ने अपने राज्य में मिला लिया था, लेकिन उनके शासकों को पेंशन मिलती थी। डलहौजी ने इसको भी समाप्त कर दिया। उसका विचार था कि पद अथवा पेंशन परम्परागत नहीं होते तथा पेंशनभोक्ता के उत्तराधिकारियों को वे नहीं मिलने चाहिए। इस आधार पर उसने पदों तथा पेंशनों को समाप्त कर दिया।

कम्पनी ने पेशवा बाजीराव द्वितीय के लिए एक पेंशन निश्चित कर दी थी। 1852 में उनकी मृत्यु हो गई। डलहौजी ने उनके दत्तक पुत्र नाना साहब की पेंशन बन्द कर दी। 1853 में कर्नाटक के नवाब की मृत्यु हो गई और उसके बाद उसका पद समाप्त कर दिया गया। 1855 में तंजौर का राजा भी मर गया। उसके वंश जो को भी राजा की पदवी से वंचित कर दिया गया। मुगल सम्राट के साथ भी बुरा बर्ताव किया गया। उसकी पेंशन की रकम में कमी कर दी गई और उसको किला खाली करने के लिए बाध्य किया गया।

देशी राज्यों के प्रति ब्रिटिश नीति (1858–1947) : डलहौजी ने लैप्स के सिद्धान्त को सख्ती से लागू करके अनेक राज्यों पर कब्जा करलिया था। 1857 के विद्रोह का यह एक बड़ा कारण बना। जिन नरेशों के राज्यों पर कब्जा किया गया था उन्होंने इस विद्रोह का नेतृत्त्व किया। लेकिन अधिकांश नरेश अंग्रेजों के प्रति निष्ठावान बने रहे और उनकों से कुछ ने विद्रोह को कुचलने में अंग्रेजों की मदद की। नरेशों की वफादारी से यह प्रकट हुआ कि भारतीय राज्यों की सहायता से अंग्रेजी राज का टिकारहना सम्भव हो सकता था। राज्यों द्वारा दी गई सहायता की प्रंशसा करते हुए लॉर्ड कैनिंग ने यह खुलकर स्वीकार किया कि "राज्यों ने उस तूफान को रोकने का काम किया जिसका एक बड़ा झोंका हमें उखाड़ सकता था"। इस संकट के दौरान ग्वालियर, पटियाला, नाभा, जींद, हैदराबाद, रायपुर, रीवा आदि राज्यों द्वारा दी गई सहायता ब्रिटिश सरकार के लिए महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुई। इसलिए अंग्रेजों ने अपने शासन के सुरक्षा–कपाट के रुप में राज्यों को कायम रखने का फैसला लिया और लैप्स के सिद्धान्त का परित्याग करके, राज्यों के बारे में एक नई नीति बनाई जो 1857 से पूर्व के वर्षों में अपनाई गई नीति के विपरीत थी।

राज्यों के प्रति अपनाई गई नई नीति को नवम्बर 1858 में महारानी विक्टोरिया द्वारा की गई उद्घोषणा और 1858 के अधिनियम में शामिल किया गया। अधिनियम में यह घोषित किया गया कि कम्पनी द्वारा नरेशों के साथ की गई सभी सन्धियों और समझौतों का पालन करना क्राउन के लिए अनिवार्य होगा। नरेशों को यह आश्वासन दिया गया कि उनके पारिवारिक शासन को कायम रखा जाएगा और उनके अधिकारों, गरिमा और प्रतिष्ठा का आदर किया जाएगा। महारानी की उदघोषणा का राज्यों मे व्यापक प्रचार किया गया। नरेशों को और भी प्रसन्न करने और लैप्स के सिद्धान्त के कारण उनके स्वामित्व और अधिकार के सम्बन्ध में उत्पन्न बाधा को निर्मूल करने के लिए उन्हें गोद लेने का अधिकार दे दिया गया। जिन राजयों ने राज के प्रति निष्ठा और वफादारी रखने का वचन दिया उन्हें गोद लेने की सनद देकर लैप्स के सिद्धान्त को औपचारिक रुप से समाप्त कर दिया गया। इन सनदों के द्वारा [illegible] का स्वाभाविक उत्तराधिकारी न होने की स्थिति में नियमों और रिवाजों के अनुसार गोद लेने के नरेश के अधिकार को मान्यता दी [illegible]

जिन नरेशों ने अपनी वफादारी का सबूत दिया था उन्हें खुले हाथ से भूमि और धन देकर पुरस्कृत किया गया। पुरस्कारों के वितरण के लिए कैनिंग ने वाइसराय के रुप में अनेक दरबार आयोजित किए। 1859 में आगरा और लाहौर में आयोजित दो दरबारों में वफादार नरेशों की पदवी और स्वामित्व की पुष्टि की गई और उन्हे नए क्षेत्र देकर या उनके द्वारा दिए जाने वाले खिराज को माफ करके उन्हें पुरस्कृत किया गया। पटियाला, ग्वालियर और जींद को नए इलाकों पर कब्जा देकर अपने राज्यों को मजबूत करने का अवसर दिया गया। नाभा को एक वर्ष का खिराज देने से माफी दी गई; मेवाड को 20,000 रु० की खिल्लत और भरतपुर को 10,000 रु० की खिल्लत दी गई बीकानेर को भी इसी प्रकार पुरस्कृत किया गया। बघात (शिमला पहाड़ी) राज्य, जिस पर डलहौजी ने कब्जा कर लिया था, उसके नरेश को वापस लौटा दिया गया। गढ़वाल के शासक की 1858 में मृत्यु हो गई। उसका कोई कानूनी वारिस नहीं था फिर भी उसके राज्य पर कब्जा नहीं किया गया; वह राज्य मृत राजा के अवैध पुत्र को दे दिया गया। इसके विपरीत, कोटा और धार जैसे राज्यों को, जिन्होंने युद्ध के दौरान अग्रेजों के प्रति तरफदारी का रुख नहीं अपनाया था, अपने इलाके गँवाने पड़े।

कैनिंग ने भारतीय राज्यों के प्रति एक नए प्रकार की नीति का सूत्रपात किया जो 19वीं शताब्दी के अन्त त कायम रहीं। इस नीति का उद्देश्य देशी राज्यों से तात्कालिक वास्तविक सहायता लेने के बजाए भविष्य में उनकी सैनिक और राजनीतिक सहायता की संभावना को सुनिश्चित करना था। अंग्रेजों का यह विश्वास था कि नरेश जनता के स्वाभाविक नेता है और उनका समर्थन मिलने से आम जनता का समर्थन स्वतः ही मिल जाएगा। सामंती तत्त्व और संभ्रान्त जमींदार वर्ग के लोगों का भारतीय जनता पर बड़ा प्रभाव था। अतः अंग्रेजों ने इन्हीं तत्त्वों को मजबूत करके ब्रिटिश राज से जुड़े हुए एक धनी और प्रभावशाली भारतीय कुलीन तन्त्र के निर्माण का निर्णय किया। 1859 में राज्य सचिव, चार्ल्स वुड को लिखे अपने पत्र में लॉर्ड कैनिंग ने राज्यों के महत्त्वों को इन शब्दों में स्पष्ट रुप से स्वीकार किया "हमारे प्रति सहानुभूति रखने वाले नरेशों को कायम रखने में मुख्य रुप से देशी राज्य ही सहायक होंगे।

परवर्ती वाइसरायों ने न केवल इस नीति का अनुसरण किया वरन कुछ महत्त्वपूर्ण नरेशों को भारी भरकम दिखने वाली पदवियों से विभूषित करके तथा भव्य समारोहों का आयोजन करके इस नीति को और भी पुष्टता प्रदान करने का प्रयत्न किया। लॉर्ड लिटन का यह विश्वास था कि यदि नरेश अंग्रेजों के साथ होंगे तो जनता भी निश्चित रुप से उनका समर्थन करेगी। उसका यह भी विश्वास था कि भारत के कुलीन तन्त्र से समझौता करने से राज को बहुत बल मिलेग और "बाबुओं" के बढ़ते हुए प्रभाव को कम करने में सहायता मिलेगी "जिन्हें हमने क्या इसलिए शिक्षित किया है ताकि वे देशी समाचार पत्रों में राजद्रोहपूर्ण लेख लिखे। "राज्य सचिव लॉर्ड सॉल्सबरी के भी यही विचार थे। उसके मतानुसार, भारत के सभी वर्गों में अमीर वर्ग ही ऐसा था जिसको अंग्रेज अपने लाभ के लिए प्रभावित कर सकते थे। उसकी यह भी मान्यता थी कि आम जनता निष्क्रिय थी तथा शिक्षित वर्ग राजद्रोही और अविश्वसनीय था। अतः वह यह चाहता था कि ब्रिटिश सरकार कुलीन वर्ग की निष्ठा प्राप्त करने का प्रयत्न करे। उसके विचार में कुलीन वर्ग को किसी भी वैकल्पिक व्यवस्था में लाभ मिलना इतना अनिश्चित था कि वह वर्ग अनिवार्यतः अंग्रेजों का ही पक्षधर होगा। इस प्रकार भारत की रियसतों व्यवस्था को ही ऐसा स्थिर आधार माना गया। जिसका सहारा लिया जा सकता था।

देशी राज्यों के प्रति 1858 के बाद की ब्रिटिश नीति के परिणामस्वरुप राज्यों और सर्वोच्च सत्ता के बीच स्थापित संबन्धों में एक नई छवि आई। भविष्य में भारत में अंग्रेजी साम्राज्य की सुरक्षा सुनिश्चित करने के साधन के रुप में देशी राजयों का उपयोग करने की नीति अपनाई गई। लेकिन राज्यों को इस भूमिका का निर्वहन करने योग्य बनाने के लिए यह आवश्यक था कि उनके हाथ मजबूत किए जाएँ और उनके प्रशासन का पुनर्गठन और आधुनिकीकरण किया जाए। नरेशों से यह आग्रह किया गयसा कि वे अपने शासन को सुव्यवस्थित बनाएँ और अपनी जनता के कल्याण के प्रति समर्पित जिम्मेदार शासकों के रुप में कार्य करें। लेकिन इस प्रकार की चेतावनियाँ दिए जाने पर भी, नरेशों का व्यवहार अंग्रेजों की अपेक्षाओं के अनुरुप नहीं रहा। अधिकांश राज्यों में प्रशासन की हालत बहुत खराब थी क्योंकि वहाँ के शासक प्रबुद्ध नहीं थे। अनेक नरेशों का पालन–पोषण जनाना प्रभाव के कुत्सित वातावरण में हुआ था और वे परजीवियों और मूर्खों से घिरे रहते थे। उनमें विभिन्न प्रकार के व्यसन थे और वे अपना अधिकांश समय विलासितापूर्ण मौज मस्ती शानशौकत के प्रदर्शन या विदेशों की आनन्दप्रद यात्राओं में व्यतीत करते थे। कुछ अपवादों को छोड़कर, वे अपनी जनता के कल्याण की परवाह ही नहीं करते थे और अपने अधीनस्थ अधिकारियों के भ्रष्ट आचरण और सत्ता के दुरुपयोग को रोकने का भी प्रयत्न नहीं करते थे। कुशासन, दुर्व्यवस्था, सत्ता के दुरुपयोग और कर्त्तव्यों के न पालन करने से विधि व्यवस्था के टूटने की स्थिति आ जाती थी जिसके परिणामस्वरुप जनता का कष्ट भोगना पड़ता था और वह दमन का शिकार हो जाया करती थी। इन सभी कारणों से सर्वोच्च सत्ता को हस्तक्षेप करने का पर्याप्त बहाना मिलता था। हस्तक्षेप की आवश्यकता उस समय विशेष रुप से पड़ती थी जब स्थिति बिगडने से अराजकता फैलने की नौबत आ जाती थी और दमन के कारण लोग विद्रोह करने के लिए मजबूर हो जाते थे। लेकिन नरेश स्थिति को सुधारने या जनता की शिकायतों को दूर करने का कोई प्रयत्न नहीं करते थे क्योंकि [illegible]

के साथ कठोरता और निर्दयता का व्यवहार करते थे। लेकिन जब ऐसा प्रतीत होता था कि स्थिति काबू से बाहर हो रही है तो, ये [illegible] सत्ता शान्ति की संरक्षक होने के नाते, उपचारात्मक उपाय करने के लिए मजबूर हो जाती थी। कभी–कभी एस नरेश जो बिल्कुल कमजोर और अयोग्य होते थे स्वयं सर्वोच्च सत्ता से सहायता देने और हस्तक्षेप करने की प्रार्थना कर थे और उनकी प्रार्थना सहज ही स्वीकार कर ली जाती थी। जब कभी आन्तरिक शान्ति के लिए खतरा पैदा होता था या जन विद्रोह की संभावना बढ जाती थी। तब ब्रिटिश सरकार उपचारात्मक उपाय करती थी। ऐसे हस्तक्षेप के लिए सन्धि के किसी प्रावधान की आवश्यकता नहीं थी यह हस्तक्षेप सर्वोच्च में ही अन्तर्निहित था; यह हस्तक्षेप आन्तरिक शान्ति तथा विधि व्यवस्था कायम रखने की सर्वोच्चता में ही अन्तर्निहित था; यह हस्तक्षेप, आन्तरिक शान्ति तथा विधि व्यवस्था कायम रखने का सर्वोच्च सत्ता की जिम्मेदारी का तार्किक परिणाम था।

उत्तराधिकार के सम्बन्ध में भी सर्वोच्च सत्ता को हस्तक्षेप करने का आधार मिलता था। सभी उत्तराधिकारों का ब्रिटिश सरकार द्वारा अनुमोदित किया जाना आवश्यक था। अत; यह आवश्यक था कि उत्तराधिकार रीतियों और नियमों के अनुसार दिया जा, क्योंकि नियम विरुद्ध तरीके से गोद लेना अवैध माना जाता था। उत्तराधिकार को विनियमित करने का विशेषधिकार क्राउन को प्राप्त था। यह आवश्यक था कि प्रत्येक उत्तराधिकार को बिटिश सरकार के अनुमोदन के लिए भेजा जाए। सरकार द्वारा पुष्टि किए जाने तक कोई उत्तराधिकार वैध नहीं माना जाता था। उत्तराधिकार को विनियमन करने का अर्थ था देशी राज्य के अन्दरुनी मामलो में असुविधाजनक हस्तक्षेप। लेकिन ब्रिटिश सरकार, अपनी निर्विवाद स्थिति और संपूर्ण भारत में विधि–व्यवस्था तथा शान्ति कायम रखने की अपनी जिम्मेदारी का हवाला देकर, इस हस्तक्षेप को उचित ठहराती थी। ब्रिटिश सरकार ने अनेक अवसरों पर राज्यों के मामलो में हस्तक्षेप किया। ये हस्तक्षेप क्षेत्रीय विस्तार के उद्देश्य से नहीं किए गए वरन दोषों के निराकरण के लिए अथवा अडियल शासको को झुकाने के लिए। राज्यों के साथ की गई सन्धियों के बावजूद, इस प्रकार के हस्तक्षेप हाते है नहीं रहे वरन सूक्ष्म और व्यापक स्तर पर किए जाते रहे। वस्तुत:, सर्वोच्च सत्ता और नरेशों के बीच सम्बन्ध सन्धियों और समझौतों द्वारा नियन्त्रित न होकर व्यवहार और कार्य–प्रणाली पर आधारित रहे। जब जब ब्रिटिश सरकार को अपनी बदलती हुई नीतियों और आवश्यकता के लिए ऐसा करना अनुकूल लगा तब–तब उसने इन सन्धियों की उपेक्षा की। कभी–कभी अपने साम्राज्यवादी हितों के संवर्धन के उद्देश्य से ब्रिटिश सरकार द्वारा हस्तक्षेप करने के झूठे बहाने भी बनाए गए। हस्तक्षेप के ये आधार अनिश्चित होते थे और ब्रिटिश राज के हित में उन्हें जान बूझकर अस्पष्ट रखा जाता था। अनेक अवसरों पर ब्रिटिश सरकार ने ब्रिटिश नागरिकों पर अपना अधिकार स्थापित करने के लिए बिटिश मुद्रा को अधिरोपित करने के लिए, रेलवे में समान गेज कायम रखने के लिए डाक तार और रेल सेवाओं में दक्षता सुनिश्चित करने के लिए अपने वित्तीय हितों को सुरक्षित रखने के लिए –उदाहरणार्थ अफीम एवं नमक के उत्पादन शुल्क पर अपना एकाधिकार कायम रखने के लिए, मुक्त व्यापार की नीति को लागू करने के लिए, जिन क्षेत्रों से होकर रेल मार्ग जाता था। उनमे अधिकार–क्षेत्र स्थापित करने के लिए तथा ऐसे ही अन्य प्रयोजनों के लिए हस्तक्षेप किया।

नरेशों को संरक्षण की गारंटी देकर ब्रिटिश सरकार ने उन्हें पूर्णत: अपना आज्ञाकारी बना लिया और साथ ही दमनकारी शासको के विरुद्ध जनता के कल्याण का पक्षपोषक होने का दावा करके वह जनता की रक्षक के रुप में भी दिखाई देने लगी। इस प्रकार सर्वोच्च सत्ता ने दोहरा लाभ अर्जित किया। इसके परिणामस्वरुप अंग्रेज देशी राज्यों में चुपचाप और निरन्तर अपनी स्थिति को मजबूत करने और राज्यों के ब्रिटिश स्थिति को मजबूत करने और राज्यों के ब्रिटिश भारत के साथ आर्थिक एकीकरण की प्रक्रिया को तेज करने में सफल हुए। आवागमन के साधनों के विकास से इस प्रक्रिया को काफी मदद मिली। ब्रिटिश सरकार की रेल, तार और डाक व्यवस्था को देशों राज्यों तक फैलाकर ब्रिटिश भारत से उनकी विलगता को खत्म किया गया। ब्रिटिश मुद्रा का सम्पूर्ण भारत में या तो स्थानीय मुद्रा के स्थान पर या उसके साथ प्रचलन होने लगा। ब्रिटिश विधानों की भावना राज्यों में बनाए जाने वाले कानूनों को भी प्रभावित करने लगी। देशी राज्यों के न्याय प्रशासन में ब्रिटिश भारत के उच्च न्यायालयों के सिविल और दंडिक अधिकार का प्रभाव पड़ने लगा। ब्रिटिश राजस्व व्यवस्था के सिद्धान्तों को राज्यों में भी लागू किया गया। राज्यों के स्कूल और कॉलेज ब्रिटिश भारत के विश्वविद्यालयों से सम्बन्ध हो गए। इस प्रकार, बहुत हद तक, विशेषकर आर्थिक क्षेत्र में, "एकल कार्यभार" का स्वप्न साकार हुआ।

सर्वोच्चता के कार्यान्वयन के परिणामस्वरुप नरेशों की संप्रभुता के अनेक पक्षों का क्षरण हुआ जिनके वे, सन्धियों के अन्तर्गत अधिकारी थे। ब्रिटिश सरकार द्वारा सुरक्षा प्रदान किए जाने के बदले में उनके लिए यह कीमत चुकाना अनिवार्य हो गया। ऐसा प्रतीत होता है कि आरम्भ में नरेश सर्वोच्चता–परिचालन के पूर्ण निहितार्थ को समझ नहीं पाए लेकिन जल्दी ही उन्हें यह आभास हो गया कि उनका दर्जा घटकर ब्रिटिश राज के सामन्तों जैसा हो गया था और उनकी संप्रभुता का वास्तविक रुप अब सदा के लिए विलुप्त हो गया था।

नरशों की अल्पव्यस्कता की अवधि मे अंग्रेजो को उनके राज्यों में अपना प्रभाव बढ़ाने और अपने हितों को सुरक्षित करने के [illegible] अवसर मिले। जिस राज्य का शासक नहीं रहता था या जिस राज्य का उत्तराधिकारी शासक [illegible]

सरकार की संपूर्ण सत्ता को संभाल नहीं सकता था, उस राज्य को अल्पव्यस्क शासन के अधीन कहा जाता था। अल्पवयस्कता की अवधि में राज्य का शासन चलाने के लिए ब्रिटिश सरकार या तो रिजंसी परिषद की स्थापना करती थी या उसके प्रशासन का कार्यभार सीधे किसी ब्रिटिश अधिकारी को सौंप देती थी। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में सरकार ने अल्पवयस्कंत की अवधि का राज्यों में अपना हित साधन के लिए एक नीति के रुप में अधिकाधिक उपयोग किया।

अकसर हस्तक्षेप करने के अतिरिक्त ब्रिटिश सरकार ने नरेशों और उनके राज्यों पर अनेक पाबंदियाँ भी लगा दी। उनका आपसी सम्बन्ध रखना या किसी बाहरी देश से सम्बन्ध रखना वर्जित कर दिया गया। किले बन्दी का रखरखाव और सेना का निश्चित सीमा से आगे विस्तार ब्रिटिश अनुमोदन के बाद ही किया जा सकता था। राज्यों के आपसी विवादों को ब्रिटिश सरकार के निर्णय के लिए भेजना आवश्यक था। इन पाबन्दियों से नरेशों की शक्ति और अधिकारों में बहुत कमी हो गई। लेकिन उन्हें ये तमाम शर्तें स्वीकार करनी पड़ी क्योंकि अंग्रेजों के लिए अब सम्पूर्ण उपमहाद्वीप की संयुक्त शक्ति से भी कोई खतरा पैदा होने वाला नहीं था। लेकिन नरेशों की ऐसी किसी एकता की सुदूर भविष्य में भी कल्पना नहीं की जा सकती थी क्योंकि उनके बीच झगड़ों का निपटारा होना संभव नहीं था। वे एक–दूसरे के ईर्ष्या करते थे और उनमें मिथ्याभिमान की भावना थी। अपने मिथ्याभिमान के कारण नरेशों को यह तथ्य स्वीकार्य नहीं था कि ब्रिटिश काल से पूर्व उनके पूर्वजों की जो स्थिति थी उसकी उनमें अब छाया भ नहीं थी। वास्तविक शक्ति से वंचित कर अंग्रेजों ने उन्हें राजत्व की उपहासास्पद विडंबना में परिणत कर दिया था। वास्तव में देशी राज्य अंग्रेजों के अनौपचारिक साम्राज्य बन गए थे। कैनिंग ने 1860 में ही उस स्थिति की रुपरेखा तैयार कर दी थी जिसमें हस्तक्षेप करना अपेक्षित होगा। गोद लेने की प्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए उसने वुड को लिखाः "प्रस्तावित उपाय भारत सरकार को देशी राज्य के शासन के ऐसे किसी दुरुपयोग को ठीक करने से बाधित नहीं करेगा जिससे देश के किसी भाग में (यह रेखांकन मूल पाठ में नही है) अराजकता या अशान्ति का खतरा पैदा हो और पर्याप्त कारण रहने पर भारत सरकार ऐसी स्थिति में किसी देशी राज्य का कार्यभार अस्थायी रुप से सँभालने से भी नहीं चूकेगी।" इस वक्तव्य से यह प्रकट होता है कि नरेश को खुश रखने के लिए अंग्रेज एक विशेष सीमा से आगे जाने को तैयार नहीं थे। नरेशों को अब यह सुरक्षा तो प्राप्त थी कि उनके राज्यों पर कब्जा नहीं किया जाएगा किन्तु उन्हें अपने घरेलू मामलों में ब्रिटिश हस्तक्षेप से मुक्ति प्राप्त नहीं थी।

नरेश इतने अशक्त बना दिए गए थे कि अपने आन्तरिक मामलों में आक्रामक और अनुचित हस्तक्षेप का भी विरोध नहीं कर सकते थे। जो नरेश सुधरते नहीं थे उनके प्रति वाइसराय द्वारा प्रायः तानाशाही रुख अपनाया जाता था। नई ब्रिटिश नीति के अनुसार, दुष्प्रशासन का दंड राज्य पर कब्जा करके नहीं वरन नरेश को राज्यच्युत करके दिया जाता था। राज्यच्युत किए जाने का सर्वाधिक उल्लेखनीय उदाहरण 1875 में बडौदा के गायकवाड (मल्हार राव) का था। उसके प्रशासन के विरुद्ध शिकायतों की जाँच करने के लिए एक कमीशन नियुक्त किया गया। गायकवाड ने इसका यह कहकर विरोध किया कि ऐसा करना बड़ौदा राज्य और ब्रिटिश सरकार के बीच हुई सन्धि पर आधारित सम्बन्धों के अनुसार अनुचित था। गायकवाड़ को ब्रिटिश सरकार द्वारा भेजे गए उत्तर ने यह स्पष्ट कर दिया कि भारी दुष्प्रशासन का निराकरण करने और जनता के कल्याण के लिए एक सुचारु सरकार सुनिश्चित करने के उद्देश्य से ब्रिटिश सरकार अवश्य हस्तक्षेप करेगी।

गायकवाड़ को राज्यच्युत किए जाने के संदर्भ में ही लॉर्ड सॉल्सबरी ने यह उल्लेखनीय बात कही थी "देशी नरेशों को हमारे द्वारा उनकी शक्तियों का बराबर कम किया जाना अनिवार्य समझकर स्वीकार करना चाहिए और इसीलिए, मेरा यह विचार है कि उन औपचारिक प्रदर्शनों को, जिनके वे अभ्यस्त है, कम न करने की सावधानी बरतनी चाहिए। उन्हें सर्वाअधक चिन्ता दिखावे की है, हमें सर्वाधिक चिन्ता सत्ता की है।"

वाइसरायों द्वारा समय–समय पर आयोजित किए जाने वाले दरबारों का मुख्य उद्देश्य नरेशों की प्रदर्शन और आडंबरप्रियता को संतुष्ट करना होता था। लॉर्ड लिटन का विश्वास था कि नरेशों की निष्ठा उनके प्रति अनुग्रह दिखाकर और उन्हें सम्मानित करके प्रभावी रुप में प्राप्त की जा सकती थी। नरेश इस प्रकार के अनुग्रह और सम्मान के इच्छुक रहते थे और अंग्रेज समय–समय पर उन्हें अनुग्रहीत और सम्मानित करते रहते थे। लिटन को विश्वास था कि भारतीय महाराजा अपनी सलामी में दागी जाने वाली तोपों की संख्या में एक तोप की वृद्धि के लिए कुछ भी करने और कुछ भी कीमत चुकाने को तैयार हो सकता था। इसी विश्वास के आधार पर लिटन ने 1877 का दिल्ली दरबार आयोजित किया जिसमें विशाल आंडबर का प्रदर्शन किया गया और जिसमें महारानी विक्टोरिया को "भारत की सम्राज्ञी" घोषित किया गया। जिन नरेशों को इस दरबार में निमन्त्रित होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ उनको पदवियों से विभूषित किया गया और उनकी सलामी की तोपों में वृद्धि की गई। अंग्रेजों ने राज के प्रति नरेशों की वफादारी को मजबूत करने के लिए यह तरीका अपनाया। शान शौकत और औपचारिक समारोहों का प्रदर्शन तो लिटन की व्यापक नीति का अंग मात्र था। वह इस बात से भी कि नरेशों से प्राप्त होने वाले विरोध और सैनिक अड़ोपाय में वृद्धि करके बदले में उन्हें बहुत संतुष्टता

देने की दृष्टि से उनके साथ की गई सन्धियों का पुनर्रक्षिण किया जाए। लेकिन उसकी परिषद ने उसके इस प्रस्ताव को नामंजूर कर दिया। उसका सर्वाधिक महत्त्वाकांक्षी प्रस्ताव यह था कि एक ऐसी प्रिवी काउंसिल का गठन किया जाए जो सलाहकार और परमर्शदात्री परिषद के रुप में काम करे और जिसके सदस्य केवल कुछ ही महत्त्वपूर्ण नरेश हो। लेकिन लदन मे सरकारी विरोध और संसद मिलने में कठिनाई आने की सम्भावना के कारण यह योजना क्रियान्वित नहीं हो सकी। वाइसराय को आर नरेशों को "सम्राज्ञी के पार्षद" की महत्त्वहीन पदवी से अंलकृत करके ही सन्तोष करना पड़ा।

फिर भी 1885 में लिटन की एक योजना साकार हुई जिसके अन्तर्गत 'इंपीरियल सर्विस टूप्स' के रुप में नई सैनिक टुकड़ियां की भर्ती की गई इन टुकड़ियों में भर्ती पूर्णतः राजयों से ही की गई और उन पर होने वाले खर्च को राज्यों को ही वहन करना पडा । इन टुकडियों को प्रशिक्षित करने और नियमित रुप से उनका निरीक्षण करने का काम ब्रिटिश अधिकारियों द्वारा किया जाता था तथा उनकी सवाए अपातकाल मे सर्वोच्च सत्ता को उपलब्ध कराई जाती थी। हैदराबाद, मैसूर और राजपुताना के अनेक राज्यों ने इंपीरियल सर्विस टूप्स के गठन ने योगदान किया। बाद में, इन टुकड़ियों का उपयोग बोअर युद्ध में और चीन में बॉक्सर विद्रोह के समय किया गया।

लॉर्ड कर्जन ने भी। जनवरी, 1903 को एक भव्य राज्यारोहण दरबार का आयोजन किया जिसका प्रयोजन 'एशियाई भावनाओं और देशी सभ्रांत वर्ग की परंम्परा' की ओर ध्यान आकर्षित करना था। उसका यह पक्का विश्वास था कि इस दरबार से नरेश बहुत प्रभावित हुए थे और साम्राज्य के स्तंभ और भागीदार के रुप में अपनी सम्मानपूर्ण स्थिति पर गर्व की भावना लेकर लौटे थे। इस प्रकार लिटन और कर्जन ने नरेशों का उपयोग करने की दृष्टि से दिखावे से प्रभावित होने की उनकी प्रवणता का लाभ उठाया। तथापि, कर्जन ने नरेशों का उपयोग करने की दृष्टि से दिखावे से प्रभावित होने की उनकी प्रवणता का लाभ उठाया। तथापि, कर्जन का विश्वास था कि नरेशों को सीमा से अधिक शान–शौकत दिखाने की अनुमति नहीं दी जानी चाहिए। कूच–बिहार, कपूरथला और नाभा के नरेशों द्वारा शाही ताज का प्रयोग किए जाने पर उसने भारी आपत्ति की। इसी प्रकार, उसने पटियाला और पुडुक्कोटाई के महाराजाओं के लिए राष्ट्रीय धुन बजाए जाने का और बड़ौदा, कच्छ, मणिपुर और त्रावणकोर के नरेशो द्वारा 'शाही परिवार और सिंहासन' जैसे शब्दों का प्रयोग किए जाने का भी विरोध किया यद्यपि कर्जन ने प्रतीकों का प्रयोग किया किन्तु वह नरेशों को ऐसे शाही प्रतीकों का प्रयोग करने के लिए प्रोत्साहित नहीं करना चाहता था जिनके द्वारा वे ब्रिटिश क्राऊन के बराबर दिखाई दे।

नरेशों के बारे में कर्जन के विचार बहुत हीन थे। वह उन्हें उच्छृंखल और अज्ञानी समझता था। उसके विचार में उनमें बुद्धि और कर्त्तव्यनिष्टा का अभाव था। वह उन्हें स्कूल के अनुशासन हीन लड़कों के समान समझता था। वस्तुतः उसका मन में नरेशों के लिए आदर की कोई भावना नहीं थी। सार्वजनिक रुप से वह उनके सहयोगी और भागीदार होने की बात करता था लेकिन एकान्त में उनकी आलोचना करता था। वह उन नरेशों से अप्रसन्न रहता था जो अपना अधिकांश समय अपने राज्य में व्यतीत करने के बजाए विदेश यात्राओं में व्यतीत करते थे। बडौदा के गायकवाड और पुडुक्कोटाई के महाराजा से वह इस कारण प्रायः अप्रसन्न रहता था। वह पुडुक्कोटाई के महाराजा से विशेष रुप से अप्रसन्न था क्योंकि उसने 1894 में राजगद्दी पर बैठने के बाद 1900 तक केवल दो वर्ष ही अपने राज्य में व्यतीत किए थे। वह नरेशों की इस आदत को बहुत नापसंद करता था कि वे अपने राज्यों के खर्च पर विदेशों की यात्रा करते थे और वहाँ बेहिसाब खर्च करने के लिए ही जाते थे।

कर्जन के काल में राज्यों के अंदरुनी मामलों में ब्रिटिश हस्तक्षेप अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया। उसने राज्यों पर अपने प्रशासन के स्तर को सुधारने के लिए दबाव डालने का जोरदार व्यक्तिगत अभियान चलाया। अपने भारत आने के छह मास के भीतर ही उसने नरेशों को यह जता दिया कि "राजसिंहासन सुख की सेज नहीं वरन कठिन कर्म का आसन था"। वह उनको अपनी प्रजा के प्रति उनके दायित्व के विषय में भाषण दिया करता था। राजनीतिक अधिकारियों को प्रति वर्ष उन राज्यों के बारे विस्तृत प्रशासनिक रिपोर्ट देनी होती थी जो उनके नियंत्रण में होते थे। इन रिपोर्टों में नरेशों और उनके सलाहकारों के चरित्र और क्षमता के सम्बन्ध में भी चर्चा होती थी। कर्जन के सांधातिक उपचार के परिणामस्वरुप उसके वाइसराय रहने की अवधि के दौरान, कम से कम पन्द्रह नरेशों को या तो गद्दी छोड़नी पड़ी थी या कुछ समय के लिए सत्ता के अधिकार से वंचित होना पड़ा था।

ब्रिटिश सरकार ने नरेशों की शिक्षा को नियंत्रित करने का भी प्रयास किया। उसके सुझाव पर नरेशों के उत्तराधिकारियों की शिक्षा के लिए देशी राज्यों में स्कूल और कॉलेज, कॉल्विन कॉलेज, ऐटचीसन कालेज। इसका प्रयोजन नरेशो के उत्तराधिकारियों की योग्यता बढ़ाना और उनमें राज के प्रति वफादारी की भावना पैदा करना था।

शताब्दी के अन्त होने तक यह स्पष्ट हो गया कि नरेशों द्वारा विद्रोह के तूफान को रोक पाने को जो उम्मीद की गई थी वह पूरे तरह साकार नहीं हो पाई थी। केवल लिटन और कर्जन ही इस विषय में सोचने को तैयार हुए थे कि नरेशों का साम्राज्य के मित्र के रुप में कैसे उपयोग किया जाए। लेकिन इन दोनों वाइसरायों के प्रस्ताव भी किसी हद तक सीमित ही थे। लिटन की मुख्य चिन्ता यह थी कि उन राज्यों को राजाओं को सैन्यशक्ति बनाया जाए जिनकी वह ब्रिटिश सेनाओं की [illegible]

बराबरी का दर्जा दिए जाने से ही चिढ थी। वह इस बात के लिए तैयार नहीं था कि नरेशों को अपने राज्यों की सीमा से आगे किसी प्रकार की राजनीतिक जिम्मेदारी सौंपी जाए, लेकिन नरेशों को विश्वसनीय मित्र बनाने की योजना केवल इसी कारण निष्फल नहीं हुई कि उन पर विश्वास नहीं था। 1857 के विद्रोह के बाद अंग्रेजों की अपनी ही सर्वोच्चता कायम हो चुकी थी जिसे किसी प्रकार की चुनौती नहीं दी जा सकती थी। अतः उनके लिए ऐसी कोई विवशता नहीं थी कि वे नरेशों के साथ किसी प्रकार की राजनीतिक भागीदारी करे। अतः नरेशो के साथ समझौता करना एक राजनीतक आवश्यकता न होकर केवल प्रशासनिक सुविधा की बात थी।

कर्जन का मुख्य उद्देश्य उन सभी तत्त्वों को संगठित करना था। जिन्हें कांग्रेस का विरोध करने के लिए खड़ा किया जा सकता था। उसका यह विश्वास था कि समय बीतने के साथ ब्रिटिश राज और देशी राज्यों के हित एकसमान हो जाएंगे क्योंकि दोनों को ही वर्तमान व्यवस्था (अंग्रेजी राज) को कायम रखने की चिन्ता थी और दोनों को ही राष्ट्रवाद और लोकतन्त्र में अपना विनाश दिखाई देता था। लैप्स की नीति का परित्याग करने से अंग्रेजों को देश के दो बटा पाँच भाग पर शासन करने की जिम्मेदारी से छुट्टी मिल गई। उन्होंने देशी राज्यों में ऐसी व्यवस्था चलने दी जिसमें नरेशों के लिए अपने प्रशासनिक कर्त्तव्यों की उपेक्षा करना सम्भव हो गया। नरेशों से व्यवस्थाबद्ध तरीके से सभी प्रकार की शक्तियाँ छीनने के बाद अंग्रेजों का नरेशो से यह आग्रह करना अनुचित था कि वे अपनी जिम्मेदारी पूरी करे। राज्यों को कायम रखना ब्रिटिश राज को कायम रखने के लिए भले ही अनिवार्य रहा हो, लेकिन अंग्रेजों ने जिस प्रकार के राज्यों को कायम रखा उनसे वैसी स्थिरता नहीं मिल सकती थी जैसी अंग्रेज चाहते थे।

लॉर्ड मिन्टो के वाइसराय रहने के काल में सर्वोच्च सत्ता और देशी राज्यों के बीच सम्बन्धों ने एक नया मोड़ लिया। कांग्रेस के उद्देश्यों के विपरीत किसी प्रतिभार की सम्भावना की खोज में मिन्टो ने महसूस किया कि बंगाल के विभाजन के बाद उग्र रुपधारण करने वाली राष्ट्रवादी शक्तियों का मुकाबला देशी नरेश कर सकते है। हारकर्ट बटलर 1908 में विदेश सचिव बना। वह चाहता था कि राजाओं की स्थिति को मजबूत किया जाए और उन्हें अंग्रेजों के पक्ष में लाया जाए ताकि व उस ब्रिटिश–विरोधी चुनौती का मुकाबला करने में सहायता दे सके जो भारतीय राजनीति का एक महत्त्वपूर्ण राज्यों के प्रति अहस्तक्षेप की नई नीति का सूत्रपात हुआ और कर्जन की आक्रामक और तानाशाही नीति का परित्याग कर दिया गया। मिन्टो ने इस नई नीति की रुपरेखा नवम्बर 1909 में उदयपुर में अपने भाषण में स्पष्ट की। उसने कहा कि अंग्रेज इस बात के विरुद्ध थे कि ब्रिटिश प्रशासक तरीके अपनाने के लिए नरेशों पर किसी प्रकार का दबाव डाला जाए। इसकी अपेक्षा वह यह चाहता था कि सुधारों का काम स्वयं नरेश ही शुरु करें। उसका भाषण उस राजनीतिक विभागीय मैनुअल (नियम पुस्तिका) पर आधारित था जो राज्यों में नियुक्त राजनीतिक अधिकारियों के मार्ग दर्शन के लिए बटलर द्वारा तैयार किया गया था। मैनुअल में ऐसी हिदायतें थी जो कर्जन के विचारो के बिल्कुल विपरीत थी। राजनीतिक अधिकारियों को यह हिदायत दी गई कि वे नरेशों और उनकी प्रजा के बीच किसी प्रकार का हस्तक्षेप न करे और नही प्रजा द्वारा नरेशों को अर्जियाँ दिए जाने को प्रोत्साहित करे। अत्यधिक कुप्रशासन होने की स्थिति में ही हस्तक्षेप की बात सोची जा सकती थी। जब तक कुप्रशासन से सभ्यता के आधारभूत नियमों का उल्लंघन न हो तब तक अंग्रेजों को सामान्यतः सुधार अधिरोपित करने के लिए प्रकट रुप से कोई प्रयत्न नहीं करना चाहिए। इस प्रकार नरेशों को पर्याप्त सवायत्तता दी गई ताकि वे ब्रिटिश भारत में राष्ट्रवाद के विरुद्ध चल रहे संघर्ष में निष्ठापूर्वक और स्वेच्छा सहयोग करें। प्रथम विश्व युद्ध के दौरान सर्वोच्च सत्ता और नरेशों के बीच मैत्री और भी दृढ़ हो गई। इस युद्ध के दौरान नरेशों ने अंग्रेजों के युद्ध प्रयत्नों में बहुमूल्य योगदान किया। नरेशों की सहायता की साम्राज्य की ऐसी सम्पदा के रुप में प्रशंसा की गई जो अमूल्य थी।

नई नीति के अन्तर्गत दी गई स्वतन्त्रता से प्रोत्साहित होकर कुछ नरेशों ने पूर्ण आन्तरिक स्वतन्त्रता के दावे पेश किए जो सर्वोच्च सत्ता के विशेषाधिकार के विरुद्ध थे। वे सर्वोच्चता की ऐसी निश्चित परिभाषा किए जाने की बराबर माँग करने लगे जो अहस्तक्षेप के सिद्धान्तों के अनुरुप हो। यद्यपि अंग्रेज ऐसी माँगों पर विचार करने के लिए तैयार नहीं थे जिन्हें वे अनर्गल मानते थे, तथापि उन्हें यह चिन्ता अवश्य थी कि नरेशों को नाराज करने की किसी भी संभावना से बचा जाए। नरेशों की नाराजगी के बावजूद, सर्वोच्च सत्ता सर्वोच्च ही बनी रही और सर्वोच्चता उतनी ही अस्पष्ट और अपरिभाषित रही जितनी पहले थी। फिर भी, इस अवधि में नरेशो के लिए संपूर्ण वातावरण इतना घुटन–भरा नही था जितना कर्जन के समय में था। उन्होंने युद्ध प्रयत्नों में जो यागेदान किया था उससे ब्रिटेन के प्रमुख सहयोगियों के रुप में उनकी स्थिति मजबूत हो गई। 8 फरवरी 1921 को नरेन्द्र मंडल के उद्घाटन के बाद से यह स्पष्ट हो गया कि नरेशों की विलगता के दिन गुजर चुके थे। अनेक महत्त्वपूर्ण नरेश उस स्वतन्त्रता का पूरा लाभ उठाने लगे जो उन्हें अहस्तक्षेप की नीति से मिल थी। जहाँ कर्जन के समय में राजनीतिक अधिकारी छोटी–छोटी बातों पर हस्तक्षेप करने के लिए हर सम्भव मौके की तलाश में रहते थे, वहाँ युद्ध के बाद नरेश ही राजनीतिक अधिकारियों की छोटी–छोटी गलतियों के प्रति विरोध प्रकट करने लगे जैस कि बदले की भावना से ऐसा कर रहे हो। नरेशों को राज के समर्थक के रुप मे बनाए रखने की [illegible]

का महत्त्व कम हो गया। इस प्रकार, जहाँ संपूर्ण ब्रिटिश भारत लोकतन्त्र के मार्ग पर अग्रसर होने लगा वहाँ अधिकांश राज्य अभी निरंकुश शासन चलाते रहे और ब्रिटिश भारत में घटित होने वाले घटनाचक्र की ओर से अपनी आँखे मूँद रहे।

अहस्तक्षेप नीति के परिणाम उदयपुर और अलवर में स्पष्ट रुप से सामने आए। उदयपुर में 1921 में कृषि क्षेत्र में एकगभार संकट पैदा हुआ। सताए गए किसानों ने एक उग्र आन्दोलन (बिजोलियाँ सत्याग्रह) शुरु किया जो उस समय ब्रिटिश भारत मे चल रहे आन्दोलन जैसा ही था। ऐसे संकेत भी दिखाई पडे कि सत्याग्रही असहयोग आन्दोलन से सहानुभूति रखते थे। इस स्थिति को तभी नियंत्रित किया जा सका जब महाराणा को अपनी शक्तियाँ अपने पुत्र के हाथों में सौपने के लिए मजबूर किया गया। इसी प्रकार अलवर में 1933 में मेव जाति के किसानों ने बेमिसाल अत्याचार यातना और दुर्दशा के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। विद्रोह को दबाने और व्यवस्था कायम करने के लिए ब्रिटिश सेना भेजी गई। इस बुरे हाल के लिए केवल नरेश ही नही, अहस्तक्षेप की नीति भी जिम्मेदार थी।

जब लॉर्ड इरविन ने नरेशों को अपने राज्यों में प्रशासनिक और राजनीतिक सुधार करने का सुझाव दिया तो व नाखुश हो गए और उन्होंने अपने राज्यों में किसी भी प्रकार की प्रतिनिधिक संस्था स्थापित करने के सुझाव पर विचार करने से भी इनकार कर दिया। उन्होंने यह स्पष्ट कह दिया कि वे अपने राज्यों में कुलीन तन्त्र की परम्परा कायम रखने के लिए वचनबद्ध थे। अधिकांश राज्य किसी भी प्रकार के लोकतंत्रीय प्रयोग को अनावश्यक समझते थे। मैसूर त्रावणकोर–कोचीन और बडौदा इसके अपवाद थ जहाँ कुछ प्रतिनिधिक संस्थाएँ विद्यमान थी। अन्य राज्यों को यह विश्वास था कि अंग्रेजों के साथ की गई सन्धि में मिले अधिकार उन्हे ब्रिटिश भारत से उत्पन्न होने वाले क्रान्तिकारी प्रभाव से सुरक्षित रखेंगे।

सर्वोच्चता की परिभाषा और राजनीतिक व्यवहार के संहिताबद्ध किए जाने के विचार ने नरेशों में एक विकार का रुप ले लिया था। ब्रिटिश भारत में असहयोग आन्दोलन के आगे बढ़ने से नरेशों के मन में आशंकाएँ पैदा होने लगी और फलतः इस प्रश्न ने एक नया रुप ले लिया। साथ ही नरेशों को इस बात से भी चिन्ता हुई कि ब्रिटिश सरकार ने राष्ट्रवादी दबाव में आकर 1910 के प्रेस अधिनियम का निरसन करने का विचार किया। देशी भाषाओं के समाचार–पत्र नरेशों के प्रशासन की कड़ी आलोचना करते थे और नरेशों के लिए उनकी यह प्रवृत्ति बहुतअरुचिकर थी। यह सम्भावना थी कि अधिनियम के निरसन के बाद समाचार–पत्र उनके राज्यो में लोकतान्त्रिक विचारों के प्रचार के महत्त्वपूर्ण माध्यम बन जाएँगा इसीलिए नरेशो ने सरकार को ऐसा विधेयक पारित करने के लिए राजी किया जिसके द्वारा नरेशों और उनकी सरकारों के विरुद्ध असन्तोष पैदा करने के उद्देश्य से प्रकाशित समाचारों के प्रचार को रोका जा सके। जब इस विधेयक को विधानसभा ने नामंजूर कर दिया तो गर्वनर जनरल रीडिंग ने प्रमाणीकरण की अपनी शक्तियों का प्रयोग करके उस विधेयक को कानून का रुप दे दिया। इस उदाहरण से यह प्रकट होता है कि अंग्रेजों ने किस प्रकार नरेशों को देश की राजनीति की मुख्य धारा से विलग रखने का प्रयत्न किया जो समय बीतने के साथ लोकतांत्रिक रुप ले रही थी।

जिन नरेशों का नरेन्द्र मंडल पर प्रभाव था उनके लिए ब्रिटिश सरकार से उनके सम्बन्धों और ब्रिटिश भारत में बढ़ते हुए लोकतान्त्रिक आन्दोलन के संदर्भ में सर्वोच्चता का प्रश्न सबसे महत्त्वपूर्ण था। वे अपने अन्दरुनी मामलों में पूर्णतः स्वतन्त्र रहकर काम करना चाहत थे और ऐसी स्थिति से कभी सन्तुष्ट नहीं हो सके थे जिसमें सर्वोच्चता अस्पष्ट और अपरिभाषित रहे और सर्वोच्च सत्ता उनके अन्दरुनी मामलों में अपने विवेकानुसार हस्तक्षेप करती रहे। इसके अतिरिक्त वे यह भी चाहते थे कि सर्वोच्चता की ऐसी सटीक व्याख्या की जाए जिसके द्वारा ब्रिटिश भारत में किसी उत्तराधिकारी सरकार के हाथ में सर्वोच्चता के संभावित अन्तरण की स्थिति में उन्हें सरक्षण मिल सके। नरेशों द्वारा की गई इन माँगों के कारण ब्रिटिश सरकार के लिए यह स्पष्ट करना आवश्यक हो गया कि सर्वोच्च सत्ता के मुकाबले में नरेशों की क्या हैसियत थी। जब 1926 में निजाम ने बरार (जो कि कर्जन के वाइसराय रहने के समय में 25 लाख के वार्षिक किराए पर ब्रिटिश सरकार को स्थायी रुप से दे दिया गया था) को वापस दिए जाने की माँग करने के साथ–साथ अन्दरुनी मामलों में स्वतन्त्रता और ब्रिटिश सरकार से बराबरी का दर्जा दिए जाने की भी माँग की तो वाइसराय लॉर्ड रीडिंग ने यह जोर देकर कहा कि भारत में क्राउन की संप्रभुता सर्वोच्च है और कोई देशी नरेश ब्रिटिश सरकार की बराबरी का दावा नहीं कर सकता था। उन्होंने कहा कि ब्रिटिश सरकार की सर्वोपरिता केवल सन्धियों और समझौतों पर आधारित नहीं थी वरन उसका स्वतन्त्र अस्तित्व है। सम्पूर्ण भारत में शान्ति और सुव्यवस्था कायम रखना उसका अधिकार ही नहीं, कर्त्तव्य भी है। अतः क्राउन की सर्वोपरिता में भारतीय राज्यों के अन्दरुनी मामलों में हस्तक्षेप करने का ब्रिटिश सरकार का अधिकार क्राउन की सर्वोपरिता में अन्तर्निहित था। इससे प्रकट है कि सर्वोच्च सत्ता कितनी सर्वशक्तिमान थी।

इसी प्रकार, जब इंडियन स्टेट्स कमेटी की कार्यवाही के दौरान यह आश्वासन देने की माँग की गई कि सर्वोच्चता की उत्पत्ति व्यवस्था एक शताब्दी से भी पहले की गई सन्धियों से हुई थी, तब कमेटी के सदस्य बटलर ने यह घोषित किया कि सर्वोच्च सत्ता का राज्यों से सम्बन्ध केवल सन्धियों पर आधारित कोई संविदात्मक सम्बन्ध नहीं है। यह एक जीवंत विकासशील [illegible]

नीतियों द्वारा निरुपित हुआ है। अतः कमेटी 1928 में इस निष्कर्ष पर पहुँची कि सर्वोच्चता सर्वोच्च ही रहनी चाहिए, उसे समय की बदलती हुई आवश्यकताओं के अनुसार स्वयं को अनुकूल बनाकर अथवा स्वयं को परिभाषित करके अपने दायित्वों को पूरा करना चाहिए।

इंडियन स्टेट्स कमेटी ने 1929 में यह सुझाव दिया कि यदि नरेशों के राज्यों में शासन व्यवस्था को लेकर जन–अशान्ति हो तो नरेशों के राज्यों में शासन व्यवस्था को लेकर जन–अशान्ति हो तो नरेशों से अपनी शासन व्यवस्था में परिवर्तन करने को कहा जा सकता था। इससे सर्वोच्चता में निहित स्वविवेक पर आधारित तत्त्व को एक नया आयाम मिला जिससे नरेशों को बहुत धक्का लगा। देशी राज्यों मे प्रातिनिधिक सस्थाओ के माध्यम से उत्तरदायी शासन कायम करने की इंडियन स्टेट्स पीपुल्स कॉन्फरेंस द्वारा की गई मॉग से भी नरेश भयग्रस्त हो गए। नरेशों ने सर्वोच्ता की सख्ती और लोक तन्त्र दोनों से बचने के लिए अखिल भारतीय संघ बनाए जाने के प्रस्ताव का सहरा लिया। लेकिन वे ऐसे किसी संघ में शामिल होने के लिए तभी तैयार होते जब सर्वोच्चता की ऐसी परिभाषा की जाए जिससे वे सन्तुष्ट हो। उन्हें यह डर था कि ब्रिटिश भारत में उत्तरदायी और प्रतिनिधिक संस्थाओं का विकास होने पर लोकमत के आधार पर निर्वाचित सदस्य गर्वनर–जनरल के साथ सत्ता में भागीदार हो जाएँगे। ऐसी स्थिति में भारत सरकार नरेशों के साथ बरताव करने में लोकमत से प्रभावित हो जाएगी। लेकिन वे ब्रिटिश भारत के वंशवर्ती होना नहीं चाहते थे।

अतः प्रस्तावित संघ में शामिल होने के लिए नरेन्द्र मंडल ने तीन शर्तें रखी

(1) संविधान में आवश्यक संरक्षण प्रदान किए जाँए,

(2) संन्धियों, सनंदों और समझौतों से मिले अधिकार अनुल्लघनीय बने रहे, और

(3) राज्यों की संप्रभुता तथा आन्तरिक स्वतन्त्रता और राज्यों के प्रति क्राउन के दायित्व अक्षुण्ण रहे।

लेकिन अंग्रेज इन माँगों को मानने की स्थिति में नहीं थे। उनका तर्क था कि ऐसे समय में जब ब्रिटिश भारत में निरंकुश–तन्त्र का खुला विरोध किया जा रहा हो, सर्वोच्च सत्ता के सुरक्षा प्रदान करने वाले प्रकार्य को कमजोर करना नरेशों के लिए आत्मघाती होगा। संघ बनाए जाने का विरोध इंग्लैंड के कट्टर अनुदानवादियों ने भी किया जिनका नेतृत्त्व कॉमन्स की सभा में विस्टन चर्चिल और लॉर्ड सभा में लॉर्ड सॉल्सबरी कर रहे थे। नरेशों को सबसे ज्यादा घबराहट इस बात से हुई कि काग्रेस ने उनकी शर्तों को मानने से इनकार कर दिया और उसने यह माँग की कि राज्यों की प्रजा को उनके मौलिक अधिकारों की गारन्टी दी जाए और संघीय विधायिका में राज्यों का प्रतिनिधित्व निर्वाचन के आधार पर हो। स्टेट्स पीपुल्स कॉन्फरेंस के प्रतिनिधियों ने भी कांग्रेस से यह स्पष्ट आशवासन माँगा कि वह ऐसा संघीय संविधान स्वीकार नहीं करेगी जिसमें राज्यों के प्रतिनिधियों के निर्वाचन और मौलिक अधिकारों की गारंटी का प्रावधान न हो। नरेश भी अपनी माँगों पर उतने ही जोर से अड़े रहे। वे न तो अपनी प्रजा को मौलिक अधिकारों की कोई गारन्टी देने को तैयार थे और न ही इस बात के लिए तैयार थे कि संघीय विद्यायिका में उनके प्रतिनिधि लोकमत के आधार पर निर्वाचित हो।

सरकारी श्वेतपत्र में नरेशों के लिए जो भूमिका निर्धारित की गई थी उसकी कांग्रेस अध्यक्ष राजेन्द्र प्रसाद ने कड़ी आलोचना की। श्वेतपत्र में संघीय विधायिका में राज्यों के प्रतिनिधियों के मनोनयन तथा प्रजा के मौलिक अधिकारों की कोई गारन्टी दिए बिना नरेशों के निरंकुश शासन को जारी रखने का प्रावधान था।

संघ के गठन के बारे में नरेशों से हुई वार्ता सफल नहीं हुई क्योंकि जून 1939 में नरेशों ने यह घोषणा की कि वे संघ के विषय में सरकार की पेशकश की शर्तें स्वीकार नहीं करेंगे, क्योंकि उन शर्तों से उन गैर–संघीय अधिकारों का पर्याप्त संरक्षण नहीं होता था जो उन्हें संधियों के अन्तर्गत प्राप्त थे। गाँधी और जमना लाल बजाज द्वारा क्रतशः राजकोट और जयपुर में चलाए गए दो सिवनय अवज्ञा आन्दोलनों और उनसे पूर्व अक्टूबर 1937 में मैसूर में चलाए गए आन्दोलन से नरेशों को यह यकीन हो गया कि इन आन्दोलनों का मतव्य राज्यों को लोकतन्त्र लाने के लिए मजबूर करना था ताकि राज्यों के निर्वाचित प्रतिनिधियों की सहायता से कांग्रेस संघीय विधायिका में बहुमत प्राप्त कर सके और संघीय मंत्रिपरिषद में सत्ता प कब्जा कर सके। राज्यों के प्रति कांग्रेस की नीति का यह त्रुटिपूर्ण विश्लेषण था राज्यों में उत्तरदायी सरकारों के गठन का समर्थन करते हुए कांग्रेस ने यह भी घोषणा की थी कि राज्यों में लोकतांत्रिक संघर्ष चलाने की जिम्मेदारी, आवश्यक रुप से, स्वयं राज्यों की जनता को लेनी चाहिए। दूसरे गोल मेज सम्मेलन में गाँधी द्वारा दी गई हिदायतों के अनुसार कांग्रेस ने यह निर्णय किया था कि ब्रिटिश भारत में अपने संघर्ष में विजयी होने के बाद ही वह राज्यों के साथ मजबूती से निबटेगी। बाद की घटनाओं से यह प्रकट हुआ कि नरेशों का यह विश्वास गलत था कि उनके अधिकारों और हितों की रक्षा के लिए सर्वोच्च सत्ता हमेशा बनी रहेगी।

1939 तक यह स्पष्ट हो गया कि साम्राज्य के सहयोगी मित्रों की अपनी भूमिका में नरेश विफल हो गए थे। अहस्तक्षेप की नीति के कारण उनकी ऐसी भूमिका निभाने की क्षमता पूर्णतः नष्ट हो गई थी। उनके द्वारा संघ का प्रस्ताव नामंजूर किए जाने का परिणाम यह हुआ कि अंग्रेज ऐसी स्थिति में नहीं रहे जिसमें वे भारतीय संविधान में ऐसा अनुच्छेद शामिल करा पाते जो भारत में ब्रिटिश

शासन को कायम रखने का समर्थन करता। लेकिन निर्णायक और महत्त्वपूर्ण तथ्य तो यह था कि राष्ट्रवाद और लोकतन्त्र का एक ऐसा ज्वार आ रहा था जिससे देशी रियासती व्यवस्था के अस्तित्व को ही खतरा था। राज्यों की प्रजा नरेशों की निरंकुश शक्तियों के प्रति शंका ही नहीं वरन खुला विरोध भी प्रकट करने लगी। अस्तक्षेप की नीति ने नरेशों को सुरक्षा तो प्रदान की किन्तु उन्हें ब्रिटिश भारत की राजनीतिक घटनाओं की मुख्य धारा से अलग–थलग कर दिया। इससे उनमें सुरक्षित होने का भ्रम बना रहा और उन्हें यह विश्वास करने के लिए प्रोत्साहन मिला कि सर्वोच्च सत्ता, हर हालत में, उनके अनिश्चित अस्तित्त्व को बनाए रखने के लिए बाध्य थी। लकिन उनमें इतनी दूरदर्शिता नहीं थी कि वे यह कल्पना कर पाते कि सर्वोच्च सत्ता स्थायी नही थी, और स्वय उनके पास ऐसी राजनीतिक शक्ति नहीं थी जिसके द्वारा वे ब्रिटिश संरक्षण हटने के बाद अपने अस्तित्व को कायम रख पाते। यद्यपि अंग्रेजो का कहना था कि वे सर्वोच्चता का हस्तांतरण नहीं कर सकते थे, लेकिन वे इस तथ्य से भी इनकार नहीं कर सकते थे कि उनकी उत्तराधिकारी भारतीय सरकार ही नई सर्वोच्च सत्ता होगी। 1947 में रियासतों के विलय के दस्तावेज उन सन्धियों के ही समान थे जो अंग्रेजों ने उनके साथ की थी।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि अंग्रेजों ने अहस्तक्षेप की नीति अपनाकर और सुधारों के लिए राज्यों को मजबूर करने में इनकार कर वस्तुतः उन्हें विनाश की नियति से अभिशप्त कर दिया। जो नरेश कुछ नहीं करते थे उनकी अपेक्षा ऐसे नरेशों से ज्यादा परेशानी महसूस की जाती थी जो बहुत कुछ करना चाहते थे। कोचीन के रवि वर्मा, त्रावणकोर के विशाखन तिरुनल और बड़ौदा के गायकवाड जैसे योग्य, प्रगतिशील और नए प्रयोग करने वाले नरेशों को अपना प्रशासन स्वतन्त्रता से चलने नहीं दिया गया। ब्रिटिश भारत से भेजे गए और राज्यों में नियुक्त किए गए पूर्णतः नियन्त्रित और अनुदारवादी अफसर शाहों ने किसी भी प्रकार के नए प्रयोग और सुधारात्मक उपाय नहीं किसी भी प्रकार के नए प्रयोग और सुधारात्मक उपाय नहीं करने दिए। 1930 के दशक तक राजनीतिक विभाग बटलर के उस स्वप्न से प्रभावित रहा जिसमें देशी राज्यों को ब्रिटिश भारत की राष्ट्रीयता और लोकतन्त्र के विपरीत प्रतिभार के रुप में देखा गया था। अफसरशाही अखिल भारतीय संघ की योजना के विरुद्ध थी और समय बीतने के साथ उसका यह विरोध खुले विद्रोह में बदल गया। वाइसराय से लेकर वरिष्ठ सरकारी प्रवक्तओं की ओर से नरेशों को संघ में शामिल होने के विरुद्ध निजी तौर पर चेतावनियाँ दी गई नरेशों के सुधार–विरोध को न केवल सहन किया गया वरन प्रोत्साहित भी किया गया। 1930 के दशक के अन्त तक प्रजा मंडलों और कुछ कांग्रेस जनो के बढ़ते हुए आन्दोलन के परिणामस्वरुप नरेश अपनी शान–शौकत मे अलग–अलग रहने के कारण कहीं के न रहे।

1858 के बाद के वर्षो में नरेशों के प्रति अंग्रेजों की नीति में दो अन्तविरोधी तत्त्व रहे–जहाँ एक ओर एकल कार्यभार रखने का प्रयत्न किया गया वहाँ दूसरी ओर राज्यों को राष्ट्रीयता विरोधी प्रतितोलक के रुप में प्रयोग किया गया। दोनों तत्त्वों के बीच उतनी ही विसंगति थी जितनी ब्रिटिश भारत में लोकतन्त्र पर आधारित स्वशासन और राज्यों के निरुकुश शासन के बीच राज के विश्वसनीय विकल्प के रुप में उदय हुआ वहाँ निरंकुश नरेशों को अपनी–अपनी मौज के अनुसार शासन करे दिया गया। इस नीति के बार मे ठीक ही कहा गय है कि "नरेशों को मेहरबानी करके मारा गया'। इस प्रकार अहस्तक्षेप की नीति के कारण नरेशों की किस्मत का फैसला 1935 से भी बहुत पहले हो गया था। लॉर्ड मिन्टो के समय से अंग्रेजों ने ऐसे प्रतितोलक को बनाए रखा जा उस काल मे दोषपूर्ण था तथा जो ब्रिटिश भारत में लोकतन्त्र के चढ़ते हुए ज्वार के सामने टिक नहीं सकता था। दो प्रकार के भारतों के सहअस्तित्व का, जिनमें से एक में निर्वाचन पर आधारित लोकतन्त्र की प्रगति हो रही थी और दूसरे में वैयाक्तिक निरंकुशतन्त्र प्रचलित था, अन्त होना अवश्यभावी था। 1947 से बहुत पहले ही भारत की देशी रियासतों का समय बीत चुका था, उनका कोई भविष्य नही रही गया था और विनाश ही उनकी नियति बन गई थी।

जिस काल की हम चर्चा कर रहे है उस काल में भारतीय राज्यों के प्रति अंग्रेजों की नीति शुरु से ही दोषपूर्ण थी। सर्वपल्ली गोपाल का कहना है कि वह ऐसी नीति थी जिसमें कोई संभावना नही थी। 'राज' को ऐसे लोगों की निष्ठा से मजबूत करने के प्रयत्न का विफल होना अवश्यभावी था जो गुजरे जमाने के लोग थे। भविष्य उन वर्गो के हाथों में था जो सामन्तवादी नहीं थे, विशेषकर जो मध्यम वर्ग के थे। यह गलत अनुमान, गलत मान्यता पर आधारित दृष्टिहीन नीति थी। मरणासन्न रियासती व्यवस्था जिकी वास्तविक सत्ता छिन्न हो चुका थी, राष्ट्रवाद और लोकतन्त्र के बढ़ते हुए तूफान को रोकने में पूर्णतः अक्षम थी।

(b) आंग्ल-अफगान सम्बन्ध :

सीमा की सुरक्षा की समस्या : भारत में ईस्ट–इण्डिया कम्पनी के राज्य का विस्तार दक्षिण और पूर्व से शुरु हुआ था। धीरे–धीरे उसका पूर्व से पश्चिम तथा दक्षिण से उत्तर की ओर विस्तार होने लगा और उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य आने से पहले कम्पनी राज्य की सीमा सतलुज नदी तक पहुँच गयी। इस कारण कम्पनी सरकार के समक्ष सीमा की सुरक्षा की एक नयी समस्या उत्पन्न हो गयी। इंग्लैंड की सामुद्रिक शक्ति बहुत प्रबल थी। अतएव, सामुद्रिक मार्ग से उसके भारतीय साम्राज्य पर आक्रमण होने का कोई भय नहीं था, लेकिन उत्तर के पश्चिम पर्वतीय मार्ग से, जिधर से भारत पर अभी तक विदेशी हमले हुए थे, खतरे की सम्भावना निरन्तर बढ़ रही थी। अतएव कम्पनी सरकार के लिए इस ओर ध्यान देना आवश्यक था।

1815 में वाटरलू के मैदान में नोपोलियन अन्तिम रुप से हरा दिया गया। नेपोलियन के पतन के साथ फ्रांसीसी खतरे से मुक्त हो गये लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं कि अंग्रेजों को अब किसी यूरोपीय शक्ति का भय नही रहा। फ्रांसीसी खतरे के अन्त होने पर अंग्रेजों के सामने एक नया खतरा उपस्थित हुआ। यह था रुस का खतरा। उन्नीसवीं सदी के आरम्भ में रुस ने पूर्व में अपने साम्राज्य का विस्तार करने का निश्चय किया जिसके फलस्वरुप रुस और इंग्लैंड में गम्भीर साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्धा चल पड़ी। रुस की महत्त्वाकांक्षा ने अंग्रेजी सरकार की नींद हराम कर दी। कम्पनी सरकार रुस की उदीयमान शक्ति कारण बहुत चिंतित हो गयी। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों से ही मध्य ऐशिया होकर अफगानिस्तान की ओर बढ़ता आ रहा था। इससे अंग्रेजों के भारतीय साम्राज्य पर संकट उपस्थित हो गया था। अपनी उदार नीति को सफल बनाने के उद्देश्य से रुस ने 1813 में फारस के साथ सन्धि की। अंग्रेजों के कान खड़े हुए। रुस के प्रभाव को सीमित करने के लिए कम्पनी सरकार को बहुत से कूटनीतिक और सैनिक कार्य करने पड़े। निस्संदेह रुस को अपनी एशियाई महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए सुदूर मास्को से अफगानिस्तान होकर भारत आना अत्यन्त ही कठिन काम था। फिर भी, रुस की गतिविधि से अंग्रेजी सरकार आंतकित हो गयी थी।

प्रत्येक भारतीय सरकार के लिए उत्तर–पश्चिम सीमा एक महत्त्वपूर्ण समस्या रही है, क्योंकि इसका सामारिक महत्त्व अत्याधिक है। अफगानिस्तान तथा सिन्धु नदी के बीच पहाड़ी भू–भाग उत्तर–पश्चिम सीमा का कार्य करता है। अतः राजनीतिक दृष्टिकोण से अफगानिस्तान का एक विशिष्ट महत्त्व है। प्रत्येक भारतीय शासन के लिए अपने देश की सुरक्षा हेतु अफगानिस्तान के साथ सीधा राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित करना आवश्यक–सा था। अफगानिस्तान से ही नादिरशाह तथा अहमदशाह अब्दाली के आक्रमणों ने लड़खड़ाते मुगल साम्राज्य की जड पर कुठारा घात किया था और मराठों की उदीयमान शक्ति को गहरी चोट पहुचायी थी। जब कम्पनी का राज्य उत्तर–पश्चिम में बढ़ते –बढ़ते सतलुज तक पहुँच गया, तो कम्पनी सरकार के लिए अफगानिस्तान के साथ राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित करना अनिवार्य हो गया। इस हालत में उन्हें अब इस बात की आशंका हुई की यदि अफगानिस्तान के शासक इनके मित्र न हों तो रुस के समान शक्तिशाली शत्रु का भारत में प्रवेश करना सरल हो जायेगा। इस समय रुस मध्य एशिया की ओर अग्रसर हो चुका था तथा उसके राज्य की सीमाएं अफगानिस्तान के समीप पहुँचने लगी थी। इस कारण अंग्रेजों की अफगान नीति का जन्म हुआ।

अग्रगामी और अकर्मण्यता की नीति : अंग्रेजों की अफगान नीति के निर्धारण में दो विचारधाराएं सक्रिय थीं। एक अग्रगामी नीति और दूसरी अकर्मण्यता की नीति। जो लोग अफगानिस्तान के प्रति अग्रगामी नीति का अवलम्बन करना चाहते थे। उनके तर्क का आधार यह था कि इस निश्चित रुप में भारत पर आक्रमण करने की योजना बना रहा है। इस कारण कम्पनी सरकार (बाद में भारत सरकार) को आगे बढकर उसका सामना करना चाहिए। उनकी दृष्टि में अफगानिस्तान और फारस के राज्यों का भारतीय साम्राज्य की सुरक्षा के लिए बड़ा महत्त्व था, क्योंकि ये दोनों राज्य भारत की उत्तरी–पश्चिमी सीमा पर स्थित थे और इसी मार्ग से रुसियों के भारत प्रवेश की आशंका थी। अग्रगामी नीति के समर्थको का कहना था कि भारत सरकार को इन राज्यों से सन्धिया करनी चाहिए और यदि रुस आक्रमण करे तो अफगानिस्तान या फारस की सीमाओं पर उसका मुकाबला करना चाहिए। यह काम तभी सम्भव था जब इन राज्यों विशेषकर अफगानिस्तान का शासक कोई ऐसा व्यक्ति हो जा पूर्णतया अंग्रेज के प्रभाव में रहे और उनकी इच्छा के अनुसार कार्य करे। ओटोमन साम्राज्य की ओर रुस की प्रगति में निरन्तर बाधा उपस्थित करता रहता था। इस कारण रुस ने जान–बुझकर फारस और अफगानिस्तान की ओर अपना दबाव बढ़ा दिया था। अतः पूर्व की ओर से रुस की प्रगति को रोकने के लिए यह आवश्यक था कि ब्रिटेन यूरोप में रुस के साथ कोई समझौता करे। अफगानिस्तान के मामले में हस्तक्षेप करने से कोई फायदा नही होगा। इसलिए भारत सरकार वहां के प्रत्येक शासक को स्वीकार करे और उसके साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध कायम करने का प्रयास करे। उन्हें न तो किसी सन्धि पर हस्ताक्षर करने के लिए और न अपनी राजधानी में एक अंग्रेज प्रतिनिधि रखने के लिए ही बाध्य किया जाये। कुछ दिनों तक अंग्रेजों ने अफगानिस्तान के प्रति इसी नीति का अवलम्बन किया। फलतः अंग्रेजों और

अफगानिस्तान के बीच ऐसे समय में कोई युद्ध नहीं हुआ परन्तु अफगान के अमीर इस नीति से भी प्रसन्न नही हुए। अफगानो ने हमेशा अंग्रेजों को शंका की दृष्टि से देखा और उनकी सद्भावना पर कभी फरोसा नहीं किया।

भारत सरकार ने अफगानिस्तान के प्रति समय–समय पर उपर्युक्त दोनों ही नीतियों का अवलम्बन किया। अवसर के अनुसार जो भी नीति अधिक लाभदायक प्रतीत हुई उसी का उपयोग उन्होंने किया।

प्रथम अफगान युद्ध (1839–42) : अफगान राज्य का निर्माता अहमदशाह अब्दाली था। वह बड़ा महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति था और कम्पनी के अधिकारी उसके आक्रमण के भय से त्रस्त रहते थे, किन्तु अंग्रेजों के सौभाग्य से पानीपत की तीसरी लड़ाई के बाद अब्दाली अनेक कारणों से भारत में पूरब की ओर न बढ़ सका। उसके उत्तराधिकारी अत्यन्त कमजोर हुए। इसलिए कम्पनी पर किसी तरह का संकट उपस्थित नहीं हुआ। बाद में जब जामाशाह अफगानिस्तान का शासक बना तो उसके भारत–आक्रमण की आशंका ब्रिटिश गर्वनर जनरलों को सदैव बैचेन करती रही। वह लाहौर की ओर बढ़ चुका था और अंग्रेजों के शत्रु टीपू सुल्तान ने उसे भारत पर आक्रमण करने के लिए आमंत्रित भ किया था, किन्तु अंग्रेजों के सौभाग्य से यह खतरा भी किसी तरह टल गया।

दोस्त मोहम्मद की कठिनाइयाँ : 1803 में काबुल की गद्दी पर शाहशुजा बैठा। उसके कुछ ही दिनों बाद अफगानिस्तान मे भयंकर ग्रह–कलह शुरु हो गया। अन्त में 1826 में दोस्त मुहम्मद नामक एक प्रतिभाशाली अमीर ने शाहशुजा को पदच्युत करके स्वय अफगानिस्तान के राज्य की बागडोर सम्हाली। शाहशुजा अंग्रजों की शरण में भारत भाग आया और लुधियाना में अंग्रेजो के पेन्शन–शोक्ता के रुप में रहने लगा तथा अंग्रेजों और रणजीत सिंह की सहायता सक काबूल को पुनः प्राप्त करने की येजनाएँ बनाने लगा। 1834 में उसने इन दोनों की सहायता से काबूल की गद्दी पर कब्जा करने का प्रयास किया था किन्तु उसको सफलता नही मिली। इस समय रणजीत सिंह और दोस्त मुहम्मद में भयंकर शत्रुता उत्पन्न हो गयी थी। रणजीत सिंह ने पेशावर पर अपना अधिकार कर लिया था जिसे दोस्त मुहम्मद फिर अपने अधिकार में लाना चाहता था। उधर शाहशुजा अंग्रेजों के सुरक्षण में था। इसलिए दोस्त मुहम्मद को अंग्रेजों की ओर से भी सशकित रहना स्वाभाविक था।

दोस्त मुहम्मद की कठिनाई यहीं तक सीमित नही थी। दूसरी तरफ से रुस और फारस का भय भी उसे आतंकित किय हुए था। 1833 में मुहम्मद मिरजा फारस का शाह बना। वह रुस का परम मित्र बन गया और उसके प्रभाव में रुसी प्रभाव बढने लगा। रुस उसको हथकंडा बनाकर अफगानिस्तान पर अपना प्रभाव फैलाने का प्रयास कर रहा था। इसलिए 1837 में रुस के चढाने–बढाने पर मुहम्मद मिरजा ने हेरात का घेरा डाल दिया। हेरात अफगानिस्तान के कब्जे में था और इसका सामरिक महत्त्व बहुत अधिक था। यद्यपि अंग्रेजों की मदद से अफगानों ने फारस के आक्रमण को विफल बना दिया, लेकिन इस घटना ने रुसी महत्त्वाकाक्षा को एकदम स्पष्ट कर दिया।

इस प्रकार दोस्त मुहम्मद बड़ी ही संकटापन्न स्थिति में आ गया था। पश्चिम की ओर से रुस तथा फारस के सयुक्त आक्रमण की तथा पूर्व की ओर से शाहशुजा, अंग्रेज तथा रणजीत सिंह के संयुक्त आक्रमण की सम्भावना उत्पन्न हो गयी और वह इस बात का अनुभव करने लगा कि चक्की के दो पाटों के बीच में पड़ गया है। और, यदि वह एक पाट का प्रयोग दूसरे के विरुद्ध नहीं करता है तो वह निश्चय ही पिस जायेगा।

ऑकलैण्ड की नीति : इस जटिल समस्या में अंग्रेजों की स्थिति भी कोई अच्छी न थी। अफगानिस्तान के प्रति किस तरह की नीति का अवलंबन किया जाये यह स्पष्ट हो रहा था। रुस के प्रसार का भय दिनो–दिन बढ़ रहा था और उसका विरोध करना आवश्यक था। इसके लिए अफगानिस्तान के साथ दौत्य सम्बन्ध स्थापित करना तथा उसे अपना मित्र बनाना जरुरी था। यह काम दो तरह से किया जा सकता था–या तो दोस्त मुहम्मद को मित्र बनाकर उसके साथ शान्तिपूर्ण राजनयिक सम्बन्ध स्थापित किया जाता और यदि योजना असफल होती तो युद्ध द्वारा मुहम्मद को काबुल की गद्दी से हटाकर उसके स्थान पर शाहशुजा को अफगानिस्तान का शासक बनाकर उसके साथ राजनयिक सम्बन्ध स्थापित किया जाता, लेकिन दुर्भाग्यवश गर्वनर जनरल लॉर्ड ऑकलैण्ड ने इन दोनों उपायों का एक साथ अवलम्बन करना शुरु किया।

दोस्त मुहम्मद की नीति : इस समय दोस्त मुहम्मद जिस संकटपूर्ण स्थिति में था। उसको एक शक्तिशाली मित्र की आवश्यकता थी। सर्वप्रथम वह मित्रता करने के लिए अंग्रेजों की ओर झुका क्योंकि रुस तथा फारस सम्मिलित होकर अफगानिस्तान की ओर बढ़ने की योजना बना रहे थे। जब लॉर्ड ऑकलैण्ड भारत आया तब दोस्त मुहम्मद ने मैत्री का संदेश भी भेजा, किन्तु अग्रजों की मैत्री के बदले वह चाहता था कि पेशावर, जिस पर महाराजा रणजीत सिंह ने प्रभुत्व स्थापित कर लिया था, पुनः उसको मिल जाय। अंग्रेज लोग महाराजा रणजीत सिंह को क्रुद्ध करने को प्रस्तुत नहीं थे। इस कारण दोस्त मुहम्मद से सन्धि नहीं हो सकी। विवश होकर दोस्त मुहम्मद से सन्धि नहीं हो सकी। विवश होकर दोस्त मुहम्मद ने रुस एवं फारस से मित्रता की वार्ता आरम्भ कर दी। यद्यपि दोस्त मुहम्मद एक स्वतन्त्र राज्य का अमीर था और उसे अधिकार था कि वह किसी भी देश के साथ मित्रता करे परन्तु अग्रेज यह सहन नहीं कर सकते थे।

बर्न्स मिशन : अब अंग्रेजों की बेचैनी बढ़ी। उन्हें इसमें भारतीय साम्राज्य की सुरक्षा तथा आन्तरिक शान्ति के लिए प्रत्यक्ष खतरा नजर आने लगा। उस समय पामर्स्टन ब्रिटिश विदेश मन्त्री था। वह कट्टर साम्राज्यवादी और रुस का विरोधी था। उसने कम्पनी सरकार को उस क्षेत्र में रुस की महत्वाकांक्षा को रोकने तथा अंग्रेजी प्रभाव को बढ़ाने का आदेश दिया। 1837 में ऑकलैण्ड एलेक्जेन्डर बर्न्स नामक एक व्यक्ति को काबुल भेजा। बर्न्स के सामने अफगान–अमीर ने अंग्रेजों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने की इच्छा प्रकट की लेकिन वह एक ही बात चाहता था कि अंग्रेज शाहशुजा और रणजीत सिंह की सहायता नहीं करें और उनके विरुद्ध उसकी मदद करें। रणजीत सिंह उस समय अंग्रेजों का दोस्त था। उसको वे नाराज करना नहीं चाहते थे। अतः ऑकलैण्ड ने दोस्त मुहम्मद की इस शर्त को भी ठुकरा दिया। बर्न्स का मिशन असफल रहा। 1838 में वह काबुल से लौट गया। अब दोस्त मुहम्मद फिर रुस और फारस की तरफ मुड़ा। काबुल में रुसी दूतों का स्वागत–सत्कार होने लगा।

परन्तु इसी बीच अंग्रेजों को फारस और रुस के सम्बन्धों के बारे में काफी सफलता मिल गयी। ब्रिटिश प्रतिनिधि मेकनेल को निराश होकर फारस छोडना पड़ा था। उसकी सलाह पर लॉर्ड आकलैण्ड ने फारस की खाड़ी में एक नौ–सेना भेज दी थी। ब्रिटिश सरकार ने भी अत्यन्त कठोर शब्दों में फारस से हिरात का घेरा हटा लेने की मांग की। इससे फारस भयभीत हो उठा और 9 सितम्बर, 1838 को हिरात का घेरा हटा दिया। अंग्रेजों ने रुस पर भी दबाव डाला और अन्त में रुस ने फारस और अफगानिस्तान दोनों जगहों से अपने प्रतिनिधियों को वापस बुला लिया। इस बदली हुई परिस्थिति में अंग्रेजां का भारत पर आक्रमण का कोई भय नहीं रह गया। अब ऑकलैण्ड ने अपनी नीति बदल दी। उसने दोस्त मुहम्मद को गद्दी से हटाकर शाहशुजा को अफगानिस्तान का अमीर बनाने का निश्चय किया।

त्रिदलीय सन्धि : ऑकलैण्ड ने दोस्त मुहम्मद को सिंहासन से हटाकर उसके स्थान पर शाहशुजा को वहां के सिंहासन पर बैठाने का निश्चय किया। इंग्लैड की सरकार इस नीति से पूर्णतया सहमत थी। रणजीत अंग्रेजों, रणजीत सिंह तथा शाहशुजा में एक सन्धि हो गयी। इस सन्धि के अनुसार यह निश्चय किया गया कि शाहशुजा काबुल का अमीर बना दिया जाये और शाहशुजा ने यह वचन दिया कि अफगानिस्तान का शासक बन जाने पर अंग्रेजों तथा रणजीत सिंह की स्वीकृति के बिना वह किसी विदेशी शक्ति के साथ सम्बन्ध न रखेगा और यदि कोई सेना अफगानिस्तान में प्रवेश करेगी तो वह रोकने का प्रयत्न करेगा। शाहशुजा ने सिन्ध के अमीरों तथा रणजीत सिंह के अधिकृत अफगानिस्तान के प्रदेशों से भी अपना अधिकार त्याग दिया और काबूल में एक ब्रिटिश रेजिडेण्ट रखने का वचन दिया। प्रथम अफगान युद्ध इसी सन्धि का परिणाम था।

प्रथम अफगान युद्ध : इसी साल पहली अक्टूबर को लॉर्ड ऑकलैण्ड ने शिमला से एक घोषणा पत्र जारी किया जो युद्ध जो युद्ध की ही घोषणा थी। युद्ध की आवश्यकता पर जोर देते हुए उसने कहा–"इस घोषणा का उद्देश्य है कि अफगानिस्तान के पूर्वी प्रान्तों में एक शत्रु–शक्ति के स्थान पर मित्र–शक्ति का स्थापना हो और हमारी उत्तर–पश्चिम सीमाओं पर आक्रमण की योजनाओं के विरुद्ध स्थायी दीवार कायम हो। "इसके बाद शीघ्र ही युद्ध शुरु हो गया। अब लॉर्ड आकलैण्ड के सामने पहली समस्या यह थी कि अंग्रेजी सेनाओं को किस मार्ग से भेजें–पंजाब के मार्ग से अथवा सिन्ध के मार्ग से भेजने का निश्चय किया गया। सिन्ध के अमीरों ने इसका विरोध किया क्योंकि यह योजना उनके साथ की हुई सन्धि के विरुद्ध थी। उनके साथ जो सन्धि की गयी थी उनके द्वारा यही निश्चित हुआ था कि सिन्धु नदी के मार्ग से अंग्रेज केवल व्यापारिक जहाज भेजेंगे वे सेनाएँ नहीं भेज सकते थे। परन्तु आकलैंड ने अमीरों पर दबाव डालकर इस समस्या को किसी प्रकार हल कर लिया। फलतः मार्च, 1839 को अंग्रेजी सेना ने सिन्ध के मार्ग से अफगानिस्तान के लिए प्रस्थान कर दिया। आक्रमण करने वाली इस सेना को 'सिन्ध की सेना' के नाम से पुकारा गया और सर जॉन कीन इसका सेनापति बनाया गया।

इसमें कोई शक नही कि ऑकलैण्ड ने जिस घोषणा के द्वारा इस युद्ध को प्रारम्भ किया उसकी अधिकांश बातें सरासर झूठ थी। घोषणा में हिरात का घेरा डालना भी युद्ध का एक कारण बताया गया था जबकि फारस सितम्बर में ही हिरात का घेरा उठ चुका था। इस प्रकार यह घोषणा–पत्र और इसमें विश्लेषित युद्ध के कारण सर्वथा झूठे थे। वास्तव में, अंग्रेजों के पास युद्ध का कोई कारण नही था। ऑकलैण्ड ने अपना मूल उद्देश्य तो 8 नवम्बर के आदेश पत्र में बताया कि अफगानिस्तान पर आक्रमण इस कारण आवश्यक है कि पूर्वी अफगानिस्तान से विरोधी शक्ति को हटाकर एक मित्र को गद्दी पर बैठाया जाये जिससे हमारी उत्तर–पश्चिम सीमाओं की सुरक्षा हो सके लेकिन इसमें अंग्रेजों का नैतिक पक्ष एक दम दुर्बल था। दोस्त मुहम्मद एक योग्य शासक और अपनी प्रजा का प्रिय था। अतः गद्दी पर नैतिक अधिकार उसी का था शाहशुजा पर अंग्रेजों का कोई अधिकार नहीं था। मैकनाटन के शब्दों में, "उसेगद्दी से हटाने में हमारा कोई हाथ नहीं था जबकि हमने अपनी नीति का समर्थन करते हुए दोस्त मुहम्मद को बाहर निकला दिया। जिसने हमें कोई हानि नहीं पहुंचायी थी और जो हमारी नीति का शिकार हुआ था।"

सैनिक दृष्टि से अंग्रेजों की इस युद्ध में असफलता स्पष्ट थी। ऑकलैण्ड ने अफगानिस्तान की कठिन भौगोलिक स्थिति तथा अफगानों की युद्ध प्रिय प्रवृति पर जरा भी ध्यान नहीं दिया। केई लिखता है कि "प्रत्येक राजनीतिक और सैनिक दृष्टिकोण के विरुद्ध यह युद्ध आरम्भ किया गया था तथा अनेक द्वारा नैतिक आधार के विरुद्ध आरम्भ हुए इस युद्ध की असफलता घोषित की गयी थी; क्योंकि

उसके मूल आधार में अन्याय था। इस कारण यदि वह आरम्भ में सफल भी हो जाता तब भी उसका अन्त असफलता और [illegible] में होना ही था"। वस्तुतः भारत के अंग्रेजी राज्य के इतिहास में यह अंग्रेजो की सबसे बडी भूल थी।

अफगानिस्तान में प्रवेश करके अप्रैल, 1839 में गजनी भी उसके कब्जे में आ गया। दोस्त मुहम्मद वीरता पूर्वक लडा, लेकिन अपने पराजय निश्चित जानकर उसने नवम्बर, 1839 में आत्मसमर्पण कर दिया शाहशुजा ने काबुल मे प्रवेश किया। कई ने लिखा है कि "अपने राज्य को प्राप्त करने वाला राजा का राजधानी में पुनः प्रवेश न होकर वह एक मुर्दे के जुलूस के समान था। दोस्त मुहम्मद को पकड़कर कलकत्ता भेज दिया गया तथा उसके स्थान पर शाहशुजा अफगानिस्तान का अमीर बना, लेकिन शीघ्र ही स्पष्ट हो गया कि शाहशुजा की सत्ता केवल अंग्रेजों की शक्ति पर ही निर्भर रह सकती है। स्वतन्त्रता– प्रेमी अफगान जगह–जगह पर विद्रोह करने लगे। इस कारण शाहशुजा की रक्षा के लिए अंग्रेजी सेना का एक भाग काबुल में छोड दिया गया। जनरल नाट कर्नल सर मैकनटन और बर्न्स भी काबुल में ही रह गये। बाकी अंग्रेजी सेना भारत वापस आ गयी।

अफगानों का विद्रोह : अंग्रेजो की सहायता से यद्यपि शाहशुजा अफगानिस्तान की गद्दी पर बैठ गया, लेकिन अफगानों की सहानुभूति उसे प्राप्त नहीं हो सकी। शाहशुजा से अफगान घृणा करते थे, क्योंकि उसने अपने देश को विदेशियों के हाथ सौंप दिया था। चूंकि व विदेशियों की सहायता से अमीर बना था और अंग्रेज अपनी सैनिक शक्ति से उसकी शक्ति को स्थापित करने का प्रयत्न कर रहे थे। अतएव, स्वतन्त्रता–प्रेमी और स्वाभिमानी अफगान उसके विरोधी हो गये।

ऐसी स्थिति में अंग्रेज भूल पर भूल करते गये। उन्होंने बाल हिसार का किला शाहशुजा को दे दिया और अग्रेजी सेना खुले मैदान में रहने लगी। इसके बाद अंग्रेजों ने अपने सैनिकों को काबुल, गजनी, कान्धार तथा जलालाबाद मेंवितरित कर दिया। वह भी बहुत बड़ी गलती थी, क्योंकि आवश्यकता पड़ने पर उन्हें जल्दी इकट्ठा नही किया जा सकता था। इसके अतिरिक्त अंग्रेज सैनिकों ने अफगान की स्त्रियों के साथ लज्जाजनक व्यवहार किया जिससे अफगान क्रुद्ध हो उठे और उन्होंने विद्रोह करके नवम्बर 1841 में कैप्टन बर्न्स की हत्या कर डाली। इस समय तक शाहशुजा भी अंग्रेजों के व्यवहार से तंग आ चुका था तथा वह अपने देश को मुक्त करना चाहता था। इसी समय समस्त अफगानिस्तानमें विद्रोहाग्नि प्रज्जवलित हो उठी तथा दोस्त मुहम्मद के पुत्र अकबर खां के नेतृत्त्व में उन्होंने अंग्रेजी सेनाओं का संहार करना आरम्भ कर दिय। जनरल नॉट यातायात के साधनों के अभाव में कन्धार से आगे बढ़ नहीं सका तथा जनरल सेल ने, जो गण्डमक में था, भयभीत होकर जलालाबाद की ओर प्रस्थान कर दिया। फलतः 23 नवम्बर को अफगान सेनाओं ने अंग्रेजों को वेमरु के स्थान पर बुरी तरह पराजित किया तथा जनरल मेकनाटन को अकबर खां के साथ सन्धि करने के लिए बाध्य होना पड़ा।

इस सन्धि के द्वारा यह तय हुआ कि अंग्रेज अफगानिस्तान छोड देंगे और दोस्त मुहम्मद पुनः काबुल की गद्दी पर बैठेगा। अंग्रेजो की स्वीकृति के बिना अफगान लोग किसी प्रकार की सन्धि नहीं करेंगे। इस सन्धि के बाद भी अफगानों ने मेकनाटन की हत्या कर दी सन्धि के अनुसार जनवरी 1842 में बहुत–सा सामान छोड़कर अंग्रेजी सेना काबुल से भारत के लिए खाना हुई। क्रुद्ध तथा विद्रोही अफगान उन पर टूट पड़े और गोलियों से ब्रिटिश सेना को भूनना आरम्भ कर दिया। "पीछे हटना पूर्ण पराजय बन गया और पूर्ण पराजय ने कत्लेआम का रुप धारण कर लिया।" काबुल से सोलह हजार व्यक्ति रवाना हुए थे। जिनमें केवल एक सौ बीस बच बचाकर जलालाबाद पहुंच सका। कम्पनी को भारत में कभी ऐसी भीषण सैनिक क्षति नहीं उठानी पड़ी थी। इस दुर्घटना से लॉर्ड ऑकलैण्ड की बड़ी बदनामी हुई। वह इंग्लैंड वापस बुला लिया गया और उसकी जगह पर लॉर्ड ऐलेनबरा भारत का गर्वनर जनरल होकर आया।

ऐलेनबरा की नीति : भारत पहुँचते ही लॉर्ड एलेनबरा ने कम्पनी की सेनाओं को अफगानिस्तान से हटा लेने का निर्णय किया लेकिन इसे साथ–साथ कम्पनी की वास्तविक शक्ति को भी दिखा देना चाहता था। इसके लिए यह आवश्यक था कि एक बार फिर अफगनिस्तान पर आक्रमण किया जाये और अफगानों से बदला लेकर अंग्रेजी सेना को लौटा दिया जाये। इस निष्प्रय के बाद अंग्रेजी फौज को गजनी तथा काबुल होते हुए वापिस आने का सुझाव दिया गया। रास्ते में ब्रिटिश सेना ने अफगानों को मार भगाया गजनी और काबुल पर अधिकार कर लिया। काबुल पर ब्रिटिश झण्डा फहराया और काबुल के बाजार को जो "मध्य एशिया के इस भाग में व्यापार का बड़ा केन्द्र" था, बारूद से उड़ा दिया गया। वहां के निवासियों को असीम कष्ट देकर अंग्रेजों ने पिछली घटना का बदला ले लिया। ऐलेनबरा ने स्वयं घटना का बदला ले लिया। ऐलेनबरा ने स्वयं फिरोजपुर से लौटती हुई सेना का स्वागत किया। 10 अक्टूबर 1842 उसने शिमला से एक घोषणा निकाली जिसमें ऑकलेण्ड की नीति की कटु आलोचना की। उसने स्पष्ट कर दिया कि "गर्वनर जनरल अफगानों के द्वारा स्वीकृत ऐसी सरकार को, जो पडोस के राज्यों के साथ शान्ति बनाये रखने की इच्छुक हो और उसके योग्य हो स्वेच्छा से स्वीकार करने को तैयार है।" दोस्त मुहम्मद मुक्त कर दिया गया और वह पुनः अफगानिस्तान का अमीर बना। अपनी मृत्यु तक वह अफगानिस्तान पर शासन करता रहा। उसके इस बर्ताव को देखकर यही कहना पड़ता है कि युद्ध में लाखों रुपये का अपव्यय और हजारों मनुष्य के प्राण व्यर्थ ही गवाये। जब फारस ने हिरात पर आक्रण किया, तब दोस्त मुहम्मद ने अंग्रेजो से सहायता मांगी। फलतः 1853 में अमीर और कम्पनी सरकार ने एक संधि हुई, जिसके अनुसार कम्पनी सरकार [illegible]

में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करने तथा अमीर के कम्पनी के साथ सदा मित्रता कायम रखने का वादा किया। अंग्रेजो ने धन-जन से फारस के विरुद्ध अमीर की सहायता की। 1863 में दोस्त मुहम्मद का देहान्त हो गया।

प्रथम अफगान युद्धका मूल्यांकन : प्रथम अफगान युद्ध में अंग्रेज अफगानिस्तान की स्वतन्त्रता अपहरण करने में सर्वथा असमर्थ रहे। इसलिए लॉर्ड ऑकलैण्ड की अफगान नीति की कटु आलोचना की गयी है। युद्ध में बीस हजार व्यक्ति मारे गये, लाखों खर्च हुए, लेकिन कम्पनी सरकार को कोई लाभ नहीं हुआ। इस युद्ध का प्रधान उद्देश्य था कि रुस के बढ़ते हुए प्रभाव के विरुद्ध एक मित्र-शक्ति की दीवार खड़ी की जाय किन्तु यह उद्देश्य पूरा नहीं हो सका। उल्टे, हजारों मनुष्यों के प्राण गये, बेशुमार धन खर्च हुआ। फिर भी अफगानिस्तान का प्रत्येक शहर और गांव अंग्रेजों के शत्रुओं से भरा ही रहा। केई ने ठीक ही बतलाया है कि "इतिहास के पृष्ठों में इतनी बड़ी और जबरदस्त असफलता का उल्लेख नहीं है। संसार के समूचे इतिहास में इतना बड़ा शानदार और प्रभावोत्पादक सबक कीं नहीं मिलता है। बुशुमार और निरर्थक धन के खर्च होने के फलस्वरुप भारतीय जनता कर के बोझ से वर्षो तक कराहती रही।

नैतिक दृष्टिकोण से भी इस युद्ध का किसी प्रकार समर्थन नहीं किया जा सकता है। सिन्ध के अमीरों के साथ की गयी सन्धि के विरुद्ध उनके राज्य में सेना भेजना बड़ा ही अनैतिक था। इससे सिद्ध हो गया कि अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए अंग्रेज कभी भी अपने वादे को तोड़ सकते है। इसके अतिरिक्त अफगनिस्तान का अमीर दोस्त मुहम्मद एक स्वतन्त्र शासक था तथा उसे किसी भी देश के साथ सन्धि अथवा मित्रता करने का अधिकार था। नैतिक दृष्टिकोण से अंग्रेजों का उसके साथ आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करना सर्वथा अनुचित था। इसके अतिरिक्त सर्वप्रथम दोस्त मुहम्मद ने ही अंग्रेजों से मित्रता तथा अंग्रेजों के व्यवहार से असन्तुष्ट होकर उसने रुस मैत्री सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास किया था। अतः अंग्रेजों को उसका विरोध करने का कोई उचित कारण नहीं था। लॉर्ड ऑकलैण्ड बलपूर्वक उस पर अधिकार नहीं था। वस्तुतः अफगानिस्तान पर आक्रमण करने का कोई उचित कारण नहीं था। लार्ड ऑकलैण्ड बलपूर्वक उस पर अधिकार करना चाहता था। शिमला के घोषणापत्र में उसने दोस्त मुहम्मद पर जो आरोप लगाये थे, उसमें सच्चाई बिल्कुल न थी।

राजनीतिक तथा कूटनीतिक दृष्टिकोण से भी यह आवश्यकता नहीं थी। इसके अतिरिक्त रुस का खतरा तात्कालिक नहीं था। रुस की सीमाएं अब भी अफगानिस्तान की सीमाओं से काफी दूर थी। यदि रुस आक्रमण भी करता तो कम्पनी की राज्य की सीमा पर सिन्ध, बहावलपुर तथा पंजाब के प्रबल राज्य थे और इनमें रुसी आक्रमण का सामना करने का क्षमता थी। इस समय तक परिस्थितियां भी बदल गयी थी। रूस ने फारस को प्रोत्साहन देना बन्द कर दिया था और हिरात का घेरा उठ चुका था। अतः अफगानिस्तान पर आक्रमण करके ऑकलैण्ड ने अपनी अदूरदर्शिता का परिचय दिया।

लार्ड ऐलेनबरा की अफगान नीति को किसी भी तरह नहीं सराहा जा सकता है। ब्रिटिश फौज को अफगानिस्तान से हटाना ठीक था, लेकिन व्यर्थ का काबुल के बाजार को बारुद से उड़ाना और वहां के निवासियों को अपार कष्ट देना किसी भी दृष्टिकोण से उचित न था। यह प्रतिशोध की भावना से परिपूर्ण था। उसकी शिमला घोषणा हास्यपद थी। उसने भारतीय को सम्बोधित करते हुए कहा था कि अंग्रेजी सेना अफगानिस्तान से सोमनाथ के मन्दिर का फाटक लेती आयी है। जिसको आठ सौ वर्ष पूर्व महमूद गजनी भारत से उठाकर ले गया था। इस घोषणा से हिन्दुओं को खुशी हुई और मुसलमान चिढ़ गये। पीछे पता चला कि यह असली फाटक न था जो देबदार को छोडकर किसी बहुमूल्य लकड़ी का बना हुआ नहीं था, जबकि सोमनाथ के मन्दिर का फाटक चन्दन की लकड़ी का बना हुआ था। इस तरह प्रथम अफगान युद्ध एकदम बेकार हुआ। केई के कथानुसार "इतिहास के पृष्ठों में इतनी पूर्ण और इतनी जबरदस्त असफलता का उल्लेख और कहीं नहीं मिलता है।"

प्रथम और द्वितीय अफगान युद्धों के बीच का काल : 1864 से 1869 तक लॉर्ड लॉरेन्स भारत का गवर्नर जनरल रहा। उसके समय में अफगानिस्तान के प्रति अकर्मण्यता की नीति का सुत्रपात लारेन्स ने ही किया था। वह अफगानिस्तान के आन्तरिक मामले में हस्तक्षेप के बिल्कुल विरुद्ध था। 1863 में दोस्त मुहम्मद का देहान्त हो गया। उसके सोलह पुत्र थे और उसके मरने के बाद गद्दी के लिए इन पुत्रों के बीच ग्रह-युद्ध छिड़ गया। दोस्त मुहम्मद ने अपने एक पुत्र शेरअली को अपना उत्तराधिकारी मनोनित किया था। उसने अंग्रेजों की सहयाता मांगी, पर उस समय के गर्वनर जनरल सार जान लॉरेन्स ने तटस्थता की नीति अपनायी। उसने किसी भी प्रतिद्वन्द्वी को किसी प्रकार की सहायता नही दी। उसको इस बात का भय था कि यदि भारत सरकार ने उम्मीदवार की सहायता की तो दूसरा उम्मीदवार तुरंत रुस की ओर झुकेगा और उस को अफगानिस्तान में अपना प्रभाव बढ़ाने का मौका मिल जायेग। यह अफगानिस्तान के वास्तविक शासक के साथ मित्रता का समबन्ध स्थापित करना और वहाँ के आन्तरिक मामले में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करना चाहता था, पर जैसे ही शेरअली अपने सभी प्रतिद्वन्द्वियों को दबाकर अफगानिस्तान का शासक बनने में सफल हुआ कि लारेन्स ने उसे अमीर स्वीकार कर लिया और भेंट के रुप में रुपया और हथियार भेज दिया। लारेन्स की यह नीति महान् अकर्मण्यता (Masterly Inactivity) की नीति कही जाती है। उस नीति की बड़ी कडी आलोचना हई। इसका परिणाम भी अच्छा न निकला। शरअली का अंग्रेजो से घोर निराशा हुइ। उसने अत्यन्त कटु शब्दों में इसकी निन्दा की। अफगान सरदारों की दृष्टि में

यह नीति उदासीनता और स्वार्थ की थी। इसके कारण गर्वनर जनरल और अमीर के बीच वास्तविक मित्रता के सम्बन्धों का बनाने में कठिनाई हुई। शेरअली ने स्वयं कहा था "अंग्रेज अपने स्वार्थ के अतिरिक्त किसी का ध्यान नहीं रखते।" फलतः लॉरेन्स की नीति के कारण अफगानिस्तान ने अंग्रेजों की स्थिति दृढ़ नहं हो सकी। इसके अतिरिक्त अंग्रेजों की अकर्मण्यता के कारण रुस को मध्य एशिया में अपनी शक्ति बढ़ाने का अच्छा मौका मिल गया। उसके ताशकन्द, बुखार और खीव पर अपना अधिपत्य जमा लिया। रुस के इस प्रसार पर लॉरेन्स का मत था कि ब्रिटिन की सरकार का यूरोप में रुस से कोई समझौता कर लेना चाहिए लेकिन लारेन्स यह भूल गया कि जब तक अंग्रेज मध्य ऐशिया में अपनी शक्ति को मजबूत नहीं कर लेते तब तक रुस की प्रगति को रोकना बड़ा कठिन था।

1869 में लॉर्ड मेयो भारत का गर्वनर जनरल बना। अफगानिस्तान के सम्बन्ध में लॉर्ड में लारेन्स की नीति का ही समर्थक था। फिर भी उसने रुस के बढ़ते हुए प्रभाव को रोकने के लिए शेरअली की सहायता की। अमीर भी रुस के विरुद्ध अंग्रेजी सहायता पाने के लिए इच्छुक था। यदि इस समय अंग्रेजी सहायता पाने के लिए इच्छुक था। यदि इस समय अंग्रेजों ने समझदारी से काम लिया होता तो अमीर उसका सच्चा मित्र बन जाता, पर ऐन मौके पर अंग्रेजों की कूट नीति असफल हो गयी।

1869 में लॉर्ड मेयो ने शेरअली को अपनी ओर मिलाने के उद्देश्य से अम्बाला में आमन्त्रित किया। शेरअली अंग्रेजों की सभी शर्तें मानने को तैयार था। पर उसकी अपनी दो शर्ते थी—(क) अंग्रेज उसके सिवा किसी को अफगानिस्तान का अमीर नहीं बनाने का वचन दें और (ख) रुस के विरुद्ध उसकी सहायता करे, पर लॉर्ड मेयो ने उसकी शर्तों को नहीं माना। इससे शेरअली को बडा क्षोभ हुआ। इस समय रुस की शक्ति दिनो—दिन बढ़ती जा रही थी। उससे आतंकित होकर अमीर अंग्रेजो से कोई स्पष्ट उत्तर चाहता था किन्तु मेयो तटस्थता की नीति छोड़ने को तैयार नहीं था।

लॉर्ड मेयों के पश्चात् लॉर्ड नार्थ ब्रुक (1872–76) भारत का गवर्नर जनरल बनकर आया। अफगानिस्तान की समस्यासे उसको भी जूझना पड़ा। इस सम्बन्ध में वह भी तटस्थता की नीति का समर्थक था। इन दिनों रुस अफगानिस्तान की ओर बढ़ रहा था। इससे भयभीत होकर शेरअली ने अपना एक प्रतिनिधि गर्वनर जनरल से भेंट करने के लिए शिमला भेजा और रुसी आक्रमण के विरुद्ध अंग्रेजों से पूर्ण सहायता का आश्वासन मांगा। लॉर्ड नार्थबुक इस तरह का कोई आश्वासन नहीं दे सकता था; क्योंकि ब्रिटिश सरकार ने उसे आदेश दिया था कि वह लॉर्ड मेयों की नीति का ही अनुसारण करे। लॉर्ड नार्थब्रुक के शुष्क व्यवहार से शेरअली अत्याधिक असन्तुष्ट हुआ। ग्रह—सरकार अफगानिस्तान में एक ब्रिटिश रेजिडेंट रखना चाहती थी जिसमें अफगानिस्तान तथा रुस की मित्रता की आशंका न रह जाये, परन्तु लॉर्ड नार्थब्रुक इसका विरोधी था उसका विचार था कि स्वतन्त्रता प्रेमी अफगान इस प्रस्ताव को कभी स्वीकार नहीं करेंगे तथा इस जिद्द का परिणाम युद्ध होगा। इसलिए उसने सरकार की नीति का विरोध किया जिसके फलस्वरुप उसे त्यागपत्र देना पड़ा। 1876 में लॉर्ड नार्थब्रुक पद का त्याग कर वापस लौट गया।

द्वितीय अफगान युद्ध (1878–80) : 1874 में इंग्लैंड का नया मन्त्रिमंडल बना और डिजरैली वहां का प्रधान मन्त्री बना। वह एक कट्टर साम्राज्यवादी था। वह अफगानिस्तान के प्रति कड़ी नीति का समर्थक था। उसकी सरकार ने लॉर्ड नार्थब्रुक के पास आदेश भेजा कि शेरअली को काबुल में एक अंग्रेज रेजिडेंट रखने को विवश किया जाये किन्तु लॉर्ड नार्थब्रुक इस प्रस्ताव के विरुद्ध था। अतएव उसने त्यागपत्र दे दिया और उसके स्थान पर 1876 में लॉर्ड लिटन भारत का गर्वनर जनरल होकर आया। लिटन का आदेश था कि अफगानिस्तान के विरुद्ध कड़ा रुख अपनावे। इसका एक कारण था। अफगानिस्तान में रुस का प्रभाव बढ़रहा था और यूराप में इंग्लैंड और रुस की प्रतिद्वन्द्विता बढ़ रही थी। 1877 में रुस तथा तुर्की का सम्बन्ध बहुत खराब हो गया था और दोनो के बीच युद्ध की सम्भावना बढ़ रही थी। इसलिए अफगानिस्तान पर अंग्रेजों काअपना प्रभुत्व कायम रखना आवश्यक था। उधर अफगानिस्तान में रुस की गतिविधि निरन्तर तेज होती जा रही थी। 1868 तक रुस ने ताशकन्द, बुखार आदि को जीतकर एक नया सूबा 'रुसी ताशकन्द' की स्थाना कर दी थी। अमीर शेरअली रुस की मदद करना चाहता था लेकिन इस काल में भारत के गर्वनर जनरल अकर्मण्यता की नीति का पालन कर रहे थे। अतएव अमीर को सहायता के आश्वासन के सिवा कुछ और देने को तैयार नहीं हुए। इस कारण अंग्रेजों की तरफ से निराश होकर अमीर शेरअली ने रुस से मित्रता के सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न किया। अमीर के पास अपनी सुरक्षा के लिए इसके अतरिक्त और कोई रास्ता भी न था। सम्भवतया अब भी वह रुस से सन्धि करने का उत्सुक न था। उसका सुझाव अंग्रेजों की तरफ था और केवल अंग्रेजों पर दबाव डालने के लिए ही उसने रुस कीओर अपना झुकाव प्रदर्शित किया था। इस कारण अमीर और रुसी ताशकन्द के गर्वनर जनरल कॉफमन में पत्र—व्यवहार आरम्भ हो गया और रुसी प्रतिनिधि अफगानिस्तान में आने आरम्भ हो गये। अमीर ने अंग्रेजों को यह सूचना देनी बन्द कर दी कि उसका रुसी प्रतिनिधियों से क्या पत्र—व्यवहार चल रहा है, यह भी विशवास किया जाता है कि अमीर रुसी प्रतिनिधि से गुप्त वार्तालाप करता था। ब्रिटेन ने रुस से मॉग की कि वह अमीर से कोई पत्रव्यवहार न करे परन्तु रुसने इसे स्वीकार नहीं किया। इस प्रकार अमीर और अंग्रेजों के बीच सन्देह का वातावरण पैदा हो गया।

द्वितीय अफगान युद्ध के कारण : भारत पहुँचते ही लॉर्ड लिटन ने अफगानिस्तान के साथ निबटने का निश्चय किया। वह अफगानिस्तान के प्रति अग्रगामी और आक्रामक नीति का अवलम्बन करना चाहता था। वस्तुतः डिजरैली से उसको ऐसा ही आदेश मिला था। लॉर्ड लिटन ने स्वयं कहा था कि वह अमीर के साथ एक निश्चित स्थाई और स्पष्ट सन्धि करने के लिए भारत भेजा गया है. 1873 में अमीर जो कुछ चाहता था उसे अंग्रेज अब स्वीकार करेंगे। अमीर को जो वार्षिक धनराशि सहायता के रुप में दी जाती थी उसमें वृद्धि कर दी जायेगी, अब्दुल्ला खाँ जॉन को उसका उत्तराधिकारी स्वीकार कर लिया जायेगा और एक सन्धि द्वारा अंग्रेज अमीर को यह विश्वास दिलायेंगे कि विदेशी आक्रमण की स्थिति में अंग्रेज पूरी तरह से अमीर की रक्षा करेंगे।

भारत आते ही लिटन ने अमीर के साथ पत्र–व्यवहार किया और सन्धि करने के लिए एक अंग्रेज प्रतिनिधि काबुल भेजने की इच्छा प्रकट की। शेरअली काबुल में एक अंग्रेज राजदूत रखने को तैयार नहीं हुआ उसका कहना था कि यदि वह अंग्रेज राजदूत को स्वीकार कर लेगा तो उसे रुसी राजदूत को भी स्वीकार करना पड़ेगा। इसके अतिरिक्त अफगान लोग अंग्रेज राजदूत को शंका की दृष्टि से देखेंगे और उसकी हत्या करने की कोशिश भी कर सकते हैं।

शेरअली के इस उत्तर से लिटन बहुत रंज हुआ। उसने अमीर के तर्कों को सारहीन करार दिया। लिटन का कहना था; "मैं उसे कभी रुस के हाथ का खिलौना नहीं बनने दूंगा। मेरा कर्त्तव्य है, कि ऐसे हथकंडे को उपयोग होने से पहले ही तोड़ दिया जाये।"

इसी समय युरोपीय राजनीति में एक परिवर्तन हुआ जिसका प्रभाव भारत पर अनिवार्य रुप से पड़ा। रुस ने तुर्की पर 1877 में आक्रमण कर दिया और उसे परास्त कर उस पर सन स्टीफानों की सन्धि आरोपित कर दी। सन स्टीफननों की सन्धि से बाल्कन प्रायद्वीप और आटोमन साम्राज्य में रुस के प्रभाव में बड़ी वृद्धि हो गयी। ब्रिटेन ने इस सन्धि का विरोध किया और मांग की कि इससन्धि पर पुनर्विचार करने के लिए सम्बद्ध यूरोपीय राज्यों का सम्मेलन हो। रुस ने पहले इस तरह के किसी सम्मेलन का विरोध किया लेकिन अन्त में बाध्य होकर उसे यह बात माननी पड़ी। फलतः 1878 में बर्लिन सम्मेलन हुआ। इस अवसर पर जो सन्धि हुई उसके अनुसार रुस के लाभ अत्यन्त ही सीमित कर दिये गये। ब्रिटेन द्वारा इस प्रकार उसके मार्ग में बाधा डालने से रुस बहुत नाराज हुआ। इसका बदला चुकाने के लिए उसने अफगानिस्तान पर जोरदार दबाव डालना शुरु किया। जिस दिन बर्लिन में सम्मेलन हुआ उसी दिन रुस ने अपनी एक सेना अफगानिसन और कश्मीर की तरफ भेज दी। रुसी गर्वनर को यह आदेश भी दिया गया कि वह अफगानिस्तान के अमीर को एक सन्धि के लिए तैयार करे। 1878 में जनरल स्टोलेटोफ नामक एक रुसी अफसर ताशकन्द से काबुल पहुंचा और उसने अमीर को यह आश्वासन दिया कि रुस विदेशी आक्रमण के विरुद्ध अफगानिस्तान की रक्षा करेगा।

अब लिटन के गुस्से का ठिकाना नहीं रहा। उसने शेरअली के पास एक संवाद भेजा जिसमें कहा गया था कि वह 1873 की सारी शर्तों को मानने के लिए तैयार है यदि अमीर काबुल में एक अंग्रेजी रेजिडेंट रखने पर राजी हो जाये तथा अफगान सीमा पर सामरिक महत्त्व का एक स्थान अंग्रेजों के सुपुर्द कर दे। फिर शेरअली इन शर्तों को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हुआ। इसका कहना था कि यदि वह एक अंग्रेज रेजिडेंट को काबुल में रहने की इजाजत देता है तो उसे एक रुसी दूत को रखने की भी इजाजत देनी पड़ेगी। ऐसी स्थिति में अफगानिस्तान रुस–ब्रिटेन मतभेद का अखाड़ा बन जायेगा और उसकी स्वतन्त्रता नष्ट हो जायेगी। इस जवाब पर लिटन के गुस्से का ठिकाना नहीं रहा। उसने ब्रिटिश रेजिडेंट रखने की जोरदार मांग की और एक व्यक्ति को कुछ सैनिको के साथ रेजिडेंट नियुक्त करके काबुल की ओर रवाना भी कर दिया। जब ब्रिटिश दूत खैबर के दर्रे में पहुंचा तो वहां के अफसर ने उसे रोक लिया। इस घटना से लिटन बहुत क्रुद्ध हुआ। 2 नवम्बर 1878 को उसने अमीर से अंग्रेज राजदूत रखने तथा अंग्रेजों से माफी माँगने की आखिरी माँग की। 20 नवम्बर तक इन शर्तों को पूरी करने की मांग की गयी। नवम्बर 1878 को लिटन ने अफगानिस्तानके विरुद्ध युद्ध घोषित कर दिया। यह द्वितीय आंग्ल अफगान युद्ध था।

युद्ध और गंडमक की सन्धि : युद्ध की घोषणा होते ही अंग्रेजी सेना ने तीन और अफगानिस्तान पर आक्रमण कर दिया। शेरअली ने रुस से मदद मांगी, पर रुस से कोई मदद न मिल सकी। बात यह थी कि यूरोप में बर्लिन सन्धि हो हाने के कारण रुस और इंग्लैंड का झगड़ा तय हो गया था। ऐसे हालत में रुस शेरअली की सहायता नहीं कर सकता था। फलतः अफगानिस्तान की हार हुई। शेरअली तुर्किस्तान भाग गया और याकूब खां अफगानिस्तान का अमीर बना। 1879 में अंग्रेजों के साथ उने गंडमक की सन्धि की जिसके अनुसार अंग्रेजों के याकूब खां को अफगानिस्तान का अमीर मान लिया। साथ ही, काबुल में एक ब्रिटिश रेजिडेंट रखने की अनुमति मिल गयी। यह भी निश्चय हुआ कि अफगानिस्तान की विदेश नीति का संचालन अंग्रेजों की राय से होगा। खैबर और मिश्नी के दर्रे तथा खुर्रम, पिशीन और सीबी के जिले अंग्रेजों को मिले। अंग्रेजों ने विदेशी आक्रमण से अमीर की रक्षा करना तथा छः लाख रुपये प्रतिवर्ष सहायता के रुप में देना स्वीकार किया।

सन्धि के अनुसार केबेगनरी 24 जुलाई, 1879 को रेजिडेंट के रुप में काबुल पहुंचा, पर अफगानों में असन्तोष व्याप्त था और 3 सितम्बर 1879 को काबुल में विद्रोह हो गया। अफगानों ने केबेगनरी को मार डाला। इसके बाद अंग्रेजों ने काबुल पर अधिकार जमा लिया और याकूब खां को बन्दी बनाकर भारत भेज दिया गया। अब अंग्रेजों ने शेरअली के भतीजे अब्दुल रहमान के साथ बातचीत आरम्भ की किन्तु सन्धि–वार्ता खत्म होने के पहले ही इंग्लैंड में मन्त्रिमंडल बदल गया। 1880 में उदार दल की सत्ता में आने पर ग्लैडस्टोन ब्रिटेन का प्रधान मन्त्री बना। उसने लिटन को हटाकर लॉर्ड रिपन को भारत का गर्वनर जनरल बनाकर भेजा।

लॉर्ड रिपन ने अब्दुल रहमान के साथ एक सन्धि कर ली, उसने उसको अमीर स्वीकार कर लिया सिन्धि के अनुसार एक निश्चित रकम सालाना पाने के बदले नये अमीर ने अफगानिस्तान की विदेश नीतिकों अंग्रेजों के अधीन कर दिया और गंडमक की सन्धि द्वारा प्राप्त जगहों पर अंग्रेजों का अधिकार बना रहा।

द्वितीय अफगान युद्ध के मूल्यांकन : द्वितीय अफगान–युद्ध रुस और इंग्लैंड की प्रतिस्पर्धा का परिणाम था। दोनों देश अफगानिस्तान पर अपना प्रभुत्व जमाना चाहते थे। यद्यपि यह एक सन्देहग्रस्त बात है कि रुस भारत पर आक्रमण करता, पर इसमें कोई शक नहीं था कि अफगानिस्तान को अपने अधिकार में कर लेने के बाद रुस न केवल यूरोपीय युद्धों में ही इंग्लैंड को परेशान कर सकता था वरन् दबाव डालकर इस पर अपनी शर्त लाद भी सकता था। इस तरह उन्नीसवीं शताब्दी में अफगानिस्तान यूरोपीय राजनीति का एक अंग बन गया जिस पर उसका कोई अधिकार नहीं रहता था। शेरअली की पराजय का एक मात्र कारण बर्लिन की सन्धि (1878) था।

द्वितीय अफगान–युद्ध को आरम्भ करने का उत्तरदायित्व पूर्णतया अंग्रेजों पर था। लिटन के समर्थकों का कहना है कि शेरअली ने रुसी राजदूत को स्वीकार करके अंग्रेजों को चुनौती दी थी और उन्हीं की सलाह के कारण अंग्रेज राजदूत को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया था। इस कारण अफगानिस्तान के बढ़ते हुए प्रभाव को रोकने के लिए लिटन के पास युद्ध के अतिरिक्त कोई रास्ता नहीं रह गया था लेकिन यह विचार सर्वथा गलत है। अंग्रेजों ने स्वयं ऐसी परिस्थिति बनायी थी जिससे शेरअली रुस का राजदूत का स्वागत करने के लिए मजबूर था। लॉरेन्स, मेयो और नार्थब्रुक की नीति से असन्तुष्ट होकर शेरअली रुस की ओर झुका था अन्य था वह निरन्तर अंग्रेजों से सन्धि की मांग करता रहा था और स्वयं अंग्रेज ही उससे इन्कार करते रहे थे। अब यह स्पष्ट है कि शेरअली ने मजबूरी में रुसी राजदूतों को स्वीकार किया था। पर अमीर ने अंग्रेज राजदूत को काबुल आने के लिए इसलिये नहीं रोका था कि वह रुस के प्रभाव में था बल्कि इसलिए रोका था कि प्रथम अफगान–युद्ध का उदाहरण उसके सामने उपस्थित था। वह जानता था कि अफगान इसे कभी पसन्द नही करेंगे बल्कि उसे भी शंका की दृष्टि से देखेंगे। इस आधार पर वह लिटन के समय में ही नहीं बल्कि लॉरेन्स, मेयो तथा नार्थब्रुक के समय से सन्धि की मांग करते हुए भी अंग्रेज राजदूत को काबुल में रखने के लिए तैयार न था। शेरअली न तो रुसी था और न अंग्रेज बल्कि एक अफगान था जो अपने देश की स्वतन्त्रता को बनाये रखने का इच्छुक था। वह एक स्वतन्त्र शासक था। वह अंग्रेजों से मित्रता करता या रुसियों से इस विषय में हस्तक्षेप करने का कोई नैतिक अधिकार भारत सरकार को न था।

द्वितीय अफगानिस्तान युद्ध के औचित्य पर विद्वानों के बीच काफी मतभेद है पर यह तो मानना ही पड़ेगा कि इस युद्ध का परिणाम अंग्रेजों के हक में अच्छा ही हुआ। अफगानिस्तान की विदेश–नीति पर उसका नियन्त्रण हो गया। क्वेटा पर अधिपत्य हो जाने से बोलन का दर्रा भी एक प्रकार से अंग्रेजों के अधिकार में आ गया। सी बी और पिशीन के जिले ब्रिटिश बलूचिस्तान में शामिल कर लिए गये। कोलार की खान पर भी अंग्रेजों का अधिकार हो गया। साथ ही अफगानिस्तान की गद्दी पर ऐसा व्यक्ति बैठा जो अंग्रेजों के प्रभाव में था। अमीर अब्दुल रहमान अपने जीवन भर अंग्रेजों का मित्र बना रहा।

तृतीय अफगान-युद्ध

द्वितीय अफगान–युद्ध के बाद भी रुस और ब्रिटेन की प्रतिद्वन्द्विता में कोई कमी नहीं आयी। 1884 में रुसियों ने मर्व पर अधिकार कर लिया। इसे ब्रिटेन सरकार ने पसन्द नहीं किया। मार्च, 1885 में पंजदेह की घटना घटी जिसके कारण रुस और अफगानिस्तान के बीच संघर्ष हो गया परन्तु जब रुस ने जुलफिकार का दर्रा अफगानिस्ता को दे दिया तो झगड़ा समाप्त हो गया। रुस तथा अफगानिस्तान के बीच सीमा रेखा भी बाद मे निश्चित कर दी गयी।

1901 में अब्दुलरहमान की मृत्यु हो गयी तथा उसके पश्चात् हबीबुल्लाह गद्दी पर बैठा। कुछ समय के लिए अमीर तथा भारत सरकार के सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण नहीं थे और मार्च, 1905 में दोनों के बीच एक समझौता हो गया। 1907 में आंग्ल–रुसी समझौता हुआ। समझौते के अनुसार रुस ने स्वीकार किया कि अफगानिस्तान ब्रिटिश प्रभाव क्षेत्र में रहेगा और रुस अंग्रेजों के माध्यम से अफगानिस्तान के साथ अपने सम्बन्धों का निर्धारण करेगा।

1910 में अफगानों ने अमीर हबीबुल्लाह की हत्या कर दी और अमानुल्लाह कुछ दिनों के बाद अफगानिस्तान का अमीर बना। ब्रिटिश सरकार की ओर उसका मित्रतापूर्ण झुकाव नहीं था। प्रथम महायुद्ध के समय में जर्मनी द्वारा भड़काये जाने पर उसने भारत की सीमा पर आक्रमण कर दिया, पर अन्त में वह असफल रहा। अगस्त, 1919 में रावलपिंडी की सन्धि से इस युद्ध का अन्त हुआ। 1921 में भारत और अफगानिस्तान के बीच एक मित्रता की सन्धि हो गयी। इसके बाद अफगानिस्तान की तरफ से अंग्रेजों को कोई भय नहीं रह गया। अंग्रेजों ने भी अफगानिस्तान के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करने का प्रयास नहीं किया।

(c) फारस खाड़ी सम्बन्धी नीति
(d) उत्तर पश्चिमी सीमान्त नीति
Persia and Persian Gulf Policy
North West Frontier Policy

मध्यकाल में अफगानिस्तान मुगल व फारस के सफावी साम्राज्यों का अंग था। इसकी स्वतन्त्रता की स्थापना इन दोनों साम्राज्यों के पतन से सुलभ हो सकी थी। लेकिन इसकी सामाजिक व भौगोलिक स्थिति इसकी एकता में बाधा बन गई। ऊंची–ऊंची पर्वत श्रेणियाँ और रेगिस्तान के इलाकों ने इसे लगभग चार प्रमुख क्षेत्रों में विभाजित कर दिया है। उत्तर में बाल्ख अथवा अफगान तुर्किस्तान का इलाका है। इसे अहमद शाह ने जीता था, किन्तु यह उजबेग प्रकृति का ही रहा। वैसे भी हिन्दूकुंश की पर्वत श्रेणियों ने इसे शेष भागों से अलग कर दिया है।

पश्चिम व मध्य एशिया से भारत की ओर आने वाले मुख्य स्थल व्यापारिक मार्ग अफगानिस्तान से होकर निकलते थे। अतः सदियों से 'राहदारी' के रुप में इसका प्रयोग होता रहा था। परिणामस्वरुप इसने विभिन्न कबीले आ बसे। ये कबीले अफगानिस्तान की राजनीतिक एकता व स्थिरता में बाधा बन गए। सीमावर्ती कबीलों का छोड़कर अफगानिस्तान में तीन कबीले प्रमुख स्थान रखते थे : –

1. दुर्रानी : – ये उत्तर–पूर्व में बसे थे।
2. गिलजई : – इनका क्षेत्र काबुल के दक्षिण–पश्चिम में था।
3. युसुफजई : – पूर्वी क्षेत्र–काबूल व पेशावर में शक्तिशाली थे।

इस विविधता के कारण यूरोपीय साम्राज्यवादी राष्ट्र (इंग्लैड व रुस) अफगानिस्तान को एक राष्ट्र न समझकार केवल असभ्य जनसमूहों का क्षेत्र (No Man's Land) मानकर इसके भाग्य व स्थिति के निर्णय के लिए आपस में सौदेबाजी करते रहे।

अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ में ब्रिटिश राज्य के उत्तर–पश्चिमी सीमांत पर शक्तिशाली सिख अधिराज्य था। उससे परे गहरी घाटियों से विभक्त एवं हिन्दूकुश की ऊंची पर्वत श्रेणियों से आवृत्त ठंडा पठार अफगानिस्तान का राज्य था। अन्य तीन प्रमुख क्षेत्र थे–उत्तर–पूर्व में काबुल, दक्षिण–पूर्व में कन्धार तथा उत्तर–पश्चिम में हेरात। अफगानिस्तान की राजनीतिक स्थिति काफी समय से अराजकतापूर्ण थी। कोई भी शासक इन क्षेत्रों के ऊपर पूर्ण रुप से नियन्त्रण व शासन करने में सफल नहीं हो पाता था। ग्रहयुद्ध में भी ये छिटककर अलग हो जाते थे। उत्तर व पश्चिम से अफगानिस्तान पर आक्रमण का भय सदैव बना रहता था तथा फारस की हेरात पर सदा दृष्टि रही।

हिन्दुस्तान में मुगल साम्राज्य के विनष्ट होने पर अफगान आक्रमण हुए क्योंकि वे यहाँ पर राजनीतिक प्रभुसत्ता स्थापित करना चाहते थे। 1761 में मराठा अफगान संघर्ष में, अंग्रेजों के एक शक्तिशाली प्रतिद्वन्द्वी का जहाँ काफी पतन हुआ वहाँ अंग्रेजों वहाँ अंग्रेजो के लिए अफगानों से टकराव की स्थिति उपस्थिति हो गई। अहमदशाह अब्दाली घरेलू झंझटों के कारण पुनः पूर्व की ओर न बढ़ सका। इस बीच अंग्रेज पूरे भारत पर अपनी सर्वोच्चता स्थापित करने में संलग्न रहे। 1793 में काबुल के योग्य और महत्वाकांक्षी शासक जमाँ शाह की गिद्ध दृष्टि पुनः भारत पर पड़ी तथा वह 1798 में लाहौर तक बढ़ आया।

भारत के असन्तुष्ट नवाब व शासक कम्पनी के विरुद्ध षडयन्त्र में उसका सहयोग प्राप्त करने को उत्सुक हो उठे। जमाँशाह के भारत पर आक्रमण की संभावना ने सर जॉन शोर और लॉर्ड वेलेजली को चिन्तित और अत्यन्त सतर्क रखा। अंग्रेजों ने अपना प्रतिनिधिमंडल फारस भेज कर वहाँ से अफगानिस्तान पर दबाव डाला जिससे जमाँशह को पेशावर लौटना पड़ा। अपने राष्ट्र में उसे सदोजाई तथा बरकजाई अमीरों के बीच कलह का सामना करना पड़ा। अन्त में उसे सिंहासनच्युत कर अन्धा बना दिया गया। वह भागकर भारत आ गया और यहाँ ब्रिटिश सरकार का पेंशन भोगी बन गया।

जमाँ शाह के पश्चात् अफगानिस्तान पुनः अशान्ति और अव्यवस्था के अंधकार में घिर गया। इसके पूर्व में सिखों के तथा पश्चिम में फारस के शक्तिशाली राज्य थे जो मौका मिलते ही इस ओर विस्तार करने से न चूकते। अंग्रेजों के साथ 1809 की सन्धि के कारण रणजीत सिंह का पूर्व की ओर बढ़ना तो मुश्किल था, इसलिए वह उत्तर दिशा में राज्य–विस्तार की योजना बना रहे थे। इसी प्रकार फारस का शाह, जिसे अपने राज्य के उत्तर का कुछ भाग रुसियों को अर्पित करना पड़ा था, दक्षिण–पूर्व में अफगानिस्तान की ओर राज्य–विस्तार कर क्षतिपूर्ति करना चाहता था। 1826 में दोस्त मुहम्मद काबुल का शासक बना किन्तु हेरात उसके कब्जे से अलग रहा। अशान्ति के काल में अहमद शाह दुर्रानी के एक पोते शाह शुजा ने कुछ समय के लिए (1803–1809) काबुल पर अधिकार कर लिया था, किन्तु असफल हो उसने भारत में शरण ली तथा ब्रिटिश पेंशन स्वीकार कर ली। 1833 में शाह शुजा ने रणजीत की

सहायता से अपना खोया सिंहासन प्राप्त करने का निष्फल प्रयत्न किया। रणजीत सिंह ने अवसर का लाभ उठा दोस्त मुहम्मद के भाई सुल्तान मुहम्मद खाँ का समर्थन प्राप्त कर पेशावर पर आधिपत्य कर लिया और अफगान गर्वनर को नियुक्त करने के लिए विवश कर दिया। इस समय पंजाब के शासक की शक्ति उच्चतम शिखर पर थी। अंग्रेज यह जानते हुए रणजत सिंह के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध रखना ही उचित समझते थे। इसी प्रकार रणजीत सिंह भी अंग्रेजो के साथ उलझने से कतराते थे।

यह थी उत्तर–पश्चिम में राजनीतिक स्थिति जब अंग्रेजों ने उग्र अग्रगामी नीति तथा अफगानिस्तान की ओर हस्तक्षेप की नीति अपनाई। लॉर्ड ऑकलैंड के काल में नीति में परिवर्तन तथा प्रथम अफगान युद्ध को लाने में यूरोपीय राजनीतिक परिस्थिति उत्तरदायी थी। जे० ए० नौरिस के अनुसार 'अफगान युद्ध' निश्चित रुप से पूर्वी समस्या का अंग था। अतः इसे उचित रुप से समझन के लिए पूर्वी समस्या का संक्षेप में वर्णन जरुरी होगा। 15वीं व 16 वीं शताब्दियों का शक्तिशाली मध्य एशिया का तुर्की साम्राज्य 19वीं सदी में निरन्तर विघटन व पतन की ओर अग्रसर हो रहा था। इस विनश्ट होते सम्राज्य ने यूरोप में न केवल शक्ति संतुलन की समस्या पैदा कर दी, अपितु यूरोप की शक्तियाँ लोलुप दृष्टि से इस साम्राज्य के भागों पर अधिकार करने की चेष्टा करने लगी। किसको क्या प्राप्त होगा, यह प्रश्नयूरोप के राजनितिज्ञों को बेचैन करने लगा। रुस इस साम्राज्य के उत्तर में था, अतः इस समय अपनी नौ सैनिक शक्ति के विकास के लिए 'गर्म पानी' का बंदरगाह खोज रहा था। तुर्की के पतन ने उसे इस ओर आकृष्ट किया डार्डेनल्स व बौसफारस की खाड़ियों पर अधिकार प्राप्त कर वह आसानी से अपने जंगी बेड़े को भूमध्य सागर में ले जा सकता था। रुस की यूराप तथा एशिया में बढ़ती हुई शक्ति ने इग्लैंड की औपनिवेशिक विस्तार–नीति के लिए गम्भीर समस्या उत्पन्न कर दी। इग्लैंड तुर्की को अखंडता बनाए रखना चाहता था। वह नहीं चाहता था कि रुस भूमध्य सागर तक पहुँचकर अंग्रेजों के नौ सैनिक आधिपत्य क लिए खतरा बने। अमरीका की स्वतन्त्रता के पश्चात भारत के उपनिवेश का महत्त्व बढ़ गया था। अतः पूर्व की ओर थल व जल मार्ग में किसी प्रकार के विरोध को अंग्रेज भारतीय साम्राज्य के लिए खतरा समझने लगे थे। इंग्लैंड की सामुद्रिक शक्ति के प्रबल होने व फारस की खाड़ी में विशेष प्रभाव के कारण जलमार्ग से अधिक उत्तर–पश्चिम पर्वतीय मार्ग–जिधर से भारत पर प्राचीन काल से हमले होते रहे और जो मध्य एशिया से मुख्य व्यापारिक मार्ग थे– की सुरक्षा की चिन्ता सताने लगी। इस प्रकार अत्याधिक सामरिक महत्त्व के कारण, व्यापारिक एवं राजनीतिक दृष्टिकोण से अफगानिस्तान का विशिष्ट महत्त्व हो गया क्योंकि मध्य एशिया में व्यापारिक मंडियों के विकास अथवा रुस के साथ मुठभेड की स्थिति में अफगानिस्तान की अधीनस्थता अथवा मित्रता लाभदायक सिद्ध होती।

इस समय पामर्स्टन जैसा साम्राज्यवादी इंग्लैड की विदेश नीति का निर्धारक था। वह विश्व भर में इंग्लैंड के उपनिवेशों का प्रसार चाहता था। पूर्वी समस्या जब–जब उठी उसका यही प्रयत्न रहा कि रुस अथवा कोई अन्य यूरोपीय राष्ट्र अकेला उसका निर्णय न ले, बल्कि सब राष्ट्र मिलकर यह कार्य करें। नेपोलियन के मिस्र व फारस के रास्ते भारत पर आक्रमण की योजना (1798-1807) के बाद इंग्लैंड के लिए पूर्वी समस्या भारत की सुरक्षा से सम्बन्धित हो गई थी। ब्रिटिश साम्राज्य भारत में संगठित कर अंग्रेज दक्षिण पूर्व तथा वहाँ से चीन तक फैल रहे थे। इस समय रुस की बढ़ती हुई सैनिक शक्ति व उसका दक्षिण की ओर प्रसार इग्लैंड के साम्राज्यवादियों की नींद हराम कर रहा था। अंग्रेजी राजनीति भारतीय साम्राज्य की ओर रुसी आक्रमण के दुःस्वप्न से पीड़ित रही। कई इतिहासकार इसे अंग्रेजों का काल्पनिक भय समझते हैं। किनतु उस समय रुस की विस्तारवादी नीति तथा फारस की ओर प्रसार यह संभावना उत्पन्न कर रहा था कि बौसफोरस की असफलता का बदला शायद रुस पूर्व में भारत की ओर दबाद डालकर अथवा आक्रमण करके ले। रुस का जार भी अपनी सैनिक शक्ति व एशिया में विस्तार की भावनाओं का प्रदर्शन कर रहा था। नॉरिस के अनुसार "ऑकलैण्ड की नीति पामर्स्टर्न द्वारा निर्धारित ह्विग दल की योजना थी जिसके अनुसार रुस का एशिया में बढता हुआ विस्तार यथा शक्ति रोकने के लिए सरकार को सदैव तैयार रहना चाहिए।" आर० एस० रस्तोगी के अनुसार "यदि रुस दक्षिण की ओर प्रसार कर फारस और अफगानिसतान में ब्रिटिश प्रभाव को चुनौती न देता तो शायद भारत सरकारका मध्य एशिया व अफगानिस्तान से सम्बन्ध मात्र व्यापारिक ही होता"। अंग्रेज राजनीतिज्ञ रुस के प्रसार को रोकने के लिए एकमत थे किन्तु इस कार्य के लिए क्या नीति अपनाई जाए, इस बारे में मतभेद था। समस्या यह थी कि रुसी विस्तार को रोकने के लिए क्या वे अपनी सीमा पर ही तैयारी कर इन्तजार करें या फिर उत्तर–पश्चिमी सीमा को हिन्दूकश की ओर बढ़ाकर भारत के साम्राज्य को न केवल प्राकृतिक सीमा प्रदान करे अपितु ऐसा उचित स्थान प्राप्त करे जहाँ से रुस की गतिविधियों पर कड़ी नजर रखी जा सके और उसका प्रतिरोध किया जा सके। इस प्रकार अफगानिस्तान की ओर दो प्रकार की नीतियाँ अपनाई गई–'सिरि नीति' (Stationary Policy) और उग्र अग्रगामी नीति' (Forward Policy)।

मध्य एशिया से प्राचीन व्यापारिक सम्बन्धों के कारण–जो कि 'पुराने रेशम मार्ग (Old Silk Route) द्वारा होते थे तथा 19वीं सदी में संरक्षात्मक व्यापारिक नीति से प्रेरित थे–रुस अपनी एशियाई भौगोलिक स्थिति से लाभ ठाकर मध्य एशिया की मंडियों पर अपना आधिपत्य जमाने लगा था। अपने व्यापार के प्रसार एवं अपनी एशियाई सीमा की सुरक्षा के लिए उसने विस्तार की नीति अपना ली।

मध्य एशिया की असभ्य जातियों को सुसभ्य बनाने के उद्देश्य भी रुसी जार ने व्यक्त किया। दक्षिण की ओर रुस के प्रसार का मुख्य कारण व्यापार ही था। 1860 के बाद के दशकों में मध्य एशिया के प्रमुख व्यापारिक मार्गों के अधिकांश क्षेत्रों पर रुस ने अधिकार कर लिया जहाँ सूती कपड़ा और चाय का प्रमुख व्यापार होने लगा।

रुस के बढ़ते हुए व्यापार को, पूर्व में साम्राज्य व व्यापार का विस्तार करते हुए अंग्रेज शक की नजरों से देखने लगे। भारतीय साम्राज्य के उत्तर–पश्चिम में शक्तिशाली साम्राज्यवादी शक्ति उन्हें अपने साम्राज्य के लिए संकटकारी लगी। रुस का बढता प्रभाव भारतवासियों को प्रभावित कर उन्हें अंग्रेजों के विरुद्ध रुसी सहायता द्वारा भड़का सकता था। कई अंग्रेजों का तो बाद मे यह भी विश्वास था कि 1857 की क्रान्ति में रुसी ऐजेन्टों का बड़ा हाथ था।

रुस का मध्य एशिया में व्यापारिक एकाधिकार अंग्रेज व्यापारी सहन न कर सके तथा दोनों शक्तियों में मध्य एशिया की मंडियों के विभाजन के लिए प्रतिस्पर्धा चल निकली। रुसी सेना जैसे–जैसे आगे बढ़ने लगी, भारत में सत्ताधिकारियों को यह चिन्ता सताने लगी कि उसे कैसे, कहाँ और कब रोका जाए ? मध्य एशिया के इस क्षेत्र में रुसी साम्राज्य के निकट होने के कारण रुस को उन पर 'प्रभाव रखने का अधिक अधिकार था और इस बात से ब्रिटिश सरकार भी सहमत थी। समस्या गंभीर इस कारण से हो गई थी कि मध्य एशिया की भौगोलिक स्थिति का सही व पूर्ण ज्ञान नहीं था। यहाँ के लडाकू कबीलों से अपरिचित दोनों साम्राज्यवादियों को इन इलाकों में अपने प्रभाव–क्षेत्रों की सीमा को निश्चित करना कठिन हो रहा था। रुस के दक्षिण की ओर बढ़ते हर कदम पर कलकत्ता–सरकार यदि बढ़ा–चढ़ा कर शोर मचाती थी तो गृह–सरकार उसे बिल्कुल ही कम महत्त्व देती थी।

यह सरकार और कलकत्ता–सरकार में नीति भेद का कारण यह था कि एशिया की मंडियाँ ब्रिटिश माल के लिए उपयुक्त नहीं थी, किन्तु भारतीय साम्राज्य के माल की खपत यहाँ अधिक थी। भारतीय अधिकारी रुस की चाय की जगह दार्जिलिंग की चाय के आलवा चीनी, नमक, मसाले, सूती कपड़ा व रंग, सोने के वार व लोहे का सामान इन मंडियों में भरना चाहते थे। इस कार्य में वे स्वतन्त्र व्यापार को अपनाना चाहते थे किन्तु रुस द्वारा संरक्षाणात्मक नीति का पालन, अधिक चुंगी तथा अफगानिस्तान में भी व्यापार की संपूर्ण सहूलियातों का न होना–मार्ग में बाधा उपस्थित कर रहे थे। भारत में बैठे कार्यकर्त्ता अफगान समस्या को संकीर्ण दृष्टि से केवल अपने व्यापार के विकास मध्य एशिया की मंडियों की प्राप्ति, चाहे उनसे बहुतफायदा न भी हो, देख रहे थे। किन्तु ग्रह सरकार साम्राज्यवादी भावना व यूरोप में अपने सम्बन्धों के प्रभाव के अधीन थी। वह एशिया में रुस की साम्राज्यवादी भावना की इज्जत तो करती थी किन्तु उसके उचित उद्देश्य व कार्यक्रम की अनभिज्ञता तथा उत्तर–पश्चिमी भारतीय सीमा की कमजोरी के कारण चिन्तित हो उठती थी। अफगानिस्तान की अनिश्चित राजनीतिक नीति चिन्ता और बढ़ा देती थी।

एशिया में रुसी प्रभाव बढ़ने की आशंका से ब्रिटेन ने 1809 व 1814 में फारस से सन्धि की, जिसके अन्तर्गत फारस को यह वचन दिया गया कि किसी भी यूरोपीय आक्रमण पर वह उसे आर्थिक व सैनिक सहायता देगा। गुलिस्ताँ की सन्धि द्वारा ब्रिटेन के फारस व रुस की सीमा का उचित निर्धारण भी करवा दिया जिससे एक प्रमुख झगड़े का कारण समाप्त हो गया। किन्तु फिर भी 1826 में फारस और रुस में युद्ध छिड ही गया। ब्रिटेन इस समय यूनानके समझौते के लिए यूरोप में रुस के साथ सन्धिबद्ध था। अतः उसने फारस को सहायता देने की अपनी अक्षमता पर यह आवरण डाला कि इस युद्ध में आक्रामक रुस न होकर फारस था। युद्ध के पश्चात 1814 की सन्धि से सहायता की धारा को निकाल दिया गया। फारस को करारी हार मिली। उसे सन्तुष्ट करने व आर्थिक क्षति को पूरा करने के लिए ब्रिटेन ने धन से सहायता दी, परन्तु इसके बाद से रुसी भय अंग्रेजों की बुद्धि कुंठित लगा। फारस स्थित अंग्रेज राजदूत मैक्लेन ने 1836 में लिखा "रुस की जो सीमांत चौकी कैस्पियन सागर के पश्चिमी तट पर स्थित है, उस पर मौजूद रुसी पलटन के लिए मास्को एवं अटक की दूरी बराबर है और सेंट पीटर्सबर्ग की अपेक्षा लाहौर अधिक पास है।" उनकी भयक्रांत बुद्धि इस बात से परिचित होकर भी यह न समझ सकी कि रुसी पलटन का भारतीय सीमान्त से केवल एक हजार मील दूर आ पहुँचना यदि मास्को की शक्ति का परिचायक था तो उनकी दुर्बलता का कारण भी था, क्योंकि युद्ध काल में उनके लिए इसका अपने से संपर्क बनाए रखना बड़ा कठिन हो जाएगा वह इसलिए कि मध्य एशिया से भारत सीमा तक का मार्ग अत्यन्त दुर्गम और भयावह था। निस्संदेह रुस के पास भारी संख्या में सैनिक थे किन्तु एक बड़ी सेना आसानी से हिन्दूकुश दुर्जेय पठान, स्वतन्त्रता के लिए जान पर खेल जाते और अफगानिस्तान के भयंकर पठार का पार कर उन्हें नेपोलियन के जनरलों द्वार प्रशिक्षित एंव अनुशासित खालसा सेना से लोहा लेना पड़ता। परन्तु अपनी राजनीतिक अदूरदर्शिता के फलस्वरुप या रुसी अफगानों से युद्ध छेड बैठे। यह ठीक है कि रुसी एजेंट इस समय फारस को अफगानिस्तान पर आक्रमण को विफल करने के लिए अंग्रेज अपनी सेना अफगानिस्तान पहुँचाना चाहते थे ताकि फारसी सेना कम्पनी राज्य की सीमा तक न पहुँच पाए। किन्तु इस लक्ष्य की सिद्धि के लिए अन्य मार्ग भी थे। अफगानों पर आक्रमण ही एक मात्र मार्ग न था।

काबुल का शासक दोस्त मुहम्मद चारों ओर से खतरों से घिरा था। बल्ख में विद्रोह हो गया था। कन्धार से सरदार प्रतिरोध कर रहा था, रणजीत सिंह पेशावर पर अधिकार कर चुके थे तथा शाह शुजा अंग्रेजों की सहायता से पुन सिंहासन को प्राप्त करने के उचित अवसर की ताक में था। पीछे से हेरात की चारदीवारी के बाहर रुसियों द्वारा प्रशिक्षित फारसी सेना उमड़ती चली आ रही थी। इन परिस्थितियों के कारण वह अंग्रेजों की मित्रता का आकांक्षी था, तथा उनके द्वारा रणजीत सिंह पर दबाव डलवाकर पेशावर प्राप्त करना चाहता था। 1836 में ऑकलैंड जब गर्वनर–जनरल बनकर भारत आया तो दोस्त मुहम्मद ने उसे बधाई पत्र भेजा तथा सिखों और फारस के विरुद्ध ब्रिटिश सहायता चाही। ऑकलैंड एक नए मित्र की संदेहपूर्ण मित्रता के लिए ऐसे पुराने मित्र को अप्रसन्न करना उचित नहीं समझता था जिससे अंग्रेज सरकार के प्रति मित्रभाव में कभी अन्तर नहीं आया था। वैसे भी रणजीत सिंह की शक्तिशाली सेना अंग्रेज सरकार की उत्तर–पश्चिमी सीमा को अभेध प्रतिरक्षा प्रदान करती आ रही थी। ऑकलैंड यदि कूटनीति से कार्य लेता तो शायद वह रणजीत सिंह को पेशावर छोड़ने के लिए तैयार कर सकता था तथा दोस्त मुहम्मद की मित्रता का भी लाभ प्राप्त कर सकता था, परन्तु इसमें संदेह है कि सतलुज की ओर से बँधने के पश्चात पंजाब का शेर पश्चिम की ओर से इस अंकुश को सहन करता। कम्पनी सरकार उससे झंझट मोल लेकर बवंडर खड़ा नहीं करना चाहती थी। ऑकलैंड ने दोस्त मुहम्मद को यह उत्तर दिया कि स्वाधीन राज्यों के मामलों में हस्तक्षेप करने की नीति भारत सरकार की नहीं थी। इस पर शायद ब्रिटिश सरकार पर कूटनीतिक दबाव डालने के उद्देश्य से अफगानिस्तान का अमीर फारस और रुस से सन्धि प्रस्ताव करने लगा।

दोस्त मुहम्मद के रुस की ओर झुकाव ने लॉर्ड मेलबौर्न के हिवग–मन्त्रिमंडल को विशेष गहराई से सोचने के लिए तात्कालिक खतरा दिख पड़ा। रुस द्वारा शाह को हेरात पर घेरा डालने के लिए उकसाने के कारण रुस के प्रति अंग्रेजों का विद्वेष और बढ गया क्योंकि तत्कालीन अंग्रेज राजनीतिज्ञ हेरात को ब्रिटिश भारतीय साम्राज्य के हितो की दृष्टि से सामरिक महत्त्व का स्थान समझते थे। उनक मन में यह बात घर का चुकी थी कि हेरात के पतन मात्र से ही भारत में अंग्रेजों की सत्ता डाँवाडोल हो उठेगी। सर टी० एच० होल्डिच लिखता है। "एशिया में बहिरंग जलमार्ग से कैस्पियन सागर तक फैली दुर्गम पर्वतों की ऊँची दीवार में केवल एक ही दरार है और वह है हेरात के नजदीक –बिना किसी भयंकर ऊँचाई को पार किए, रुसी सीमांत चौकियों से भारत में प्रवेश इसी दर्रे के मार्ग से सम्भव है।" अतः 1836 में संचालक बोर्ड की गुप्त समिति ने गर्वनर–जनरल को लिखा "अफगानिस्तान में घटनाओं की प्रगति पर और अधिक गहरी निगरानी रखनी है। रुसी प्रभाव की प्रगति के प्रतिकार के लिए विश्वस्त अभिकर्ता (एजेंट) काबुल भेजा जा सकता है। यह राजनीतिक कोटि का या प्रारम्भ में केवल व्यापारिक कोटि का रह सकता है। फारसी आधिपत्य के विस्तार को रोकने के लिए या रुसी प्रभाव के होने वाले अनाधिकार प्रवेश के विरुद्ध अफगानिस्तान के मामलो में निश्चित रुप से हस्तक्षेप करना होगा।" अत 1836 में कप्तान अलेक्जेंडर बर्न्स को वाणिज्यिक अभियान के बहाने काबुल भेजा गया। उसे मामलों की तह तक जाँच कर भारत सरकार को खबर करनी थी। उसके काबुल पहुँचने के कुछ समय पश्चात रुसी दूत भी वहाँ पहुँचा। दोस्त मुहम्मद स्पष्टत; रुसियो की मित्रता की अपेक्षा अँग्रेजों की मित्रता को अधिक श्रेयस्कर समझता था, इसलिए रुसी दूत का उसने उचित स्वागत नहीं किया। बर्न्स ने ऑकलैंड को इस तथ्य से अवगत कराया और बताया कि दोस्त मुहम्मद पेशावर प्राप्ति के बदले में ब्रिटिश सन्धि प्रस्तावो को स्वीकार करने को तैयार है।

बर्न्स के काबुल पहुँचने के दो महीने बाद फारस ने हेरात का घेरा डाल दिया। अफगानिस्तान की सेना, अंग्रेज अफसर पोटिंगर सहित जो उस समय वहाँ यात्रा पर था, वीरता से लड़ी और और उसकी प्रतिरक्षा की। 1838 में हेरात का घेरा शाह ने उठा लिया। फिर भी ऐशिया में रुसी महत्त्वाकांक्षाओ के सम्बन्ध में हमेशा बढ़ती हुई ब्रिटिश चिन्ता और भी गहरी होती गई। आकलैंड और उसके परामर्शदाताओं ने बर्न्स के सुझाव पर ध्यान न दिया। उन्होंने काबुल को एक दंभपूर्ण पत्र भेजा जिसमें रुसियों से दूर रहने की माँग की गई –केवल इस वायदे पर कि पेशावर के सम्बन्ध में रणजीत सिंह से चर्चा की जाएगी। इससे असतुष्ट हो अमीर का रुस की ओर झुकना स्वाभाविक था तथा बर्न्स विफल हो 1838 में काबुल से लौट आयां ऑकलैंड के मन में यह योजना थी कि यदि अफगानिस्तान का शाह अधीनस्थ मित्र न बन सके तो शक्ति द्वारा अपना मनोनीत व्यक्ति वहाँ नियुक्त किया जाए।

लॉर्ड ऑकलैंड के दो सचिव–विलियम मैकनाटन एवं जॉन कोलविन थे, जिनका उस पर काफी प्रभाव था उन्होंने युद्ध के वातावरण को भड़काना शुरु किया। शिमला–घोषणा–पत्र द्वारा दोस्त मुहम्मद पर अनुचित व्यवहार का दोष लगाया गया। जून 1838 में शाह शुजा, रणजीत सिंह और अंग्रेजों के बीच त्रिगुट सन्धि हुई। रणजीत सिंह की सहायता से काबुल के अमीर को हटा शाह शुजा को सिंहासन पर बिठाने का निर्णय किया गया। इस निर्णय में गर्वनर–जनरल ने परिषद से परामर्श नहीं किया किन्तु उसे गृह सरकार तथा संचालन मंडल के अध्यक्ष हॉबहाऊस का समर्थन प्राप्त था। मैकनाटन को सन्धि के लिए लाहौर भेजा गया। मूल योजना के अनुसार अंग्रेजों को केवल शिकारपुर में ही अपनी शक्ति का प्रदर्शन करना था। शाह शुजा के समर्थकों और सिखों के बल पर काबुल [illegible]

अफगानिस्तान पर अंग्रेजी सेना द्वारा आक्रमण करने का निर्णय लिया गया। रणजीत सिंह ने अपने क्षेत्र से अंग्रेजी सेना गुजरने की अनुमति नहीं दी तो दो ओर से –खैबर से सिख सेना और बोलन दर्रे से अंग्रेजी सेना के आक्रमण की योजना बनी। अंग्रेजी सेना सिन्ध के अमीरों से की गई 1832 की सन्धि का उल्लघन करती सिन्ध से होकर गुजरी। क्षेत्र की दुर्गमता तथा रसद की कमी से काफी कठिनाई हुई। शीघ्र ही कन्धार और गजनी पर अधिकार कर लिया गया। दोस्त मुहम्मद काबुल से भाग गया तथा शाह शुजा को अगस्त 1839 में वहाँ सिंहासन पर बिठा दिया गया। अभियान की सफलता पर ऑकलैंड और अन्य कर्मचारियों को उपाधियों स विभूषित किया गया। ब्रिटेन के प्रेस ने इस युद्ध को साम्राज्य सुरक्षा के रुप में लिया। हॉबहाउस ने इसकी प्रशंसा में कहा कि "अलेक्जेंडर महान के पश्चात् प्रथम बार किसी सुसभ्य राष्ट्र का झंडा सिन्धु नदी तक पहुँचा है इसे ब्रिटेन के लिए गौरव की घटना कहा गया। किन्तु इस सफलता के फौरन बाद ही जब विफलता हाथ लगी तो साम्राज्यवादी भावना की आलोचना न कर अंग्रेज केवल इसलिए उत्तेजित हुए कि ब्रिटेन के गौरव को धक्का लगा था तथा अनेक अंग्रेज मौत के घाट उतारे गए व स्त्रियों को कैद कर लिया गया था।

लॉर्ड आकलैंड की नीति का इतिहासकारों ने पूरी तरह खंडन किया है। यह युद्ध न केवल राजनीतिक दृष्टि से बल्कि भौतिक दृष्टि से भी असंगत था। अफगानिस्तान पर आक्रमण करने से पूर्व वे समस्याएँ जो परेशान कर रही थी, समाप्त हो गई थी। फारस की खाड़ी में ब्रिटिश जंगी बेडे को देखकर, फारस के शाह ने घबड़ाकर सितम्बर 1838 में हेरात का घेरा हटा लिया था। लन्दन के दबाव के कारण रुसी सरकार ने अपने दूत को काबुल से वापस बुला लिया था। दोस्त मुहम्मद अंग्रेजों की ओर से रुखाई पाकर ही रुस की ओर झुका था। वैसे भी एक स्वाधीन राज्य के संप्रभु होने के नाते उसे रूसियों में मैत्री करने का पूर्ण अधिकार था चाहे वह अंग्रेजों के हित के कितने ही प्रतिकूल क्यों न हो। राजनीतक दृष्टि से भी इस आक्रमण में रत्ती भर औचित्य नहीं था। अंग्रेज एक स्वाधीन राज्य के आन्तरिक मामले में हस्तक्षेप कर रहे थे। दोस्त मुहम्मद शाह शुतजा से कही अधिक कुशल व लाकप्रिय शासक था। अफगानों को उसमें पूरी निष्ठा थी किन्तु शाह शुजा में उहें विश्वास न था। उसके प्रथम दो अभियानों में काबुल की जनता ने उसका पक्ष नहीं लिया था। मुसलमानों पर शाह शुजा को लादने के लिए सिखों सह सहायता ली गई थी जिनसे पाँच वर्ष पूर्व उनका 'जेहाद' (धर्मयुद्ध) हो चुका था।

लॉर्ड बेंटिक, एल्फिस्टन तथा वेलेजली ने इस नीति की कटु आलोचना की। डयूक ऑफ वेलिगटन ने तो यहाँ तक भविष्यवाणी की कि "यदि एक बार अफगानिस्तान में सरकार निश्चित करने के लिए सिन्धु पार किया जाएगा, तो उसके परिणामस्वरुप हमारी सेना उस देश में बराबर जाती रहेगी।" भारत सरकार रुसी तथा फारसी आक्रमण जाती रहेगी।" भारत सरकार रुसी तथा फारसी आक्रमण के भय से मुक्ति के पश्चात भी अपनी विस्तारवादी प्रवृत्ति पर अंकुश नहींलगा पाई। यह युद्ध ऑकलैंड के पूर्वाग्रह काफल था। गर्वनर–जनरल और उसके परामर्शदाताओं को इस भेजना से इतना मोह हो गया था कि वे दूसरों के परामर्श पर विचार किए बिना विश्व के इस भयंकरतम अभियान में उलझ गए। उन्होंने तो इस राजनीतिक और सैनिक उपयोगिता के प्रत्येक विचार की अवहेलना करने वाले अभियान की निश्चित असफलता की घोषणा कर दी थी क्योंकि इसके भीतरी भाग में अन्याय का कीड़ा था। इसलिए यदि इसका प्रारम्भ सफलता एवं विजय से भी होता, तो भी इसका अन्त अवश्य ही असफलता और अपमान में होता।

मित्र– सेनाओं को प्रारम्भ में सफलताएँ मिली किन्तु अभियान की पूर्ण सफलता से पूर्व ही रणजीत सिंह का देहान्त हो गया। सिख सामन्त, जो रणजीत सिंह के भय से शान्त थे, अब उपद्रव करने लगे तथा इस अभियान के पीछे से सम्पर्क–रेखा टुटने की समस्या उठ खड़ी हुई। काबुल की परिस्थिति में भी भारी खतरे छिपे हुए थे। शाह शुजा ने अंग्रेजी संगीनो व सिखों के बल पर पुनः राज्य प्राप्त किया था किन्तु इसे राष्ट्र की स्वीकृति प्राप्त नहीं हुई। उसके काबुल में प्रवेश के बारे में के (Kay) लिखता है "अपने पुनः अर्जित राज्य की राजधानी में किसी राजा के प्रवेश की अपेक्षा यह शव यात्रा की तरह अधिक लग रही थी।" दोस्त मुहम्मद ने 1840 में आत्मसमर्पण कर दिया तथा उसे बन्दी बनाकर कलकत्ता भेज दिया गया। शाह शुजा फिर भी अंग्रेजी सेना की सहायता के बिना अपने को सिंहासन पर जमाने में असमर्थ रहा। अफगानिस्तान के अभियान ने भारतीय राजकोष को काफी आघात पहुँचाया। अंग्रेजी सेना के वहाँ अधिक रुकने से न केवल आर्थिक भार और बढ़ने ला बल्कि उसकी उपस्थिति से साधारण उपभोग की वस्तुओं के दाम भी बढ गए। इससे विदेशी आधिपत्य से असंतुष्ट जनता और अधिक रुष्ट होने लगी तथा अंग्रेजों द्वारा मनोनीत शासक की अलोकप्रियता भी बढ़ने लगी।

विवेक की बात यह होती कि स्थिति की गंभीरता को स्वीकार कर अंग्रेजी सेना समय रहते दलदल से निकल आती। संचालक मंडल ने भी इसी प्रकार का सुझाव दिया। परन्तु ऐसा करने का अर्थ था अपनी नीति की विफलता को स्वीकार करना जो गर्वनर–जनरल के परामर्शदाता नहीं करना चाहते थे। अतः एक गलत कदमको उचित ठहराने के लिए दूसरा अनीतिकर निश्चय लिया गया कि ब्रिटिश सेना कुछ समय के लिए अफगानिस्तान में ही बनी रहे। 'गलत नितव्ययिता' की नीति अपनाते हुए पूर्वी अफगानिस्तापन के कबीलों के सरदारों को दिया जाने वाला भत्ता बन्द कर दिया गया। ये कबीली सरदार भारत के साथ सम्पर्क बनाए रखने में सहायक थे तथा

धन के लालच में ही अंग्रेजों से चिपके हुए थे। इस कदम ने उन्हें रुष्ट कर दिया। उन्होंने दर्रे बन्द कर विभिन्न मार्गों से विद्रोह कर दिया। रणजीत सिंह की मृत्यु तथा पंजाब में अव्यवस्था के कारण सिखों से सहायता मिलनी भी बन्द हो गई।

अफगानिस्तान में होने वाले दैनिक उपद्रव, कुछ अंग्रेज अफसरों के अनैतिक आचरण से और भड़कने लगे। 1841 में दो घातक भूल के कारण अंग्रेजों ने स्थिति और विषम कर दी। ये भूलें थीं—

(1) लॉर्ड ऑकलैंड कमांडर–इन–चीफ के मना करने पर भी नॉट की जगह वृद्ध एवं अस्वस्थ जनरल एल्फिंस्टन को काबुल में स्थित सेना की कमान सौंप दी,

(2) काबुल का बाला हिसार दुर्ग शाह शुजा को हरम के लिए दे दिया गया और अंग्रेजी सेना खुले शिविर में खड़ी कर दी गई जिस पर आसानी से आक्रमण किया जा सकता था। यही नहीं, वह खाद्यान्न भंडार व शस्त्रागार से भी दूर हो गई। सैनिकों को काबुल गजनी, कन्धार तथा जलालाबाद में वितरित करने से भी अंग्रेजी सेना की शक्ति बँट गई और आवश्यकता पड़ने पर उन्हें जल्दी इकट्ठा न किया जा सका।

1841 की शरद ऋतु आते–आते सम्पूर्ण अफगानिस्तान में अराजकता फैल गई और उपद्रव उठ खड़े हुए। 2 नवम्बर को एक गरजती भीड़ ने बर्न्स (काबुल में भारत सरकार का दूत) के मकान को घेर लिया तथा उसे बाहर घसीटकर उसकी तथा उसके भाई की निर्मम हत्या कर दी। दो मील की दूरी पर अंग्रेजी सेना निष्क्रिय पड़ी रही। अंग्रेजी अक्षमता एवं अफगानी नृशंसता ने इस घटना को एक भयंकर विद्रोह का रूप दे दिया इसका नेतृत्त्व दोस्त मुहम्मद का पुत्र अकबर खाँ कर रहा था। जनरल सेल तथा नॉट (गडमक व कंधार स्थित) ने सहायता करने में अपनी असमर्थता प्रकट की। अंग्रेजी सेना के कमांडरों तथा मैकनाटन के बीच परस्पर विचार साम्य न था। एल्फिंस्टन ने भी बिना चोट किए सेना के माल गोदाम पर विद्रोहियों को अधिकार करने दिया। भूखों मरने से बचने के लिए मैकनाटन ने अकबर खाँ से अपमान जनक सन्धि कर ली, जिसकी प्रमुख धाराएँ इस प्रकार थीं;

(1) अंग्रेज अफगानिस्तान से निकल जाएँगे
(2) दोस्त मुहम्मद को स्वतन्त्र कर दिया जाएगा।
(3) अकबर खाँ अंग्रेजी सेना को अफगानिस्तान की सीमा तक छोड़ आएगा और
(4) शाह शुजा चाहे वापस भारत लौट जाए अथवा वह अफगानिस्तान में ही पेंशन प्राप्त करे। परन्तु अकबर खाँ पर अविश्वास के कारण वह प्रतिद्वंदी सरदारों से भी आपत्तिजनक वार्ता करने लगा। उन सरदारोंने विश्वासघात किया और अकबर खाँ को भेंट के लिए बुलाकर उसकी हत्या कर दी।

मैकनाटन का उत्तराधिकारी पोटिंगर अफगानों से सन्धि वार्ता तोड़कर 'बाला हिसार' पर अधिकार कर, सहायता आने तक मोर्चा सँभालते अथवा लड़ते हुए जलालाबाद जनरल सेल तक पहुँचने का प्रयत्न करना चाहता था। किन्तु अन्य अधिकारियों ने इसकी अपेक्षा अकबर खाँ की सहायता से पीछे लौटना उचित समझा। 16,000 अंग्रेजी सेना बर्फ के तूफान व मार्ग में गिल्जाइयों व अन्य कबाइलियों की गोलियों के बीच पीछे लौटने लगी। लौटते समय स्त्रियों, बच्चों व कुछ अफसरों (पोटिंगर व एल्फिंस्टन सहित लगभग 120 व्यक्तियों) को बंधक रूप में अकबर खाँ ने अपने पास रख लिया। शेष अनुशासनहीन सेना, जो पहले ही तोप व बंदूक गोदाम अर्पित कर चुकी थी, निर्दय हत्याकांड का शिकार बन गई। अकबर खाँ या तो उनकी रक्षा करना नहीं चाहता था अथवा वह धर्मोन्मादयुक्त क्रोध से इनकी रक्षा करने में असमर्थ था। एक सप्ताह के भीतर केवल डॉ ब्राइडन अर्धमृत अवस्था में इस भयावह विनाश की कहानी कहने जलालाबाद पहुँचा। यद्यपि ऑकलैंड की नीति, कानून विरुद्ध और त्रुटिपूर्ण थी, तथापि उसकी पूर्ण असफलता के कारण थे – इस कार्य को करने वाले अयोग्य एजेंट, मैकनाटन का जरुरत से ज्यादा आत्मविश्वास, एल्फिंस्टन का शारीरिक व मांसिक ह्रास सैनिक व असैनिक शक्तियों के बीच निरन्तर होने वाला मतभेद, सेल का समयोचित सहायता रोक लेना तथा लॉर्ड आंकलैंड का आधे मन से किए गए काम एवं अनुचित समय पर की गई मितव्ययिता। लॉर्ड आकलैंड को इससे पूर्व की वह राष्ट्रीय–मर्यादा को पुनः स्थापित करने तथा अपनी अदूरदर्शिता का अभाव छिपाने का प्रयत्न करे, अपना पद छोड़ने पर विवश किया गया तथा 28 फरवरी 1842 में पील ने लॉर्ड एलेनबरो को भारत में गर्वनर जनरल के रूप में नियुक्त किया। इससे पूर्व एलनबरों तीन बार संचालक मंडल का अध्यक्ष भी रह चुका था तथा भारतीय स्थिति से परिचित था। वह आत्मविश्वासी किन्तु उग्र स्वभाव का था (जिसकी वजह से उसे वेलिंगटन के ड्यूक ने शान्तरहने का परामर्श दिया था)।

लॉर्ड एलनबरो को राष्ट्रीय मर्यादा का उद्धार करना था क्योंकि इस असफलता का बुरा प्रभाव न केवल भारत में विद्रोहियों पर पड़ रहा था, अपितु इसकी कटु आलोचना इंग्लैंड में भी हो रही थी तथा बंदियों की पूर्ण प्राप्ति पर जोर दिया जा रहा था। अतः सर्वोपरि हेतु साम्राज्यवादी सरकार को पहले की आसान सी परिस्थिति अर्जित करनी थी और इसके लिए [illegible]

गया। अफगानों पर निर्णायक चोट पहुँचाने के उद्देश्य से महत्त्वपूर्ण निर्णय की जवाबदेही सेनापतियों पर डाल उसने 'अफगानिस्तान पर आक्रमण' का निश्चय किया।

अफगानिस्तान में ब्रिटिश सेना की स्थिति काफी सुधर गई थी। अतः उन्हें पूर्ण स्वतन्त्रता के इस आदेश से बड़ी प्रसन्नता हुई। एक बार पुनः बाला हिसार पर ब्रिटिश पताका फहरा दी गई। गजनी का दुर्ग नष्ट कर दिया गया। यूरोपीय बन्दियों को मुक्त करा के काबुल में निर्दयतापूर्ण लूट मचाकर उसके सुन्दर बाजार को बारूद से उड़ाकर बर्बर विनाश करती हुई अंग्रेजी सेना अफगानिस्तान को 'अशान्ति व अव्यवस्था' के हवाले कर भारत वापस लौट आई। गर्वनर–जनरल ने फीरोजपुर में उसका भव्य स्वागत किया तथा दंभपूर्ण घोषणा की "विजयी सेना अफगानिस्तान से कीर्तिपूर्ण विजयोपहार के रुप में सोमनाथ के दरवाजे वापस ले आई है।

800 वर्ष पूर्व किए अपमान का बदला ले लिया गया है। किन्तु इस उद्घोषणा से प्रशंसा के बजाए एलनबरों की आलोचना अधिक हुई। हिन्दू प्राचीन घटना को भूल उदासीन रहे। मुसलमानों की भावनाओं पर चोट पहुँची। पुरातत्ववेताओं ने उन दरवाजों को ग्यारहवीं शताब्दीके बाद का बना हुआ बताकर इस भव्य उपहार को हास्यास्पद बना दिया। ग्रह सरकार ने भी इस घोषणा को एक धार्मिक दल को प्रसन्न करने की अनुचित नीति ठहराई जो धार्मिक निष्पक्षता के विरुद्ध थी। काबुल में सेना की क्रूरता पर भी क्रोध व्यक्त किया गया। दोस्त मुहम्मद को बिना शर्त के पुनः अफगानिस्तान की गद्दी पर बैठने दिया गया। इसके पश्चात वह अंग्रेजों के प्रति मित्रतापूर्ण व्यवार करता रहा तथा फारस का सफलतापूर्वक विरोध भी करता रहा। उसके शेष शासनकाल ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि 20,000 प्राणियों का जीवन लेना व डेढ़ करोड़ रुपए खर्च करना पूर्णतया अनावश्यक थे।

किन्तु साम्राज्य विस्तार की विडंबना ही है कि अफगान अभियान से लौटते ही, 1843 में तर्कहीन और अनैतिहासिक दलीलें देकर ख्याति से उत्सुक–गर्वनर और उसके सैनिक कर्मचारियों ने 'सिन्ध–विलय' कर लिया। सिन्ध की पृथकता का अन्त व उसके प्रति उग्र नीति तो उस दिन से ही अपना ली गई थी जब 1831 में बर्न्स को चनाब के जलमार्ग से लाहौर भेजा गया था। अफगान अभियान में सिन्ध ा के साथ 1832 की सन्धि का उल्लंघन करते हुए सेना सिन्ध के रास्ते ले जाई गई थी और अफगानिस्तान की विजय में भी भारत सरकार का सेना–संचालक केन्द्र सिन्ध ही था। सिन्ध के अमीरों ने अंग्रेजों की पराजय में काई शत्रुभाव न दिखाया और भारत सरकार के साथ समझौते का पूरी निष्ठा से पालन किया। किन्तु भारत सरकार ने निर्दोष अमीरों पर उपद्रव का अस्पष्ट आरोप लगाकर सिन्ध के अमीरों को वहाँ से खदेड़कर अपनी विस्तारवादी प्रवृत्ति को सन्तुष्ट किया। नेनपियर ने स्वयं इसे 'दुष्टता का अत्यन्त अच्छा कार्य कहा। "हमें सिन्ध लेने का अधिकार नही है। फिर भी इम उसे लेकर रहेंगे।" कोर्ट ऑव डाइरेक्टर्स ने सिन्ध विलय की निन्दा अवश्य की मगर इस गलती को रद्द करने के लिए कुछ नहीं किया। अफगान अभियान यदि अनर्थपूर्ण और बिना लाभ का था तो सिन्ध विलय नैतिक रुप से असंगत।

रणजीत सिंह की मृत्यु के पश्चात् पंजाब में क्रान्तियों व विद्रोहो की श्रृंखला ने अंग्रेजों को 1849 में 'पंजाब विलय' का उचित कारण दे दिया क्योकि भारत में किसी प्रकार की अव्यवस्था था उनके साम्राज्य की स्थिरता के लिए हानिकारक हो सकती थी। पंजाब और सिन्ध की विजय ने ब्रिटिश राज्य को अफगानिस्तान की पहाडियों तक पहुँचा दिया था जिसकी सुनिर्दिष्ट सीमा स्थिर नहीं हो पाई। इस पर्वतीय प्रदेश में पठान कबीलों का अधिकार था जो नाममात्र को अफगानिस्तान के अमीर के अधीन थे। ये युद्धप्रिय, 'कुचकी लोग पंजाब सरकार के लिए सरदर्द का कारण बन गए तथा इन्हें ब्रिटिश सीमांत की अखंडता का सम्मान सिखाने के लिए कई बार अंग्रेजी सेना भेजी गई।

उत्तर पश्चिमी सीमान्त की असन्तोष जनक स्थिति को सुधारने के लिए भिन्न–भिन्न विचारधाराएँ प्रस्तुत की गई। एक मत यह था कि भारत सरकार को सिन्धु तक पीछे हट आना चाहिए। दूसरा विचार था कि कबायली क्षेत्र को ब्रिटिश अधिराज्य में मिलाकर अफगानिस्ता की सीमा तक पहुँचना चाहिए तथा तीसरा, अवसर मिलते ही अफगानिस्तान का एक भाग अपने अधिकराज्य में मिला लेना चाहिए। किन्तु लॉरेस का मत था कि इन कबायलियों की स्वाधीनता स्वीकार कर इनमें ब्रिटिश अधिराज्य के प्रति निष्ठा उत्पन्न करनी चाहिए तथा अफगानिस्तान के आन्तरिक (राजवंशीय) झगड़ों में न पड़कर जो वहाँ सत्तारुढ़ हो, उससे मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों की स्थापना करनी चाहिए। 1878 तक इसी नीति का अनुसरण किया गया। किन्तु लिटन ने भयंकर विनाशका दृश्य उपस्थित कर दिया। उसके पश्चात् यही नीति 1919 तक व्यवहार में रही।

1844 में जार निकोलस प्रथम, रानी विक्टोरिया से मिला और मध्य एशिया में बुखारा, खीवा और समरकन्द के खानों द्वारा शासित राज्य को दोनों साम्राज्यों के बीच तटस्थ क्षेत्र के रुप में छोड़ देने का निश्चय हुआ। क्रीमिया युद्ध के कारण इन मित्रतापूर्ण सम्बन्धों में बाधा पड़ी तथा रुस पुनः मध्य एशिया में अग्रगामी नीति अपनाने लगा। इस काल में अंग्रेजों के अमीर दोस्त मुहम्मद से लगभग अच्छे सम्बन्ध रहे। उसने कन्धार पर अपना आधिपत्य जमा लिया। 1855 में एक संधि द्वारा भारत सरकार ने अमीर के राज्य की सीमा का उल्लंघन न करने का वचन दिया तथा अमीर ने अंग्रेजों के मित्रों का मित्र व शत्रुओं का शत्रु बनना स्वीकार किया। 1856

में फारस के विरुद्ध भी अमीर को धन व शस्त्र से सहायता दी गई जिससे वह हेरात की सुरक्षा कर सका। लॉरेस दोस्त मुहम्मद को पेशावर लौटा देने के पक्ष में था क्योंकि उसकी रक्षा के लिए काफी खर्च करना पडता था किन्तु कैनिंग ने इसका विरोध किया। लार्ड एल्गिन ने भी कम–से–ककम हस्तक्षेप की नीति अपनाई। उसके अनुसार शक्तिशाली, सगठित और अंग्रेजो के प्रति मित्रता रखने वाला अफगानिस्तान उनकी मध्य एशिया नीति के लिए अधिक उपयुक्त था। 1862 में हेरात पर दोस्त मुहम्मद का आक्रमण ग्रह सरकार को पसन्द नहीं आया किन्तु उनके विरोध पर भी एल्गिन ने बिना विरोध के दोस्त मुहम्मद की मृत्यु हो गई। इसके साथ ही आगामी पाँच वर्ष तक अफगानिस्तान उत्तराधिकार के लिए उसके सोलह पुत्रों में ग्रहयुद्ध का अखाडा बन गया।

सभी प्रतिद्वदी अंग्रेजों की सहायता के इच्छुक थे किन्तु लॉर्ड लॉरेस ने कुशल अकर्मण्यता (Masterly Inactivity) का अनुसरण करते हुए संघर्ष शील भाइयों को सहायता देने से इनकार कर दिया। जो भी काबुल में अपने आपको स्थापित करने में सफल होता उसे स्वीकार किया जाता रहा। इस नीति से ग्रहयुद्ध तो काफी लम्बा हो गया किन्तु सहायता न देकर लॉरेस ने दूसरे उम्मीदवारों द्वारा रुस व फारस से सहायता प्राप्ति की संभावना पर रोक लगा दी। इस प्रकार अफगान ग्रह युद्ध को पृथक् कर एक अन्तराष्ट्रीय उलझन को उठाने से रोका गया। किन्तु शेर अली जब अमीर बना तो उसका अंग्रेजी नीति के कारण उनसे विमुख होना आश्चर्य जनक बात नहीं थी। (उसकी सहाहयता की प्रार्थना को लॉरेस ने तीन बार ठुकरा दिया था) 1868 में शेर अली ने जब अपनी सत्तासुस्थिर कर ली तो लॉरेस ने उसे धन व शस्त्र भेजे, जिससे वह अपने आप को और सुदृढ़ करने में सफल हुआ। लॉरेस इससे अधिक हस्तक्षेप करने को तैयार न था।

1864–1868 में रुसियों ने मध्य एशिया में अपना अग्रगामी साम्राज्यवाद फिर से चालू किया। (समरकन्द, बुखारा उसके अधीन आ गए)। रुसी भय की पुनरावृत्ति के कारण रॉलिसन (भारत मन्त्रिपरिषद का सदस्य) ने अफगानिस्तान के प्रति अग्रगामी नीति अपनाने का सुझाव दिया तथा क्वेटा (उत्तरी बर्वचिस्तान में) पर अधिकार कर बोलन दर्रा अपने हाथ में लेने की सिफारिश की। अमीर के प्रति मैत्रीपूर्ण स्थिति को बढ़ाने के लिए वार्षिक अनुपूर्ति देने को भी कहा गया। किन्तु लॉरेंस को इस नीति में विश्वास न था। क्वेटा पर अधिकार उसकी निगाह में मक्खियों के छत्ते पर बैठना था। प्रथम तो उसे विश्वास न था कि रुस भयावह मार्ग की विषमताओं को झेल भारत पर आक्रमण करेगा (अतः रुस से शान्ति वार्ता के लिए ग्रह सरकार से वह याचना करता रहा जिससे रुस यारकन्द व बुखारा में उलझा रहे) यदि रुस के आक्रमण की सत्यता मान भी ली जाए तो उसे इस नीति में कोई तत्व नजर नहीं आता था कि शेर अली से झगड़ा मोल लेकर ऑक्सस (आमू) नदी पर रुस की बढ़ती हुई सेनाओं को रोका जाए। आधे रास्ते में जाकर भिडने की अदूरदर्शिता के बजाय वह यह उत्तम समझता था कि सीमांत प्रतिरक्षा दृढ की जाए और यदि रुस विषमताओं का सामना कर भारत तक पहुँच भी जाए तो पूरी ताकत से टक्कर ली जाए, क्योंकि रुस जितना आगे बढ़ेगा उतना ही कमजोर होता जाएगा। रुस की निकटता से भारत में विद्रोह की संभावना का भय उसे नहीं था। उसके अनुसार हस्तक्षेप की जगह भारत में ही अच्छे शासन प्रबन्ध द्वारा सबका समर्थन प्राप्त किया जाए तथा साधनों में वृद्धि की जाए। यह बात रिपन व ग्रह सरकार ने भी स्वीकार की। लोरस भारतीय मुसलमानों में रुस के खिलाफ भावनाओं को भड़काना चाहता था। लॉरेस ने यह भी कहा कि अफगान अपने प्रथम आक्रामक को चाहे वे अंग्रेज हो या रुसी, अपना शत्रु समझेंगे तथा दूसरे को मित्र व मुक्तिदाता। लॉरेस की नीति पूर्ण निष्क्रियता की नहीं थी वह सुविचारित और तर्कसंगत थी। परिवर्तित परिस्थिति के अनुरुप ढालकर इसी नीति और विचारधारा का अनुसरण लिटन के आने से पूर्व तक होता रहा।

1869 में लॉर्ड मेयो भारत का गर्वनर–जनरल बना। लॉरेस की नीति को स्वीकार करते हुए मेयो भी बिना किसी प्रकार का बन्धन स्वीकार किए शेर अली से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बनाए रखने का इच्छुक था। अतः उसने भी अमीर को आर्थिक सहायता जारी रखी। किन्तु रुसी प्रगति के कारण शेर अली अंग्रेजों की सहायता का निश्चित वचन चाहता था। 1869 में अम्बाला ने अमीर और लॉर्ड मेयो के बीच बैठक हुई। अमीर न वार्षिक अनुपूर्ति, शस्त्र व सैनिक सहायता, अपने सिंहासन एवं राजवंश की सुरक्षा का भारत सरकार का दायित्व तथा अपने छोटे बेटे अब्दुल्ला जान को उत्तराधिकारी स्वीकार करने की माँग की इस तरह की निश्चित सन्धि का अर्थ था भारत सरकार का अफगानिस्तान के राजवंशीय झगड़ों में उलझना जिसके लिए सरकार तैयार न थी। किन्तु वह शेर अली को असन्तुष्ट भी नहीं करना चाहती थी। शेर अली का भव्य स्वागत कर उसे प्रसन्नचित काबुल भेजा गया। सन्धि की जगह मेयो ने उसे लिखित आश्वासन दिया कि जब उचित अवसर समझा जाएगा, भारत सरकार उसे धन व शस्त्र भेट कर नैतिक समर्थन देती रहेगी।

मेयो इस काल में अहस्तक्षेप की नीति का अनुसरण इसलिए भी आसानी से कर सका क्योंकि 1869 में ब्रिटेन के विदेश मन्त्री लार्ड केलेरेंडन ने रुस के युवराज गोर्शाकोफ के साथ वार्ता कर रुस द्वारा अफगानिस्तान की अखडता को स्वीकृत करा लिया। कलकत्ता का राजदूत भी पीटर्सबर्ग गया तथा रुस ने ऑक्सस नदी के दक्षिण की ओर शेर अली की सीमा स्वीकार कर ली बशर्ते नदी के उत्तर में [illegible]

मार्ग द्वारा चीन की ओर ही जा सकता था। इसी और बढने के लिए बिटिश सरकार भी उसे प्रेरित करना चाहती थी। इससे दोनों में टक्कर होती और रुस व चीन की शक्ति कम होने से, इंग्लैड इन पडोसियों से निश्चित हो सकता था। रुस का अफगानिस्तान को अपने प्रभुत्व क्षेत्र से बाहर स्वीकार करना मध्य एशियाई राजनीति में एक महत्त्वपूर्ण चरण था। इससे संतुष्ट हो मेयो ने रुसी तुर्किस्तान के गर्वनर–जनरल काफॅमैन द्वारा शेर अली को भेजे अभिनन्दनात्मक पत्र–व्यवहार (जो अमीर ने मेयो को भेज दिए) पर अधिकार कर लिया। मेयो ने सहायता न दे शेरअली को उससे समझौता करने की राय दी जो उसने स्वीकार की। इस प्रकार हेरात अफगानों अधीन ही रहा। इस काल में अफगानिस्तान में मेयो व्यापारिक सुविधाएँ भी उपलब्ध करने में सफल हुआ।

पंजाब और कश्मीर भारत से मध्य एशिया के साथ व्यापार का केन्द्र बन गए थे। 1868 के पश्चात् चाय और रंग हिन्दूकुश के पार काफी मात्रा में जाने लगे। काबुल में व्यापारिक सुविधाओं और सीमान्त पर स्वतन्त्र व्यापार के नियम के कारण व्यापार में वृद्धि हुई। अमीर से भी अनुरोध किया गया कि वह यथाशक्ति व्यापारिक मार्गों की सुरक्षा का प्रबन्ध करें। नौकापुल व सरायों का भी निर्माण करवाया गया, शिकारपुर से माल बोलन दर्रे, कन्धार और मेशद के रास्ते फारस को भेजा जाने लगा। कराची को एक व्यापारिक बन्दरगाह के रुप में विकसित किया जाने लगा। दूसरा व्यापारिक मार्ग पेशावर से खैबर दर्रे से होकर बुखारा और रवीबा तक जाता था जहाँ रुसी व्यापार से प्रतियोगिता होने लगी। तीसरा था चित्राल व बदख्शान का मार्ग जो पूर्वी तुर्किस्तान तक पहुँचने का निकटतम रास्ता था। भारत से इस बढ़ते हुए व्यापार के कारण ही मेयो रुस का प्रभाव ऑक्सस के दक्षिण में बढने नहीं देना चाहता था। ऑक्सस नदी मध्य एशिया व चीन के साथ व्यापार करने की प्रमुख नाड़ी थी जिस पर रुसी 'संरक्षण–कर' का दबाव वह नहीं चाहता था। मेयो मित्रवत् अफगानिस्तान को भारत से मध्य एशिया की मंडियों को खोजने व प्रयोग करने के लिए महत्त्वपूर्ण केन्द्र बनाना चाहता था। इसके लिए वह रुस से ग्रह सरकार को यह समझौता करने के लिए प्रेरित कर रहा था कि रुस रवीबा और बुखारा की स्वतन्त्रता तथा भारत खेलात अफगानिस्तान और यारकन्द की स्वतन्त्रता प्राप्त कर ले। इन क्षेत्रों पर दोनों शक्तियाँ 'मित्रतापूर्ण प्रभाव' रख सकती थी तथा आवश्यकता पड़ने पर उन्हें दंडित भी कर सकती थी।

1857 के पश्चात् ग्रह सरकार किसी भी प्रकार की बनधन पूर्ण नीति अपनाना नहीं चाहती थी। इसलिए वह मेयो की विस्तृत व्यापार की नीति पर अंकुश लगाने के पक्ष में थी जिससे मध्य एशिया में तनावपूर्ण स्थिति न उठ खड़ी हो। मेयो ने यारकन्द में व्यापारिक विस्तार के लिए शेर अली को ऊपरी ऑक्सस नदी के भाग पर अधिकार जमा रखने को प्रेरित किया। नार्थ ब्रुक अफगानों से ऐसी मित्रता न रख सका। अतः उसने करवान और बदख्शाँ के अमीरों से समझौता कर कश्मीर द्वारा (काबुल की सहायता के बिना) व्यापार जारी रखा। लेकिन लिटन ने इस व्यापार का त्याग उचित एमझा क्योंकि तभी रुस उत्तर–पूर्व (चीन) की और बढ़ने को प्रेरित होगा तथा दक्षिण की ओर विस्तार रुक जाएगा।

साम्राज्यवादी रुस, अनेक बार विस्तार न करने की घोषणा के बावजूद इस बात पर अमल नहीं कर सका। जैसे ही उसकी सीमा के पास किसी खान राज्य में अव्यवस्था अथवा विघटन के चिन्ह दृष्टिगोचर हुए उसने उस पर आधिपत्य कर लिया। 1873 में जब रवीवा पर रुस ने आधिपत्य कर लिया। 1873 में जब रवीबा पर रुस ने आधिपत्य कर लिया तो शेर अली पुनः भारत सरकार पर दबाव डालकर उससे निकट के सम्बन्ध व निश्चित सन्धि का प्रयत्न करने लगा। उसने अपना दूत उस समय के गर्वनर–जनरल लॉर्ड नॉर्थ ब्रुक के पास शिमला भेजा। किन्तु भारत और लन्दन के बीच सीधी टेलीग्राफ लाइन के स्थापित हो जाने से गर्वनर–जनरल अब अधिक स्वतन्त्रता से निर्णय लेने में असमर्थ था। लॉर्ड नार्थब्रुक ने राज्य सचिव से यह स्वीकृति चाही कि यदि शेंर अली अपने समस्त परराष्ट्र सम्बन्धों में हमारे परामर्श से कार्य करे तो उस पर आक्रमण होने पर (यदि हम उचित समझे) हम शस्त्र व सैनिकों से उसकी सहायता करे। किन्तु मित्र मण्डल ने मेयो द्वारा दिए गए अस्पष्ट आश्वासन से आगे बढ़ने की अनुमति नहीं दी। नार्थब्रुक मेयो के काल में अफगानिस्तान के साथ जो बहुत अच्छे मित्रता के सम्बन्ध (व्यक्तिगत रुप में) थे उन्हें बनाए रखने में असफल रहा। 'अहस्तक्षेप नीति की अति सीमा से शेर अली से सम्बन्ध बिगडने लगे। उसने अपने बड़े पुत्र को कैद कर (अंग्रेजी राय के विपरीत) अब्दुला जान को उत्तराधिकारी घोषित कर दिया तथा रुसी एजेन्टो से पत्र व्यवहार करने लगा। मेयो ने जब अस्पष्ट आश्वासन दिया था तब रुस के साथ समझौता हो चुका था तथा शेर अली अभी सत्तारुढ हुआ ही था जिसके बारे में यह नहीं कहा जा सकता था कि वह कितने समय टिकता है। किन्तु अब अपनी योग्यता से वह अपनी स्थिति दृढ़ करने में सफल हो गया था। अतः उसके साथ सर्शत समझौता अधिक उचित रहता। शेर अली अपने दोनों ओर स्थित दो विशाल शक्तियों में से एक का आश्रय लेना आवश्यक समझता था। वह यह समझ गया था कि ये दोनों यूरोपीय शक्तियाँ मध्य एशिया को आपस में विभाजित करने पर तुली हुई थी। नॉर्थ ब्रुक ने अफगानिस्तान व मध्य एशिया के प्रति उदासीनता की नीति अपनाई।

1874 में इग्लैंड में उदार दल के स्थान पर अनुदार दल का मन्त्रिमण्डल सत्ता में आया और डिजरैली प्रधानमन्त्री बना। वह और [illegible]

यह विश्वास कि काबुल पर प्रभाव डालकर रुस अफगानिस्तान को भारत से भिड़ा सकता था अथवा भारत म विद्रोह को भड़काने की चेष्टा कर सकता था। किसी भी परिस्थिति मे उत्तरी भारत में सुरक्षा के लिए एक बडी अंग्रजी फौज बंध जाती।

अफगानिस्तान निष्पक्ष नहीं रह सकता था। अतः उसे ब्रिटिश अफगानिस्तान निष्पक्ष नही रह सकता था। अत उसे ब्रिटिश प्रभाव म लाने के लिए नॉर्थब्रुक से काबुल में ब्रिटिश रेजीडेंट रखवाने का आग्रह किया गया। नार्थब्रुक चाहता था कि अमीर की इच्छा के विपरीत उस पर रेजीडेंट रखवाने का आग्रह किया गया। नार्थब्रुक चाहता था कि अमीर की इच्छा के विपरीत उस पर रेजीडेंट थापने की अपेक्षा रुस से सीधी बात कर एशिया में रुस व ब्रिटेन के हितों की स्थिति को स्पष्ट करवा लेना चाहिए। अफगानिस्तान की अखण्डता तथा अमीर से उसका पत्र–वयवहार समाप्त करवाने के लिए सेन्ट पीटर्सबर्ग पर जोर डाला जा सकता था। किन्तु अनुदार दल ने पीटर्सबर्ग की जगह काबुल पर अधिक जोर डालना शुरु कर दिया।

गृह सरकार तथा भारत सरकार (वाइसराय और उसकी कौंसिल) के सोचने का दृष्टिकोण भिन्न–भिन्न था। भारत सरकार का यह विचार था कि ब्रिटिश सरकार से शेर अली के घनिष्ठ मत्री–सम्बन्धों की याचना को हम इसलिए ठुकराते रहे कि उसकी आशंका निर्मूल थी। अब किसी भी बहाने यदि शेर अली की इच्छा के विरुद्ध वहाँ प्रतिनिधि मण्डल भेजा गया तथा उसे रेजीडेंट रखने का विवश किया गया तो इसका परिणाम होगा कि शीघ्र ही अफगानिस्तान के साथ अनावश्यक एवं कीमती लड़ाई में हम उलझ जाएँगे। नॉर्थब्रुक को यह विश्वास था कि उत्तर–पूर्व व हेरात पर शेर अली अपना प्रभुत्व न रख सकेगा। अतएव उसने तेहरान द्वारा हेरात से सम्बन्ध रखे और उत्तर पूर्व में भी बखान और बदख्शाँ के अमीरों से सम्बन्ध रखे।

परस्पर विरोधी नीतियों के कारण नार्थब्रुक ने 1876 में त्यागपत्र दे दिया। उसकी जगह लॉर्ड लिटन पूर्ण अधिकार सहित 'अतिहस्तक्षेप नीति' की पूर्ति के लिए गृह सरकार ने भेजा। अब तक की अनाक्रामक प्रवृत्ति एवं अफगान संवेदनाओं के प्रति सम्मान भावना का स्थान उग्र साम्राज्यवादी नीति एवं कूटनीतिक चालबाजी ने ले लिया। इसका उद्देश्य भारत सुरक्षा का ध्यान नहीं, अपितु एशिया में ग्रेट ब्रिटेन की प्रभुता व सर्वोपरिता स्थापित करना था। लॉर्ड लिटन को शेर अली द्वारा 1873 में रखी शर्तों को स्वीकार करते हुए अमीर के साथ अधिक निश्चित मैत्रीसम्बन्ध इस शर्त पर स्वीकार करने के लिए कहा गया कि बदले में हेरात में बिटिश एजेंट की स्थापना हो और काबुल में ब्रिटिश शिष्टमण्डल का स्वागत किए जाए। इससे सीमा पर रुसी चालों का उचित ज्ञान होता रहेगा। कन्धार के रास्ते को नियन्त्रण में रखने के लिए 1877 में क्लात के खाँ के साथ एक सन्धि द्वारा क्वेटा पर कब्जा कर लिया गया। भारत सरकार ने मुसलमानों को प्रेरित किया कि वे तुर्की के सुल्तान के पक्ष में गृह सरकार से आवेदन करे। इस प्रकार मुसलमानों में रुस के खिलाफ भावनाओं को भडकाया गया व पूर्वी समस्या को अफगानिस्तान व मध्य एशिया की समस्या से सम्बन्धित करने की चेष्टा की गई। लिटन भारत, तुर्की और मध्य एशिया के मुसलमानों को ग्रेट ब्रिटेन की अध्यक्षता प्रदान करना चाहता था और इनके संयुक्त प्रयत्नों द्वारा रुसी साम्राज्यवाद को हर जगह मात दिलवाना चाहता था। और यदि अफगानिस्तान सहयोग न दे तो उसे लिटन दंडित करने को तैयार था।

शेर अली ने ब्रिटिश शिष्टमंडल को अफगानिस्तान आने की अनुमति नहीं दी। उसने कारण यह बतलाया कि वह अपनी धर्मान्ध प्रजा से ब्रिटिश दूत की रक्षा करने में असमर्थ था। यदि वह ब्रिटिश मिशन कबूल करे गातो वैसी ही अनुमति उसे रुसी शिष्टमण्डल के लिए अस्वीकृत करना कठिन हो जाएगा। लॉर्ड लिटन को अमीर का उत्तर 'अवज्ञा' प्रतीत हुआ। शिमला तथा पेशावर मे अफगान दूतों से वार्ता में लिटन ने पुर्नः दबाव डाला। अपनी शक्ति प्रभाव डालते हुए अफगानिस्तान को रुस व ब्रिटेन के बीच 'मिट्टी की हडिया व अंग्रेजों की मित्रता को 'लोहे का कवच' बताया गया। काबुल के दूत सैयद नूर मुहम्मद ने भी समझाने की चेष्टा की कि स्वेच्छाचारी 'एव' स्वाधीनताप्रिय अफगान विदेशी सत्ता को स्वकार करने वाले अमीर को एक क्षण भी शासन नहीं करने देंगे।

इसी वार्ता के दौरान सैयद नूर मुहम्मद की मृत्यु हो गई और लिटन ने दूसरे दूत (जो मार्ग में था) का इन्तजार किए बिना वार्ता– गोष्ठी की समाप्ति कर दी इस बीच अमीर रुस से अपने सम्बन्ध बढ़ा रहा था और अब लिटन के साथ वाता समाप्ति के कारण भारत–अफगान सम्बन्धों में गतिरोध आ गया।

अफगान नीति को अब यूरोप के घटनाक्रम ने प्रभावित करना शुरु कर दिया। 1876 में बल्गेरिया ने तुर्की कुशासन के विरुद्ध सशस्त्र विद्रोह कर दिया। रुस ने उनकी सहायता के लिए अपनी सेना बालकन में भेज दी। डिजरैली ने तुर्की की अखंडता बनान के लिए अन्ध महासागर में अपने जंगी बेडों को दर्रे दानियाल पार करने का आदेश दे दिया। अंग्रेजी हस्तक्षेप के कारण रुस कुस्तुन्तुनिया पर आक्रमण तो नहीं कर सका किन्तु तुर्की से सान स्टेफानों की सन्धि द्वारा काफी बड़े प्रदेश तथा तुर्की पर प्रभाव स्थापित करने मे सफल हो गया। ब्रिटेन ने इस सन्धि को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया तथा युद्ध की तैयारियाँ शुरु कर दी। जर्मनी के [illegible] रुस के प्रतिकूल थी। बर्लिन के इस अपमान का बदला रुस ने अब अफगानिस्तान में अंग्रेजों की स्थिति बिगाड कर लेना चाहा। [illegible]

में तनाव के समय डिजरैली ने भारत से सैन्य टुकडियाँ सहायता के लिए प्राप्त की थी। रुस अब भारत सरकार को पड़ोस में ही युद्ध क्षेत्र में उलझाना चाहता था जिससे वहाँ से पुन: सहायता प्राप्त न हो सके अथवा भारत की ओर दबाव डालकर वह यूरोप में हारी हुई बाजी का बदला लेना चाहता था।

इधर बर्लिन अधिवेशन का श्री गणेश हुआ और उधर ताशकन्द से रुसी जनरल स्टोलियटोव काबुल की ओर रवाना हुआ। शेर अली के प्रतिवाद की उपेक्षा कर जुलाई में वह कबुल पहुँच गया। शेर अली के खिलाफ उसके प्रतिद्वन्द्वी अब्दुर्रहमान को खड़ा करने की धमकी भी दी गई। काबल में रुसीदूत के आने से अमीर और भारत सरकार के सम्बन्ध कटु हो गए।

काबुल में रुसी दूत भेजने का उद्देश्य यूरोप में ब्रिटिश नीति पर प्रत्याघात करना व दबाव डालना था और उसका काबुल में जमे रहना बर्लिन सन्धि के विरुद्ध था। इंग्लैंड को रूस पर दबाव डालकर उसे वापस बुलाने की माँग करनी चाहिए थी। किन्तु लिटन ने अंग्रेज प्रतिनिधि–मडल को काबुल की ओर प्रस्तान की सूचना अमीर को भेजी। दूत–मडल को अली मस्जिद पर रोक दिया गया। इस घटना को बढ़ा–चढ़ाकर लिटन ने गृह सरकार को सूचित किया तथा 2 नवम्बर को अमीर को चेतावनी दी गई कि यदि 20 तारीख तक दूत–मण्डल स्वीकार न किया गया तो उसे युद्ध के लिए तैयार रहना चाहिए। अमीर का 14 नवम्बर का लिखा उत्तर 30 नवम्बर को पहुँचा जिसमें दूत–मण्डल के लिए स्वीकृति तो थी किन्तु पूर्व गलती के लिए क्षमा नहीं मा.गी गई थी। वैसे भी लिटन ने 21 नवम्बर को ही अपनी सेनाएँ कूच करवा दी थी। शेर अली को रुस से सायता भी प्राप्त न हो सकी क्योंकि यूरोप में शान्ति लाभों के खोए बिना रुस उस सन्धि का उल्लंघन कर अंग्रेजों से लड़ाई नहीं करना चाहता था। आश्चर्यजनक रुप से बर्लिन की सन्धि शेर अली के पतन का प्रत्यक्ष कारण बन गई। इस प्रकार दूसरा अफगान युद्ध, ग्लैडस्टान के शब्दों में, 'भूल को दुबारा दुहराते हुए' शुरु हुआ।

शेर अली भाग गया। कन्धार पर कब्जा कर लिया गया। लॉर्ड लिटन की इच्छा अफगानिस्तान को छिन्न–भिन्न करने की थी, किन्तु गृह सरकार ने याकूब खाँ को शेर अली का उत्तराधिकारी स्वीकार कर लिया। 1879 में गंडमक की सन्धि के अनुसार अमीर ने स्वीकार किया कि (1) उसके पर राष्ट्र सम्बन्ध ब्रिटिश सरकार की इच्छा व परामर्श के अनुरुप होंगे,

(2) काबुल में ब्रिटिश रेजीडेंट व अन्य सीमान्त क्षेत्रो में स्थायी ब्रिटिश एजेंट रहेंगे,
(3) बोलन दर्रे के निकटवर्ती जिले पिंशीन, सिबी और खुर्रम दर्रा अंग्रेजों को भेंट कर दिए जाएँगे,
(4) अफगानिस्तान व भारत में नजदीकी संपर्क के लिए अंग्रेजों को खुर्रम से काबुल तक टेलीग्राफ लाइन की स्थापना का अधिकार रहेगा। इन सबके बदले में उसे 6 लाख रुपए वार्षिक तथा आक्रमण के समय यदि उचित समझा गया तो धन, शस्त्र व सैनिक सहायता मिलेगी। गंडमक की सन्धि युद्ध की महत्तम उपलब्धि कही गई। लिटन के अनुसार अफगानिस्तान में दूसरा विदेशी प्रभाव समाप्त हुआ और अफगान सीमा को इस तरह ठीक किया गया कि उस राज्य में ब्रिटिश प्रभाव को स्थायी रुप से बचाया जा सके। डिजरैली ने दावा किया कि सन्धि द्वारा 'अपने भारतीय साम्राज्य के लिए एक वैज्ञानिक, व्यवस्थित और पर्याप्त सीमा उपलब्ध हुई।' किन्तु यह विजय वदंभ अल्पजीवी सिद्ध हुए।

सन्धि के अनुसार जुलाई के अन्त में ब्रिटिश दूत कावेगनरी काबुल पहुँचा। 3 सितम्बर को अफगानों ने सशस्त्र विद्रोह कर दिया और रेजीडेंसी पर आक्रमण कर राजदूत व उसके अंगरक्षकों को मौत के घाट उतार दिया। ब्रिटिश सेना फिर सक्रिय हो गई। हत्याकांड में याकूब का हाथ था अथवा नहीं, इसका निर्णय कठिन है। उसे शासन के आयोग्य समझा गया और भारत भेज दिया गया। शेर अली के भतीजे अब्दुर्रहमान के साथ समझौते की बातचीत होने लगी (यह समरकन्द में रुसी संरक्षण में शरणार्थी था और अब शायद रुसियों ने उस परेशानी खड़ी करने के लिए भेजा था)। समझौते की बातचीत समाप्त होने से पूर्व ही अनुदार सरकार का पतन हो गया तथा ग्लैडस्टन की सरकार सत्तारुढ हो गई। लिटन की जगह रिपन को नीति परिवर्तन के लिए भेजा गया। स्थिति का अध्ययन कर रिपन ने अब्दुर्रहमान को काबुल का अमीर स्वीकार कर उससे सन्धि कर ली। उसने भारत सरकार द्वारा अपनी विदेश नीति का नियन्त्रण स्वीकार कर लिया। गंडमक की सन्धि द्वारा दिए हुए जिले अंग्रेजों के हाथ में ही रहे। नए अमीर को वार्षिक रकम देना तय हुआ व विदेशी आक्रमण से सुरक्षा का भी वचन दिया गया। ब्रिटिश रेजीडेन्ट के अफगानिस्तान में रहने की कोई चर्चा नहीं की गई।

इग्लैंड व रुस दोनों की अफगान नीति अग्रगामी सामाज्यवादी नीति थी। प्रारम्भ में रुस के विस्तार को फारस व अफगानिस्तान के सहयोग से रोकने की चेष्टा की गई थी किन्तु फारस संकट (रुसी आक्रमण) में इंग्लैंड से सहयात न मिलने पर रुष्ट हो गया और जार का अधीनस्थ सहयोगी (Isubordinate ally) बन गया। अब रुस व भारत सरकार की सीमान्त चौकियों में केवल अफगानिस्तान रह गया। अंग्रेजों के लिए इसकी अखंडता भारतीय साम्राज्य की अखण्डता से सम्बन्धित लगी। अफगान अमीर से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध को एकमत ही सबने स्वीकार किया। किन्तु यह सम्बन्ध या 'अहस्तक्षेप नीति' को अथवा विदेश नीति को नियन्त्रण में रख 'हस्तक्षेप नीति' के भारत पर वास्तविक हमले के बारे में तो राजनीतिज्ञों को संदेह था, किन्तु इसमें संदेह नहीं था कि काबुल का मित्र बनकर वह अंग्रेजों पर दबाव डाल सौदेबाजी कर सकता था युद्ध के संकटकाल में वह यूरोप के अन्यत्र इंग्लैंड को उलझा तो सकता था

था, उनकी स्थिति का नाजायज फायदा उठाकर वह यूरोप में अंग्रेजो से सहूलियते भी ऐंठ सकता था। इस प्रकार अफगानिस्तान यूरोपीय राजनीतिक खेल में अंग्रेजों से सहूलियतें भी ऐंठ सकता था। इस प्रकार अफगानिस्तान यूरोपीय राजनीतिक खेमें में शतरन्ज का प्यादा बन गया। ऑकलंड ने एक अधीनस्थ अमीर को अंग्रेजो की संगीनो की सुरक्षा में अफगानिस्तान में बैठाना चाहा किन्तु असफल रहा। अंग्रेज अफगान अमीर को तो अपनी शक्ति से हटा सकते थे किन्तु वहाँ अपना प्यादा नहीं बैठा सकते थे। उन्हें अफगानो द्वारा स्वीकृत शासक को ही मान्यता देनी पड़ी। लिटन भारतीय साम्राज्य को वैज्ञानिक सीमान्त देकर तथा अफगानिस्तान का भागा में बाँटकर वहाँ के दो प्रमुख अमीरों को एजेंटों की निगरानी रखना चाहता था। वह हेरात सहित पश्चिमी अफगानिस्तान का एक स्वतन्त्र प्रदेश बनाना चाहता था। किन्तु वह विफल रहा। इन दोनों नीतियों के बीच 'अहस्तक्षेप की नीति' समस्या का समाधान न कर सकी। द्वितीय अफगान युद्ध अफगानों की स्वाधीनता–प्रिय प्रवृत्ति को न दबा सका। अतः विदेशी प्रभाव को समाप्त करने के लिए अफगानिस्तान के अमीर की विदेश नीति पर ही अंकुश लगाया गया और आन्तरिक मामलों में अहस्तक्षेप की नीति अपनाई गई। इस प्रकार पूर्व की दोनों नीतियों का मिश्रण इस काल में देखा जा सकता है। लिटन की अग्रगामी नीति का इतना परिणाम अवश्य हुआ कि अंग्रेजों को अब अफगानिस्तान में मजबूत स्थिति प्राप्त हुई और रुस का 'प्रभावित क्षेत्र' बनने का उसका भय कम हो गया।

अब्दुर्रहमान को अफगानिस्तान का एक छोटा–सा क्षेत्र ही उत्तराधिकार में प्राप्त हुआ। काबुल, कन्धार (शेर अली के अधीन) और हेरात (याकूब खाँ के अधीन) पर स्वाधीन शासकों का अधिकार था। शेर अली खाँ को कन्धार का शासन त्यागकर भारत आने के लिए तैयार किया गया। कन्धार विलय से न केवल अब्दुर्रहमान अपनी सत्ता दृढ कर सका और बाद में हेरात व सीस्तान को भी मिला सका, बल्कि अंग्रेजों के प्रति उसकी निष्ठा भी बढ़ गई। इस काल में अंग्रेजों ने अमीर के ऊपर किसी प्रकार का दबाव नहीं डाला और स्थिति मित्रतापूर्ण रही यह कहना वास्तव में आंशिक सत्य होगा। इस काल के अफगान समबन्धों पर अन्तराष्ट्रीय परिस्थितियों का प्रभाव प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। अंग्रेजों का अमीर के ऊपर दबाव का अनुपात यूरोपीय राजनीति में इग्लैंड व रुस की शक्ति के उतार–चढ़ाव पर निर्भर करता रहा। यूरोप में जर्मनी के नेतृत्त्व में त्रिदलीय सन्धि (Triple Alliance) ने रुस के हाथ कमजोर कर दिए तथा इग्लैंड की स्थिति तुलनात्मक दृष्टि से मजबूत हो गई। इसका प्रभाव रुस की एशिया में विस्तार–नीति पर पड़ा। इस काल में वह चुप रहा। फलतः लॉर्डरिपन व डफरिन अफगानों के साथ शान्तिमय नीति अपना सके। रुस और फ्रांस के बीच सैनिक गठबन्धन के होते ही रुस पुनः अग्रगामी नीति पर चलने लगा। एशिया में रुस के विस्तार तथा दक्षिणी अफ्रीका में इग्लैंड का बोअर युद्धों में उलझना और यूरोप में कूटनीतिक हारों से इग्लैंड को अपनी पृथकता की नीति से होने लगा। चीन की ओर बढ़ती रुस की लालसा को इग्लैंड ने जापान के साथ सन्धि द्वारा रोकने की चेष्टा की। मध्य एशिया में उसके विस्तार के कारण भारत में लैंसडाउन और कर्जन को अफगानिस्तान की ओर उग्र अग्रगामी नीति अपनानी पड़ी अबकी बार ब्रिटिश एजेंटों को अफगानिस्तान में रखने की माँग नहीं की गई, अपितु ब्रिटिश कर्मचारियों को अफगान सीमान्त पर नियुक्त करने की चेष्टा की गई। अफगानिस्तान के प्रमुख शहरों का भारत के साथ सम्पर्क स्थापित करने के लिए टेलीग्रफ व रेलवे लाइने (दोनों दर्रों के जरिए) स्थापित करने की चेष्टा की गई। उत्तर–पश्चिमी सीमान्त पर स्थित कबीलों की निष्ठा प्राप्त करने की कोशिश हुई। भारत व अफगान सीमा का निर्धारण किया गया।

रिपन की नीति धीरे–धीरे अफगानिस्तान से बाहर आने की थी। रुस के कार्यों के लिए अमीर के कुछ न कहकर वह गृह सरकार द्वारा सीधा पीटर्सबर्ग से समझौता करने के पक्ष में था। 1883 में अमीर का वार्षिक अनुदान 12 लख रुपये कर दिया गया जिससे वह हेरात की सुरक्षा का उचित प्रबन्ध कर सके। रुस के साथ समझौते के प्रयत्न विशेष सफल नहीं होते थे या तो वह घोषणा कर पुन नीति बदल देता अथवा अंग्रेजो को क्वेटा पर अधिकार के कारण अफगानिस्तान को निष्पक्ष मानने से इनकार कर देता और तुर्किस्तान में अपनी स्थिति रक्षात्मक समझता। रुस जब भी अपनी दूरवर्ती चौकियों को आगे ठेलता तो इन आक्रमणकारी कार्यों की व्याख्या यह कहकर की जाती कि वे स्थानीय अफसरों की अनधिकार चेष्टाएँ है या स्थानीय आवश्यकताओं के कारण किए गए है। रुस का मध्य एशिया में बढता हुआ प्रभाव व अंग्रेजों का भय भारतीयों से छिपा न था और इसके आधार पर शिक्षित व कर्मचारी मध्य वर्ग अपने शासकों से सौदेबाजी व शिकायतें करने लगा।

1884 में मर्व को (जो मध्य एशिया से भारत की ओर आने वाले मार्ग का केन्द्र था) जब रुसी राज्य में मिला लिया गया तब अंग्रेजो ने जोर दार प्रतिवाद किया। ब्रिटेन और रुस के मध्य हुई वार्ता के कारण रुस–अफगान सीमा का पुनर्निर्धारण करने के लिए दोनो ओर से आयुक्त नियुक्त हुए। इस बीच रुस व अफगानिस्तान की सेनाएँ विवादग्रस्त क्षेत्रो पर चुपचाप कब्जा करने लगी जिससे वे अपने दावों को वासतविकता में बदल सकें। 1885 हमें विवाद पराकाष्ठा पर पहुँच गया जब रुसियों ने पंजदेह (मर्व के दक्षिण में 100 मील पर) से अफगानों को भगाकर उस पर कब्जा कर लिया। ग्लैडस्टन की शान्ति पसन्द सरकार भी इस पर युद्ध के लिए मचल उठी तथा रुस को सबक सिखाने की आवाज बुलन्द होने लगी। हेरात पर रुसी आक्रमण की सम्भावना के कारण क्वेटा में अंग्रेजी सेना जमा की जाने लगी। किन्तु कूटनीतिज्ञों के परिश्रम, डफरिन की कुशलता तथा अब्दुर्रहमान की सहज बुद्धि के कारण युद्ध टल

गया। अमीर पंजदेह के स्थान पर जुल्फीकार दर्रा प्राप्त कर सन्तुष्ट हो गया (पंज देह रुसी अधिराज्य में ही रहा)। चतुर अमीर दो शक्तिशाली साम्राज्यवादी शक्तियों के बीच 'अफगानिस्तान को चक्की के दो पाटो में फँसा' हुआ जान, इन दोनों की टक्कर को रोकना चाहता था। इस युद्ध में अफगानिस्तान युद्ध क्षेत्र के रुप में पिस जाता। काबुल, शिमला, लन्दन एवं सेन्ट पीटर्सबर्ग की सुदीर्घ वार्ता के उपरान्त 1887 में सीमारेखा (ऑक्ससन से जुल्फीकार के दर्रे तक) का पूर्ण निर्णय हा सका। अल्फ्रेड लायल के शब्दों में 'हिन्दूकुश एवं ऑक्सस पर खीची सीमा रेखाओं ने दोनों देशों (रुस व इग्लैंड) के अनवरत विसतारशील एशियाई साम्राज्यों को परस्पर टकराने से बचा दिया'। अब्दुर्रहमान भी रावलपिंडी में डफरिन की वार्ता से सन्तुष्ट तथा भारत की सैनिक शक्ति से प्रभावित हो स्वदेश लौटा। हाँलांकि इसने भी हेरात पर आक्रमण की आशंका के दौरान अंग्रेजी सैनिकों को अफगानिस्तान में प्रवेश करने की अनुमति से साफ इनकार कर दिया था किन्तु डफरिन ने लिटन की तरह दुराग्रह न किया और न इसे अवज्ञा समझा गया। उसने बिना तर्क इसको स्वीकार कर लिया।

लैसडाउन अपने दंशपूर्ण व्यवहार और आन्तरिक प्रशासन नीति सम्बन्धी परामर्श के कारण अमीर के साथ निजी मित्रता स्थापित करने में सफल न हुआ। अफगानिस्तान की संप्रभुता स्वीकार किए हुए थे। इन कबालियों पर जब अफगान सरकार नियन्त्रण करने में असफल रहती तो भारत सरकार को बार–बार अपने सैनिक भेजने पड़ते। इस असुविधा से बचने के लिए उग्र विचार वाले इस क्षेत्र पर आधिपत्य करना चाहते थे किन्तु इससे अमीर अप्रसन्न हो सकता था। अमीर इसलिए भी इस काल में अप्रसन्न था कि अंग्रेज गिलगिट (कश्मीर का सीमान्त प्रान्त) तथा बहाना मिलते ही चित्राल पर भी प्रभाव जमाने से न चूके। अफगानिस्तान के प्रवेश द्वारों (दर्रों) पर रेल तो पहले ही पहुँच चुकी थी, अब चारों ओर दूतो का जाल फैलाना उसे अंग्रेजों के प्रति संदेहास्पद लगने लगा। लॉर्ड लैंसडाउन ने रॉबर्ट के नेतृत्त्व में शिष्ट मण्डल भेज अमीर के असन्तोष को दूर करने की योजना बनाई। किन्तु राबर्ट जब तक भारत में रहा अमीर अस्वस्थता का बहाना बनाकर टालता रहा। 1892 में डूरंड अकेले ही सुरक्षा के लि अमीर की जिम्मेदारी पर काबुल पहुँचा तथा दोनों सरकारों में उनके प्रभाव–क्षेत्रों के बारे में समझौता हो गया। इसके अनुसार कुछ जिलों के बदले अमीर ने यह वचन दिया कि वह स्वात, बाजूर, दीर और चित्राल के मामलों में टाँग न अड़ाएगा न चमन रेलवे स्टेशन पर अधिकार जताएगा और भारतीय सीमा की तरफ रहने वाले कबीलों के मामले में हस्तक्षेप नहीं करेगा। बदले में उसे 18 लाख रुपये वार्षिक और शस्त्र खरीदने की छूट दे द गई। इस प्रकार दोनों में सीमा निर्धारण के सम्बन्ध में समझौते से आपस में पनपती कटुता मिट गई। समय–समय पर उठने वाले सीमा सम्बन्धी झगडे का अंग्रेज व अफगान आयुक्त मिलकर निर्णय लेने लगे। कबालियों के उपद्रवों को रोकने के लिए सीमावर्ती जिलों में सामरिक महत्त्व की सड़के एवं रेलों का निर्माण किया गया। कर्जन के काल में कबायलियों को नियमपूर्वक किन्तु सीमित रुप से अस्त्र–शस्त्र दिए गए तथा ब्रिटिश सेना की जगह इस सीमान्त पर ब्रिटिश अफसरों के अधीन संग्रहीत कबायली सैन्य अथवा मिलीटरी पुलिस भर दी। महत्त्वपूर्ण कबीलों को नियमित अंतराल पर रुपये दिए गए जिससे वे शान्ति एवं स्थिरता कायम रखने और अपराध रोकने में प्रोत्साहित हो। 1901 में उत्तर–पश्चिमी सीमाप्रान्त का निर्माण किया गया।

कर्जन के काल में एक बार पुनः 'अति उग्रवादी नीति' का अनुसरण हुआ। वह भारत साम्राज्य के आसपास के क्षेत्रों में किसी भी तरह का विदेशी प्रभाव नही देखना चाहता था। स्वेज से अरब व फारस की खाड़ी के जलमार्ग तथा पूर्व में तिब्बत व दक्षिण–पूर्ण में स्याम तक रुसी विस्तार व प्रभाव के भय से वह पीडित रहा। रुस के फारस की खाड़ी में 'कोयला भरने का स्टेशन' स्थापित करने के प्रयत्न तो असफल रहे, किन्तु उत्तरी और मध्य फारस में उसका प्रभाव निरन्तर बढ़ रहा था। आरेनबर्ग–ताशकन्द रेलवे के निर्माण ने उसकी स्थिति और मजबूत कर दी थी। मध्य एशिया में उसकी राजनीततक, व्यापारिक एवं निर्माणात्मक कार्रवाइयों की राजनीतिक, व्यापारिक एवं निर्माणात्मक कार्रवाइयों की वजह से 1903 में कर्जन को इग्लैंड का प्रभाव दक्षिणी फारस में व खाड़ी के बंदरगाहों में पूर्ण व शक्तिशाली रुप से स्थापित करने के लिए, फारस की यात्रा करनी पड़ी। वह बलूचिस्तान द्वारा फारस और भारत में सीधी रेलवे लाइन स्थापित करना चाहता था, किन्तु फारस का शाहजार के प्रभाववश इसके लिए स्वीकृति देने को राजी न हुआ। रुस से सन्धि के तहत फारस में रेलवे लाइन बिछाना वर्जित था अन्य विकास कार्यों पर भी प्रतिबन्ध था। उत्तरी फारस की अनिश्चित सीमा के कारण रुस द्वारा किसी–न–किसी बहाने से अतिक्रमण होता रहा। यदि दक्षिणी फारस में पहले से ही अंग्रेजों की व्यापारिक सर्वोच्चता और राजनीतिक प्रभाव न होते तो शायद सारा फारस रुस के अधीन हो जाता। फारस व अफगानिस्तान के बीच सीमा–निर्धारण के लिए सीस्तान की समस्या का समाधान करने के लिए मैकमोहन को नियुक्त किया गया और सीस्तान निर्णय (Award) द्वारा हेलमन्द नदी पर अफगानिस्तान का प्रभाव (रुस के खिलाफ) बनाए रखने में अंग्रेज सफल हुए।

20 वीं सदी में अफगानिस्तान के साथ सम्बन्धों पर पामीर पठर की ओर रुस की विस्तारवादी नीति और बाद में काबुल स्थित जर्मन आस्ट्रियन एवं तुर्की मिशनों के षडयन्त्रों (1914–1918) ने बहुत प्रभाव डाला। 1901 में अब्दुर्रहमान की मृत्यु पर उसके उत्तराधिकारी अमीर हबीबुल्ला ने अंग्रेजों के साथ की गई सन्धि का पुनर्नवीकरण करने से इनकार कर दिया। उसके अनुसार यह दोनों देशों में

हुई थी, अतः एक अमीर के मरने पर इसके पुनर्नवीकरण की आवश्यकता नहीं थी। कर्जन ने इसके लिए जोर दिया। अमीर अपने देश में रेलवे व टेलीग्राफ की स्थापना के खिलाफ था। कुछ समय के लिए पत्र–व्यवहार दोनों ओर से बन्द रहा। अमीर ने सहायता की रकम भी न ली और 'हिज मैजेस्टी' की उपाधि का दावा किया। निस्संदेह रुस के अंग्रेज –विरोधी कारनामों से उसे प्रोत्साहन मिलता था। रुसी अफगान सीमा के निश्चित हो जाने के पश्चात् पामीर की ओर रुस पूर्ण रुप से विस्तार कर चुका था तथा अब अफगानिस्तान के साथ राजनीतिक नहीं, वरन आर्थिक सम्बन्ध बनाने के लिए उसके अथक प्रयत्न जारी थे। रुसी रेलमार्ग हरात व अफगानिस्तान के प्रमुख द्वारों तक पहुँच चुके थे तथा अंग्रेजों को यह भय था कि यदि रुस यहाँ आर्थिक व व्यापारिक सुविधाएँ (जो वह अपने देश में अफगानों को देने को तैयार था) प्राप्त करने में सफल हुआ तो राजनीतिक प्रभाव डालने में उसे समय न लगेगा।

इसके साथ सीमान्त कबीलों में उपद्रव और अफगानिस्तान की विदेशी शक्ति के साथ सीधी बातचीत ने दोनों देशो के बीच तनावपूर्ण स्थिति पैदा कर दी थी। रुस का अफगानिस्तान के साथ घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित करने का एक मुख्य कारण यह था कि जापान की सुदूर–पूर्व में बढ़ती हुई शक्ति क कारण रुस से उसका टकराव निश्चित था। इस आगामी टकराव में वह जापान को इग्लैंड से पृथक् रखना चाहता था। उसका उद्देश्य था कि जैसे ही जापानी बेडा 'येलो सी' (Yellow Sea) में पहुँचे, रुसी सेनाएँ अफगानिस्तान की सीमा पर पहुँच भारत सरकार को भयभीत कर सुदूर पूर्व की ओर सहायता भेजने का मौका न दें।

कर्जन शक्ति द्वारा अमीर से अपनी बात मनवाना चाहता था किन्तु गृह सरकार वार्त द्वारा समस्या का समाधान चाहती थी। 1904 में कर्जन की भारत में अनुपस्थिति के समय वाइसराय ऐक्ट्रहिल ने सर लुई डेन के अधीन एक दूतमंडल अफगानिस्तान भेजा। 1905 में सन्धि हुई जिसके अनुसार पूर्व की सारी शर्तें (अब्दुर्रहमान से की गई) स्वीकार कर ली गई, किन्तु अमीर हबीबुल्ला का 'हिज मैजेस्टी' का दावा भी मानना पड़ा।

अफगान समस्या का समझौता जर्मनी की साम्राज्यवादी नीति के कारण हो सका। चीन व मध्य एशिया में जर्मनी ने औनिवेशिक विस्तार तो किया ही, साथ ही इन क्षेत्रों में उसे आर्थिक विशेषाधिकार भी मिल गया। इससे इंग्लैंड, फ्रांस व रुस भयभीत हो गए और 1907 में अंग्रेजी– रुसी सन्धि से स्थिति में परिवर्तन आ गया। रुस ने अफगानिस्तान को अपने प्रभाव क्षेत्र से बाहर कबूल किया तथा यहां इग्लैंड व रुस के लिए समान व्यापारिक सुविधाओं की व्यवस्था स्वीकार की गई। अमीर से इस समझौते के बारे में पूछा भी नहीं गया था किन्तु उसने इस सन्धि को स्वीकृति देना नामन्जूर कर लिया। किन्तु इसका कोई प्रभाव न हुआ, क्योंकि रुस सन्धि का निर्वाह करता रहा। प्रथम विश्व युद्ध में शत्रु दलों के उकसाने के बावजूद अमीर ने घोर तटस्थता की नीति बरती जो भारत सरकार के लिए लाभदायक रही।

सारांश में भारत में अंग्रेजी सरकार का अपने पड़ोसी राज्यों के साथ सम्बन्ध साम्राज्य वादी भावना से प्रभावित रहा। शान्तिपूर्ण वाणिज्यिक कम्पनी ने जब राजनीतिक शक्ति हथिया ली तो उसकी सुरक्षा के लिए विस्तार होना शुरु हो गया। बार–बार विस्तारवादी नीति के खिलाफ घोषणा के बाद भी शक्तिशाली सत्ता अपनी राज्य सीमा को यथावत न रख सकी तथा आपने निकटवर्ती अव्यवस्थित लोगों को अधिशासन में विलय करती गई। यूरोप की अन्य साम्राज्यवादी शक्तियों के प्रभाव को भी अंग्रेज भारतीय साम्राज्यवाद की ओर जाने वाले जल व थल मार्ग पर सहन नहीं कर सके। पड़ोसी राज्य जब तक मित्रवत और सहयोग के लिए उन पर निर्भर थे तथा किसी विदेशी प्रभाव से मुक्त थे तब तक उन्हें चिन्ता नहीं थी, किन्तु उनका शक्तिशाली अथवा अन्य शक्ति पर आश्रित होना उन्हें पसन्द न था। अपने साम्राज्य के चारो ओर वे 'प्रभावित क्षेत्रों' का घेरा स्थापित करना चाहते थे। किन्तु यदि दूसरे साम्राज्यवादी को उस ओर बढ़ते देखते तो उससे पूर्व कि दूसरी शक्ति उसे हड़पे, अंग्रेज स्वयं भू–भाग पर अधिकार के अवसर से न चूकते थे 19वीं० सदी के शुरु में औपनिवेशिक विस्तार नई व्यापारिक मंडियाँ प्राप्त करने के लिए था, 20 वीं सदी में वह आर्थिक कार्रवाइयों की आड़ में बढ़ने लगा।

(e) तिब्बत

हिमाचल के उत्तर में प्याले के आकार–सा विशाल पठार, जिसमें कहीं एकदम नीची–नीची घाटियाँ है और कही एकदम ऊंची–ऊंची (24,000 से 25,000 फुट) चोटियाँ है तिब्बत का क्षेत्र है। यह पश्चिमी एवं दक्षिणी सीमान्त, कश्मीर, पंजाब, नेपाल, सिक्किम, भूटान एवं उत्तरी बर्मा को स्पर्श करता है। इसके पूर्व में चीनी साम्राज्य एवं उत्तर में पूर्वी तुर्किस्तान है –हिमाच्दादित एवं वृक्षहीन, किन्तु इसकी घाटियाँ उर्वर है। व्यापारिक मार्ग बहुत ऊंचे और सँकरे है। पश्चिमी विचार धारा से अप्रभावित इस पिछड़े हुए क्षेत्र में पुरोहितवाद का बोलबाला था। तिब्बत नाममात्र को चीन के आधिपत्य में था किन्तु व्यावहारिक रुप में दो महान लामाओं– लहासा के दलाई लामा और शिगचे के निकट स्थित प्रसिद्ध तशिल् हुन्पो विहार के ताशी लामा के अधीन स्वतन्त्र बौध धर्मराज्य था। आध्यात्मिक सत्ता ताशी लामा के हाथों में थी और राजनीतिक शक्ति दलाई लामा अथवा उसकी अल्पवयस्कता में संरक्षण परिषद के हाथों में केन्द्रित थी। इन दोनों में से किसी की भी मृत्यु पर एक नवजात शिशु उसका उत्तराधिकारी नियुक्त कर दिया जाता था। विचित्र बात यह थी कि शासन मुख्यतः कौंसिल के ही हाथ में था क्योंकि शायद ही कोई दलाई लामा अपनी नाबालिग सीमा को लाँघ सका था। अठाहरवी सदी के प्रारम्भिक वर्षों में तिब्बत ने चीन का प्रभुत्व स्वीकार कर लिया था तथा दो अंबन (चीनी राजदूत) ल्हासा से तिब्बत की सरकार पर निगाह रखते थे।

भारत में कम्पनी के राज्य की सीपना से पूर्व भारत व तिब्बत में सांस्कृतिक व धार्मिक सम्बन्ध गहरे थे और व्यापार भी होता था। मुसलिम व मुगल काल में ये सम्बन्ध लगभग टूट गए। तिब्बत का बाहरी क्षेत्रों से (चीन को छोड़कर) किसी प्रकार का सम्पर्क नहीं रहा। तिब्बत से अंग्रेजो का प्रथम सम्पर्क 1773–1775 में वॉरेन हेस्टिंग्स के काल में हुआ। हेस्टिंग्स का उद्देश्य शायद यह था कि अमरीका की स्वतन्त्रता के पश्चात् पूर्ण की ओर व्यापार अधिक होगा, अतः तिब्बत और शायद तिब्बत के रास्ते चीन तक ब्रिटिश व्यापार का नवीन क्षेत्र खोला जाए। वॉरेन हेस्टिंग्स ने वौग्ल को ताशी–लामा के दरबार में भेजा। वहाँ उसका स्वागत हुआ किन्तु ल्हासा तक जाने की उसे आज्ञा नहीं मिली। उसके पश्चात् सैमुयल टर्नर नामक दूसरा दूत मुख्यतः व्यापारिक सुविधाएँ प्राप्त करने के लिए भेजा गया, किन्तु तिब्बत सरकार के इस व्यवहार का कारण पुरुषोत्तम मेहरा के अनुसार यह था कि व्यापार की आड़ में कूच बिहार, भूटान और असम में कम्पनी का राज्य–विस्तार देखकर तिब्बती सरकार संशकित हो गई होगी। इसके अलावा जब ये दोनों दूत तिब्बत भेजे गए तब माँचू वंश की शक्ति उच्चतम शिखर पर थी और चीनी सेनाएँ दो बार तिब्बत पर (1750–1792) आक्रमण कर चुकी थी। अतः चीन का प्रभाव इस काल में काफी था। 1792 में पंचम लामा की मृत्यु के उपरान्त तिब्बन के द्वारा विदेशयों के लिए बन्द कर दिए गए। कलकत्ता और तशिल् हन्पों के बीच उपहारों के आदान प्रदान के बाद भी कम्पनी कोई व्यापारिक सुविधा न प्राप्त कर सकी।

अगले सौ वर्षों में अनेक कोशिशों के बावजूद (ये कोशिशें अंग्रेजो ने ही नहीं वरन अन्य यूरोपीय शक्तियों ने भी की) तिब्बत के बारे में ज्ञानवृद्धि न हो सकी। 1811 में मैनिग नामक पत्रकार चीनी वैद्य का वेष बदलकर ल्हासा तक पहुंचने में सफल हो सका, किन्तु इससे कोई लाभ न हुआ। तिब्बत के साथ की सम्बन्ध बिगड़ न जाएँ इसलिए भारत सरकार ने मैनिग के साथ कोई भी सम्बन्ध न होने की घोषणा की। तिब्बत पर चीन का प्रभुत्व था, अतः उसकी अवहेलना न कर भारत सरकार ने चीन के साथ समझौता करना अधिक उचित समझा । पीकिंग पर ब्रिटिश सरकार ने दबाव डालना शुरु किया। आरम्भ में तो वे तिब्बतियों की अनिच्छा बताकर टालते रहे किन्तु 1876 में चीफू कन्वेनशन (Cheffoo Convention) द्वारा पीकिंग ने भारत सरकार को एक वाणिथ्जयक शिष्टमण्डल ल्हासा भेजने की अनिच्छापूर्वक सहमति दे दी। उधर तिब्बती इस शिष्ट मण्डल को अपने प्रदेश में न घुसने देने के लिए कृतसंकल्प थे। उनकी नजर के सामने सिक्किम अंग्रेजों का संरक्षित राजय बन गया था। भूटान का शासक आर्थिक रुप से उनके अधीन व पेंशन भोगी था। नेपाल उनका मित्र बन गया था तथा उनसे भयभीत था और वर्मा पर भी विजय प्राप्त कर ली गई थी। लद्दाख से बर्मा तक का क्षेत्र तिब्बत की निगाहों में उनके धार्मिक और सांस्कृतिक विचारों से सम्बन्धित था। उन पर अंग्रेजों के अधिकार ने उन्हें उनके और अधिक विरुद्ध कर दिया था। चीन का प्रभाव कम होने के बाद भी वह पश्चिमी राष्ट्रों से व्यापार के लिए प्रेरित नहीं था।

1886 में सम्पूर्ण बर्मा पर विजय के कारण भारत सरकार को चीन के साथ अपने राजनीतिक सम्बन्धों में कुछ संशोधन करने की आवश्यकता महसूस हुई, क्योंकि अब तक वर्मा पर चीनी अपना प्रभुत्व (जो मात्र औपचारिक व अस्पष्ट–सा था) मानते आ रहे थे और ब्रिटिश सरकार इसकी अवहेलना नहीं करना चाहती थी। तिब्बत में शिष्टमण्डल के विपक्ष में गम्भीर स्थिति देख भारत सरकार ने 1886 में चीन के साथ यह समझौता कर लिया कि चीन द्वारा बर्मा पर अंग्रेजी प्रभुत्व स्वीकार करने के बदले भारत सरकार अपना शिष्टमण्डल लहासा भेजने का विचार त्याग देगी। इससे चीन की समस्या तो सुलझ गई, किन्तु तिब्बतियों के साथ भारत सरकार को उलझना पड़ गया। भारत में तिब्बत पहुँचने के लिए सिक्किम (भारत सरकार के संरक्षित राज्य) होकर जाना पड़ता था। इसलिए तिब्बतियों ने सिक्किम के भीतर घुसकर लिगंटु पर किलेबन्दी कर ली जो एक दुर्गद्वार था जिससे भारत से आने वाले वाणिज्यिक

शिष्टमण्डल को वहीं रोका जा सके। यही नही, यहाँ के लोगों पर कर भी लगाने शुरु कर दिए गए जिससे इस इलाके के व्यापार के अंग्रेज मालिक शंकित हो उठे और भारत सरकार पर दबाव डालने लगे। तिब्बत के इस अवैध कदम के विरुद्ध भारत ने तो प्रतिरोध किया किन्तु चीन ने या तो विवशता के कारण या अनिच्छा के कारण इस दिशा में कोई सन्तोष जनक कदम नही उठाया अतः 1888 में जनरल ग्राहम ने उन्हें वहाँ से खदेड दिया। इस मुठभेड़ में तिब्बत को काफी क्षति उठानी पड़ी।

1890 तक तिब्बत के दक्षिण में एक शक्तिशाली ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना हो चुकी थी जो एशिया की राजनीति का केन्द्र बिन्दु बन गया था। भारत सरकार की तिब्बत में रुचि न केवल व्यापार के लिए ही थी, क्योंकि इस विशाल औद्योगिक राष्ट्र को अब भी मंडियों की आवश्यकता थी, अपितु अब उत्तरी सीमा पर अमित्र राष्ट्र के प्रवेश का प्रश्न था जहाँ से विदेशी शक्ति द्वारा साम्राज्य के हितों के क्षतिग्रस्त होने का संकट था। ब्रिटिश साम्राज्य में, अमरीका को गँवा देने के बाद से भारत के उपनिवेश का महत्त्व कहीं बढ़ गया था तथा डिजरैली जैसे साम्राज्यवादी राजनीतिज्ञ इसे इग्लैंड के गौरव का प्रतीक समझते थे। उनके विचारानुसार इस साम्राज्य की सुरक्षा एक ऐसे काल में, जब कि यूरोपियन राष्ट्रों में उपनिवेश स्थापना के लिए दौड़ चल रही थी तभी हो सकती थी जब इसके सीमावर्ती राष्ट्र न केवल मित्र हो वरन, इसके प्रभाव में हो।

1890 में चीन और ब्रिटेन के बीच एक वार्तागोष्ठी हुई जिसमें सिक्किम–तिब्बत सीमा निर्धारित की गई (और सिक्किम पर ब्रिटिश संरक्षण भी स्वीकार कर लिया गया) तथा परस्पर व्यापार बढ़ाने के लिए भी संयुक्त आयुक्त की नियुक्ति की गई। दार्जिलिंग के चाय बागान के मालिक व व्यापारी तिब्बत में (पहाड़ी क्षेत्र में) मंडी की स्थापना पर जोर दे रहे थे, किन्तु 1893 में यातुंग को, जो लगभग तिब्बत सिक्किम सीमा पर ही स्थित था, व्यापारिक मंडी का रुप दे दिया गया। मंडी तो बन गई किन्तु व्यापार कुछ न हो सका। यह सब निर्णय भारत सरकार तथा चीन के बीच लिया गया तथा तिब्बत से पूछा तक नहीं गया था। अतः तिब्बतियों ने इन निर्णयों का स्वागत नहीं किया। कुछ वर्ष ब्रिटिश–तिब्बत सम्बन्ध इसी असन्तोषजनक स्थिति में रहे। चीनी यह कहकर चुप हो जाते थे कि तिब्बती अपनी जड़ भावनाओं के कारण अंग्रेजों से सम्बन्ध बढ़ाने को तैयार न थे और तिब्बती यह कहकर छूट जाते थे कि बिना चीन की अनुमति के वे किसी विदेशी सत्ता से सम्पर्क नहीं रख सकते। 1895 में तिब्बत ने सिक्किम के सीमावर्ती सत्मभ तोड़ दिए तथा थोड़ा–सा क्षेत्र भी अधिकृत कर लिया। किन्तु लॉर्ड एलगिन ने कोई भी कदम नहीं उठाया क्योंकि वह शान्ति का इच्छुक था और उसके विचारानुसार वह क्षेत्र तिब्बत का ही था। साथ ही 1890 की सन्धि में स्तम्भों का भी कोई वर्णन ही था। लॉड एलगिन की 'शान्ति से इन्तजार' की नीति का अन्त लॉर्ड कर्जन के आने से हो गया (कर्जन 1899 में भारत आया) भारत आने से पहले कर्जन फारस अफगानिस्तान तथा सुदूर–पूर्व प्रदेश में घूम चुका था। उसने अपनी यात्राओं पर कुछ पुस्तकें भी लिखी थी। उसके विचारानुसार रुस, बाँसफोरस के गर्म पानी तक पहुँचने के लिए मध्य एशिया में गतिशील था। उसका उद्देश्य इंग्लैंड को एशिया में किसी प्रकार उलझाना था जिससे यूरोप में उसे समझौता करने के लिए मजबूर किया जा सके। कर्जन की निगाहों में भारत पर रुसी आक्रमण की सम्भावना भी थी। यह मन; स्थिति लेकर जब कर्जन भारत आया उस समय तक तिब्बती राजनीतिक स्थिति में भी कुछ महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हो चुके थे जिनके प्रभावों को भारत सरकार अपने लिए हितकर नहीं समझ रही थी।

दो प्रमुख परिवर्तनों में से पहला था कि दलाई लामा ने पिछली शताब्दी की परम्परा भंग करके व्यस्कता धारण कर ली थी तथा संरक्षण परिषद को समाप्त कर स्वयं सत्ता सँभाल ली थी। यह दलाई लामा साहसी स्वभाव का, प्रभावशाली व दृढ़ इच्छाशक्ति वाला व्यक्ति था इस पर तिब्बत सरकार के एक मंगोल वंशीय उच्च पदस्थ अधिकारी डोरजीएफ का काफी प्रभाव था जो रुसी नागरिक था। दूसरा परिवर्तन था कि माँचू वंश की शक्ति के ह्रास के कारण तिब्बत में अंबनों का नियंत्रण ढीला पड़ गया था। तिब्बतियों ने चीनी जुए को उतार फेंकने का निश्चय कर लिया था और वह प्रतिसन्तुलन के लिए रुसी प्रभाव को स्वीकार कर सकते थे जिसके विचार मात्र से ही भारत सरकार उतावली हो जाती थी। 1898 में दलाई लामा ने डोरजीएफ को रुस भेजा ताकि वह जार की बौद्ध–प्रजा से धार्मिक उत्सवों के लिए दान इकट्ठा करके लाए। इस सम्बन्ध में उसने रुस की कई बार यात्रा की और जार से भी भेंट की। इस घटना को रुस के प्रेस ने काफी महत्त्व दिया जैसे कि तिब्बत रुस का प्रभावित क्षेत्र हो। तिब्बत और रुस के सम्बन्धों इस काल में राजनीतिक प्रतीत नहीं होते थे। वैसे भी रुस की यात्रा में पहल तिब्बत की ओर से की गई थी। सेंट पीटर्सबर्ग में ब्रिटिश राजदूत को रुस के विदेश मन्त्री ने स्पष्ट भी किया कि तिब्बती दूत धार्मिक अभियान पर आए है और जाए को उनसे मिलना कोई राजनीतिक महत्त्व नहीं रखता। परन्तु इससे ब्रिटिश सरकार की चिन्ता में अन्तर नहीं आया क्योंकि उसे जार की बातों पर विश्वास नहीं आया। उसे मालूम था कि पहले वह मनमाने ढंग से सन्धि की शर्तें भंग करता आया था। भारत सरकार का यह भी विचार था कि बार–बार आने–जाने के फलस्वरुप डोर जी एफ तिब्बत में रुसी एजेंट के रुप में रुसी प्रभाव बढ़ाने की दिशा में कार्य करेगा। ऐसा प्रतीत होने लगा था कि डोरजीएफ के प्रभाव बढ़ाने की दिशा मे कार्य करेगा। ऐसा प्रतीत होने लगा था कि डोरजीएफ के प्रभाव ने दलाई लामा को चीन से मुक्ति के लिए पश्चिमी पड़ोसी के बजाए रुसी प्रभाव को प्रश्रय देने पर रहा था क्योंकि जार का

प्रजा में बौद्धों की संख्या ज्यादा थी। डोरजीएफ ने दलाई लामा को यहाँ तक बताया था कि जार स्वय बौद्ध बनना चाहता है। 1902 में डोरजीएफ और बोगडेनोविच दो अलग-अलग रास्तों से शस्त्र लेकर ल्हासा पहुँचा।

उपर्युक्त स्थिति से चिन्तित होकर लॉर्ड कर्जन ने अपनी सरकार पर जोर डाला कि सशस्त्र रक्षक दल के साथ तिब्बत में एक मंडल भेजा जाए कारण यह बताया गया कि तिब्बत ने सिक्किम सीमान्त का ज्ञान कराने वाले कुछ स्तम्भों को गिराकर उसकी सीमान्त का आक्रमण किया था। ग्यागोंग पर सीमा शुल्क चौकी स्थापित की थी और तिब्बत से यातुंग को मिलाने वाली एकमात्र सड़क पर दीवार खड़ी कर दी थी। तर्क भले ही खोखले थे, किन्तु कर्जन चुपचाप बैठा नही रहना चाहता था। सीमा सुरक्षा के साथ यह विचार भी हुड़ा हुआ था कि पिछड़ा तिब्बत सभ्य सत्ता की व्यापारिक संगत में अधिक प्रगति कर सकता है।

इग्लैंड की सरकार वाइसराय की उग्र नीति की बजाय चीन से समझौते के पक्ष में थी। चीन तिब्बत में ब्रिटिश हस्तक्षेप नहीं चाहता था, किन्तु तिब्बत पर अपना नियन्त्रण रखने में भी असमर्थ था। कर्जन चीनी प्रभुत्व को 'राजनीतिक आड़म्बर' व 'छलना' कहता था। यद्यपि हजारो मील की दूरी के कारण व परिवहन की दृष्टि से सबसे पिछड़े हुए क्षेत्र पर रुसी आक्रमण की कोई सम्भावना न थी, फिर भी वहाँ उसके प्रभाव से ब्रिटेन की प्रतिष्ठा को धक्का लगता था और एशिया में उसकी सर्वोच्चसत्ता पर आँच आती थी। ग्रह सरकार को यह भय था कि उस नीति के कारण दूसरी शक्तियों का ध्यान भी तिब्बत की ओर आकृष्ट हो जाएगा और तब स्थिति और भयंकर हो जाएगी। ऐसे में हो सकता है कि रुस सचमुच तिब्बत पर अपना प्रभाव घोषित कर दे। वैसे भी इग्लैंड की काफी सेना इस समय दक्षिण अफ्रीका में उलझी हुई थी। लेकिन कर्जन दलाई लामा को ताकत से डराकर भारत सरकार से सन्धि करने के लिए बाध्य करना चाहता था। उसके लिए यह असह्य था कि सौ वर्षों से अफगानिस्तान से रुसी प्रभाव के खिलाफ युद्धों के बाद, उसे तिब्बत में गृह सरकार की अनिश्चित नीति के कारण जमने दिया जाए। उसे भय था कि कहीं चीन मंचूरिया के कारण रुस के साथ समझौता कर तिब्बत पर अपनी औपचारिक प्रभुसत्ता रुस को प्रदान न कर दे। तब भारत सरकार को विस्तृत सीमा की सुरक्षा के लिए कठिनाई का सामना करना पडेगा।

1902 में इग्लैंड में यह सामाचार पहुँचा कि रुस और चीन के मध्य तिब्बत सम्बन्धी एक नया समझौता हो रहा है। लैंसडाउन ने रुसी राजदूत को बुलाकर चेतावनी दी कि ब्रिटेन तिब्बत में सक्रिय रुसी दिलचस्पी को अपने साम्राज्य के हितों के खिलाफ समझेगा क्योंकि ल्हासा भारत के अधिक निकट है, रुस के एशियाई साम्राज्य के नही। अतः वह भारत सरकार के प्रभाव क्षेत्र में आता था। चीन में ब्रिटिश राजदूत ने भी चीन सरकार को स्पष्ट कर दिया कि यदि चीन ने तिब्बत के राजनीतिक अस्तित्व के सम्बन्ध में अन्य किसी सत्ता से वार्ता की तो ब्रिटेन को विवश होकर ठोस कदम उठाना पड़ेगा।

रुसी राजदूत ने इग्लैंड सरकार को आश्वासन दिलाया कि न तो तिब्बत में कोई रुसी एजेंट उस समय मौजूद था और न रुस उसमें रुचि रखता था। किन्तु वास्तव में रुस वहाँ ब्रिटिश प्रभाव से घृणा करता था अतः उसने तिब्बत के प्रति कोई दिलचस्पी न होने की शपथ के साथ यह भी विदित कर दिया कि तिब्बत में यथा स्थिति के परिवर्तन पर मजबूर हो रुस को जवाब में कही और आघात न करना पड़े। गृह सरकार को रुस और जापान में युद्ध की भी आशंका थी और ऐसी स्थिति में तिब्बत की समस्या कठिनाइयाँ उत्पन्न कर सकती थी। अतः 1903 में इंग्लैंड की सरकार ने तिब्बत में सशस्त्र रक्षक दल भेजना अस्वीकार कर दिया। लार्ड कर्जन ने मन्त्रिमण्डल के समक्ष प्रस्ताव रखा कि सिक्किम सीमान्त से 15 मील आगे, खाम्बा जोंग स्थान पर चीन एंव तिब्बत से वार्ता प्रारम्भ की जाए। यदि दोनों सरकारों के प्रतिनिधि निश्चित स्थान पर न आएँ तो ब्रिटिश प्रतिनिधिमण्डल को शिगात्से (ज्ञात्से) तक आगे बढ़ने की अनुमति दी जाए। और कोई मार्ग न देख गृह सरकार ने कर्जन के प्रस्ताव का पूर्वार्ध स्वीकार कर लिया।

कर्नल यंगहस्बैंड के नेतृत्त्व में ब्रिटिश प्रतिनिधि मण्डल जुलाई 1903 में खाम्बा जोंग पहुँचा। वहाँ चीनी अधिकारी तो वार्ता के लिए आ गए किन्तु तिब्बती नहीं आए। उनका तर्क था कि वार्ता सीमान्त पर होनी चाहिए न कि 15 मील भीतर पहुँचकर। इस तर्क की अकाट्यता को मानते हुए भी यंगहस्बैंड मिशन को ज्ञात्से तक बढ़ाने की अनुमति दे दी। रुसी सरकार ने इस आक्रामक नीति का प्रतिरोध किया तो इग्लैंड की सरकार ने यह आश्वासन देकर उसे चुप करा दिया कि तिब्बत का ब्रिटिश साम्राज्य में विलय नहीं किया जाएगा और न ही उस पर अधिक समय तक कब्जा रखा जाएगा।

ज्ञात्से के समीप तिब्बतियों से यंगहस्बैंड की दूसरी मुठभेड़ हुई। उनके पास न ढंग के कोई हथियार थे न युद्ध कला से विशेष परिचय। वे ब्रिटिश अभियान का केवल रास्ता रोककर खड़े हो गए और उन्हें निर्ममता के साथ गोलियों से भून दिया गया। इस निर्मम एकपक्षीय मुठभेड की सर्वत्र निन्दा हुई। दलाई लामा ने अब भी वार्ता से इनकार कर दिया तो मन्त्रिमण्डल के मिशन को ल्हासा जाने की अनुमति दे दी। मार्ग में तिब्बतियों के साथ मुठभेड करता यंगहस्बैंड ल्हासा पहुँचा इस बीच दलाई लामा द्वारा सन्धि-वार्ता के प्रस्ताव को भी उसने ठुकरा दिया। उसके ल्हासा पहुँचने से पूर्व ही दलाई लामा अपमान से बचने के लिए राजधानी छोडकर अन्यत्र चला गया। उसकी अनुपस्थिति मे उसके प्रतिनिधि के साथ सन्धि की गई।

सन्धि की शर्तों के अनुसार यह तय हुआ कि (1) यातुंग, ग्नात्से और गात्योंक में व्यापारिक मंडियों (2) एक अंग्रेज व्यापारिक प्रतिनिधि को ग्नात्से में रहने की अनुमति तथा आवश्यकता पड़ने पर ल्हासा तक जाने की सुविधा दी जाएगी (3) क्षतिपूर्ति के रुप में [illegible] को 75 लाख रुपए देने होंगे तथा अस्थायी बाधा के रुप में उनका तीन वर्ष तक चुम्बी घाटी (भूटान व सिक्किम सीमा के बीच तिब्बती पर अधिकार होगा। (4) तिब्बत की विदेश नीति पर ब्रिटिश नियन्त्रण होगा तिब्बत अपना भू–भाग न तो किसी अन्य सत्ता को दे सकेगा और किसी विदेशी सत्ता के प्रतिनिधि को रहने की अनुमति ही देगा। यदि तिब्बत किसी विदेशी सत्ता को अपने यहाँ रेल अथवा सड़क बिछाने की सुविधा प्रदान करेगा तो ब्रिटेन को ये सुविधाएँ स्वतः प्राप्त हो जाएँगी। सन्धि की ये कठोर शर्तें गृह सरकार की आज्ञा का उल्लंघन करके थोपी गई थी। यंगहस्बैड ने अपनी अधिकार सीमा का अतिक्रमण किया था जिसके फलस्वरुप वह कटु आलोचना का भागी बना। पर्वतीय एकांत क्षेत्र में मुट्ठी भर लोगों द्वारा वर्जित भूमि पर उसकी विजय का विशेष लाभ इग्लैंड को नहीं हुआ कलंक बन गया। भारत सरकार ने संकुचित दृष्टिकोण से देखते हुए तिब्बत को बहुत अधिकअर्थदंड दिया था। जबकि गृह सरकार ने केवल तीन वर्ष में अदा हो पाती। ब्राडरिक (भारत सचिव) के जोर देने पर सन्धि में संशोधन किया गया। इस सन्धि के अनुसार (1) अर्थदंड की राशि 75 लाख में घटाकर 25 लाख कर दी गई। (2) तीन किस्तें समय पर देने तथा अन्य शर्तों पालन करने पर चुम्बी घाटी लौटा दी जाएगी। और (3) ब्रिटिश एजेंट केवल ग्नात्से में रहेगा उसे ल्हासा जाने का अधिकार नहीं होगा।

लॉर्ड कर्जन को तिब्बत नीति की अदूरदर्शिता के कारण निन्दा का पात्र बना पड़ा। उस पर यह आरोप लगाया गया कि शक्ति द्वारा तिब्बतियों को भारतीय चाय पिलाने के लिए उसने उग्र नीति का प्रयोग किया। यदि दो विरोधी नीतियों –मन्त्रिमण्डल की एवं कर्जन की में समझौता न किया जाता तो अधिक कलयाणकर परिणाम निकलते। इस मिली–जुली नीति के अनुसरण से न तिब्बत को लाभ हुआ और न ब्रिटेन को–लाभ हुआ केवल चीन को। इस अभियान के राजनीतिक और नैतिक पक्ष ब्रिटेन की अफगान नीति की ही तरह कमजोर व न्यायसंगत न थे। दोनों राष्ट्र भारतीय सीमान्त पर बसे स्वाधीन राज्य थे और इनके मामलों में हस्तक्षेप करने का ब्रिटिश सरकार को नैतिक अथवा वैधानिक अधिकार नहीं था। किन्तु अपनी प्रतिष्ठा पर आँच आने की आशंका से दोनों राष्ट्रों म सशस्त्र अभियान भेजे गए। काबुल और ल्हासा में अपना प्रतिनिधि रखने पर बल दिया गया। दोनों के आचरण में अपने प्रति शत्रुभाव देखा गया जब कि स्थिति एक बार भी ऐसी नहीं थी। दोनों राष्ट्रों का दोष केवल रुस से सौहार्दस्थापना का प्रयास था। दूसरा कारण था रुस का बढ़ता हुआ एशियाई साम्राज्य और उसका पूर्वी समस्या में असफल हो एशिया की ओर ध्यान देना जो इग्लैंड को भारत के साम्राज्य के लिए अहितकर लगा। कर्जन की दृष्टि में भारत साम्राज्य केवल हिन्दुस्तान तक ही सीमित न होकर फारस, बर्मा, हांगकांग, मलाया, फीजी और मौरीशस तक फैला हुआ था। केवल ब्रिटेन ही रुस की निरन्तर बढ़ती हुई औपनिवेशिक भूख पर अकुश लगा सकता था। जहाँ तक अंग्रेजों की अपनी विस्तार नीति का प्रश्न है, वे पिछड़े हुए पूर्वी देशों को अपने प्रभाव द्वारा उन्नत व प्रगतिशील बनाने की आड़ में अपना विस्तार–कार्यक्रम चला रहे थे। यही था 'प्रगतिशील साम्राज्यवाद' (Progressive Imperialism)। इस काल के राजनीतिज्ञों को बाह्य उद्देश्य और लक्ष्य था व्यापार की सम्पूर्ण सुविधाएँ।

1906 में इग्लैंड और चीन के मध्य सन्धि द्वारा चीन ने वचन दिया कि वह किसी भी विदेशी शक्ति को तिब्बत के आन्तरिक शासन या प्रादेशिक अखंण्डता में हस्तक्षेप न करने देगा। व्यापार की पूर्ण सुविधाएँ दी जाएँगी। तीन वर्षों की क्षतिपूर्ति के पश्चात चुम्बी घाटी भी लौटा दी गई। 1907 की सन्धि में इग्लैंड और रुस दोनों ने स्वीकार किया कि वे तिब्बत से राजनीतिक सम्बनध, चीन के माध्यम से रखेंगे। चुम्बी घाटी लौटाने पर भी आरोप लगाया गया कि उसने यंगहस्बैंड द्वारा प्राप्त लाभों को गँवा दिया। किन्तु यगहस्बैंड को रुसी प्रभाव से तिब्बत को मुक्त रखने के लिए भेजा गया था। और यह लक्ष्य 1907 के रुसी सम्मेलन द्वारा पूर्ण हो चुका था। 1910 में चीन ने आक्रमण कर पूरे तिब्बत पर अधिकार कर लिया। दलाई लामा ने भारत में शरण ली। 1911 में चीनी क्रान्ति व मांचू वंश के पतन का लाभ उठाकर तिब्बतियों ने विद्रोह कर दिया। अगले वर्ष दलाई लामा ने वापस जाकर चीन के अधिपत्य के अन्त की घोषणा कर सम्पूर्ण प्रभुत्वसंपन्न अधिकार धारण कर लिए।

इस चीनी आधिपत्य की अस्वीकृति से जो गम्भीर स्थिति उत्पन्न हुई उसको सुगम करने के लिए 1914 में शिमला में आयोजित त्रिमुखी सम्मेलन में चीनी तिब्बती और अंग्रेज प्रतिनिधियों ने एक समझौता किया जिसके अनुसार तिब्बत पर चीनी अधिपत्य स्वीकार किया गया। किन्तु साथ ही यह भी स्वीकार किया गया कि चीन तिब्बत के शासन प्रबन्ध में हस्तक्षेप नहीं करेगा और न ही सैनिक, असैनिक कर्मचारियों को वहाँ रखेगा। भूटान के पूर्व से 85 मील तक तिब्बत और उत्तर–पूर्वी भारत के बीच सीमा निर्धारित की गई। यह सीमा मैकमोहन रेखा कही जाने लगी।

प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् 1917 में रुसी क्रान्ति के कारण व चीन के अपने आन्तरिक मामलों में उलझ रहने के कारण ब्रिटेन तिब्बत की ओर से निश्चिन्त हो गया तथा तिब्बत व भारत सरकार में मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बने रहे।

अध्याय–12

स्वतंत्र भारत
(Independent India)

(a) नवीन भारत की कल्पना
Visions of New India :

महात्मा गांधी की मृत्यु से कांग्रेस तथा भारतीय नेतृत्व में एक प्रकार का शून्य सा बन गया था। हत्या से हिन्दुत्व के विरूद्व एक अकथित सी भावना उत्पन्न हो गई थी, कांग्रेस में अब दो व्यक्ति मुख्य थे, एक सरदार वल्लभ भाई पटेल जो हिन्दू विचारधारा के प्रति अधिक सहानुभूति रखते थे, और जो राजनीति में यथार्थवादी थे, बड़े–बड़े व्यापारी घरानों के स्वामित्व का समर्थन करते थे, और दूसरे थे पंडित जवाहरलाल नेहरू: जो आदर्शवादी, पंथनिरपेक्षी, अर्धरहस्यमय हैरो (इंग्लैंड का एक मुख्य प्राइवेट विद्यालय) में पढ़े अभिजात वर्गीय तथा निरंकुश स्वभाव के थे। ये दोनों व्यक्ति मिलकर भारत की सेवा तथा समैक्यता के लिए एक हो गए। ये दोनों व्यक्ति भारत की जनता के लिए आदर्श सा बन गए।

कांगेंस में कुछ और गणमान्य नेता भी थे, जेसा कि पुरूषोत्तम दास टन्डन, प्रोफेसर एन.जी.रंगा, तथा डाक्टर राजेन्द्र प्रसाद आदि। वास्तव मे इंग्लैंड के रूढ़िवादी दल और समाजवादी दल के लगभग समान यहां भी कांग्रेस में दो दल थे, रूढ़िवादी और समाजवादी दिसंबर 1950 में सरदार पटेल की ओर 1951 में टण्डन जी की मृत्यु हो गई जिसमें नेहरू जी के लिए उत्तराधिकार का मंच लगभग साफ हो गया। उन्हें चुनौती देने वाला कोई नहीं रहा और वह अपनी मृत्युपर्यन्त (27 मई 1964) तक प्रधानमंत्री बने रहे। महात्मा गांधी ने ही उन्हें अपना उत्तराधिकारी कहना आरम्भ कर दिया था। और सम्भवतः यही कारण था, कि जब सितम्बर 1946 में अन्तरिम सरकार का गठन हुआ तो वह उस सरकार में 2 सितम्बर 1946 को प्रधानमंत्री नियुक्त किए गए आरम्भ में तो कांग्रेस के प्रधान और भारत के प्रधानमंत्री भिन्न–भिन्न व्यक्ति थे, परन्तु 50 के दशक में पंडित नेहरू ही जिसे चाहते कांग्रेस का प्रधान बनाते और 1960 के आसपास तो वह स्वयं ही कांग्रेस के प्रधान बन गए अर्थात वह राजनीतिक तथा कार्यकारी दोनों शाखाओं के प्रधान बन गए। इन 17 वर्ष के प्रधानमंत्री काल में वह स्वतन्त्र भारत की राजनीतिक विचारों, आर्थिक योजना, तथा सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में एक अमिट छाप छोड़ गए हैं।

समाजवाद की परिसीमांए : नेहरू का राजनीतिक अभिस्थापन 1920 के उपरान्त आरंभ हुआ जब वह यूरोप तथा संसार की विस्तृत यात्रा पर निकले। उन्हे रूस के समाजवाद ने बहुत प्रभावित किया परन्तु शीघ्र ही उनकी भ्रान्ति भंग हो गई। जब उन्होंने देखा कि वहां अत्याधिक नियंत्रण तथा शक्तिबद्वता है तथा जनता को कोई मानव अधिकार प्राप्त नहीं हैं। 1920–22 के असहयोग आन्दोलन के दिनों में उन्हें उत्तर–प्रदेश के ग्रामों को देखने का बहुत अवसर मिला था। एक और उन्होंनें देखा कि भूमिपति और साहूकार छोटी जोत वालों का कैसे शोषण कर रहे हैं, और दूसरी ओर खेत पर मजदूरी करने वाले श्रमिकों का किस प्रकार उत्पीड़न हो रहा है, वास्तव में उनके मन में ग्रामीण निर्धनता का चित्र पूरी तरह जम गया।

इसके फलस्वरूप नेहरू ने मार्क्सवाद और प्रजातंत्रीय समाजवाद से प्रेरणा ली। वह कट्टर साम्राज्यवाद विरोधी, राष्टवादी तथा समाजवाद के समर्थक बन गए। यद्यपि उनकी भावनाएं वामपंथी थी, परन्तु गांधी जी के प्रभाव के अधीन वह दक्षिण पंथी विचारधारा से एक रेशम की डोरी से बन्धे थे। वह गांधी जी को अपना गुरू और पथ प्रदर्शक मानते थे, और लोग भी उन्हें गांधी जी को उत्तराधिकारी मानते थे। एक पश्चिमी इतिहासकार लिखते हैं कि केवल 1947 में ही बटवारें के प्रश्न पर जब उन्हें एक ओर प्रधानमंत्री का पद मिल रहा था और दूसरी ओर गृहयुद्व की स्थिति स्पष्ट सामने दिखाई दे रही थी, ऐसा हुआ कि वह अपने गुरू और पथ प्रदर्शक से मानसिक रूप से अलग हो गए।

भारत के पुनर्निमाण तथा सामाजिक पुनर्गठन के लिए बहुत सी वैकल्पिक विचारधाराएं सामने थीं, एक छोर पर गांधी विचारधारा के लोग थे जो अहिंसा द्वारा क्रान्ति लाना चाहते थे, जिससे विकेन्द्रीकरण हो, ग्रामीण समाज लगभग आत्मनिर्भर हो। उसे अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए आधुनिक तकनीक की कम से कम आवश्यकता हो। दूसरी ओर कांग्रेस के भीतर और बाहर एक समाजवादी दल था जो यह कहते थे कि आर्थिक ओर सामाजिक असमानताओं को समाप्त करना उतना आवश्यक है जितना विकास, और वे भूमि सुधार, अधिक सामाजिक स्वामित्व तथा निजी क्षेत्र पर कड़ा नियंत्रण हो ताकि अधिक से अधिक समानता लाई जा सके। स्वतंत्र दल, जिसके कई समर्थक कांग्रेस दल में भी थे, भूमिसुधारों को भारतीय संविधान में दिए गए सम्पत्ति के मौलिक अधिकार का उल्लंघन मानते थे।

इसी प्रकार ऊंची कर की दरों को, अनेक नियंत्रणों इत्यादि को प्रोत्साहन विरोधी मानते थे और यह कहते थे कि राजकोष को प्रबन्ध करने में पूर्णतया असमर्थ रहेगा। ये सब सम्भवत रूस के उदाहरण से शिक्षा लेते थे। और आज उनका यह तर्क ठीक सिद्ध हो रहा है।

स्वतंत्रता के उपरान्त पन्डित जवाहर लाल नेहरू की अध्यक्षता में कांग्रेस दल ने ऊपर लिखित विचारों के बीच प्रयत्न किया कि नियंत्रण कम से कम हो, परन्तु उस समय समाजवाद की लहर सी चल रही थी, जिसको रोकना सम्भव नहीं था। सवैंधानिक रूपरेखा सम्भवतः जानबूझकर ऐसी बनाई गई थी कि उसमें समाजवाद जोश स्पष्ट दिखाई दे और कार्यान्वित हो। संविधान की उद्देशिका में जो नेताओं के उद्देश्यों तथा आकांक्षाओं का ठीक–ठीक दर्पण है, कहा गया है, "हम भारत के लोग भारत तो एक सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न लोकतंत्रात्मक गणराज्य (इसमें समाजवादी शब्द जानबूझकर छोड़ दिया गया था,) बनाएगें।"

संविधान के चौथे भाग में (इसमें 'समाजवादी शब्द जान–बूझकर छोड़ ही दिया गया था') बनांएगें।

संविधान के चौथे भाग में (जिसमें धाराएं 36–51 हैं,) संविधान के सामाजिक तत्वों का वितरण दिया है जिसका शीर्षक है 'राज्य के नीति निर्देशक तत्व।' परन्तु धारा 37 में यह स्पष्ट किया गया है, कि 'ये धाराएं देशी प्रशासन के लिए मूलभूत है और राष्ट्र का यह कर्तव्य है कि विधेयक बनाते समय इनको ध्यान में रखें। यह स्मरण रहे कि आज तक इन राज्यों के नीति निर्देशक निजीकरण तथा वैश्वीकरण ने इन पर और भी अंकुश लगा दिया है।'

आर्थिक विस्थापन : भारत के बटवारें ने भारत की अर्थव्यवस्था को बहुत बुरी प्रकार से प्रभावित किया, विशेषकर अन्न तथा कृषि उत्पादों की उपलब्धता ने। पश्चिमी पाकिस्तान के प्रान्तों में चावल तथा गेहूं का आधिक्य था। अविभाजित भारत के सींचित क्षेत्र का 68 प्रतिशत पाकिस्तान के हिस्से में चला गया था। श्री सी.एन.वकील के अनुसार भारत में गेहूं की औसत उपज केवल 750 पाऊंड और चावल की 650 पाऊंड थी। इसी प्रकार भारत की जनसंख्या का भार प्रति एकड़ भी पाकिस्तान से कुछ अधिक था। नगरों की जनसंख्या में तो भारत पाकिस्तान से बहुत आगे था। इसलिए अविभाजित भारत में अन्न की कमी कभी नहीं हुई। जितनी विभाजित भारत के प्रारम्भिक वर्षो में हुई। इसी प्रकार पशुओं के मामले में भी परिस्थिति बहुत बुरी थी, क्योंकि अधिक दूध देने वाली उत्तम वंश की गांए तथा भेंसें भी पाकिस्तान के सिन्ध प्रान्त तथा पश्चिमी पंजाब में ही थी और वे अब भारत को उपलब्ध नहीं थी।

स्वतंत्र भारत के लिए सबसे मुख्य समस्या अन्न प्राप्त करने की थी विदेशों से अन्न आयात करने के लिए विदेशी मुद्रा की आवश्यकता थी। भुगतान शेष की कठिनाई हो गई। यह ठीक है कि द्वितीय महायुद्व के दिनों में हमने जो माल इंग्लैंड को भेजा था, उससे हमारे ऋण समाप्त हो गए थे और हमारे पास पाउण्ड स्टर्लिंग के भंडार थे, परन्तु हमें वह धन विदेशों से सैनिक सामान मंगवाने के लिए व्यय करना होता था क्योंकि अक्टूबर 1947 में ही भारत पाकिस्तान के विरूद्ध कश्मीर समस्या के सम्बन्ध में युद्ध में उलझ गया था।

अंग्रेज अर्थशास्त्रियों का कथन है कि स्वतन्त्रता से पूर्व भारत के पास कई अनुभवी उद्योगपति और पूंजीपति विद्यमान थे, जिनसे आशा की जा सकती थी कि वे विकास की योजनांए बनाएंगे। इसी प्रकार बैंकों, बीमा क्षेत्र प्रबन्धक एजेंसी क्षेत्र में भी हमें दक्ष व्यक्ति उपलब्ध थे क्योंकि ये क्षेत्र पर्याप्त रूप से विकसित थे।

सर्वतोमुखी विकास के लिए योजना : (Planning for all–Round Development) : 1946 में पंडित जवाहरलाल ने एक बार लिखा था कि, 'हमारी लगभग सभी समस्यांए या तो अंग्रेजी शासन के विरूद्ध अथवा उनकी नीतियों के सीधे परिणाम है। भारतीय रियासतें, अल्पसंख्यकों का प्रश्न, विदेशी अथवा स्थानीय निहित स्वार्थ, उद्योगों की कमी, कृषि की अनदेखी, सामाजिक सेवाओ मे अत्याधिक पिछड़ापन और सबसे बड़ी दुख की बात भारतीय लोगों की दरिद्रता।'

"इस संबध में यह स्मरणीय है हेक 1938 में ही कांग्रेस ने एक राष्ट्रीय योजना समिति का गठन किया था, जिसके अध्यक्ष जवाहर लाल नेहरू थे। समिति ने योजना के सभी पक्षों का विस्तार से अध्ययन किया। नेहरू ने यूं कहा था:

"योजना समिति की सोच के पीछे मूलभूत विचार यह था कि किस प्रकार अधिक उद्योगीकरण किया जा सकता है, और कैसे दरिद्रता तथा बेकारी कम की जा सकती है। राष्ट्रीय सुरक्षा का प्रश्न कैसे सुलझाया जा सकता है। क्योंकि यह सब उद्योगीकरण के बिना सम्भव नहीं था। ऐसे उद्योगीकरण के बिना सम्भव नहीं था। ऐसे उद्योगीकरण के लिए प्रथम चरण मे तो एक सर्वतोमुखी योजना बनानी आवश्यक है जिसमें भारी उद्योग तथा कुटीर उद्योग सभी के विषय में सोचना पड़ेगा। दूसरे कोई भी योजना कृषि की अनदेखी नहीं कर सकती, क्योंकि वही जनसाधारण का मुख्य सहारा है और इसके अतिरिक्त सामाजिक सेवाएं भी समान महत्व रखती हैं जितना हमने योजना के विषय में सोचा उतना ही उसकी पहुंच बढ़ती चली गई और यह लचीली होती चली गई, और इसमें सभी क्रियाकलाप सम्मिलित हो गए।"

इस राष्ट्रीय योजना समिति के अतिरिक्त आठ महत्वपूर्ण उद्योगपतियों ने 'आर्थिक विकास के लिए एक योजना भी बनाई थी जिसे प्रायः 'बम्बई योजना' ने गांधीयन योजन बनाई और श्री एम.एन.राय जो एक सामन्यवादी तथा क्रांतिकारी थे, उन्होंने भी एक जनता की योजना भी बनाई। ये सभी योजनाएं केवल कागजी कार्यवाही ही रहीं और इनको कार्यान्वित नहीं किया गया।

1950 में प्रधानमंत्री पन्डित नेहरू की अध्यक्षता में एक राष्ट्रीय योजना आयोग गठित किया गया जिसमें सभी महत्वपूर्ण मंत्री भी सदस्य थे, तभी से एक ऐसी परम्परा बन गई है कि जब उसे योजना आयोग से स्वीकृती मिल जाएगी। इससे योजना आयोग को निवेश के कार्यों में पर्याप्त महत्व प्राप्त हो गया। दूसरे भिन्न–भिन्न मंत्रीयों के विभागों तथा राज्यों की आपसी प्रतिस्पर्धा को भी कम करने का अवसर मिल जाता था। अब कार्य सूचियों में अधिक सामजंस्य स्थापित होकर ये सब एक सुंगठित योजना का भाग बन सकत थे।

योजना के उद्देश्यों पर समाजवाद का रंग चढ़ा होता था और वे संविधान में लिखे 'राज्य की नीति निदेशक तत्वों से प्रेरणा प्राप्त करती थी', आयोजकों के दूरगामी 4 उद्देश्य थेः

(1) उत्पादन को अधिकाधिक सीमा तक बढ़ाओ ताकि देश की प्रति व्यक्ति आय बढ़ सके।
(2) देश के लोगों को पूर्ण रोजगार प्राप्त हो।
(3) लोगों मे धन तथा आय की असमानता कम से कम हो सके।
(4) देश में एक समाजवादी समाज की स्थापना हो जो न्याय तथा समानता पर आधारित हो ओर जिसमें शोषण ना हो।

आर्थिक योजना के उद्देश्य एक मिश्रित अर्थव्यस्था द्वारा पूरे किए जाने थे, अर्थात जहां निजी तथा राजकीय क्षेत्र दोनों सह अस्तित्व में कार्य करें और सम्भवतः कुछ उद्योगों में दोनों की भागीदारी भी हो।

राजकीय क्षेत्र की सूची में इस्पात के कारखाने, तेल तथा उसके उत्पाद, भारी मशीनरी का उत्पादन, बिजली का उत्पादन, वायुयान तथा जलपोंतों का निर्माण सम्मिलित था। निजी क्षेत्र में कपड़ा छोटी मशीनरी, सीमेंट इत्यादि सम्मिलित थे।

प्रथम पंचवर्षीय योजना

स्वतंत्रता के उपरांत भारत सरकार के सम्मुख तीन प्रमुख समस्यांए थीः शरणार्थियों का पुनर्वास, अन्न की अत्याधिक कमी तथा अर्थव्यवस्था पर मुद्रा स्फीति का दबाव। इसलिए प्रथम पंचवर्षीय योजना ने कृषि, जिसमें सिचांई तथा ऊर्जा भी सम्मिलित थे, पर सब से अधिक बल दिया। राजकीय क्षेत्र के 2069 करोड़ रूपये (जिसे पीछे 2378 करोड़ कर दिया गया था) का लगभग 44.6 इस क्षेत्र के विकास के लिए निश्चित किया गया। पंजाब मे रोपड़ से लगभग 50 मील ऊपर सतलुज नदी पर भाखड़ा नंगल बांध का काम जो कुछ समय से बहुत धीमी गति से हो रहा था, अब और तेज कर दिया गया। इसी प्रकार दामोदर घाटी योजना तथा हीरा कुंड बांध का कार्य भी आरम्भ किया गया।

आधारभूत उद्योगोंः जिन में लघु उद्योग तथा खनिज उद्योग भी सम्मिलित थे, के लिए 173 करोड़ रूपये निश्चित किए गए। यद्यपि प्रारम्भिक बल उत्पादन बढ़ाने पर दिया गया था, योजना प्रारम्भिक बल उत्पादन बढ़ाने पर दिया गया था, योजना ने अपने आप को केवल भौतिक विकास तक ही सीमित नहीं रखा और केवल भौतिक विकास तक ही सीमित नहीं रखा और इसलिए प्रयत्न यह किया गया कि मानव तत्वों को भी अच्छा बनाया जाए, और उसके लिए धन निर्धारित किया गया। सामाजिक सेवाओं के लिए कुल 240 करोड़ रूपये का प्रावधान था, (52 करोड़ शिक्षा के लिए, 100 करोड़ आयुर्विज्ञान तथा सार्वजनिक स्वास्थय सेवाओं के लिए 49 करोड़ गृह निर्माण के लिए 29 करोड़ पिछड़ी हुई जातियों के लिए लगभग 7 करोड़ श्रमिकों तथा श्रमिक कल्याण के लिए तथा 4 करोड़ स्वंयसेवी समाज कल्याण के लिए निर्धारित किया गया।

आधारभूत उद्योगों : जिन में लघु उद्योग तथा खनिज भी सम्मिलित थे, के लिए 173 करोड़ रूपये निश्चित किए गए। यद्यपि प्रारम्भिक बल उत्पादन बढ़ाने पर दिया गया था, योजना ने अपने आप को केवल भौतिक विकास तक ही सीमित नहीं रखा और इसलिए प्रयत्न यह किया गया कि मानव तत्वों को भी अच्छा बनाया जाए, और उसके लिए धन निर्धारित किया गया। सामाजिक सेवाओं के लिए कुल 240 करोड़ रूपये का प्रावधान था(52 करोड़ शिक्षा के लिए, 100 करोड़ आयुर्विज्ञान तथा सार्वजनिक स्वास्थय सेवाओं के लिए 49 करोड़ गृह निर्माण के लिए 29 करोड़ पिछड़ी हुई जातियों के लिए, लगभग 7 करोड़ श्रमिकों तथा श्रमिक कल्याण के लिए तथा 4 करोड़ स्वयंसेवी समाज कल्याण के लिए निर्धारित किया गया) योजना में यह भी सुझाव था कि निवेश की मात्रा राष्ट्रीय आय के 5 प्रतिशत से बढ़ाकर 7 प्रतिशत कर दी जाए।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना (1956-57 से 1961-62) : द्वितीय पंचवर्षीय योजना अधिक वित्तीय स्थिरता के वातारण में गठित की गई। जो लक्ष्य प्रथम योजना में निश्चित किए गए थे, वे सभी मुख्य रूप से प्राप्त कर लिए गए थे। ये सभी मुख्य रूप से कार्य कर

लिए गए थे। विशेषकर कृषि क्षेत्र में। अब भारी तथा आधारभूत उद्योगों के विकास की ओर ध्यान दिया गया। पश्चिमी पाकिस्तान से आए शरणार्थियों की समस्या कुछ सीमा तक सुलझा ली गई थी।

1956 में एक औद्योगिक नीति प्रस्ताव पारित किया गया, जिसमें यह स्वीकार किया गया कि आर्थिक नीति का उद्देश्य समाज का समाजवादी ढांचा गठित करना है, इस नीति का अनुसरण करते हुए, दुसरी पंचवर्षीय योजना के उद्देश्य इस प्रकार किए गए

(1) राष्ट्रीय आय में 25 प्रतिशत बढ़ोतरी।
(2) तीव्रगामी उद्योगीकरण जिसमें आधारभूत तथा भारी उद्योगों पर बल दिया गया।
(3) रोजगार के अवसरों में बढ़ोतरी।
(4) आय और धन की मात्रा में असमानताओं मे कमी करना तथा आर्थिक शक्ति की अधिक समानता से बटवारा।

आरम्भ में सामाजिक सेवाओं के लिए 995 करोड़ रूपये निर्धारित किए गए थे, परन्तु पीछे उसे घटाकर 850 करोड़ कर दिया गया शिक्षा तथा स्वास्थय सेवाओं के विस्तार पर विशेष बल दिया गया। इसी प्रकार औद्योगिक मजदूरी, विस्थापित लोगो। तथा इसी प्रकार के अल्प सुविधा प्राप्त लोगों के विषय में ध्यान दिया गया।

गृह निर्माण के लिए 120 करोड़ रखा गया जो पीछे योजना के पुर्नमूल्यांकन के समय घटाकर 84 करोड़ कर दिया गया। योजना में यह भी कल्पना की गई थी कि कृषि से अतिरिक्त क्षेत्रों में लगभग 79 लाख अतिरिक्त लोगों को काम दे सकेंगे तथा कृषि मे 16 लाख अतिरिक्त लोगों को काम दे सकेंगे।

इस योजना का मुख्य उद्देश्य औद्योगिकरण था इसलिए तीन इस्पात कारखाने 10 लाख टन की क्षमता वाले, राउरकेला, भिलाई तथा दुर्गापुर मे लगाए गए। यद्यपि इस योजना के सभी लक्ष्य पूरे नहीं हो सके, परन्तु फिर भी दूसरी पंचवर्षीय योजना भारत को समृद्धि की ओर ले जाने के लिए महत्वपूर्ण सोपान था।

तीसरी पंचवर्षीय योजना : (Third Five Years Plan) : तीसरी पंचवर्षीय योजना 1961 में आरम्भ की गई। इसका उद्देश्य प्रथम तथा द्वितीय पंचवर्षीय योजनाओं को आगे ले जाना था। इसको उद्देश्य सरकारी उपक्रमों में 7250 करोड़ रूपये लगाना था। योजना का लक्ष्य यह था कि राष्ट्रीय आय को 30 बढ़ाया जाए अर्थात 1960–61 की 14,500 करोड़ की आय को बढ़ाकर 19,000 करोड कर दिया जाए तथा प्रति व्यक्ति की आय लगभग 17 प्रतिशत बढ़ाई जाए अर्थात् 330 रूपये प्रति वर्ष से बढ़ाकर 385 रूपये प्रति वर्ष की जाए। उनकी उपलब्धिंया बहुत थी। उन्होंने भारत के सामाजिक तथा आर्थिक विकास में एक महत्वपूर्ण योगदान किया था। अर्थशास्त्रियों का कथन है कि इस काल में राष्ट्रीय आय लगभग 20 प्रतिशत बढ़ी। परन्तु इस योजना के अन्तिम दो वर्षो मे हमारी उन्नति की गति कुछ धीमी पड़ गई, कारण था 1962 का भारत–चीन सीमा विवाद तथा 1965 में हुआ भारत पाक युद्ध, तथा दो वर्ष तक लगातार सूखा, मंहगाई, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का बढ़ता हुआ ऋण, रूपये का अवमूल्यन (1 जून 1966) जिससे सब को बहुत चिंता हुई तथा देश की प्रगति रूक गई।

(b) देशी राज्यों का एकीकरण और विलय
Integration of Princely States

1947 के अंग्रेजी संसद द्वारा पारित भारतीय स्वतंत्रता विधेयक में, भारतीय रियासतों के विषय में ये प्रावधान थे 'सभी सन्धियां, समझौते इत्यादि, जो महामहिम की सरकार तथा भारतीय रियासतों के प्रशासकों के बीच हैं वे सब समाप्त हो जाएगें।' शाही उपाधियां तथा शैलियों में से 'भारत का सम्राट शब्द हटा दिया जाएगा। भारतीय रियासतों को यह अनुमती होगी कि वे भारत अथवा पाकिस्तान में से किसी एक में सम्मिलित हो जाएं।'

3 सितम्बर 1946 को बनी राष्ट्रीय अन्तरिम सरकार में सरदार बल्लभ भाई पटेल को रियासतों का विभाग दिया गया था। उनके मुख्य सहायक वी.पी.मेनन थे। यद्यपि सर्वश्रेष्ठता समाप्त हो चुकी थी और किसी भी प्रदेश में सम्मिलित होना अथवा न होना राजाओं की इच्छाओं पर निर्भर था, उन्हें यह स्पष्ट था कि उनके लिए स्वाधीन बने रहना बहुत कठिन था। अधिकतर रियासतों के सम्भरण संचार साधन, रेल, तार, डाक, बिजली, मार्ग सभी तो भारतीय प्रान्तों में इस प्रकार गड्ड–मड्ड थे कि उनके लिए एक ही मार्ग था और वह कि शेष भारत में सम्मिलित हो जाएं।

सरदार पटेल तथा मेनन ने कुछ दबाव भी डाला, कुछ उनकी देशभक्ति को ललकारा और उन्हें कहा कि आप रक्षा, विदेशी मामले तथा संचार साधनों को भारतीय संघ को देकर अपने अस्तित्व को बनाए रखें। लार्ड लुई माउंटबेटन ने भी अपनी ओर से इस नीति का समर्थन किया तथा सकारात्मक भूमिका निभाई। 5 अगस्त 1947 तक केवल 136 क्षेत्राधिकारी रियासतों ने भारतीय संघ में सम्मिलित होना स्वीकार कर लिया था।

जूनागढ, हैदराबाद और कश्मीर तीन राज्य ऐसे थे जिन्होनें भारत के साथ सम्मिलित होने में कठिनाई प्रस्तुत की। सितम्बर 1947 ई. में जूनागढ़ ने पाकिस्तान में सम्मिलित होना स्वीकार किया। परन्तु इस राज्य की बहुसंख्यक जनता हिन्दू थी तथा यह भारतीय सीमाओं से घिरा हुआ था। राज्य के नागरिकों ने अपने नवाब के निश्चय का विरोध किया और एक 'स्वतन्त्र अस्थायी हुकूमत' की स्थापना कर ली। नवाब अपने राज्य को छोड़कर पाकिस्तान भाग गया और बाद में फरवरी 1948 ई में जनमत–संग्रह करके जूनागढ को भारत में सम्मिलित कर लिया गया। इसी प्रकार हैदराबाद भी भारतीय सीमाओं से घिरा हुआ था तथा वहां की बहुसंख्यक जनता हिन्दू थी परन्तु हैदराबाद के निजाम ने अपने लिए स्वतन्त्र राज्य की स्थापना करने का प्रयत्न किया। लार्डमाउण्टबेटन के प्रयत्नों से नवम्बर 1947 ई में भारत ओर हैदराबाद में एक अस्थायी समझौता हो गया। परन्तु निजाम ने उस समझौते का पालन नहीं किया और मुस्लिम रजाकारों को प्रोत्साहन दिया। राज्य में हिन्दुओं पर अत्याचार होने आरम्भ हो गये, हिन्दू–मुस्लिम दंगे होने लगे, आवागमन के साधनों को हानि पहुंचाई गई और रजाकारों के नेता कासिम रिजवी ने यहां तक धमकी दी कि वह सम्पूर्ण भारत को विजय करके दिल्ली के किले पर निजाम का आसफजाही झण्डा फहरायेगा। जून 1948 ई में लार्ड माउण्टबेटन के भारत से चले जाने के पश्चात स्थिति अधिक गंभीर हो गयी। अन्त में, हैदराबाद के रूख को देखकर भारत ने पुलिस कार्यवाही करने का निर्णय लिया और सितम्बर 1948 ई में भारतीय सेना ने हैदराबाद में प्रवेश किया। पांच दिन में ही हैदराबाद के भाग्य का निर्णय हो गया। 18 सितम्बर, 1948 ई को मेजर–जनरल जे.एन. चौधरी ने हैदराबाद के सैनिक–गर्वनर का पद संभाला और हैदराबाद को भारत में सम्मिलित कर लिया गया। निजाम ने इसे स्वीकार कर लिया। जम्मू–कश्मीर राज्य के सम्बन्ध में अधिक गंभीर समस्या उत्पन्न हो गई। वहां के शासक राजा हरीसिंह ने अपने को स्वतंत्र रखने का प्रयत्न किया। कश्मीर का राजा हिन्दू था परन्तु बहुसंख्यक निवासी मुसलमान थे। जूनागढ़ और हैदराबाद के सम्बन्ध में भारत ने उन राज्यों पर इसलिए दबाव डाला था क्योंकि वहां की बहुसंख्यक हिन्दू प्रजा अपने राज्य को भारत में सम्मिलित करना चाहती थी। इस कारण भारत कश्मीर के सम्बन्ध मे भी वंहा की जनता की राय जानना चाहता था। अतएव कश्मीर पर भारत ने कोई दबाव नहीं डाला। परन्तु पाकिस्तान ने कश्मीर पर दबाव डाला कश्मीर ने पाकिस्तान से एक अस्थायी समझौता कर लिया। बाद में पाकिस्तान के व्यवहार से राजा हरीसिंह को चिन्ता हुई। पाकिस्तान ने अस्थायी समझौते कर लिया। बाद में पाकिस्तान ने अस्थायी समझौते की शर्तो को पूरा नहीं किया और राजा पर दबाव डालने के लिए सीमा पर झगड़े करने आरम्भ कर दिय। 22 अक्टूबर, 1948 ई को पाकिस्तान के सैनिक अधिकारियों के नेतृत्व में कबाइली जातियों ने कश्मीर पर आक्रमण कर दिया राज्य के मुस्लिम सैनिकों ने कबाइलियों का साथ दिया और कबाइली जातियों ने कश्मीर पर आक्रमण कर दिया। राज्य के मुस्लिम सैनिकों ने कबाइलियों का साथ दिया और कबाइली कश्मीर की राजधानी श्रीनगर के निकट तक पहुंच गये। 24 अक्टूबर को राजा हरीसिंह ने भारत से सैनिक सहायता मांगी और उसने कश्मीर को भारत में सम्मिलित करना स्वीकार कर लिया। 26 अक्टूबर को कश्मीर के मुख्य–मंत्री मेहस्चन्द महाजन ने पं. जवाहरलाल नेहरू सै भेंट की। परन्तु पं. नेहरू उस समय तक कश्मीर को सहायता देने के लिए तैयार न हुए जब तक कि राज्य के मुख्य राजनीतिक दल–राष्ट्रीयदल–के नेता शेख अब्दुल्ला ने प. नेहरू को यह आश्वासन नहीं दिया कि राज्य में सवैंधानिक शासन की शर्त पर वह और उनका दल कश्मीर को भारत के साथ सम्मिलित किये जाने के पक्ष में है, अन्त में, कश्मीर को भारत में सम्मिलित करने के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया गया। यह भी निश्चित किया गया कि बाद में कश्मीर में इस विषय पर जनमत–संग्रह किया जायेगा। इस समझौते के पश्चात् 27 अक्टूबर को हवाई–मार्ग से भारतीय सेना श्रीनगर भेजी गयी, जिसने श्रीनगर को बचा लिया। कश्मीर को अपने हाथ से निकलते देखकर पाकिस्तान की सेना ने कबाइलियों के नाम से युद्ध द्वारा हस्तक्षेप किया। यह सघंर्ष जनवरी 1949 ई. में समाप्त हुआ जबकि संयुक्त राष्ट्र–संघ के हस्तक्षेप के कारण भारत और पाकिस्तान ने युद्धबन्द करना स्वीकार किया गया यद्यपि पाकिस्तान दानों ने युद्ध बन्द करना स्वीकार कर लिया। इसप्रकार कश्मीर को भारत में सम्मिलित किया गया यद्यपि पाकिस्तान के आक्रमण के कारण कश्मीर का बहुत बड़ा हिस्सा आज भी पाकिस्तान के अधिकार में है। भारत ने सयुंक्त राष्ट्र–संघ से भी इस झगड़े को समाप्त करने में सहायता ली परन्तु उससे कोई लाभ नहीं हुआ और कश्मीर अभी तक भारत और पाकिस्तान के बीच विवाद का विषय बना हुआ है।

जम्मू तथा कश्मीर के महाराजा हरीसिंह ने 26 अक्टूबर 1947 को ओर हैदराबाद के निजाम ने 26 अक्टूबर 1948 को विलय पत्र पर हस्ताक्षर कर दिए। निजाम के प्रदेश में इतनी गड़बड़ी थी कि भारत सरकार को हस्तक्षेप करना पड़ा था। जडिथ एम. ब्राउन ने टिप्पणी की है, कि स्वतंत्रता से पूर्व स्थिति कुछ भी क्यों ना रही हो अथवा सरदार पटेल ने कुछ भी आश्वासन क्यों ना दिए हों अब यह तथ्य स्पष्ट था कि स्वतंत्रता के कुछ ही काल उपरान्त, उस महाद्वीप में नई भारतीय सरकार एक सर्वश्रेष्ठ शक्ति के रूप में उभर चुकी थी।

इन रियासतों का भारतीय राजनैतिक तथा प्रशासनिक ढांचे में विलय हो जाना केवल समय की ही बात नहीं थी अपितु तर्कसंगत भी थी। कुछ रियासतें तो इतनी छोटी थी कि उनका अलग प्रशासनिक ईकाईयों के रूप में बने रहना सम्भव ही नहीं था। उनको सलग्न प्रान्तों में मिला दिया गया जैसे उड़ीसा में 39 रियासत तथा छत्तीसगढ़ की कई छोटी–छोटी रियासतों का मध्य प्रान्त में मिला

दिया गया। इसी प्रकार गुजरात प्रदेश बनाए गए।इस श्रेणी में हिमाचल प्रदेश, विन्ध्य प्रदेश, त्रिपुरा, मणिपुर, भोपाल, बिलासपुर तथा कुछ अन्य प्रदेश, त्रिपुरा, मणीपुर, भोपाल, बिलासपुर तथा अन्य प्रदेश सम्मिलित थे। भौगोलिक तथा प्रशासनिक कारणों से यह क्षेत्र बम्बई प्रान्त में मिला दिए गए। यह समग्रता का दूसरा चरण था। इस समग्रता का तीसरा चरण कुछ रियासतों को मिलाकर एक बड़ा क्षेत्र अथवा रियासतों का संघ बनाना। इस श्रेणी में काठियावाड़ प्रदेश की सयुंक्त रियासतें, मत्स्य प्रदेश, (जयपुर के आसपास की सयुंक्त रियासतें), मध्य भारत, विन्ध्य प्रदेश,पटियाला तथा पूर्वी पंजाब की रियासतों का संघ ,राजस्थान तथा कोचीन और ट्रावनकूट की सयुंक्त रियासतें।

यह स्मरण रहे कि इन रियासतों के भारत में विलय के लिए केवल भारत सरकार ही उत्तरदायी नहीं थी। प्रायः स्थानीय जनता तथा राजनीतिक दल भी उत्तरदायी थे। जनता देख रही थी कि भारतीय प्रान्तीय क्षेत्रों में नया संविधान जिसकी गठन प्रक्रिया नवबर 1946 से आरम्भ हो चुकी थी, जिसमें लोगों के मूल अधिकारों का विवरण था, एक अच्छे श्रंखलाबद्व न्यायालयों का प्रावधान था तथा चुने हुए प्रतिनिधियों द्वारा प्रशासन चलाने की व्यवस्था थी उसकी तुलना में रियासतों में ऐसा कुछ नहीं था। यह ठीक है कि कुछ राजा बहुत प्रबुद्ध थे, परन्तु वहां की जनता को एक अच्छा प्रशासन देना राजा की इच्छा पर निर्भर था। अतएव कई बार स्थानीय दबाव भी एक प्रमुख कारण था।

भारत का एकीकरण उस समय तक असम्पूर्ण था, जब तक कि फ्रांस तथा पुर्तगाल द्वारा भारत के अधिकृत प्रदेश भारत का भाग नहीं न बन जाते। फ्रांस की सरकार इस विषय में अधिक समझदार थी यद्यपि भारत के प्रतिनिधित्व प्राप्त था और फ्रांस के मानव अधिकार भी प्राप्त थे परन्तु फिर भी वहां की सरकार में स्वंय ही नंवबर 1954 में अपने तीनों भारतीय क्षेत्र, पांडिचेरी (चेन्नई के पास), चन्द्रनगर (कोलकाता के पास), तथा माहे (कालीकट के पास पश्चिमी तट पर) स्वंय ही भारत को सौंप दिए। परन्तु पुर्तगाल की सरकार ने अलग रूख अपनाया। उनका कथन था कि चूंकि गोआ पुर्तगाल के महानगरीय क्षेत्र का भाग है, इसलिए अंग्रेजों और फ्रांसीसियों द्वारा भारत में अपने क्षेत्र छोड़ने से उनपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता और वे अपने भारतीय क्षेत्र नहीं छोड़ेंगे। यह सभी क्षेत्र समुद्री तट पर थे अतएव स्थानीय प्रभाव भी नहीं बनाया जा सकता था। भारत का कथन था कि यं क्षेत्र साम्राज्यवाद के प्रतीक हैं, और उनका भारत में विलय परम आवश्यक है। कुछ निहत्थे भारतीयों ने गोआ की सीमाओं पर सत्याग्रह करने का प्रयत्न भी किया परन्तु पुर्तगाली सैनिकों ने उन्हें मार गिराया। भारतीय सरकार को यह सहन न था और उन्होंने हस्तक्षेप करके सत्याग्रहियों का बलपूर्वक वापस बुला लिया था। भारतीय सरकार में राजनयिक प्रयास भी किए गए और फिर अकस्मात एक दिन गोआ पर सैनिक कार्यवाही कर दी और 19 सितंबर 1961 को दमन और दीव सहित तीनों क्षेत्रों को भारत में मिला लिया। किसी विदेशी शक्ति ने अथवा सयुक्त राष्ट्र संघ ने हस्तक्षेप करने का प्रयत्न नहीं किया।

(C) गुट-निरपेक्षता आन्दोलन

गुट-निरपेक्षता का अर्थ : गुट–निरपेक्षता से हमारा तात्पर्य उस नीति से है, जिसके अनुसार कोई देश स्वंय को किसी विशेष सैनिक गुट में शामिल नहीं करता। वह तटस्थता की नीति पर चलता है लेकिन विश्व मामलों के प्रति उदासीन नहीं होता। वह हर देश की विदेश नीति एंव रूख के गुण और दोष के आधार पर आलोचना करता है। वह उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद, शस्त्रीकरण, रग–भेद इत्यादि में विश्वास नहीं रखता।

निष्पक्षता की विदेश नीति : 1946 मे जब पहली बार भारतियों को अपनी विदेश नीति स्वतन्त्र रूप से निर्धारण करने का अवसर तो उस समय तक संसार लगभग दो गुटों में बंटा हुआ था। द्वितीय विश्वयुद्व (सितंबर 1939 से जुलाई 1945) में तो सभी मित्र शक्तियां(इंग्लैंड, अमेरिका तथा रूस) धुरी शक्तियों(जर्मनी, इटली तथा जापान) के विरूद्व एक हो गई थीं, परन्तु जब जर्मनी इटली तथा जापान ने हथियार डाल दिये तो मित्र देशों में दो गुट बन गए। अमेरिका, इंग्लैंड, फ्रांस और चीन तथा अन्य छोटी–बड़ी शक्तियां एक ओ हो गई तथा रूस तथा अन्य साम्यवादी देश एक ओर हो गए और संसार दो गुटों में बंट गया। यद्यपि सयुंक्त राष्ट्र के मंच पर यह सभी शक्तियां इकठ्ठी बैठती थी, परन्तु अविश्वास का वातावरण विद्यमान था। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने द्वितीय विश्व युद्ध सितम्बर 1939 से जुलाई 1945 में तो सभी मित्र शक्तियां (जर्मनी, इटली तथा जापान) के विरूद्ध एक हो गई थी, परन्तु जब जर्मनी, इटली तथा जापान ने हथियार डाल दिए, तो मित्र देशों में दो गुट बन गए। अमरीका, इंग्लैंड, फ्रांस और चीन तथा अन्य छोटी बड़ी शक्तियां एक ओर हो गई और संसार दो गुटों में बंट गया। यद्यपि संयुक्त राष्ट्र संघ के मंच पर यह सभी शक्तियां इकठ्ठी बैठती थी, परन्तु अविश्वास का वातावरण विद्यमान था। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने द्वितीय विश्वयुद्ध के आरम्भ होने पर भारत को जर्मनी के विरूद्ध युद्ध में सम्मिलित करने पर कड़ा विरोध प्रकट किया था और प्रान्तो में बने मंत्रीमंडल को भंग कर दिया था। वहीं भारत अब निष्पक्षता की नीति अपना रहा था 1946 में 2 सितंबर को अन्तरिम सरकार का गठन हुआ और पंडित जवाहर लाल नेहरू प्रधानमंत्री बने तो उन्होंने अपनी विदेश नीति का ब्यौरा इस प्रकार दिया था।

'यथासंभव हम दोंनों गुटों की शक्तियों की राजनीति से, जहां दो गुट एक दूसरे के विरूद्ध डटे हुए हैं, से दूर रहना चाहते हैं, क्योंकि संसार का दो गुटों मे बटंना ही दोंनों विश्वयुद्धों का कारण था और सम्भवंतः यह गुटबन्दी हमें उनसे भी बड़े महाविनाश की ओर ले जा सकती है। हम विश्वास करते हैं कि हम शान्ति और स्वतन्त्रता का समर्थन नहीं करते तो किसी अन्य स्थान पर भी स्वतंत्रता को भय होगा औ इससे कलह और युद्ध होंगे। हम विशेष कर समस्त साम्राज्यवाद से शोषित तथा परतंत्रदेशों की स्वतंत्रता में विश्वास करते है। हमारे अनुसार सिद्धान्त और व्यवहार में सभी जातियों के लिए समान अवसर प्राप्त होने चाहिए हम किसी देश पर प्रभुत्व नहीं चाहते और न ही हम अपने लिए औरों पर कोई विशेषाधिकार चाहते है।

1945 के उपरांत विश्व द्विगुटीय बन चुका था। दोनों गुटों के नेताओं, अमरीका और रूस ने अणु बम बना लिए थे और अन्य निर्बल शक्तियों को अपने गुट में सर्वस्लाव आन्दोलन लोकप्रिय हो रहा था। हंगरी, रूमानिया और बुल्गारिया रूस के प्रभाव क्षेत्र में आ गए थे। प्रति तोलन की भावना ससे प्रेरित होकर अमरीका ने निकट पूर्वी देशों, तुर्की तथा ग्रीस (यूनान) को उदार आार्थिक तथा सैनिक सहायता दी ताकि ये शक्तियां रूस के प्रभावक्षेत्र में आ सकें, पश्चिमी यूरोप की छोटी–बड़ी, शक्तियां रूस के प्रभाव में ना आ सकें, पश्चिमी यूरोप की सभी छोटी–बड़ी शक्त्यिां सभी अमरीका की ओर देखती थी।

नेहरू का भारतीय विदेश नीति के उद्भव और विकास में मुख्य योगदान यह था कि उन्होंने निष्पक्षता अथवा समदूरी की नीति को अपनाया तथा भारत को दोनों गुटों से दूर रखा। निष्पक्षता अथवा समदूरी की नीति का मुख्य तत्व यह था कि प्रत्येक प्रश्न पर स्वतन्त्रतापूर्वक निर्णय लिया जाए तथा किसी एक गुट के प्रभाव में आकर निर्णय ना लिया जाए। नेहरू तथा भारत की नीति मुख्य रूप से यही रही है कि शान्ति, निशस्त्रीकरण तथा जातीय समानता का पक्ष लिया जाए, तथा अर्न्तराष्ट्रीय सहयोग दिया जाए, ताकि अर्न्तराष्ट्रीय झगड़े शान्तिपूर्वक सुलझाए जा सकें।

निष्पक्षता की नीति को सम्मान और समर्थन कोरिया के झगड़े मे मिला। द्वितीय विश्वयुद्ध के दिनों मे रूस ने उत्तरी कोरिया में और अमरीका ने दक्षिण कोरिया क्षेत्र में प्रभुत्व जमा लिया था। पोट्सडेम के स्थान पर हुई बातचीत में उत्तरी तथा दक्षिणी कोरिया की सीमा रेखा 38 उत्तरी अक्षांश निश्चित कर दी गई थी। दक्षिण कोरिया के कुछ क्षेत्र उत्तरी कोरिया ने अधिकार में ले लिए थे। अमरीका की सेनाओं ने उत्तर की ओर बढ़ना आरम्भ कर दिया और सीमा के निकट पहुंच गई। सम्भवतः उत्तर कोरिया ने पंडित नेहरू की मध्यस्थता मांगी (1951) पंडित नेहरू ने स्पष्ट अमरीका को कह दिया कि यदि वह 38 अक्षांश को पार करेगा तो यह झगड़ा बढ़ सकता है, अर्थात रूस को हस्तक्षेप करना पड़ेगा। परिणाम यह हुआ कि झगड़ा समाप्त हो गया।

भारत की निष्पक्षता का परिणाम यह हुआ हक युद्धबंदियों की अदला–बदली के लिए संयुक्त राष्ट्र प्रत्यावासन आयोगे गठित किया गया तो एक भारतीया को इस आयोग का अध्यक्ष चुना गया। इसी प्रकार भारत वियतनाम, कम्बोडिया और लाओस के देर तक चलते राजनैतिक सघंर्ष में भी निष्पक्ष रहा। इसी प्रकार भारत ने साम्राज्यी शक्तियों के अत्याचारी रूख का भी विरोध किया। 1956 में जब मिस्र ने स्वेज नहर का राष्ट्रीयकरण किया तो इंग्लैंड तथा फ्रांस ने उस पर आक्रमण कर दिया। भारत ने न केवल इन दोनों शक्तियों के विरूद्ध कड़ा रूख अपनाया अपितु मिस्र को समर्थन भी दिया, सयुंक्त राष्ट्र संघ में भी और बाहर भी। इस समस्त प्रक्रिया का परिणाम यह हुआ कि विदेशी सेनाओं को मिस्र से हटना पड़ा और मिस्र का स्वेज नहर पर नियंत्रण स्वीकार किया गया।

गुट-निरपेक्ष देशों की सूची : गुट–निरपेक्ष देशों का पहला शिखर सम्मेलन बेलग्रेड में 1 ये 6 सितम्बर 1961 ई को हुआ। इसमें 25 देशों ने भाग लिया। इन देशों की सूची में दर्शाया गया है मिस्र और सीरिया उस समय एक राज्य थे जिसे सयुंक्त अरब गणराज्य के नाम से जाना जाता था। 1994 ई0 में लोकतांत्रिक सरकार बनने के बाद दक्षिण अफ्रीका भी गुट–निरपेक्ष आंदोलन का सदस्य बन गया। अब इस आन्दोलन में 113 से भी अधिक राष्ट्र शामिल हो गए हैं यही उसकी बढ़ती हुई लोकप्रियता का सबसे बड़ा प्रमाण है।

गुट-निरपेक्षता के प्रमुख सिद्धान्त : गुट निरपेक्ष देशों की प्रथम बड़ी सभा सितम्बर 1961 ई0 में यूगोस्लाविया के बेलग्रेड नामक स्थान पर हुई। उसमें 25 देशों की सरकारों के अध्यक्षों ने भाग लिया। इस सम्मेलन के बाद जो वक्तव्य जारी किया गया उसमें गुट–निरपेक्षता के मूल सिद्वान्तों को दोहराया गया। ये सिद्वान्त हैं–

1. शान्ति का दृढ़ीकरण।
2. किसी भी प्रकार के साम्राज्यवाद एंव उपनिवेश का उन्मूलन।
3. सभी राष्ट्रों का शान्तिपूर्ण सह–अस्तित्व।
4. रंग–भेद की नीति की निन्दा करना।
5. सैन्य गुटबन्दी का विरोध।
6. निरस्त्रीकरण।

7. मानव अधिकारों के प्रति समान भाव।
8. शोषण से मुक्त रहने वाले राष्ट्रों के बीच आर्थिक सम्बन्धों की स्थापना, आदि।

अधिकांश राष्ट्रों द्वारा गुट–निरपेक्षता की नीति अपनाने के कारण–

(i) ये देश विश्व में पल रहे शीतयुद्ध को विश्व–शान्ति के लिए खतरा समझते हैं, अतः इन्होंने विश्व तनाव को कम करने के लिए गुट–निरपेक्षता को अपनाया।

(ii) ये देश सैनिक गुटों के निर्माण को विश्व–शान्ति के लिए खतरा समझते है, अतः इन्होंने उनसे दूर रहना ही उचित समझा है।

(iii) इन देशों के सामने भंयकर आर्थिक तथा सामाजिक समस्यांए हैं। इनका हल सभी देशों से सहयोग प्राप्त करके ही किया जा सकता है, यदि कोई देश एक विशेष गुट का सदस्य बन जाएगा तो दूसरे गुट के देश उसकी मदद कैसे करेंगे।

(iv) एशिया एंव अफ्रीका के नव–स्वतन्त्र देश तभी तक स्वतन्त्र नीति अपना सकते हैं यदि वे तटस्थ रहे और अपने आपको किसी भी सैनिक गठबन्धन में ना बांधते हैं तो उन्हें अपने स्वामियों की निश्चित की गई नीति पर चलना पड़ेगा।

गुट-निरपेक्ष आदोलन से संबधित कुछ महत्वपूर्ण सम्मेलन

1. **बांदुग (इंडोनेशिया) सम्मेलन** : 1940 ई0 वाले दशक का अन्त होते–होते पश्चिमी देशों का सैनिक संधि संगठन 'नाटो' कायम हो चुका था। 1950 ई0 वाले दशक के आरम्भ में सैनिक गठबन्धनों के सिलसिले का फैलाव एशिया तक पहुच गया था। शीत–युद्ध को पूरी दुनिया में फैलाया जा रहा था, जिससे तनाव और तकरारें बढ़ रही थी। इन्ही संयोगों के बीच भारत और चीन ने पंचशील अर्थात् शान्तिपूर्ण सह–अस्तित्व के पांच सिद्वान्तो का प्रतिपादन किया। 1954 ई0 में भारत और चीन ने जिस समझौते पर हस्ताक्षर किए उसकी प्रस्तावना में इन पांच सिद्वान्तों को शामिल किया गया। ये सिद्वान्त गुट–निरपेक्ष आन्दालन का अभिन्न अंग बन गए।

   1950ई० वाले दशक के आरम्भ में एशिया में ऐसे कई विशिष्ट नेताओं का उदय हुआ जो एशियाई और अफ्रीकी देशों के बीच एकता स्थापित करना चाहते थे ताकि उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद को मिटाया जा सके और ये देश स्वय को शीतयुद्ध से अलग रख सकें। 1955 ई० में इंडोनेशिया के राष्ट्रपति अहमद सुकर्णो ने 17 से 24 अप्रेल तक बादुंग मे एशियाई और अफ्रीकी देशों का एक सम्मेलन आयोजित किया।सम्मेलन में 29 देशों ने भाग लिया। इसमें शामिल विशिष्ट नेताओं में जवाहर लाल नेहरू चीनी प्रधानमंत्री (बाद में राष्ट्रपति) गमाल अब्दुल नासिर के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इस सम्मेलन मे बहुत–से ऐसे देश भी हैं जैसे कि पाकिस्तान, ईरान, इराक, फिलीपाइंस, तुर्की और थाईलैंड शामिल हुए थे, जो संयुक्त राज्य अमरीका के तत्वाधान में बनाए सैनिक गठबन्धनों के सदस्य थे, तथापि इसमें सर्वानुमति से स्वीकृत विज्ञप्ति में उन विचारों को स्पष्ट प्रतिपादन किया गया था जिनमें गुट–निरपेक्षता के कतिपय मूलभूत सिद्धान्त समाहित थे। बांदुग सम्मेलन गुट–निरपेक्ष आंदोलन के इतिहास का एक महत्वपूर्ण पड़ाव था। साथ ही यह एशिया और अफ्रीका के देशों का जिसमें दुनिया की आधी आबादी बसती थी, सबसे बड़ा सम्मेलन था।

2. **बेलग्रेड (यूगोस्लाविया) सम्मेलन** : 1950 ई० वाले दशक के मध्य से कुछ गुट–निरपेक्ष देशो के नेता बैठकें करने लग थे। धीरे–धीरे इस विचार का जन्म हुआ कि सभी गुट–निरपेक्ष देशो का सम्मेलन बुलाया जाए। संयुक्त राष्ट्र महासभा के 1960 ई0 का अधिवेशन ऐतिहासिक महत्व का था। उस साल अफ्रीका के सत्रह नवस्वतन्त्र देशों की बढ़ती संख्या से सयुंक्त राष्ट्र संघ का रूप बिल्कुल बदल गया। अब वह वस्तुतः एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन बन गया। कालान्तर में इसमें लगभग हर देश को प्रतिनिधित्व प्राप्त हुआ। तेजी आ गई और सयुंक्त राष्ट्र संघ ने इस प्रक्रिया निभाई। 14 दिसम्बर 1960 ई0 को संयुक्त राष्ट्र के इस ऐतिहासिक घोषणा पर स्वीकृती की मुहर लगा दी। सयुंक्त राष्ट्र के इस ऐतिहासिक अधिवेशन में पांच गुट–निरपक्ष देशों के नेता शामिल हुए। ये थे भारत के जवाहर लाल नेहरू, इंडोनेशिया के सुकर्णो, मिस्र के नासिर, यूगोस्लाविया के मार्शल टीटो और घाना के सनक्रूमा। उन्होंनें अगले साल सभी गुट–निरपेक्ष देशों को सम्मेलन बुलाने का ऐतिहासिक निर्णय लिया।

गुट–निरपेक्ष राज्यों या सरकारों के प्रधानों का पहला सम्मेलन 1 से 6 सितम्बर 1961 ई0 तक बेलग्रेड (यूगोस्लाविया) मे हुआ। इसमें 25 देशों ने पूर्ण सदस्यों के रूप मे भाग लिया। ये सदस्य देश थे– अफगानिस्तान, अल्जीरिया, बर्मा, कम्बोडिया, श्रीलका, कांगो (जायरे), क्यूबा, साइप्रस, इथियोपिया, घाना, गिनी, भारत, इंडोनेशिया, इराक, लेबनान, माली, मोरक्को, नेपाल, सऊदी अरब, सोमालिया, सूडान, ट्यूनीशिया, सयुंक्त अरब गणराज्य जिसमें अब सीरिया और मिस्र शामिल थे, यमन और यूगोस्लाविया (अल्जीरिया अब तक स्वतंत्र नहीं हुआ था, लेकिन अल्जीरिया के राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चे के द्वारा स्थापित कामचलाऊ सरकार को सम्मेलन में पूर्ण सदस्य के रूप में स्थान दिया गया था। इसी तरह बाद में 'स्वापों' और फिलीस्तीन मुक्ति सगंठनों को भी पूर्ण सदस्यों के रूप मे दाखिल किया गया।)

सम्मेलन ने एक घोषणा पर अपनी स्वीकृति दी, जिसमें कहा गया था कि, "शान्तिपूर्ण सह अस्तित्व का सिद्वान्त शीतयुद्व तथा संभावित सर्वनाश का एकमात्र विकल्प है।" आगे यह भी कहा गया था कि स्थायी शान्ति सिर्फ ऐसी ही दुनिया में प्राप्त होगी जिसमें "उपनिवेशवादी, साम्राज्यवादी तथा नव–उपनिवेशवादी प्रभुत्व का उनके समस्त रूपों सहित मूलोच्छेद कर दिया जाएगा।" सम्मेलन ने सोवियत प्रधानमंत्री निकिता खुश्चेव और अमरीकी राष्ट्रपति जॉन एफ. कैनेडी को पत्र लिखकर उनसे अनुरोध किया कि वे युद्व के खतरे को कम करने और शान्ति को सुनिश्चित करने के लिए पुनः वार्ता आरम्भ करें।

गुट-निरपेक्ष आंदोलन के शिखर सम्मेलनों का संक्षिप्त उल्लेख : गुट–निरपेक्ष आन्दोलन के दस शिखर सम्मेलन हो चुके हैं। उनका ब्यौरा इस प्रकार है– बेलग्रेड (1961 ई०), कैरो (1964 ई०), लुसाका (1970 ई०), अल्जीयर्स (1973 ई०), कोलम्बो (1976 ई०), हवाना (1979 ई०), दिल्ली (1983 ई०), हरारे (1986 ई०), बेलग्रेड (1989 ई०), और जकार्ता (1992 ई०)। अल्जीयर्स में आयोजित चौथे शिखर सम्मेलन में एक समन्वय ब्यूरो स्थापित करने का फैसला किया गया, जिसे बाद में शिखर सम्मेलनों, मंत्रीयों के सम्मेलनों, मंत्रीयों के सम्मेलनों, सयुंक्त राष्ट्र संघ मे गुट–निरपेक्ष देशो के समूहों की बैठकों तथा इन देशों की अन्य बैठकों में अपनाए गए कार्यक्रमों के कार्यान्वयन के संयुक्त प्रयत्नों मे समन्वय स्थापित करने का दायित्व सौपा गया।

शीत युद्व के बाद गुट-निरपेक्ष आंदोलन का औचित्य : शीत युद्व समाप्त होने के बाद गुट–निरपेक्ष आन्दोलन की प्रांसगिकता पर शंकाए उठाई गई। 1992 ई० मे आयोजित जकार्ता शिखर सम्मेलन में इन आशंकाओं का समाधान कर दिया गया। नई विश्व परिस्थिति में आयोजित यह पहला सम्मेलन था। गुट–निरपेक्ष राज्यों या सरकारों के प्रधानों द्वारा स्वीकृत जकार्ता संदेश में वास्तविकता को स्पष्ट करते हुए कहा गया कि दसवा शिखर सम्मेलन गंभीर परिवर्तन और द्रुत संक्रमण के काल में महान आशा और साथ ही गंभीर चुनौती के काल में व्यापक निश्चितता के साथ–साथ सुअवसरों के काल में आयोजित किया गया है। संदेश में जोर देकर कहा गया हक अर्न्तराष्ट्रीय राजनीतिक वातावरण में जो सुधर हुए हैं उनसे गुट–निरपेक्ष आन्दोलन का औचित्य और प्रांसगिकता सिद्व हो गई है और दुनिया "आज भी शान्तिमय, न्यायपूर्ण और सुरक्षित स्थान नहीं बन पाई।" इस बात की ओर ध्यान दिलाते हुए स्पष्ट किया गया कि "अन्दर ही अन्दर उबल रहे विवाद, हिंसक तकरार, अतिक्रमण और विदेशी कब्जा, दूसरे राज्यों के मामलों में हस्तक्षेप, प्रधानता और प्रभुत्व स्थापित करने की नीतियां, नस्लीमार–काट, धार्मिक असहिष्णुता, नये प्रकार का नस्लवाद और संकीर्ण राष्ट्रवादी" ये तमाम बातें राज्यों तथा जनसमाजों के सद्भावनापूर्ण सह–अस्तित्व के मार्ग में खतरनाक बाधाएं हैं और यहां तक कि इनके कारण कई राज्य और समाज टूट गए है। "इस संदेश में" युद्ध, दरिद्रता, असहिष्णुता और अन्याय से रहित एक नई अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था की, शान्तिपूर्ण सह–अस्तित्त्व के सिद्धान्तों और सच्ची अन्त निर्भरता पर आधारित दुनिया की सामाजिक व्यवस्थाओं और सांस्कृतियों की विविधता को मानकर चलने वाले संसार की रचना के प्रति गुट–निरपेक्ष आन्दोलन की प्रतिबद्धता को दोहराया गया।

विदेश–नीति

विदेश-नीति का निर्माण और पंचशील का सिद्धान्त : भारत की विदेश–शान्ति और सभी राज्यों के साथ मित्रता करने की है। संसार के सभी राज्य समान है, सभी राज्य स्वतन्त्र हो और सभी राज्यों में पारस्परिक सहयोग और मित्रता हो– यह भारत की विदेश–नीति का मुख्य आधार है। भारत की यह नीति उसकी भौगोलिक परिस्थितियों, आर्थिक आवश्यकताओं तथा प्राचीन परम्पराओं के अनुकूल है। भारत एशिया के बड़े राज्यों में एक एक है और भौगोलिक दृष्टि से वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थिति में है। इस कारण, सभी राज्यों से मैत्रीपूर्ण व्यवहार करना उसके हित में है। स्वतन्त्र भारत की प्रमुख आवश्यकता उसका आर्थिक विकास है। इस कारण, सभी राज्यों से मित्रता के सम्बन्ध स्थापित करना और विश्व–शान्ति उसके लिए आवश्यक है भारत की ऐतिहासिक और सांस्कृतिक पृष्ठ भूमि उसे शान्तिपूर्ण नीति की प्रेरणा देती है। भारतीय इतिहास इस बात का साक्षी है कि भारत ने कभी भी साम्राज्य–वादी नीति का पालन नहीं किया। महात्मा बुद्ध से लेकर महात्मा गाँधी तक अनेक महान् व्यक्तियों ने भारत की सत्य और अहिंसा का पाठ पढ़ाया। इस कारण, भारत विश्व–शान्ति का समर्थक है। वह साम्राज्यवाद का विरोधी और रंगभेद तथा छोटे–बड़े राज्यों में अन्तर किये जाने की नीति का विरोधी है।

स्वतन्त्रता–प्राप्ति से लेकर 1964 ई० में अपनी मृत्यु के समय तक प्रधानमंत्री प० जवाहरलाल नेहरु ने भारत की विदेश–नीति का संचालन किया और उसे एक निश्चित आधार प्रदान किया। 1954 ई० में पं० नेहरु ने विदेश–नीति के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकटकरते हुए कहा : "अन्तर्राष्ट्रीय सभाओं में हम किसी अन्य राज्य की कठपुतली बनकर नहीं बल्कि अपनी स्वयं की नीति को लेकर एक स्वतन्त्र राष्ट्र की तरह पूरा–पूरा भाग लेंगे। हम अन्य राष्ट्रों के साथ घनिष्ठ और प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित करने और विश्व–शान्ति व स्वतन्त्रता को आगे बढ़ाने के लिए उनके साथ सहयोग करने की आशा करते है। उन्होंने आगे कहा "जहा तक सम्भव

हो सकेगा हम उन विरोधी गुटों की पारस्परिक प्रतिस्पर्धा से बचने का प्रयत्न करेंगे जिसने भूत–काल में विश्व–युद्ध को जन्म दिया और जो फिर उससे भी अधिक विनाश का कारण बन सकती है। उन्होंने फिर कहा "हम मुख्यतया उपनिवेशों और दूसरों पर निर्भर रहने वाले देशों तथा उनके नागरिकों की स्वतन्त्रता तथा सिद्धान्त और व्यावहारिक दोनों दृष्टियों से प्रत्येक जाति के व्यक्तियों के लिए समान सुविधाओं की स्वीकृति में रुचि रखते है।" अपने इन विचारों के आधार पर प० नेहरु ने, जो निरन्तर भारत के विदेश- मन्त्री भी रहे, भारत की विदेश–नीति का व्यावहारिक प्रयोग किया। भारत ने सभी देशों से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न किया। भारत ने सभी स्थानों से साम्राज्यवाद और जातिवाद को समाप्त करने का समर्थन किया, भारत ने राज्यों के पारस्परिक झगड़ों को युद्ध के स्थान पर शान्ति और परस्परिक वार्तालाप द्वारा सुलझाने पर बल दिया और भारत ने प्रत्येक बार युद्ध होने के कारणों को रोकने का प्रयत्न किया। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् विश्व दो शक्तिशाली गुटों में बँट गया था। एक तरफ अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस और जनतन्त्रीय राज्य थे तथा दूसरी तरफ रूस (U.S.S.R.) तथा अन्य साम्यवादी राज्य थे। इन दो गुटों में शक्ति तथा अपने अपने प्रभाव–क्षेत्र को बढ़ाने के लिए जो पारस्परिक प्रतिस्पर्धा हुई उसे शान्ति युद्ध (Cold War) के नाम से पुकारा गया। भारत ने इन दो गुटों में से किसी भी एक साथ मिलने से इन्कार कर दिया। इस नीति को 'तटस्थता की नीति' कहा गया। पं० नेहरु इसे सक्रिय तटस्थता (Dynamic Neutrality) के नाम से पुकारते थे। उनका कहना था ; "भारत विदेशी मामलों में उदासीन नहीं है, बल्कि उसने दो गुटों से तटस्थ रहकर स्वतन्त्र रीति से विश्व–शान्ति के लिए सक्रिय प्रयत्न करने की है जो, निस्सन्देह अधिक उपयोगी है परन्तु अधिक गम्भीर और खतरनाक थी। ऐसी स्थिति में भारत की तटस्थता की नीति निष्क्रियता की कभी नहीं मानी जा सकती बल्कि 'सक्रिय तटस्थता' की है।" भारत ने इण्डोनेशिया और लीबिया की स्वतन्त्रता के लिए सक्रिय प्रयत्न किये दक्षिण–अफ्रीका की सरकार की रंग–भेद की नीति का तीव्र विरोध किया, ब्रिटेन के द्वारा स्वेज नहर पर किये जाने वाले आक्रमण का विरोध किया और प्रत्येक अवसर पर संयुक्त राष्ट्र–संघ (U.N.O) को सक्रिय सहायता दी। उपर्युक्त सिद्धान्त और कार्यों के अतिरिक्त पंचशील का सिद्धान्त का प्रतिपादन भारत और साम्यवादी चीन के बीच अप्रैल 1954 ई० में हुए समझौते के अवसर पर हुआ। इसके अन्तर्गत विभिन्न राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों को मैत्रीपूर्ण बनाने के लिए कुछ आधारभूत सिद्धान्त प्रतिपादित किये जो निम्न प्रकार है।

1. एक दूसरे की सीमा और सम्प्रभुता का सम्मान (Respect for each other's terriotory and soverlignty)
2. अनाक्रमण (Non-aggression);
3. एक–दूसरे के मामलों में हस्तक्षेप न करना (Non-Interference in each other's internal affairs);
4. समानता और पारस्परिक लाभ (Equality and Mutual benefit); तथा
5. शान्तिपूर्ण सह–अस्तित्व (Peaceful co-existence) उपर्युक्त सिद्धान्तों को भारत ने अपनी विदेश–नीति का भाग बना लिया

पं० नेहरु की विदेश–नीति भारत की उन परिस्थितियों में लाभदायक रही और पं० नेहरु ने विश्व में ख्याति प्राप्त की। यह नीति आदर्श की ही नहीं बल्कि व्यावहारिक उपयोगिता की भी थी। भारत की उस दुर्बल परिस्थिति में यह नीति भारत के लिए श्रेष्ठ और विश्व के लिए आदर्श थी। यूरोप और एशिया के कई राष्ट्रों ने इसे स्वीकार किया। मिस्र और यूगोस्लाविया ने इसका पूर्ण समर्थन किया और एक समय ऐसी आशा हो गयी कि तटस्थ राज्यों के एक ऐसे शक्तिशाली गुट का निर्माण स्वभाव हो सकेगा जो विश्व शान्ति की स्थापना में अत्यन्त उपयोगी होगा परन्तु अमेरिका और रुस पर्याप्त समय तक भारत की इस नीति से असन्तुष्ट रहे क्योंकि भारत ने उनके द्वारा बनाये गये गुटों (अमेरिका द्वारा बनाये गये N.A.T.O. और S.E.A.T.O तथा रुस द्वारा बनाये गये Warsaw Pact) में से किसी में भी सम्मिलित होना स्वीकार नहीं किया बल्कि इस गुटबन्दी का विरोध किया। फिर भी पं० नेहरु की नीति सफल रही और उन्होंने किसी राज्य के दबाव को स्वीकार नहीं किया। इस नीति की एकमात्र दुर्बलता यह रही कि इस नीति के प्रवाह के कारण भारत युद्ध करने की शक्ति संचय न कर सका जो बाद में उसके लिए हानिकारक सिद्ध हुआ।

(ii) **भारत के यूरोपीय देशों तथा अमेरिका से सम्बन्ध** : केवल पुर्तगाल को छोड़कर भारत ने सभी यूरोपीय देशों से मित्रता के सम्बन्ध रखे है। पुर्तगाल से दादर, नागर हवेली, डामन, ड्यू और मुख्यतया गोआ पर अधिकार के प्रश्न को लेकर अच्छे सम्बन्ध नहीं रह सके। स्वतन्त्रता के पश्चात् भारत ने पुर्तगाल से इन भारतीय भू–क्षेत्रों पर अपने अधिकार का दावा किया और आशा की कि पुर्तगाल स्वेच्छा से इन्हें भारत को सौंप देगा। परन्तु पुर्तगाल ने ऐसा करने से इन्कार कर दिया। 1954 ई० मे भारतीय नागरिकों ने दादर और नागर हवेली पर अधिकार कर लिया। (1961 ई० में भारत ने कानूनी तौर पर उन्हें भारत से सम्मिलित किया और उसी वर्ष गोआ के नागरिकों को समर्थन करते हुए उस पर आक्रमण करके उसे भारत में सम्मिलित कर लिया। डामन और डयू को भी उसी वर्ष भारत का भाग बनाया गया।) इस कारण पुर्तगाल भारत से असन्तुष्ट रहा।

फ्रान्स ने व्यवहारिकता से काम लिया। उसके अधिकार में चन्द्रनगर, पाण्डिचेरी, कारीकल, माही और यनाम थे। उसने भारत से समझौता करके चन्द्रनगर को 1950 ई० में और बाकी अन्य स्थानों को 1954 ई० मे भारत को सौंप दिया। इस कारण, फ्रान्स और भारत के सम्बन्ध अच्छे रहे।

रुस (U.S.S.R.) आरम्भ में भारत की तटस्थता की नीति को समझने में असमर्थ रहा। 1953 ई० तक जब तक स्टालिन जीवित रहा, यह सम्बन्ध सन्देहास्पद रहे। परनतु रुस ने चीन के प्रति भारत की नीति और कोरिया युद्ध के सम्बन्ध में भारत के व्यवहार की सराहना की। जब पाकिस्तान अमेरिका के सैनिक गुट (SEATO) में सम्मिलित हो गया (1954 ई०) और अमेरिका ने पाकिस्तान को शस्त्र–सहायता देनी आरम्भ कर दिया (1955 ई०) तब भारत रुस के निकट हो गया। 1955 ई० में प्रधानमन्त्री तुल्गानिन तथा सचिव खुश्चेव भारत की यात्रा पर आये जिससे भारत और रुस के मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध आरम्भ हुए। इससे 1957 ई० तक भारत और रुस एक–दूसरे के अधिक निकट हो गये। भिलाई और राँची के इस्पात के कारखाने रुस की सहायता से आरम्भ किये गये, राजस्थान में सूरतगढ़ का 35 एकड़ का कृषि–फार्म रुस ने आरम्भ किया। रुस की सलाह पर ही भारत ने 'तेज और प्राकृतिक गैस कमीशन' की स्थापना की तथा रुसी वैज्ञानिकों की सहायता से 1958 ई० में सर्वप्रथम, भारत में तेल (पैट्रोल) के कुएँ की खोज हुई। भारत और रुस ने विश्व–राजनीति में भी अनेक विषयों में अपनी सहमति प्रकट की यथा निशस्त्रीकरण, उपनिवेशवाद की समाप्ति, एशिया और अफ्रीका से विदेशी सैनिक अड्डों की समाप्ति आदि। संयुक्त राष्ट्र संघ की विभिन्न समितियों में भी भारत और रुस ने सहयोग से कार्य किया। 1961 ई० में जब भारत ने गोआ पर अधिकार किया तब रुस ने भारत के कार्य का समर्थन रहा है और समय–समय पर उसने संयुक्त राष्ट्र की 'सुरक्षा–परिषद' में भारत के पक्ष में निर्णयात्मक मत (Veto) दिया है। परन्तु रुस यह भी प्रयत्न करता रहा है कि भारत और पाकिस्तान के सम्बन्ध ठीक हो जायें। 1965 ई० में कश्मीर के प्रश्न पर भारत और पाकिस्तान में पुनः युद्ध आरम्भ हुआ। 1966 ई० में रुस के प्रधान मन्त्री कोसीगिन ने इस युद्ध को समाप्त करने के अथक प्रयत्न किये और पाकिस्तान के प्रेसीडेण्ट जनरल अयूब और भारत के प्रधानमन्त्री लाल बहादुर शास्त्री की भेंट ताशकन्द में करायी जिसके फलस्वरुप 'ताशकन्द समझौता' हुआ और भारत तथा पाकिस्तान का युद्ध समाप्त हुआ। इस प्रकार न केवल पं० जवाहरलाल नेहरु अपितु लाल बहादुर शास्त्री के प्रधान–मन्त्रित्वकाल में भी भारत और रुस के सम्बन्धों में सुधार हुआ जो आगे आने वाले समय में अत्यधिक प्रगाढ हुए है।

अमेरिका ने ब्रिटेन को भारत को स्वतन्त्रता प्रदान करने की सलाह दी थी और स्वतन्त्रता–प्राप्ति के पश्चात् उसने भारत को पर्याप्त मात्रा में आर्थिक सहायता प्रदान की। परन्तु अमेरिका भारत की तटस्थता की नीति को न समझ सका। भारत ने प्रजातन्त्रीय शासन की स्थापना की थी और अमेरिका यह विश्वास करता था कि भारत इसी आधार पर उसके द्वारा बनाये सैनिक–गुट में सम्मिलित हो जायेगा। भारत ने ऐसा नहीं किया। इसके अतिरिक्त अमेरिका साम्यवादी चीन को अपना कट्टर शत्रु मानता था। भारत ने 1949 ई० में साम्यवादी चीन की सरकार को मान्यता दे दी और उसे संयुक्त–राष्ट्र की सदस्यता दिलाने का प्रयत्न किया। अमेरिका द्वारा प्रेरित संयुक्त राष्ट्र संघ में प्रस्तुत किये गये 'शान्ति के लिए एकता' (Uniting Peace) प्रस्ताव को भारत का समर्थन प्राप्त नहीं हुआ भारत ने साम्यवादी चीन को आक्रामक राज्य स्वीकार करने से इंकार किया और चीन की सीमाओं में संयुक्त राष्ट्र–संघ की सेनाओं के प्रवेश करने का विरोध किया। मध्य–एशिया के सम्बन्ध में घोषित की गयी 'आइजनहॉवर–घोषणा' को भी भारत ने पसन्द किया। केवल स्वेज नहर के झगड़े के अवसर पर अमेरिका के व्यवहार को भारत ने पसन्द किया। राष्ट्रपति आइजनहॉवर की भारत–यात्रा और पं० नेहरु की अमेरिका–यात्रा ने भारत को अमेरिका के सम्बन्धों को सुधारने में सहायता दी परन्तु उनका प्रभाव स्थायी न रहा। पाकिस्तान द्वारा अमेरिका के सैनिक गुटो (एस० ई० ए० टी० ओ : SEATO और बगदाद–समझौता) में सम्मिलित होने और अमेरिका द्वारा पाकिस्तान को सैनिक सहायता देना आरम्भ करने से (1954 ई०) भारत और अमेरिका के सम्बन्ध स्थायी रुप से सन्देहास्पद बन गये। इस प्रकार भारत और अमेरिका के सम्बन्धों में दरार पड़ गयी यद्यपि यह स्थिति तनावपूर्ण न बन सकी। 1962 ई० में जब चीन ने भारत पर आक्रमण किया तब अमेरिका ने भारत को पूर्ण सहायता देने का आश्वासन दिया तथा शस्त्रों की सहायता भी प्रदान की। परन्तु बाद में अमेरिका चीन के निकट हो गया। पाकिस्तान और चीन के निकट के सम्बन्धों के विषय में भी अमेरिका का दृष्टिकोण भारत के पक्ष में नहीं रहा है। अमेरिका ने दिन प्रतिदिन पाकिस्तान को शस्त्रों की सहायता देने में वृद्धि की है। इन कारणों से भारत और अमेरिका में घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं हो सके है अपितु, इसके विपरीत, इसी कारण भारत रुस के अधिक निकट होता गया है।

ब्रिटेन से भारत के सम्बन्ध अच्छे रहे। भारत राष्ट्रमण्डल (Commonwealth of Nations) का सदस्य रहा और इस प्रकार पारस्परिक वार्तालाप तथा सहयोग का द्वारा खुला रहा। ब्रिटेन द्वारा स्वेज नहर पर आक्रमण करने के अवसर पर इन सम्बन्धों में कुछ तनाव अवश्य आया परन्तु वह प्रभाव स्थायी न रहा परन्तु कश्मीर और दक्षिण–पूर्वी एशिया की सुरक्षा के प्रश्न को लेकर भारत और ब्रिटेन के विचारों और नीतियों में सर्वदा गम्भीर मतभेद रहा है। अमेरिका के साथ मिलकर जब ब्रिटेन ने भारत पर एस० ई० ए० टी० ओ० (South East Asia Treaty Organisation) और बगदाद समझौते में सम्मिलित होने के लिए दबाव डाला और इनके सम्मेलनों में

कश्मीर–विवाद पर विचार किया। तब भारत ब्रिटेन से पृथक् हुआ। ब्रिटेन ने इस कठिनाई को समझकर भारत को सन्तुष्ट करने के प्रयत्न किये। उसने संयुक्त–राष्ट्र–संघ के माध्यम से कश्मीर विवाद का समाप्त करने का प्रयत्न किया, भारत और पाकिस्तान को समता पर रखने का आश्वासन दिया और 1965 ई० में 'कच्छ की रान' में भारत और पाकिस्तान में युद्ध हो जाने पर मध्यस्थ का कार्य किया। ब्रिटेन ने उस अवसर पर पाकिस्तान के राष्ट्रपति अयूब और भारत के प्रधानमन्त्री लाल बहादुर शास्त्री का पारस्परिक वार्तालाप लन्दन में हो रही राष्ट्रमण्डल की बैठक के अवसर पर कराया और दोनों में युद्ध–विराम कराने में सहयोग दिया। 1962 ई० में हुए भारत–चीन के युद्ध के अवसर पर भी ब्रिटेन ने भारत को सैनिक सहायता दी। इस प्रकार भारत और ब्रिटेन के पारस्परिक सम्बन्ध तो अच्छे रहे है परन्तु उसके पाकिस्तान और अमेरिका के सम्बन्धों की निकटता ने भारत को उसकी ओर से शंकित भी किया है।

(iii) **भारत और एशिया तथा एशिया के राज्य** : दक्षिण–अफ्रीका की श्वेत–सरकार को (उसकी रंग–भेद की नीति के कारण) छोड़कर अफ्रीका के सभी राज्यों से भारत के अच्छे सम्बन्ध रहे। भारत ने सभी अफ्रीका–निवासियों की स्वतन्त्रता का पक्ष लिया, वहाँ के राज्यों का समर्थन किया और उन्हें सहयोग तथा सहायता प्रदान की। मिस्र (Egypt) के साथ भारत के सम्बन्ध बहुत अच्छे रहे। पं० नेहरु ने मिस्र के राष्ट्रपति कर्नल नासिर को स्वेज नहर तथा फिलिस्तीन की समस्या के प्रश्न पर पूर्ण सहायता दी। मिस्र भी भारत का मित्र रहा और उसने भारत की तटस्थता की नीति का पूर्ण समर्थन किया।

भारत ने एशिया के सभी राज्यों से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बनाये रखने का प्रयत्न किया। अफगानिस्तान, बर्मा, श्रीलंका, इण्डोनेशिया, जापान अरब–राष्ट्रों आदि ससभी से उसके सम्बन्ध अच्छे रहे। 1941 ई० और 1955 ई० में दिल्ली में एशिया के राष्ट्रों की सभाएँ बुलायी गयी और 1955 ई० में भारत ने एशियाई राष्ट्रों द्वारा आयोजित 'बादुंग सम्मेलन' में भाग लिया।

साम्यवादी चीन को भारत ने मान्यता प्रदान की और उसे संयुक्त राष्ट्र–संघ की सदस्यता दिलाने के लिए प्रयत्न किया। 1951 ई० में जब संयुक्त राष्ट्र–संघ की सभा में चीन द्वारा कोरिया के गृह–युद्ध में हस्तक्षेप करने की आलोचना की गयी तब भारत ने उस प्रस्ताव का विरोध किया। उसने संयुक्त राष्ट्र–संघ के चीन और उत्तरी कोरिया को किसी भी राज्य द्वारा शस्त्र सहायता न दिये जाने के प्रस्ताव का भी विरोध किया। इस प्रकार भारत ने आरम्भ से ही चीन से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित रखने का प्रयत्न किया। 1954 ई० में भारत ने तिब्बत के प्रश्न पर भी चीन से एक सन्धि कर ली और एक प्रकार से तिब्बत पर चीन के अधिकार को स्वीकार कर लिया। अगले पाँच वर्ष तक भारत और चीन के सम्बन्ध मधुर रहे। 1954 ई० में चीन के प्रधानमन्त्री चाऊ–एन–लाई भारत आये और उन्होंने 'पंचशील' के सिद्धान्त का समर्थन किया। चीन के नक्शों में भारत के बड़े भू–क्षेत्र को चीन का भाग दिखाया गया था उसने तिब्बत पर दबाव डालना आरम्भ कर दिया था और उसने 1954 ई० से ही सीमा–विवाद खड़े करना आरम्भ कर दिये थे। फिर भी उसी वर्ष पं० नेहरु चीन गये, 1956 ई० तथा 1957 ई० के आरम्भ में चाऊ–एन–लाई भारत आये और सीमा सम्बन्धी झगड़ों को साधारण मानकर कोई महत्त्व नहीं दिया गया तथा 'हिंदी–चीनी भाई–भाई के नारे लगाये। इस कारण 1959 तक सन्देह और विवाद के कई कारण उपस्थित होते हुए भी भारत ने चीन से अच्छे सम्बन्ध रखे। 1559 ई० से चीन और भारत के सम्बन्ध खराब होने लगे जबकि चीन ने भारत और चीन की तत्कालीन सीमाओं को मानने से स्पष्ट इन्कार कर दिया। 1960 ई० में दिल्ली में हुई चाऊ–एन–लाई और पं० जवाहरलाल नेहरु की भेंट भी सीमा–विवाद का कोई हल न निकाल सकी। अक्टूबर 1962 ई० में चीन ने सहसा भारत की उत्तर–पूर्व और उत्तर पश्चिम की सीमाओं पर आक्रमण किया तथा भारत के एक विस्तृत भू–क्षेत्र पर अधिकार कर लिया। 21 नवम्बर को चीन ने सहसा ही अपनी सेनाओं को पीछे हटाकर युद्ध को समाप्त भी कर दिया परन्तु तब भी भारत भूमि के एक बड़े भाग पर अधिकार जमाए रखा। अफ्रीका और एशिया के छः राज्यों ने कोलम्बो में समझौते का प्रस्ताव भी बनाया जिसे भारत ने स्वीकार किया परन्तु चीन ने नहीं माना। पं० नेहरु और उनके पश्चात् 1964 ई० में लाल बहादुर शास्त्री ने भी चीन से समझौते के प्रयत्न किये परन्तु सफल नही हुए। चीन ने जो भूमि भारत से छीनी है उसी से सन्तुष्ट नही है अपितु प्रायः 90,000 वर्ग किलोमीटर भूमि पर अधिकार माँगता है। इसके अतिरिक्त चीन की पाकिस्तान और अमेरिका से मित्रता ने भी भारत और चीन के सम्बन्धों को खराब कर दिया है जिनके सुधारने की सम्भावना अब भी सम्भव नहीं है।

पाकिस्तान से भारत के सम्बन्ध कभ भी अच्छे न रह सके। ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, मुस्लिम साम्प्रदायिकता की भावना और कश्मीर पर अधिकार का विवाद पाकिस्तान और भारत के मतभेद का मुख्य कारण रहे है। इनके अतिरिक्त स्वतन्त्रता के अवसर पर हुए हिन्दू–मुस्लिम दंगे एक राज्य से दूसरे राजय में गये हुए शरणार्थियों की सम्पति का प्रश्न, पंजाब नदियों के जल की साझेदारी आदि भी ऐसी अन्य समस्याएँ रही जिन्होंने भारत तथा पाकिस्तान के सम्बन्धों में विषमता उत्पन्न की है 1947 ई० में कबाइली जातियों ने पाकिस्तानी सेना की सहायता से कश्मीर के रक्षार्थ अपनी सेना भेजी तब एक प्रकार से भारत और पाकिस्तान में अप्रत्यक्ष युद्ध हुआ। संयुक्त राष्ट्र–संघ द्वारा हस्तक्षेप किये जाने के कारण यह युद्ध रुक गया। परन्तु कश्मीर की समस्या ने सदा ही गंभीर

विवाद समाप्त न हो सका। पाकिस्तान का यह भी कहना रहा है कि उसे भारत की सैनिक शक्ति से खतरा है। इसी आधार पर उसने विदेशों से सैनिक सहायता ली है। भारत ने कई बार यह प्रयत्न किया कि पाकिस्तान से उसका एक समझौता 'कभी भी युद्ध न करने का' हो जाये। परन्तु पाकिस्तान ने इस बात को स्वीकार नहीं किया। इस प्रकार पं० नेहरु के विभिन्न आश्वासन, समझौते के प्रयत्न और प्रारम्भिक समय में उसे करोड़ों रुपया सद्भावना के रुप में देना आदि व्यर्थ रहा तथा पाकिस्तान व भारत के सम्बन्धों में कोई सुधार न हो सका अपितु, इसके विपरीत, दोनों राज्यों में दो युद्ध (1965 और 1971 ई०) हो चुके है। कच्छ की रान पर सीमा विवाद को लेकर भारत और पाकिस्तान में 1965 ई० में युद्ध आरम्भ हुआ। उसी समय लन्दन में राष्ट्र मण्डल की एक बैठक हुई तथा ब्रिटेन ने मध्यस्थता की तथा जनरल आयूब और लाल बहादुर शास्त्री ने युद्ध–विराम को मान लिया। परन्तु कुछ समय पश्चात् ही पाकिस्तान ने कश्मीर पर आक्रमण किया जिसके कारण भारत और पाकिस्तान की पश्चिमी सीमा पर एक बड़ा युद्ध आरम्भ हो गया। इस युद्ध की समाप्ति रुस की मध्यस्थता के द्वारा हुई जब अयूब और लाल बहादुर शास्त्री ने 'ताशकन्द समझौता' किया। 1971 ई० में पूर्वी और पश्चिमी पाकिस्तान के मतभेदों को लेकर परस्पर युद्ध हुआ जिसमें भारत ने हस्तक्षेप किया, जिसके फलस्वरुप 'बंगला–देश' का निर्माण हुआ। इस प्रकार, भारत और पाकिस्तान के सम्बन्ध आरम्भ से ही खराब रहे है जिनके सुधारने की कोई सम्भावना अब भी नहीं है।

(iv) **भारत और संयुक्त राष्ट्र-संघ** : भारत ने सर्वदा संयुक्त राष्ट्र–संघ को सफल बनाने में सहयोग दिया। संयुक्त राष्ट्र–संघ का प्रमुख उद्देश्य विश्व–शान्ति है और विश्व–शान्ति भारत के हित और उसकी विदेश–नीति के अनुकूल है। भारत किसी भी सैनिक गुट में सम्मिलित नहीं हुआ और उसने अपनी नीति का निर्माण शान्ति, निष्पक्षता न्याय ओर सहयोग के सिद्धान्तों पर किया। संयुक्त राष्ट्र–संघ में विश्वास रखने के कारण ही उसने कश्मीर के विवाद को संयुक्त राष्ट्र संघ में विश्वास रखने के कारण ही उसने कश्मीर के विवाद को संयुक्त राष्ट्र–संघ के सम्मुख प्रस्तुत किया। भारत ने संयुक्त राष्ट्र संघ के अनुरोध पर कोरिया और हिन्दचीन में तटस्थ–निरीक्षण–कमीशन (Supervisory Neutral Commission) के अध्यक्ष पद पर कार्य किया और अपने सैनिकों को भेजकर वहाँ शान्ति स्थापित करने में सहयोग दिया। भारत ने मोरक्को और अबीसीनिया की सुरक्षा के लिए अवाज उठायी, स्वेज नहर पर ब्रिटेन, फ्रान्स आदि के आक्रमण का विरोध किया और साम्यवादी चीन के संयुक्त राष्ट्र–संघ की सदस्यता दिलाने का निरन्तर प्रयत्न किया। इन सभी का उद्देश्य विश्व–शान्ति की सुरक्षा और संयुक्त राष्ट्र–संघ को सफल बनाने के लिए प्रयास करना था। इस प्रकार पं० नेहरु के समय में भारत ने संयुक्त राष्ट्र–संघ के प्रति विश्वास प्रकट किया और इस अन्तर्राष्ट्रीय संगठन को शक्तिशाली बनाने में पूर्ण सहयोग दिया।

स्वाधीनता के बीस वर्षों तक भारत का इतिहास भारतीयों की पूर्ण सफलता का इतिहास तो नहीं है, परन्तु यह स्वीकार करना पड़ता है कि भारत ने अपनी आन्तरिक और विदेश–नीति में अपनी प्रगति के लिए ठोस कदम उठाये जिससे भारत का नव–निर्माण सम्भव हो सका। परन्तु इस समय का उससे भी अधिक महत्त्व यह है कि भारत ने दुर्बल होते हुए भी शक्ति शाली राष्ट्रों के विरोध में प्रजातन्त्र, नैतिकता, न्याय, निष्पक्षता, समाजवाद, प्रेम, सहयोग विश्व–शान्ति आदि के महान् आदर्शों को स्पष्टतया विश्व के सम्मुख रखा।